मनीषी की लोकयात्रा

(महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन)

डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह
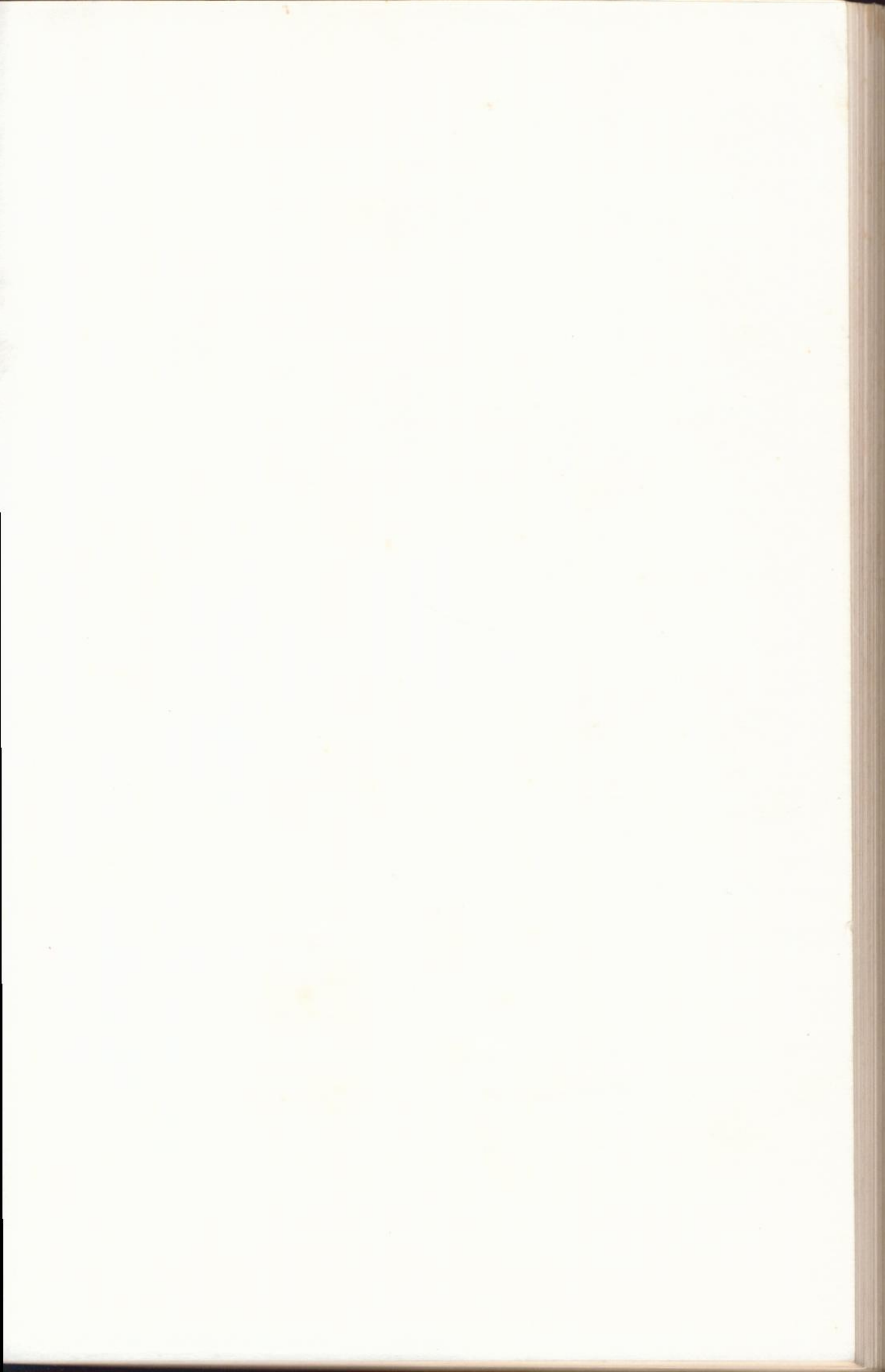
मनीषी की लोकयात्रा

[महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन]

भगवतीप्रसाद सिंह

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राक्तन आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MANISHI KI LOKYATRA

(Life and Philosophy of Pt. Gopinath Kaviraj)

By

Dr. Bhagwati Prasad Singh
M.A., Ph.D., D. Litt.

ISBN : 81-7124-88-7

प्रथम संस्करण : १९६८ ई०
द्वितीय संस्करण : १९८० ई०
तृतीय संस्करण : १९८७ ई०
चतुर्थ संस्करण : १९९१ ई०
पंचम संस्करण : १९९५ ई०
षष्ठ संस्करण : १९९९ ई०
सप्तम संस्करण : २००१ ई०
अष्टम संस्करण : २००५ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २४१३७४१, २४१३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

परलोकगता

माँ

को

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

म. म. पं० गोपीनाथ कविराज एवं लेखक डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

आशीर्वाद -

प्रियवर,

भगवती प्रसाद सिंह

शुभास्ते

सन्तु

पन्थानः

गोपीनाथ कविराज

वसन्तपंचमी

सं० २०२८

निवेदन

परम श्रद्धेय कविराजजी से मेरा सर्वप्रथम सम्पर्क १९५७ ई० के मध्य हुआ। तब से श्रीचरणों की छाया निरंतर प्राप्त रही किन्तु शास्त्रज्ञान और साधन-विज्ञान के निगूढ़ प्रांत में इनकी विलक्षण पैठ के प्रत्यक्षानुभव से मेरा मानस इतना अभिभूत रहा कि अपनी आध्यात्मिक तथा साहित्यिक जिज्ञासाओं की निवृत्ति के अतिरिक्त वह किसी दूसरी ओर प्रवृत्त होने का साहस ही न कर सका। इनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में आश्रमवासियों तथा आगंतुकों से केवल इतना ज्ञात कर संतुष्ट था कि, 'शरीर बंगदेश का है और विदेहमार्गी महापुरुष हैं।' १९६५ ई० के मध्य तक इनके विषय में मेरी जानकारी की यही स्थिति रही। तब तक इस ग्रन्थ के निर्माण की कल्पना भी नहीं थी। इसके बाद कितने चमत्कार पूर्ण रूप से इसका बीजारोपण हुआ, उसकी अपनी एक अलग कहानी है।

१९६५ ई० के अक्टूबर में एक दिन मुझे अपने पुराने मित्र गोपालचन्द्र सिंह (सदस्य, विधि-आयोग, भारत सरकार) का एक पत्र मिला। उसमें उन्होंने अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् की ओर से महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज को अभिनंदनग्रन्थ समर्पित करने की चर्चा की थी और उसके लिए जीवनी लिखने का काम मुझे सौंपा था। अपने पूर्वानुभव का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा था कि कविराज जी के अनेक घनिष्ठ परिचित तथा कृपापात्र गण्यमान्य विद्वानों से बार-बार प्रार्थना करने पर भी वे कविराज जी की जीवनी प्राप्त नहीं कर सके थे। अंततोगत्वा इस संदर्भ में किसी प्रकार उन्हें मेरा नाम स्मरण हो आया। वह पत्र इसी का प्रतिफल था। आत्मीयता के नाते मैं उन्हें सहसा नकारात्मक उत्तर नहीं दे सकता था। इसलिए पत्रोत्तर में प्रयास करने का आश्वासन तो दे दिया किन्तु इस रहस्य को प्रकाश में ला पाने की आशा कम ही थी। आधार केवल एक ही था — कविराज जी की सहज करुणाशीलता।

इस कार्य को दृष्टि में रखकर मैं काशी गया और रथयात्रा-स्थित उनके निवास-स्थान पर ११ नवम्बर '६५ को प्रातः श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। कुशलवार्ता के पश्चात् अपने आने का प्रयोजन निवेदित करते हुए गोपालचन्द्र सिंह का उक्त पत्र सामने रख दिया। उसे पढ़कर कविराज जी की मुखमुद्रा कुछ गम्भीर हो गयी, बोले, "इसकी क्या आवश्यकता है? जीवनी लिखना अत्यन्त दुष्कर व्यापार है। दूसरे को कौन कहे यदि मैं स्वयं चाहूँ तो अपनी जीवनी नहीं लिख सकता। जीवनी का अर्थ है — माई पिक्चर इन दि हैन्ड्स ऑव डिवाइन। मैंने स्वयं अपने जीवन के

अध्ययन का प्रयत्न किया, किन्तु पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर सका। जीवन की कोई घटना निरर्थक नहीं होती। छोटी से छोटी घटना में भी कोई न कोई गंभीर रहस्य छिपा रहता है। सर्वाधिक महत्व द्रष्टा होकर अपने जीवन की ओर लक्ष्य करने में है। परन्तु सामान्यतया यह संभव नहीं है। आप जो लिखना चाहते हैं, वह लौकिक व्यापार है। दाल-भात खाने का विवरण एकत्र करके क्या करोगे ? वह बहिरंग-जीवनमात्र है, अंतरंग का अनुसंधान होना चाहिए। जीवन किस प्रकार अदृष्ट के हाथों ढाला जा रहा है, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। जीवनी लिखने की सार्थकता इसी में है।"

इस दृष्टिकोण से जीवनी-विषयक तथ्यों के आकलन की न मुझ में क्षमता थी, न प्रेरक उद्देश्य ही इतना विशाल था। अतः कविराज जी के उपर्युक्त शब्द सुनकर मेरा रहा-सहा साहस भी जाता रहा। मेरी सीमाओं से परिचित तथा मेरी शांत और निरीह मुद्रा से द्रवित हो वे बोले— 'हो जायगा। शीघ्रता क्या है ? अभी रहेंगे न ? कल प्रातः आइएगा।' मुझे लगा, उन्हें अपना अतीत स्मरण हो आया। १२ नवम्बर १९६५ ई० की वह शुभ तिथि मुझे आज भी स्मरण है, जब कविराज जी ने अपने विगत जीवन को अत्यन्त संयम और संकोच के साथ धीरे-धीरे प्रकट करना आरम्भ किया था। कुछ दिनों में वह कार्य पूरा हो गया और मैंने जीवनी लिखकर गोपालचन्द्र जी को सौंप दी।

अभिनंदन ग्रन्थ में प्रकाशित मेरा लेख कविराज जी के जीवन को देखने का स्थूल प्रयास मात्र था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस निबन्ध में कविराज जी के बाह्य जीवन को ही प्रमुखता दी गयी थी, जो स्वयं उनकी दृष्टि से एक अत्यन्त स्थूल और नगण्य बात थी। अपने प्रयास की यह कमी मुझे बराबर खटक रही थी। उसकी पूर्ति का एक ही रास्ता था, लौकिक जीवन के स्थूल रेखांकन के साथ ही आजीवन तत्वानुसंधान में लीन इस महामानव के आध्यात्मिक सिद्धान्तों, मंतव्यों, विचारों एवं निष्कर्षों का विवेचनात्मक परिचय प्रस्तुत करना। यह कार्य जितना आनंदप्रद था उनता ही अधिक दुष्कर। इसकी सफलता कविराज जी के सहयोग पर ही अवलम्बित थी। लोकैषणा रहित व्यक्ति से अपने जीवन की अंतर्धाराओं पर प्रकाश डालने का आग्रह करने का साहस मुझमें नहीं था। किन्तु नियति ने परिस्थितियों को कुछ ऐसा मोड़ दिया कि असंभव संभव हो गया। हमारी कल्पना साकार हो गयी। साधनापुष्ट जीवन के पटल एक के बाद एक उघरते गये। उनकी दिव्य सुगंध ने सारी योजना को सरस एवं सुवासित कर दिया।

इस ग्रन्थ के मूल कलेवर में कविराज जी से प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा प्राप्त जो सामग्री प्रस्तुत की गयी है, उसमें उनकी जीवनी, साहित्य-रचना, सत्संग, पत्राचार

तथा अध्यात्म साधना-सम्बन्धी विविध तत्वों का विवेचन है। परिशिष्ट भाग में एकत्रित सामग्री उनके निजी संग्रह से उपलब्ध हुई है। इसके अन्तर्गत परलोक वार्ता तथा पारिभाषिक शब्दों की कविराज जी द्वारा की गयी व्याख्या विशेष महत्वपूर्ण हैं। यह सारी सामग्री अब तक अप्रकाशित है। इसमें कविराज जी की रुचि तथा गति के विविध क्षेत्रों की मनोरम झाँकी प्रस्तुत हुई है।

कविराज जी वर्तमान युग के महान् तत्वचिंतक हैं। ये भारत के मनीषियों की उस लंबी और उदात्त परम्परा की एक जीवंत कड़ी हैं जिनके ज्ञानालोक से मानव निरंतर प्रकाशपथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करता रहा है। मेरा उद्देश्य इस दिव्यपुरुष के चरित्र का विश्लेषण अथवा महत्व का मूल्यांकन करना नहीं रहा है। इनकी महानता के सभी पक्षों का आलोचन संभव नहीं है, विशेषकर एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा जिसका मानसिक तथा नैतिक धरातल कविराज जी के विराट् व्यक्तित्व की छाया स्पर्श करने की भी पात्रता न रखता हो। ऐसी दशा में साधनजीवन का पूर्ण बिंब प्रस्तुत करने के लिए इनकी जीवनदृष्टि के निर्माण में सहायक बाह्य-परिवेश, परंपरागत संस्कार तथा अर्जित ज्ञानराशि का परिचय, उन्हीं के लेखों तथा वक्तव्यों के माध्यम से दिया गया है। आत्मीयता और प्रत्यक्षता के समावेश तथा सहजता की रक्षा के लिए यह आवश्यक था। विश्वासपूर्वक हम यह नहीं कह सकते कि इसमें कविराज जी की साधना और दर्शन का संपूर्ण क्षेत्र समेट लिया गया है। फिर भी इस ग्रंथ में जिज्ञासु पाठकों को उन सूत्रों की एक झलक अवश्य मिल जायगी, जो इनके दार्शनिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक रहे हैं।

महापुरुषों की लोकयात्रा लोकशिक्षा के लिए होती है। कविराज जी तपोबल-विशिष्ट मनीषी हैं। इनका जीवनघट लौकिक आपदाओं की तीव्र ज्वाला में संतप्त होकर परिपक्व हुआ है। अपने सुदीर्घ साधनाकाल में द्वार पर आयी हुई लौकिक सुविधाओं को ठुकराकर असुविधा और कष्ट के कंटकाकीर्ण मार्ग का ये निरंतर वरण करते चले हैं। माँ आनंदमयी के शब्दों में 'बाबा का यह शरीर सुख भोगने के लिए नहीं आया है।' ऐसे अपरोक्षानुभव-संपन्न योगी की प्रकाशोज्ज्वल जीवनकथा में मलिनता का अनुसंधान करने में अपना दृष्टिदोष ही उजागर होता। इसलिए जानबूझकर मैं उससे विरत रहा। जीवनीलेखन की वैज्ञानिक प्रणाली के समर्थक विद्वानों को दृष्टिकोण की यह एकांगिता खटक सकती है। मैं अपनी इस संस्कारजन्य कमजोरी को स्वीकार करता हूँ। प्रवाहमार्गी के लिए तटस्थ भाव अपनाना कितना कठिन होता है, इसका अनुमान तटवर्ती पर्यवेक्षक नहीं लगा सकते। आशा है, सहृदयों के समक्ष मेरी यह स्वाभाविक संकोचजन्य निर्बलता क्षम्य होगी।

इसी प्रकार की एक दूसरी कमी का भी निर्देश कर देना आवश्यक है। अपने विचारों के प्रकाशन तथा प्रचार के सम्बन्ध में कविराज जी के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त हैं। साधना-रहस्य को ये सामान्यतया प्रकाश्य नहीं मानते। इनके मत से वह गोपनीय विषय है, जिसका उपदेश जिज्ञासु अधिकारी को ही किया जाना चाहिए। गुरुदेव के आज्ञानुसार ये किसी को मंत्रोपदेश नहीं करते। अनेक दिवंगत तथा सिद्ध महात्माओं से इनका अन्तःसंबंध चलता रहता है। तदर्पित भावापन्न साधकों को इनसे अपरोक्ष प्रेरणा प्राप्त होने की अनेक कथाएँ कही और सुनी जाती हैं। ये तथ्य इनके व्यक्तित्व की रहस्यात्मकता के संपोषक हैं। एतद्विषयक इनकी मान्यताओं का आदर करते हुए इसमें बहुत सी ऐसी सामग्री समाविष्ट होने से संप्रति रोक ली गयी है जिसकी लोकोपयोगिता असंदिग्ध कही जा सकती है। इन परिस्थितियों में यथालाभ संतोष-वृत्ति अपनाना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। संयोग की बात कहिए कि १९६१ ई० में कैंसर के भीषण आक्रमण से आचार्यश्री की जीवनरक्षा में अदृष्टशक्ति के वरदहस्त सहायक हो गये, नहीं तो इनकी अर्चना में इन पत्रपुष्पों के समर्पण का अवसर ही न आता।

हमारा यह सौभाग्य है कि वार्द्धक्यजर्जर तथा व्याधिग्रस्त शारीरिक स्थिति में भी कविराज जी ने इस ग्रन्थ पर आद्योपांत दृष्टिपात करके अनेक सत्परामर्श दिये हैं। उनके अभाव में बहुत सी त्रुटियाँ अलक्षित ही रह जातीं। वास्तव में इस प्रयास का अन्तः और बाह्य सब कुछ उन्हीं का प्रसाद है। मैं एक यन्त्रमात्र हूँ जिसके माध्यम से इसके नियोजित और प्रकाशित होने का लीलाविधान सम्भव हुआ। 'मेरे लेखकतत्व' की सार्थकता इसी में समझनी चाहिए। यह मेरे आत्मतोष का कारण हुआ है और मुझे विश्वास है कि जीवन संघर्ष में पड़े क्षुब्ध, आकुल और पराभूत पथिक कविराज जी के इस शब्द-देह के संस्पर्श से ऊर्जस्वित होकर प्रस्तुत क्षण की मोहक आशाओं और सर्वग्रासी भयों के शमन की क्षमता प्राप्त करेंगे।

कविराज जी के अनन्य सेवक पं० सीताराम पाण्डेय और अन्तेवासी स्वामी चंद्रशेखर का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। उनके सहयोग के बिना जीवनीविषयक अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ तथा आल्मारियों में छिपी और पुराने बक्सों में दबी, प्रचुर हस्तलिखित-सामग्री अंधकाराच्छन्न ही रह जाती। श्रीचरणों के कृपापात्र कतिपय अन्य सहृदयों ने भी विविध प्रकार से इसके स्वरूपनिर्माण में सहयोग और सद्भावना प्रदान कर हमें कृतार्थ किया है। सुश्री प्रेमलता शर्मा तथा श्री हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने मूल बंगला में लिखे कतिपय पत्रों तथा पत्रांशों का हिन्दी अनुवाद प्रेषित कर हमारा कार्य सुगम किया है। कृतज्ञता प्रदर्शन कर उनके इस सहज अनुग्रह का भार उतार फेंकने से मुझे संतोष न होगा। विश्वविद्यालय प्रकाशन के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी की कलात्मक अभिरुचि और तत्परता का संबल प्राप्त करके ही यह ग्रन्थ इस

रूप में अवतरित हो सका। इस ज्ञानयज्ञ में योगदान कर वे धन्य हुए हैं। 'धन्यवाद' से मैं उनकी वस्तुनिष्ठा का महत्व कम नहीं करना चाहता।

अन्त में सर्वनियंता महाकाल के प्रति मेरा श्रद्धापूर्ण नमन है, जिसने पग-पग पर उपस्थित बाधाओं को दूर कर, इसके प्राकट्य का सुयोग प्रदान किया। कविराज जी के विद्यमान रहते यह कार्य सम्पन्न हो जाय, यही अपनी साध थी। आशुतोष की कृपा से उसे पूरी होते देखकर मैं असीम संतृप्ति का अनुभव कर रहा हूँ।

अपनी ओर से पर्याप्त सतर्कता बरतते रहते हुए भी मुद्रण-व्यवस्था में सहसा उपस्थित दीर्घकालिक गतिरोध के कारण प्रकाशन में असाधारण विलम्ब के साथ ही छापे की कुछ अशुद्धियाँ भी असंशोधित रह गयीं। सुधी पाठक कृपया उन्हें सुधारकर पढ़ लेंगे। मेरी दृढ़ धारणा है कि इसके अनुशीलन से प्राप्त संस्कारमार्जन की आनन्दमयी प्रेरणा उन्हें तज्जनित क्लांति का अनुभव न होने देगी।

भगवतीप्रसाद सिंह

मातृनवमी, संवत् २०२५
साकेत, बेतियाहाता,
सिविल लाइन, गोरखपुर

●

द्वितीय संस्करण की भूमिका

महाकाल की असीम कृपा से 'मनीषी की लोकयात्रा' का द्वितीय संस्करण अध्यात्मनिष्ठ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर पाकर मुझे अपार तृप्ति का अनुभव हो रहा है। खेद केवल इतना है कि प्रथम संस्करण चरितनायक के जीवनकाल में समाप्त हो जाने पर भी मैं हृदयाघात के कारण पांडुलिपि तैयार करके उसके पुनः प्रकाशन की व्यवस्था न कर पाया, और आज जब यह कलेवर बदलकर दीर्घ प्रतीक्षारत जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत होने की स्थिति में आ सका तो कविराज जी लोकयात्रा पूरी कर परमधाम के पथिक हो चुके हैं।

कविराज जी के दार्शनिक चिंतन और कृतित्व से भारतीय संस्कृति तथा साहित्य अनेक विध समृद्ध हुआ है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय (पूर्व गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस) और उसका विश्वप्रसिद्ध 'सरस्वती-भवन' विविध रूपों में उनके द्वारा की गयी सेवाओं से ही वर्तमान स्थिति प्राप्त करने में समर्थ हुआ। यह हिन्दी-भाषी क्षेत्र का सौभाग्य था कि पूर्वी बंगाल में जन्म ग्रहण करते हुए भी इस महापुरुष की शिक्षा-दीक्षा और साधना भूमि होने का गौरव उसे ही प्राप्त हुआ। भौतिक दृष्टि से जन्मभूमि के आकर्षक एवं उत्कर्षविधायक प्रलोभनों तथा दबावों के बावजूद इनकी काशीनिष्ठा दृढ़ रही और वही आजीवन इनकी क्षेत्र-संन्यास-स्थली बनी रही। इनका अपना विशिष्ट क्षेत्र दर्शन, भक्तिसाधना तथा तंत्र था। इन विषयों पर पिछले पचास वर्षों में निर्मित हिन्दी साहित्य के वे प्रमुख प्रेरणास्रोत रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों में आलोचना एवं शोध-ग्रन्थों की भूमिकाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गये निबन्धों के रूप में इनका मौलिक अवदान भी कम नहीं रहा है। विश्वविख्यात आध्यात्मिक मासिक 'कल्याण' के विकास में इनकी स्मरणीय भूमिका रही है। उसके यशस्वी संपादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ने इस दिशा में कविराज जी के सहयोग की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। कल्याण के विशेषांकों की योजना तो बहुत अंश में इनके परामर्श पर ही आधारित होती थी। यौगांक, शक्ति अंक, शिवांक, साधनांक, परलोक और पुनर्जन्मांक, इनके विशदज्ञान, प्रगाढ़ पांडित्य एवं प्रतिभा के संस्पर्श से ही अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त कर सके। हिन्दी को इनकी लेखनी से तत्वविवेचन की एक नयी शैली का प्रसाद मिला। इसके अतिरिक्त अपने गूढ़ जीवन रहस्यों को प्रथम बार दर्शन तथा साधना से ग्रन्थरूप में प्रकाशित करने की अनुमति देकर इस राष्ट्रपुरुष ने हिन्दी-भाषी जनता पर अपार उपकार किया है। मेरे लिए परम संतोष का विषय है कि यह विनम्र प्रयास ऋणशोधन की दिशा में एक क्षुद्रनिमित्त बन सका।

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण का यह सौभाग्य था कि उसकी सारी सामग्री कविराज जी से प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा संगृहीत थी और छपने के पूर्व उसका प्रत्येक शब्द उनकी आँखों से गुजरा था किन्तु इस संस्करण की परिवर्धित सामग्री का अधिकांश अपरोक्ष माध्यम से संचित है। उसका सब कुछ अपना देखा सुना था, इसका बहुत कुछ श्रीचरणों के पार्श्ववर्तियों से श्रुत तथा गृहीत है। जो सामग्री गोपनीय मानकर प्रथम संस्करण में उन्होंने रोक ली थी उसे पुनः सम्मिलित करना संतापराध होता, अतः उससे विरत रहना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।

यह ग्रन्थ प्रथम बार १९६८ ई० में निकला था। उसके बाद कविराज जी धराधाम पर आठ वर्ष और विद्यमान रहे। उनका लोकांतरण १२ जून १९७६ को हुआ। अतः नवीन संस्करण में इस मध्यवर्तीकाल की जीवनगाथा प्रस्तुत करना आवश्यक था। ग्रन्थान्त के 'उत्तरचरित' शीर्षक सातवें अध्याय द्वारा उसकी पूर्ति हुई है। इस बीच भौतिक दूरी तथा प्रपंचग्रस्त जीवन की विशेषताओं के कारण इन पंक्तियों का लेखक कविराज जी के अखंड-सान्निध्य से वंचित रहा। यह आचार्यपाद की ही कृपा का प्रसाद था कि उनके अनुगतों तथा कुटुम्बियों ने खुले हृदय से समस्त वांछित सूचनाएँ देकर जीवनी का शेषांश पूरा करने में यथोचित योगदान किया। इस हेतु बहन प्रेमलता शर्मा, श्रीचंद्रशेखर स्वामी, श्री सीताराम पांडेय, श्री जगदीश्वर पाल तथा श्रीमती लीना बनर्जी का मैं अत्यंत आभारी हूँ। प्रेमलता जी ने बाबा की रुग्णता तथा अंतिम समय के चित्र देकर विशेष अनुगृहीत किया है। कविराज जी के पौत्र शशिशेखर तथा पौत्रवधू सौ० शिवानी ने 'बाबा' के घरेलू जीवन के कुछ महत्वपूर्ण संस्मरण देकर प्रस्तुत वृत्त को सजीवता प्रदान की है। उत्तरदायित्व-बोध तथा उसके निर्वाह के लिए मैं साधुवाद के साथ ही उनके आत्मिक विकास की कामना करता हूँ।

मेरे लिए यह बड़े हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ के माध्यम से कविराज जी जैसे एकांत साधक की आध्यात्मिक उपलब्धियों की चर्चा देश के कोने-कोने में फैली और सूदूर प्रांतों के जिज्ञासु तथा साहित्यप्रेमी उनके जीवन, साधनापद्धति तथा कृतित्व की ओर आकृष्ट हुए। कितने तो स्वयं लंबी यात्रा करके उनके दर्शनार्थ काशी गये। राजस्थान निवासी स्वामी रामसुखदास ऐसे गीतातत्वज्ञ महात्मा उनमें से एक थे। कितने साधकों ने मेरे पास पत्र लिखकर और प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर कविराज जी की साधना-विषयक जिज्ञासाएँ कीं, उनका पता पूछा और दर्शन की अभिलाषा व्यक्त की। कुछ भोले लोगों को तो जीवनीलेखक होने के नाते मुझको भी साधना का तत्वज्ञ समझने की भ्रान्ति हो गयी और सीधे पत्र लिखकर अपनी शंकाओं का समाधान करने का अनुरोध किया। डालमिया ट्रस्ट के संचालक इस ग्रन्थ पर 'हरजीमल डालमिया पुरस्कार' प्रदान करके ही संतुष्ट नहीं हुए, माँ आनन्दमयी आश्रम पर जाकर श्रीचरणों की पूजा की और अभिनंदन-पुरस्सर पत्रपुष्प अर्पित किये। राष्ट्रकवि दिनकर ने पत्राचार तथा प्रत्यक्ष संपर्क

के समय पुस्तक की शुभाशंसा की। प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने पर शतशः व्यक्तियों ने मौखिक रूप से तथा पत्र द्वारा दूसरा संस्करण शीघ्र निकालने के लिए अनुरोध किया।

हिन्दीतर प्रान्तों में भी इसका व्यापक प्रचार हुआ, जिससे प्रांतीय भाषाओं में रूपान्तर की माँग बढ़ी। महाराष्ट्र तथा गुजरात के आध्यात्मिक प्रवृत्ति के पाठकों की प्रेरणा से बंबई के प्रसिद्ध प्रकाशक वोरा एंड कम्पनी के संचालक श्री एम० के० वोरा ने इसके मराठी तथा गुजराती संस्करण प्रकाशित करने की अनुमति प्राप्त की। उनके प्रयास से मराठी संस्करण (संक्षिप्त) 'सिद्ध योग्यांच्या सान्निध्यात्' शीर्षक से श्री गणेश नीलकंठ पुरंदरे द्वारा अनूदित होकर १६७६ ई० में प्रकाश में आया। गुजराती संस्करण प्रकाशनाधीन है। बंगला तथा अंग्रेजी संस्करण अपनी सीमाओं तथा कविराज जी के तिरोधान के अनन्तर उनके संग्रह की उपयोग-सम्बन्धी जटिलताओं के कारण अब तक नहीं निकल सका, फिर भी प्रयास हो रहा है, उसकी सिद्धि ब्रह्मलीन आचार्यपाद के अनुग्रह पर निर्भर है।

प्रस्तुतग्रंथ के इस देशव्यापी स्वागत का कारण मेरे विचार में उसके अंतर्गत संचित महासिद्ध योगी का साधनापुष्ट पांडित्य तथा गूढ़ जीवनानुभव है, उसमें अपना भाग केवल उतना ही है जितना शास्त्रलेखन में जड़ लेखनी का अथवा मलयानिल के संस्पर्श से चंदन का रूप प्राप्त करने में काष्ठ का होता है। यह मेरा परम-सौभाग्य था कि श्रीचरणों ने इस प्रवाहपतित जीव को बरबस खींचकर अपनी जीवन-गाथा के प्राकट्य का माध्यम बना लिया। चिन्मयतत्वकथा के अन्तर्गत पाठकों को जहाँ भी जड़ता दिखाई पड़े उसे इस अहंग्रस्त माध्यम की न्यूनता मानकर उपेक्षित कर दें।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने प्रथम की भाँति प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में भी असामान्य रुचि ली। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। विशेषकर इसलिए कि कागज तथा छपाई की गगनचुंबी दरों के बावजूद उन्होंने मध्यमवर्ग के अध्येताओं को दृष्टि में रखकर इसका सुलभ संस्करण निकालने की व्यवस्था कर दी।

अंत में इस पावन ग्रन्थ के उपादान तथा निमित्त दोनों कारणों के संयोजक महापुरुष की व्यापक आत्मा के प्रति साष्टांग प्रणति निवेदन करते हुए प्रमादवश की गयी त्रुटियों के लिए मैं क्षमायाचना करता हूँ।

भगवतीप्रसाद सिंह

श्री रामविवाह, सं० २०३६
साकेत, बेतियाहाता
गोरखपुर

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

कविराज जी महाराज के लोकान्तरण के बाद उनकी देहलीला की पुण्यगाथा 'मनीषी की लोकयात्रा' का यह द्वितीय और प्रकाशन क्रमानुसार तृतीय संस्करण अध्यात्मनिष्ठ पाठकों तथा उनके असंख्य देशी-विदेशी श्रद्धालुओं एवं अनुगतों को सादर अर्पित है। इधर लगभग एक वर्ष से यह ग्रन्थ अलभ्य हो गया था। यह संतोष की बात है कि जिज्ञासुओं के परितोषार्थ विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने इसे अपेक्षाकृत कम मूल्य में सुलभ होने की व्यवस्था कर दी। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के संक्षिप्त मराठी तथा गुजराती संस्करण वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं। बंगला और अंग्रेजी संस्करण निकालने के प्रस्ताव विचाराधीन हैं। उचित व्यवस्था हो जाने पर ही उनका प्रकाशन सम्भव हो सकेगा।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चित संतों तथा आध्यात्मिक तत्वों के विषय में समाज के विभिन्न वर्गों एवं स्तरों के सदाशयी व्यक्तियों के पत्र हमारे पास इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन काल (१९६८ ई०) से लेकर आज तक निरन्तर आ रहे हैं। तत्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में अपनी असमर्थता निवेदित करने के बाद भी उनके संतोष के लिए कुछ लिखना पड़ता है, इस सुझाव के साथ कि वे अपनी शंकाओं के समाधान हेतु उस दिव्यपुरुष की व्यापक आत्मा से आर्तभाव से स्वयं प्रार्थना करें। कविराज जी कहा करते थे, 'सद्गुरु वर या बैल नहीं है, जिसे ढूँढ़ने के लिए दर-दर भटकना आवश्यक हो, अध्यात्मजगत में प्यासे का कुएँ के पास जाना अनिवार्य नहीं है। यहाँ कुआँ प्यासे के पास जा सकता है बस प्यास सच्ची होनी चाहिए। तीव्र जिज्ञासा होने पर परमसत्ता गुरु के रूप में शिष्य के समक्ष स्वयं प्रकट हो जाती है।'

भगवान की असीम कृपा से कविराज महाशय की जन्म शताब्दी वर्ष सं० २०४४ में उनकी जीवनलीला का तीसरा ग्रन्थावतार हुआ और अल्प समय में यह चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो रहा है। हमारा विश्वास है कि इसके माध्यम से यश एवं ख्याति से दूर भागने वाले उस कालजयी ऋषि के चरित, तत्वज्ञान तथा दिव्य अनुभूतियों का संस्पर्श प्राप्त कर अगणित लोग आत्मोत्थान के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भगवतीप्रसाद सिंह

श्री रामनवमी, सं० २०४८
साकेत, बेतियाहाता,
गोरखपुर

•

विषय-सूची

■

१
जीवन-कथा

उत्तर गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म का जो पुनरुत्थान हुआ, बंगभूमि में उसका व्यापक प्रभाव महाराज आदिशूर के शासनकाल में १०६३ ई० के आस-पास दिखायी पड़ा। इसी समय मध्यप्रदेश से पाँच कुलीन ब्राह्मण बंगवास के लिये आमंत्रित हुए। इनमें शांडिल्यगोत्रीय भट्टनारायण अन्यतम थे। कालांतर में इन्हीं के एक वंशज गोपाल ने पूर्ववंग के मैमनसिंह जिले में स्थित गायनाकंदी नामक गाँव में अपना स्थायी निवास बना लिया। उनके वंशधर राम 'बागची' उपाधि से विभूषित किये गये। नवाबी-शासन में जब इस कुल के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने चिकित्सक वृत्ति अपना ली तो बागची वंश के अंतर्गत ही उन्हें 'कविराज' पदवी प्राप्त हो गयी। गोपीनाथजी का आविर्भाव वारींद्र श्रेणी के ब्राह्मणों की इसी शाखा में हुआ।

पूर्वज

भट्टनारायण
|
गोपाल
|
पक्षधर
|
शक्तिधर
|
लोहाई
|
लोकनाथ
|
हरिदास
|
श्रीधर
|
राम (बागची) — नारायण (चौधरी) — गोपाल (चक्रवर्ती)
|
राघव (राम (बागची) के वंशज)

कृष्णजीवन यादवेंद्र

हरिदेव रघुदेव

रघुनाथ अमर शंभु वैद्यनाथ

खोसाल उदय स्वरूप नेहाल कमलाकांत

दीनन्धु

चन्द्रनाथ

वैकुंठनाथ

गोपीनाथ

जितेंद्रनाथ (दिवंगत)

शशिशेखर
(वर्तमान)
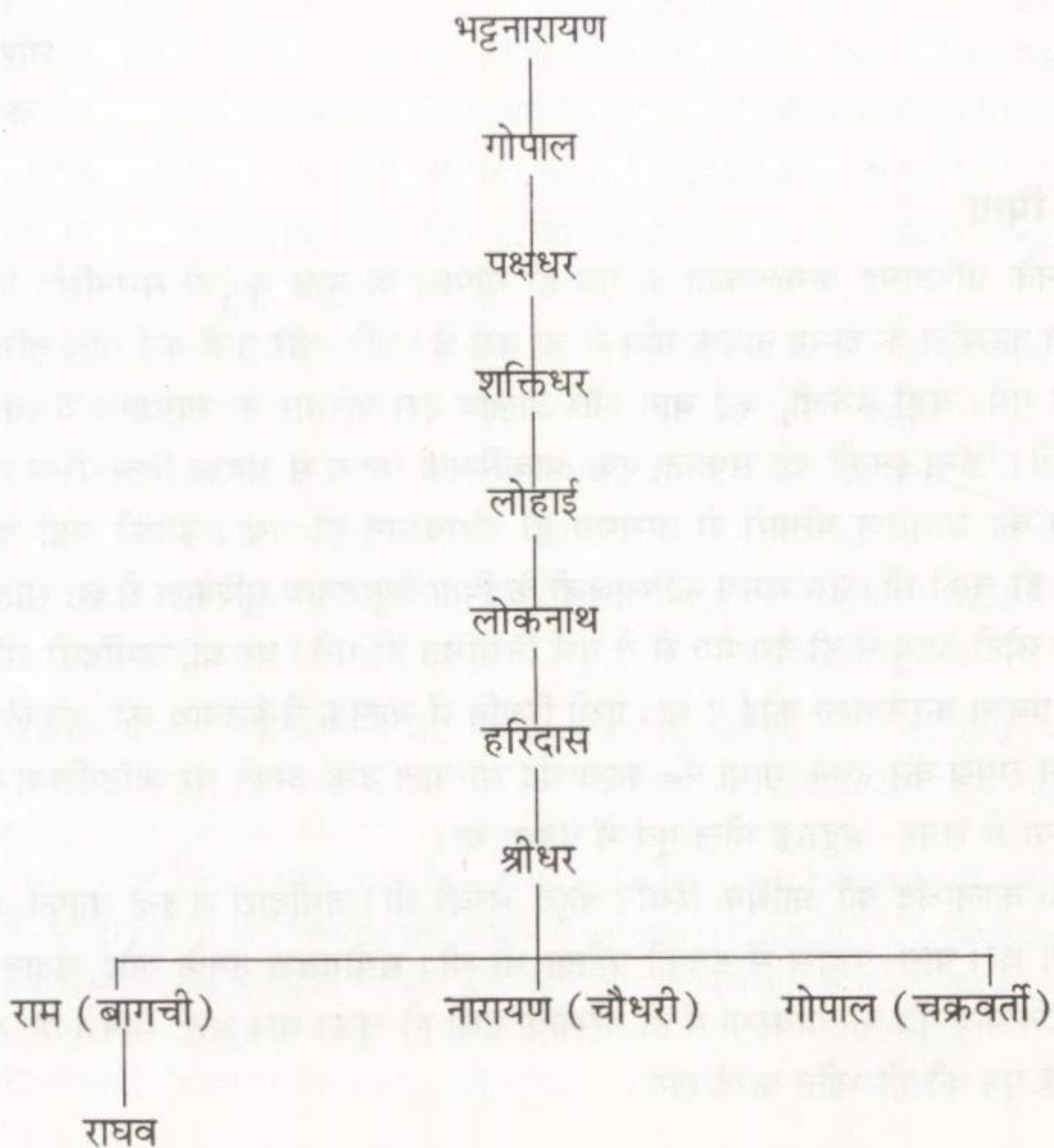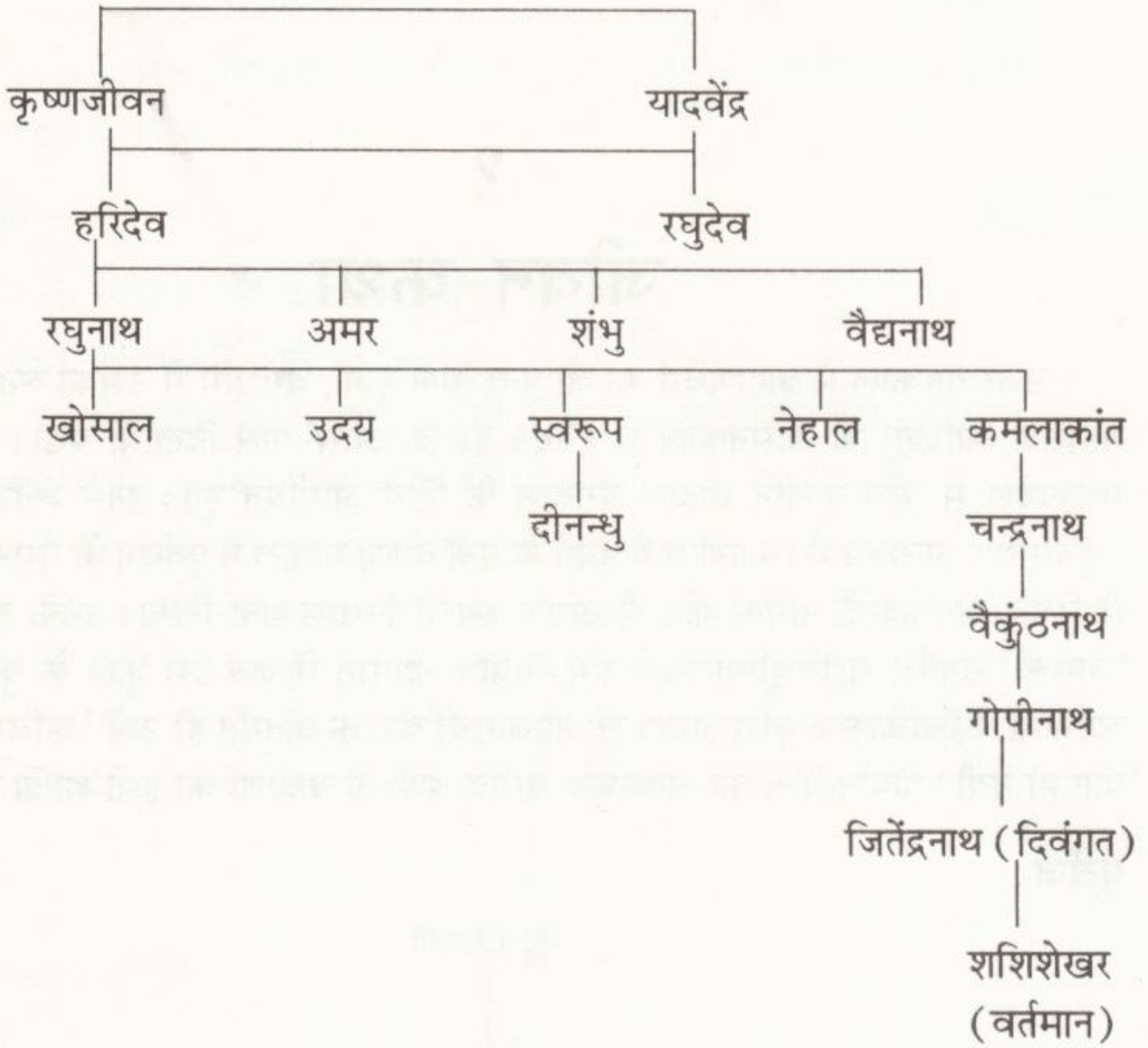
माता-पिता

इनके प्रपितामह कमलाकांत के पूर्व ही गोपाल के कुछ कुटुंबी मैमनसिंह जिले की टांगाइल तहसील के दान्या नामक गाँव में जा बसे थे। धीरे-धीरे उन्हें कई गाँव वृत्ति रूप में प्राप्त हो गये। बड़ी हवेली, कई बाग और तालाब इस परिवार के सामंतीय वैभव के मूर्त प्रतीक थे। किन्तु इनकी यह संपन्नता एक आकस्मिक घटना से सहसा छिन्न-भिन्न हो गयी। चंद्रनाथ का साधारण बीमारी से असमय ही देहावसान हो गया। उनकी पत्नी पहले ही दिवंगत हो चुकी थीं। उस समय कविराजजी के पिता वैकुठंनाथ मुश्किल से छ: सात वर्ष के थे। इस छोटी आयु में ही दैवयोग से वे पूर्ण निराश्रित हो गये। घर था, जमींदारी थी, किन्तु उसका प्रबन्ध करनेवाला कोई न था। ऐसी स्थिति में बालक वैकुंठनाथ को अकेले छोड़ना उचित न समझ कर उनके मामा पं० कालाचंद सान्याल उन्हें अपने घर कांठालिया ले गये। यह दान्या से सत्रह-अट्ठारह मील पूर्व में पड़ता था।

पं० कालाचंद की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। जमींदारी से इन्हें काफी आमदनी हो जाती थी। पास-पड़ोस में उनकी प्रतिष्ठा भी थी। संयोगवश उनके कोई संतान न थी। उनका एकमात्र पुत्र बाल्यावस्था में ही परलोकवासी हो चुका था। अत: भानजे का लालन-पालन वे पुत्र की ही भाँति करने लगे।

उन्होंने तत्कालीन प्रथानुसार बाल्यावस्था में ही वैकुंठनाथ का विवाह धामराई[1] के प्रसिद्ध मौलिक परिवार में, १८७६ ई० में, कर दिया। वैकुंठनाथजी की पत्नी सुखदासुन्दरी देवी धामराई के यशोमाधव-देव-मंदिर के सेवक रामजीवनराय मौलिक के वंशज हरिश्चंद्र राय मौलिक की पुत्री थीं। मौलिकजी की पत्नी इनको जन्म देने के कुछ ही दिनों बाद दिवंगत हो गयी थीं। अत: इनका पालन-पोषण उसी ग्राम की एक वृद्धा महिला वामासुंदरी ने किया। हरिचंद्रराय का देहावसान हो जाने पर बामासुंदरी ने ही वैकुंठनाथ से इनके विवाह की व्यवस्था की। इसके बाद धर्ममाता वामासुंदरी का घर ही इनका नैहर हो गया।

वैकुंठनाथ की प्राथमिक शिक्षा कांठालिया में ही हुई। माध्यमिक शिक्षा के लिए मामा ने उन्हें ढाका भेजा। वहाँ उन्होंने जगन्नाथ स्कूल से एंट्रेंस तथा ढाका कालेज से एफ० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। उच्चशिक्षा के लिए पं० कालाचंद ने उन्हें कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में भर्ती कराया। वैकुंठनाथजी ने इसी कालेज से १८८५ ई० में बी० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ पास की। दर्शन, अंग्रेजी तथा संस्कृत—तीनों विषयों में उन्हें विशेष योग्यता के अंक मिले थे। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय में आनर्स की कक्षाएँ प्रारंभ हुईं। वैकुंठनाथ इसके प्रथम वर्ग (बैच) के विद्यार्थी बने। उनके मित्रों तथा साथियों में नरेंद्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानंद), सर ब्रजेन्द्रनाथ शील, सतीशचंद्र मुखर्जी (प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद के गुरु)—ऐसी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में आविर्भूत बंगाल की विशिष्ट प्रतिभाएँ थीं। आनर्स परीक्षा में भी उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपने विषय में प्रथम श्रेणी के साथ सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इसके बाद वे गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज (कलकत्ता) में एम० ए० (प्रथम वर्ष) में प्रविष्ट हुए। दैवयोग से वार्षिक परीक्षा के पूर्व वे अकस्मात् रोगाक्रांत हुए और थोड़े ही दिन बीमार रहकर ३० अप्रैल, १८८७ को कलकत्ता में ही उनका परलोकवास हो गया।

आविर्भाव—इस घटना के पाँच महीने बाद सुखदासुन्दरी के गर्भ से कविराजजी का जन्म धामराई के वामासुंदरी के घर पर २२ सौर, बुधवार सं० १९४४ (७ सितंबर, १८८७ ई०) को हुआ। इस अनाथ बालक के लिए अब दो आश्रय स्थल थे—कांठालिया में पिता के मामा पं० कालाचंद सान्याल और धामराई में नानी वामासुंदरी का घर। इन दोनों गाँवों में १७-१८ मील का अंतर था। माता सुखदासुन्दरी देवी इस एकमात्र आशा की किरण को छाती से लगाये अपने दुर्दिन इन्हीं दोनों स्थानों में बारी-बारी से निवास करते हुए काटने लगीं।

---

१. धामराई (प्राचीन धर्मराजिका) पूर्ववंग में बौद्धों का प्रमुख केन्द्र था। भागवत धर्म की पुन:प्रतिष्ठा के उपरांत पूर्व-मध्यकाल में 'जगन्नाथपुरी' की भाँति इसे भी वैष्णव-तीर्थ का रूप देकर यशोमाधवदेव के नाम से यहाँ चतुर्भुज नारायण की मूर्ति स्थापित की गयी। १६वीं शती में इसका पुनरुद्धार हुआ और रामजीवनराय मौलिक नामक एक धर्मप्राण भक्त ने इसके प्रथम दिव्य मंदिर का निर्माण कराया। देशविभाजन के पूर्व यहाँ का रथयात्रा-महोत्सव पुरी से भी अधिक धूमधाम के साथ मानया जाता था। इस अवसर पर सुसज्जित ६४ पहियों वाला विशाल देवरथ निकला था, जो गरिमा में संपूर्ण भारत में अद्वितीय माना जाता था। यह रथ १२-१४ वर्षों के अंतर से पुनर्निमित होता रहता था। परंपरा किसी न किसी रूप में अब भी चल रही है। यहाँ के तीन उत्सव मुख्य हैं—रथयत्रा, देवोत्थान एकादशी और माघी पूर्णिमा। जगन्नाथपुरी की तरह यहाँ भी प्रसाद का विक्रय होता है।

नाम—आरंभ में धर्मनानी वामासुंदरीजी ने इनका नाम 'निवारण' रखा, किन्तु उनकी पुत्री (कविराजजी की मौसी) स्वर्णमयी इन्हें 'अक्खय' (अक्षय) नाम से ही पुकारती थी। जन्मपत्री में ज्योतिषी ने राशिनाम 'अश्विनी' दिया। कुछ दिनों बाद जब ये माता के साथ कांठालिया आकर रहने लगे तब पं० कालाचंद सान्याल इन्हें 'गोपीनाथ' कहने लगे। इसका कारण था उनके घर में स्थापित राधामाधव विग्रह की संज्ञा ही 'गोपीनाथ' होना। इस प्रकार गोपीनाथ उनके गृहदेवता थे। घर में और कोई बच्चा न था, अत: वे इस बालक को उन्हीं का प्रसाद मानकर उसी नाम से अभिहित करने लगे। उपनयन के बाद जब तक कविराजजी कांठालिया में रहे, इन गृहदेवता की नियमित रूप से पूजा करते थे।

प्रारंभिक शिक्षा—गोपीनाथजी की प्रारंभिक शिक्षा कांठालिया के प्राइमरी स्कूल में हुई। यहीं ९ वर्ष की आयु में १८ फरवरी, १८९६ ई० को उपनयन-संस्कार हुआ। १८९८ ई० तक ये कांठालिया में ही बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ते रहे। इसी समय धामराई में एक नया अंग्रेजी स्कूल खुला। अत: १८९८ ई० की जुलाई में माता जी उक्त स्कूल में इनका नाम लिखने के उद्देश्य से कांठालिया से धामराई चली आयीं। नये अंग्रेजी स्कूल की आठवीं कक्षा में इनका प्रवेश हुआ। प्रधानाचार्य राजेंद्रलाल वसाक के प्रयत्न से इसमें तीसरी कक्षा तक की पढ़ाई की व्यवस्था हो गयी।[1] इस विद्यालय में संस्कृत के अध्ययन में इन्हें पं० हाराणचंद चक्रवर्ती तथा पं० प्रसन्नकुमार चक्रवर्ती ऐसे सुयोग्य अध्यापकों का निर्देशन प्राप्त हुआ। संस्कृत भाषा तथा साहित्य के प्रति कविराजजी के हृदय में निष्ठा उत्पन्न करने का श्रेय इन्हीं आदि गुरुओं को है।

तेरह वर्ष की छोटी आयु में ही पं० कालाचंद ने सं० १९०० में इनका विवाह कर दिया। इनकी धर्मपत्नी कुसुमकामिनी देवी के पिता पं० ब्रजशंकर अर्धकाली वंश से संबद्ध थे और निकटवर्ती ग्राम हालालिया के निवासी थे। उनके छोटे भाई पं० कार्तिकशंकर तर्कालंकार उस इलाके के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे कुशाग्रबुद्धि गोपीनाथ पर बहुत स्नेह रखते थे।

कांठालिया में रहते अभी तीन वर्ष भी नहीं पूरे हुए थे कि इनके अन्यतम अभिभावक पं० कालाचंद सान्याल की ८ जुलाई, १९०१ ई० को अकस्मात् धनुष-टंकार (टिटनस) रोग से मृत्यु हो गयी। उनके पास पर्याप्त जमीन-जायदाद, पशुधन और नकद रुपया था और वह सब गोपीनाथ को देने का वे संकल्प भी कर चुके थे। परन्तु कालदंड के सहसा प्रहार के कारण वे उसके वैधानिक स्थानान्तरण की व्यवस्था नहीं कर पाये। पट्टीदारों ने उनकी आँखें मुँदते ही घर पर ताला लगा दिया और सारी जायदाद पर कब्जा कर लिया। इनकी विधवा माता सुखदासुंदरी देवी का यह दूसरा नीड़ भी उजड़ गया। वे पुन: निराश्रित हो गयीं।

माध्यमिक शिक्षा—कालाचंदजी की मृत्यु का समाचार पाकर पं० कार्तिकशंकर ने कविराजजी की माता को हालालिया बुला लिया। परन्तु ये धामराई में ही वामासुंदरीजी के यहाँ पढ़ते रहे। तीसरी कक्षा पास करने के बाद उच्च-माध्यमिक शिक्षा के लिये बाहर जाने की समस्या उपस्थित हुई। उस समय कांठालिया के दो युवक ढाका में पढ़ते थे—अविनाशचंद्र सरकार और यदुनाथ सान्याल। इनमें दूसरे अर्थात् यदुनाथ सान्याल कालाचंदजी के सगोत्री

---

१. उन दिनों कक्षाओं का क्रम आजकल की पद्धति के ठीक विपरीत था। कक्षाएँ १० से आरंभ होती थीं और उनकी समाप्ति १ पर होती थी। माध्यमिक शिक्षा की परिणति यही होती थी।

चंद्रनाथ सान्याल के पुत्र थे। इन दोनों छात्रों ने गोपीनाथ को ढाका चलने की प्रेरणा दी। अविनाशचंद्र सरकार ने इनके भोजन तथा निवास की व्यवस्था करने का भार लिया। ढाका में इनके एक और परिचित व्यक्ति थे—अनाथबंधु मौलिक। वे जगन्नाथ स्कूल तथा कालेज दोनों के अधीक्षक थे और धामराई के ही निवासी थे। वे बालब्रह्मचारी थे। मौलिकजी के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक वारदी के महात्मा लोकनाथ ब्रह्मचारी योगिराज थे, जिनकी आयु १६० वर्ष की बतायी जाती थी। इन लोगों के प्रयत्न से गोपीनाथजी का प्रवेश के० एल० जुबली स्कूल की दूसरी कक्षा में हो गया। मौलिकजी ने स्कूल से शुल्क-मुक्ति की सुविधा दिला दी। अविनाशचंद्र ने जिंदाबहरलेन के एक मेस में भोजन का प्रबध करा दिया। कुछ दिनों बाद उसे छोड़कर ये अरमनी टोला के यूनियन मेडिकल मेस में भोजन करने लगे और माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति तक वहीं रहे।

भोजन और शुल्क की व्यवस्था हो जाने के बाद भी किताब, कापी तथा अन्य आवश्यक खर्चों के लिए धनाभाव के कारण परेशानी बनी रही। कार्तिकशंकरजी जो थोड़ी-बहुत सहायता कर देते थे, उससे काम पूरा नहीं पड़ता था। पढ़ाई में इससे बाधा पड़ती थी।

इन दिनों इनकी पितृभूमि दान्या के निकट आलीशाकंदा गाँव में शाह भैरवनाथराय नाम के एक प्रतिष्ठित व्यापारी रहते थे। उनकी पं० कालाचंद से बड़ी मित्रता थी। शाहजी दीन छात्रों को बराबर सहायता दिया करते थे। कहने पर गोपीनाथ जी की भी वे अवश्य सहायता कर देंगे, इस विश्वास के साथ पं० कार्तिकशंकर तर्कालंकार इन्हें साथ लेकर शाहजी के घर गये। गोपीनाथ का परिचय प्राप्त कर वे बहुत प्रसन्न हुए और दस रुपया मासिक वृत्ति देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त मेस के खर्चे के लिए भी चार रुपया प्रतिमास देने का वचन दिया। चलते समय उन्होंने पं० कार्तिकशंकर से कहा, 'इस बालक के निमित्त पं० कालाचंद छः हजार रुपये बिना किसी लिखा-पढ़ी के मेरे पास रख गये हैं।' कार्तिशंकर उनकी इस ईमानदारी को देखकर आश्चर्यचकित हो गये।

इस प्रकार आर्थिक चिंता से मुक्त हो गोपीनाथजी ढाका के जुबली स्कूल में दत्तचित्त होकर पढ़ने लगे। इस समय उस विद्यालय के प्रधानाचार्य थे विश्वेश्वर बनर्जी और उनके प्रथम सहायक थे बाबू मथुरामोहन चक्रवर्ती, जिन्होंने आगे चलकर ढाका में 'शक्ति-औषधालय' की स्थापना की। ये लोकनाथ ब्रह्मचारी (योगिराज) के शिष्य और धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। छात्रों के नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए ये विद्यालय में नियमित रूप से प्रवचन करते थे। गोपीनाथजी के बालजीवन पर इनका बहुत प्रभाव पड़ा। इस विद्यालय में इन्होंने संस्कृत, पहले वामाचारण विद्यालंकार से पढ़ी, बाद में पं० रजनी कांत अमीन से। अमीन जी की पाणिनि व्याकरण में अद्‌भुत गति थी। अंग्रेजी व्याकरण के शिक्षक पं० नवकांत चट्टोपाध्याय बड़े विद्या-व्यसनी थे। उनका अपना एक विशाल पुस्तकालय था। मेधावी छात्रों को वे उसमें से पुस्तकें पढ़ने के लिए दिया करते थे। वे ब्राह्मसमाजी थे। बंगाल के लोकविश्रुत राजनीतिक नेता विपिनचंद्र पाल ब्राह्मसमाज के उत्सवों में कभी-कभी ढाका आया करते थे। उनसे गोपीनाथजी का परिचय अमीन महाशय ने ही कराया था।

ढाका में उन दिनों बड़ी धार्मिक जागृति थी। सभी धर्मों के अनुयायियों में पारस्परिक सौहार्द था। सामाजिक जीवन में हिन्दू-मुस्लिम भेद न था। गोपीनाथजी प्रति रविवार को

ब्राह्म-समाज-मंदिर में जाते और भजन-कीर्तन सुनते थे। बंगाल के प्रसिद्ध पत्र 'बांधव' के संपादक रायबहादुर कालीप्रसन्न घोष से उनकी सर्वप्रथम भेंट ढाका में ही हुई। बंकिम बाबू की 'वंगदर्शन' पत्रिका के बाद, प्रचार की दृष्टि से 'बांधव' का ही प्रधान स्थान था। काली प्रसन्न बाबू जयदेवपुर राज्य के मैनेजर थे, किन्तु अपने समय में वे प्रशासन से अधिक साहित्यिक रूप में ख्यात थे। उनकी लिखी हुई 'निशीथ चिंता', 'निभृत चिंता', 'प्रभात चिंता', 'भक्तिर जय' आदि पुस्तकों की तत्कालीन धार्मिक समाज में बड़ी धूम थी। उनके भतीजे सुबोधचंद्र गुह गोपीनाथजी के सहपाठी थे। उन्हीं के द्वारा घोष बाबू से इनका परिचय हुआ था। अपने निजी पुस्तकालय में उन्हें हजारों पुस्तकों से घिरे बैठे हुए देखकर ये बहुत प्रभावित हुए थे। घोष बाबू ने इनकी छात्रावस्था में लिखी गयी कई कविताएँ 'बांधव' में छापकर इन्हें प्रोत्साहित किया था।

ढाका में शिक्षा ग्रहण करने के समय एक और व्यक्ति ने इनके मानसिक विकास में पर्याप्त योग दिया। वे थे वहाँ के सर्वाधिक प्रतिष्ठित वकील आनंद राय। बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के अन्यतम प्रवर्तक गोविंदराय इनके बड़े भाई थे। इनके दौहित्र यतींद्र चौधरी गोपीनाथजी के सहपाठी थे। इनका अरमनी टोला में अपना एक बहुत बड़ा मकान था। यतींद्र के संबंध से ये उनके घर बराबर जाया करते थे। आनंदराय का एक निजी पुस्तकालय था, जिससे इन्हें पढ़ने के लिए पुस्तकें आसानी से मिल जाती थीं। डायरी लिखने की आदत धामराई में ही पड़ गयी थी जो ढाका में भी बनी रही।

संस्कृत पढ़ने में इनकी विशेष अभिरुचि अध्ययन-काल के आरंभ से ही थी। कांठालिया में पिताजी द्वारा संगृहीत संस्कृत ग्रंथों का विशाल कोष इन्हें रिक्त रूप में मिला था। इनके मन पर अध्ययन का संस्कार इन्हीं पुस्तकों से पड़ा। कांठालिया की प्राथमिक पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते हुए इनकी इच्छा सिद्धांत-कौमुदी पढ़ने की हुई। यह ग्रंथ पिताजी के पुस्तकालय में तारानाथ तर्कवाचस्पति की टीका सहित इन्हें मिल गयी। उसी के साथ रमानाथ सरस्वती कृत 'छात्रबोध व्याकरण' की भी एक प्रति हाथ लगी। इसी समय इन्होंने सैकड़ों 'उद्भट श्लोक' संगृहीत करके कंठस्थ कर लिये। धामराई में संस्कृत व्याकरण की शिक्षा पं० कन्हई लाल गोस्वामी से ग्रहण की थी। इस संबंध में एक अन्य स्थानीय विद्वान् पं० अक्षयकुमारदत्त गुप्त से भी इनको पर्याप्त सहायता मिली। ढाका के छात्रजीवन में पं० रजनीकांत अमीन तथा पंडित विधुभूषण गोस्वामी के सान्निध्य में इनको पाणिनीय व्याकरण का गंभीर अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गोस्वामीजी ढाका कालेज के वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक थे। पं० वैकुंठनाथ के मित्र तथा सहपाठी होने के नाते वे इनसे विशेष स्नेह रखते थे। इन विद्वानों के संपर्क में आकर गोपीनाथजी की पाणिनी-व्याकरण के सांगोपांग अध्ययन की साध पूरी हुई।

अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन की रुचि भी ढाका में ही जागृत हुई । इसका श्रेय जगन्नाथ कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल हेरंबचंद्र मैत्र को है। वे अंग्रेजी में एम० ए० थे और इमर्सन तथा वर्ड्सवर्थ के विशेषज्ञ के रूप में ख्यात थे। उनकी प्रेरणा से एंट्रेंस कक्षा में ही गोपीनाथजी ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवियों—शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन, वर्ड्सवर्थ तथा इमर्सन की सारी कृतियाँ पढ़ डालीं। रिचर्डसन द्वारा संपादित अंग्रेजी काव्य-संग्रह सदैव इनके पास रहता था। मैत्रजी के बाद ढाका कॉलेज के नवनियुक्त प्रोफेसर बहुभाषाविद्

हरिनाथ दे महोदय के पांडित्य से ये बहुत प्रभावित हुए[1] इन विद्वानों की छत्रछाया में अध्ययनरत रहकर इन्होंने ढाका के जुबिली स्कूल से १९०५ में एंट्रेस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।

उच्च माध्यमिक शिक्षा—परीक्षा समाप्त होते ही ये ढाका से घर चले आये। यहाँ सहसा मलेरिया से पीड़ित हुए और महीनों चारपाई पर पड़े रहे। इससे १९०५ ई० के जुलाई मास से आरंभ होने वाले शिक्षा-सत्र में ये इंटर कक्षा में प्रवेश न ले सके। एक वर्ष पढ़ाई स्थगित रही। रोगमुक्त होने पर डॉक्टरों की सलाह से वायु-परिवर्तन के उद्देश्य से ये पहले मधुपुर गये, किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण वहाँ से देवधर चले आये और वैद्यनाथ-मंदिर के पास एक पंडे के यहाँ ठहरे। खर्चे की तंगी थी, इसलिये एक बंगाली महाजन के लड़के का ट्यूशन कर लिया। संयोगवश कलकत्ता के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'अमृत-बाजार-पत्रिका' के संस्थापक तथा 'हिंदू स्पिरिचुअल मैगजीन' के संपादक बाबू शिशिरकुमार घोष भी इस समय देवधर-वास कर रहे थे। ये बंगाल में परलोक-संबंधी आलोचना के युगप्रवर्तक महापुरुष माने जाते थे। कविराजजी कभी-कभी इनसे मिलकर अध्यात्मचर्चा करते थे। देवधर-प्रवास से स्वास्थ्य में संतोषजनक प्रगति हुई। डेढ़ महीने के बाद ये घर चले आये और वर्ष का अवशिष्ट काल वहीं बिताया। इस बीच इनकी भेंट अपने पिता के मित्र तथा सहपाठी रामदयाल मजूमदार महाशय से हुई । वे टांगाइल के प्रमथ-मन्मथ इंटर कॉलेज के प्रिंसिपल थे और उस क्षेत्र में आनुष्ठानिक तथा भावुक धर्माचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे। मजूमदारजी ने एफ० ए० की पढ़ाई के लिए इन्हें बनारस जाने की सलाह दी और वहाँ अपने साले नानीलाल राय चौधुरी के द्वारा पूरी व्यवस्था करा देने का आश्वासन दिया। किंतु अनेक कारणों से अध्ययन के लिए इनका तत्काल काशी जाना संभव न हो सका।

जुलाई के आरंभ में ही एफ० ए० में भर्ती होना था। इसके लिए अब निकटवर्ती शिक्षा-केन्द्रों ढाका तथा कलकत्ता में से ही कोई एक स्थान चुना जा सकता था। बहुत जल्पना-कल्पना के बाद कलकत्ता जाना निश्चित हुआ। जून के अंतिम सप्ताह में द्रव्य की थोड़ी-बहुत व्यवस्था हो जाने पर ये कलकत्ता गये। वहाँ अपने पुराने मित्र सतीशचंद्र मल्लिक के पास ठहरे। मल्लिकजी धामराई के ही निवासी और स्थानीय अंग्रेजी स्कूल के हेडमास्टर सुरेशचंद्र मल्लिक के छोटे भाई थे। उनसे परामर्श करने के बाद पहले इनका विचार रिपन कॉलेज में प्रवेश लेने का हुआ। उक्त कॉलेज के प्रिंसिपल रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी ने सहायता का आश्वासन भी दिया, परन्तु इन्होंने प्रवेश नहीं लिया। इसके दो कारण थे—कलकत्ता में पढ़ाई चलाने के लिए अपेक्षित आर्थिक स्रोत का अभाव तथा मलेरिया का भय। इन्हीं बाधाओं के कारण नवप्रतिष्ठित नेशनल कालेज में भी, जिसके प्रिंसिपल कुछ ही दिनों बाद अरविन्द घोष बनाये गये, मित्रों के अनुरोध के बावजूद इन्होंने अपनी भर्ती नहीं करायी।

जयपुर गमन—इन्हीं दिनों बंगाल में स्वदेशी आंदोलन बड़े जोरों से चला। देशप्रेम की लहर प्रांत भर में एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ गयी। वीरभूमि राजस्थान तथा महाराष्ट्र के प्रति वहाँ की जनता के हृदय में अगाध श्रद्धा उमड़ पड़ी। गोपीनाथजी उससे अप्रभावित न रह सके। इसी के आस-पास 'बांधव' में धर्मानंद महाभारती का जयपुर पर एक लेख

---

१. ये ढाका कॉलेज से स्थानांतरित होकर कलकत्ता की इंपीरियल लाइब्रेरी के पुस्तकालयाध्यक्ष हो गये थे।

निकला। उसमें वहाँ के नगर-नियोजक विद्याधर चक्रवर्ती तथा प्रधानमंत्री संसारचंद्र सेन का उल्लेख था। इन बंगाली महाशयों का नाम देखकर इन्हें आशा बँधी कि जयपुर जाने पर वहाँ इनकी पढ़ाई का कोई न कोई प्रबंध अवश्य हो जायेगा। यह सोचकर १९ वर्ष की छोटी आयु में ही इस निराश्रित बालक ने जयपुर जाने का इरादा पक्का कर लिया। संकोच केवल एक बात का था और वह थी, हिंदी प्रदेश में जाकर अध्ययन करने की इच्छा रखते हुए भी वहाँ की भाषा बोलने और समझने में इनकी असमर्थता। सोचा, कुछ दिन अंग्रेजी से काम चलायेंगे तब तक हिंदी सीख लेंगे। इस ऊहापोह में जून बीत गया।

जुलाई, १९०६ में जयपुर यात्रा की तैयारी करके ये घर से कलकत्ता आये और अपने मित्र सतीश के यहाँ ठहरे। उन्हें साथ लेकर हवड़ा गये और वहाँ से १६ जुलाई, १९०६ ई० को एक ऐसे अपरिचित प्रदेश के लिये प्रस्थान किया जहाँ अपना कहलाने वाला कोई न था। साथ में किताबों से भरा एक बक्स था। उसे गार्ड के डिब्बे में रखवा दिया। बिस्तरे का बंडल अपने साथ लेकर बैठे। रास्ता अनजान था। इसलिए चलते समय एक रेलवे टाइम-टेबुल स्टेशन पर ही खरीद लिया था। दिन भर मार्ग में पड़ने वाले खेत-बाग, नगर, नद-नदी कौतुहलपूर्वक देखते रहे। रात में सो गये। दूसरे दिन फर्रुखाबाद में एक बलिष्ठ सज्जन इनके डिब्बे में चढ़े। वे देखने में फौजी से लगते थे। उनके साथ एक लड़का था, वह अंग्रेजी जानता था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि साथ वाले सज्जन उसके बड़े भाई हैं, जो उसे जयपुर के महाराजा कालेज में नाम लिखाने के लिए ले जा रहे हैं। जयपुर जानेवाले साथी पाकर ये बहुत प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर में घनिष्ठता हो गयी। तीनों यात्री साथ ही गाड़ी से आगरा स्टेशन पर उतरे। शहर में जाकर एक मारवाड़ी बासा में भोजन किया, कुछ देर तक घूमने के बाद स्टेशन चले आये। अपराह्न में जयपुर जानेवाली गाड़ी पर बैठे। बाँदीकुई होते हुए रात में जयपुर पहुँच गये। समान स्टेशन पर रख दिया। उक्त सज्जन के साथ नगर के बाहर एक सराय में ठहरे। सबेरे मित्र के साथ कालेज में प्रवेश तथा निवास की व्यवस्था के लिए निकले। सड़क के दोनों ओर गुलाबी रंग के पंक्तिबद्ध भवनों को देखकर नगरयोजक की कलात्मक निपुणता की मन ही मन प्रशंसा करते हुए हवा-महल के निकट पहुँचे। साथी सज्जन के एक परिचित इसी के पास रहते थे। उन्हीं के घर तीनों ठहर गये। भोजन का प्रबंध बाजार में कर लिया।

दूसरे दिन महाराजा कॉलेज गये। प्रिंसिपल संजीवन गांगुली से मिलकर अपने आने का उद्धेश्य बताया। वे इन्हें इतनी दूर आया हुआ जानकर आश्चर्य में पड़ गये। बोले, 'हमारे यहाँ हॉस्टल नहीं है। तुम्हें असुवधिा होगी। रहने का प्रबंध स्वयं करना पड़ेगा।' ये बातें अंग्रेजी में हो रही थीं, किंतु इनकी प्रगल्भता देखकर प्रिंसिपल के पास बैठे हुए एक अन्य बंगाली महाशय मातृभाषा में अपने विचार प्रकट करने का लोभ संवरण न कर सके, कहा, 'पूर्वबंग' में रहते हो। वहाँ बाढ़ बहुत आती है। नौका द्वारा एक से दूसरी जगह जाना पड़ता है। कहीं-कहीं पड़ोसी के घर जाने के लिए भी नौका ही एकमात्र साधन रहती है।' गोपीनाथजी ने अपने तत्संबंधी अनुभव बताये। उसे सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुये। इसके बाद उन्होंने जयपुर में इनके ठहरने का स्थान पूछा। उत्तर मिला, 'कोई निश्चित ठिकाना नहीं है।' फिर पूछा, 'कहाँ भोजन करते हो?' इन्होंने कहा, 'बाजार में।' ये प्रश्नकर्ता सज्जन कॉलेज के उपाचार्य

और महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सबसे छोटे भाई मेघनाथ भट्टाचार्य थे। प्रिंसिपल के कमरे से जब गोपीनाथजी बाहर निकलने लगे तो वे बोले, 'बाहर रुके रहना, मेरे घर चलना, वहीं बातें होंगी।'

कॉलेज में छुट्टी होने पर गोपीनाथजी मेघनाथ बाबू के साथ उनके घर गये। घर कॉलेज के पास ही था। तिमंजिली कोठी थी। उसमें मेघनाथजी के साथ उनके तीन लड़के और एक भतीजा (म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री का पुत्र) रहता था। मेघनाथजी ने परिवार के सभी लोगों को एकत्र कर इनका परिचय कराया। सबने स्वागत किया। अध्ययन-कक्ष में देर तक बातें होती रहीं। वे इनकी साहित्यिक योग्यता तथा धार्मिक प्रवृत्ति को देखकर बहुत प्रभावित हुए। चलते समय कहा, 'जब तक कहीं स्थायी प्रबंध न हो जाय, यहीं भोजन करना।'

निवास-स्थान की चिन्ता तब भी बनी रही। प्रात:काल प्रधानमंत्री संसारचंद्र सेन से मिलने की योजना बनायी। उनकी कोठी का पता लगाने में बड़ी परेशानी हुई। इसका मुख्य कारण था इनका बंगाली उच्चारण 'शोंशार बाबू'। दोपहर तक भटकते रहे, कहीं पता न चला। कॉलेज गये। मिलनेवाले छात्रों के सामने अपनी कठिनाई रखी। जानकर विद्यार्थियों को निदान खोजने में देर नहीं लगी। वे बोले, 'तुम्हें सेनबाबू, प्रधानमंत्री या बाबू संसारचंद्र सेन कहना चाहिए था। उन्हें यहाँ कौन नहीं जानता।' इसके बाद उन लोगों ने कोठी का पता बता दिया। निर्दिष्ट मार्ग से थोड़ी ही देर में ये संसार बाबू के बँगले पर पहुँच गये। वह नगर के बाहर था। दरबान ने पूछने पर बताया, 'अभी आराम कर रहे हैं, संध्या को मिलेंगे'। निराश होकर डेरे पर लौट आये। संध्या को निश्चित समय पर पुनः उपस्थित हुए। कोठी के सामने हरे मैदान में कुर्सियाँ लगी थीं। प्रधानमंत्री के साथ प्रिंसिपल गांगुली और कुछ सरकारी अफसर बैठे थे। इन्होंने चपरासी के द्वारा अपने आने की सूचना भेजी। तत्काल ही बुला लिये गये। संसार बाबू ने आने का प्रयोजन पूछा। इन्होंने रहने के स्थान का प्रबंध कर देने की प्रार्थना की। इतने में गांगुली महाशय बोल उठे, 'इस लड़के ने पढ़ने के लिए इतनी दूर आकर बड़ी मूर्खता की है।' संसार बाबू ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा, 'यह कोई नयी बात नहीं है। मैं भी ऐसे ही आया था और रमेशचंद्र दत्त भी। दोनों कहाँ से कहाँ पहुँच गये।' फिर वे इनकी ओर मुड़कर बोले,'तुम नियमित रूप से संध्या को यहाँ भोजन किया करो। मेरा लड़का अविनाशचंद्र सेन महाराजा का निजी उपसचिव है। उससे मिलकर मेरा संदेश कह देना, रहने की व्यवस्था कर देगा।'

गोपीनाथजी दूसरे दिन अविनाश बाबू से मिले। अपना परिचय और प्रधानमंत्री का संदेशा कहा। उन्होंने पूछा,'कोई राजनीतिक संसर्ग तो नहीं?' इन्होंने नकारात्मक उत्तर दिया। वे बोले, 'तो मेरे ही घर पर रहो। मेरा एक छोटा भाई है और दो लड़के—ये तीनों तुम्हारी संरक्षकता में पढ़ेंगे। किन्तु इसके पूर्व तुम्हें कलकत्ता से किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का संस्तुत्यात्मक पत्र मँगाना पड़ेगा। बात पक्की तभी होगी।' गोपीनाथजी ने इसके लिए एक पत्र कलकत्ता भेज दिया।

इसके कुछ दिनों बाद स्टेशन से नगर की ओर आते समय इनकी भेंट अपने परिचित बाबू कालीपद चटर्जी से हो गयी। वे इन्हें अपने निवास पर ले गये। विशाल भवन था। पूछने पर पता चला कि वह जयपुर के भूतपूर्व प्रधानमंत्री कांतिचंद्र मुखर्जी का घर है। कालीपदजी

के अनुरोध से इन्होंने वहाँ दो-चार दिन भोजन किया। इतने में कलकत्ता से पत्र आ गया। उसे लेकर अविनाश बाबू से मिले। अनुमति मिल जाने पर स्टेशन से सामान ले आये और स्थायी रूप से उनके घर पर रहने लगे।

महाराजा कॉलेज में प्रवेश—कॉलेज में फीस नहीं लगती थी। एफ० ए० कक्षा में प्रवेश हो गया। संसार बाबू के घर से कॉलेज दो मील दूर पड़ता था। उनके लड़कों के साथ इन्हें बैल के रथ पर बैठकर जाने की सुविधा प्राप्त थी। इसलिए आने-जाने में कोई कष्ट नहीं होता था। कॉलेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर नवकृष्ण राय, देश-प्रसिद्ध विद्वान सर ब्रजेंद्रनाथ शील के प्रिय शिष्य थे। एक दिन उन्होंने कक्षा में वर्ड्सवर्थ की 'दि वर्ल्ड इज टू मच विद अस' शीर्षक कविता, व्याख्या के लिए दी। कापियाँ देखते समय गोपीनाथजी द्वारा की गयी व्याख्या उन्हें बहुत पसंद आयी। उसकी प्रशंसा में उनके मुँह से सहसा निकल गया, 'आई थिंक आई कुड नॉट हैव रिटेन बेटर' (संभवत: मैंने स्वयं इससे अच्छा न लिखा होता)। बाद में इनकी आर्थिक विपन्नता का समाचार पाकर उन्होंने कॉलेज से १५ रु० मासिक छात्रवृत्ति का प्रबन्ध करा दिया। इस व्यवस्था से ये बाहरी खर्चों से निश्चिंत हो गये। इस प्रकार भोजन, निवास, सवारी, कापी, पुस्तकों तथा अन्य आवश्यक खर्चों की चिंता से मुक्त होकर ये एकनिष्ठ भाव से अध्ययन में जुट गये।

उधर बंगाल में पं० कालाचंद के देहावसान के बाद माता और पत्नी इनकी ससुराल हालालीया में रह रही थीं। यह दोनें कुलों के लिए अशोभनीय था। इसलिए इनके ससुर पं० कार्तिक शंकर ने भैरवनाथ राय से मिलकर गोपीनाथजी के निमित्त रखी हुई धरोहर में से उनकी पितृभूमि दान्या में एक छोटा सा मकान बनवा देने का अनुरोध किया। शाहजी ने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दो-तीन महीने में मकान तैयार हो गया। माताजी बहू को साथ लेकर १९०२ ई० के सितम्बर मास में दान्या चली गयीं। १९१२ ई० तक ये सब वहीं रहीं। घर का खर्चा इनके पिता के एक मित्र और कालाचंद सान्याल के भतीजे ब्रजेंद्रमोहन सान्याल स्नेहपूर्वक चलाते रहे।[१]

जयपुर में इन्हें साधारणतया सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। फिर भी सान्यालजी कपड़े आदि के लिए यदा-कदा दस-बीस रुपया भेज दिया करते थे।

कलकत्ता कांग्रेस में प्रतिनिधि

इन्हीं दिनों 'वंगभंग' का आंदोलन चला। १९०६ ई० में अरविंद घोष बड़ौदा से कलकत्ता आये और नेशनल कॉलेज के प्रिंसिपल बनाये गये। उनके द्वारा संचालित 'वन्दे मातरम्' पत्र से उक्त आंदोलन को बहुत बल मिला। गोपीनाथजी इस पत्र को बराबर पढ़ते और मित्रों के साथ अल्बर्ट-म्यूजियम के मैदान में बैठकर राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। देशबन्धु चितरंजनदास तथा विपिनचंद्रपाल के लेखों और व्याख्यानों ने भी इनकी राष्ट्रीय भावना के विकास में पर्याप्त योग दिया। १९०६ ई० के दिसम्बर में

---

१. सान्याल महाशय की बड़ी इच्छा थी कि इनका परिवार पुन: कांठालिया आ जाय। इसलिए उन्होंने अपनी ओर से जमीन देकर वहाँ १९१२ ई० में इनके लिए एक मकान निर्मित कराया और इनके परिवार को साग्रह ले जाकर उनमें रखा। वे लोग १९१४ ई० में कविराजजी के सरस्वतीभवन (बनारस) में नियुक्त हो जाने के समय तक इसी स्थान में रहे।

'कांग्रेस' का कलकत्ता अधिवेशन हुआ। इसके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे। गोपीनाथजी राजस्थान के प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यरूप में इसमें सम्मिलित होने के लिए कलकत्ता गये और अपने एक मित्र सतोषचंद्र मल्लिक के यहाँ ठहरे। इस अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी, बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्रपाल, देशबंधु चितरंजन दास, लालमोहन घोष, सुरेनद्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपत राय ऐसी विभूतियों का एक साथ दर्शन कर तथा उनके व्याख्यानों को सुनकर इनकी चिरआकांक्षा पूरी हुई।

अधिवेशन समाप्त होने पर ये जयपुर लौट आये और पढ़ाई पूर्ववत् चलने लगी। स्थानीय पब्लिक लाइब्रेरी के अतिरिक्त कांतिबाबू तथा संसारचंद्रजी के निजी पुस्तकालय से पुस्तकें लेकर पढ़ते रहे। डायरी में इनका सारांश नोट कर लिया करते थे।[१] मन ऊबने पर कभी-कभी आमेर अथवा गलता चले जाते थे।

जयपुर के प्रवास-काल में मेघनाथ बाबू के परिवार से कविराजजी का कुटुंबवत् संबंध स्थापित हो गया। उन्हें ये 'गुरु जी' कहा करते थे। उनका घर नैहाटी में था, जो बंकिम बाबू के कर्मस्थल हुगली से एक फर्लांग दूर था। दोनों स्थानों के बीच में गंगा बहती थीं। छात्रावस्था में ये काफी दिनों तक उनके संपर्क में रह चुके थे। उनके साथ बैठकर इन्होंने कई ग्रंथों का श्रुतलेखन किया था। ये बंकिम बाबू के जीवन की अनेक कथाएँ सुनाया करते थे। राजस्थान में वैष्णव-धर्म के विकास के इतिहास से ये पूर्ण परिचित थे और चैतन्य मत के विशेषज्ञों में गिने जाते थे। जयपुर का गोविंद-मंदिर इसी संप्रदाय का था। उनके पुजारी बंगाली वैष्णव होते थे। अमेर में शिलादेवी की मूर्ति महाराज मानसिंह ने बंगाल से लाकर स्थापित की थी।

जयपुर में इन्हें पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त भारतीय धर्म, दर्शन, पुरातत्व और यूरोप के विभिन्न देशों के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य के गंभीर अध्ययन का अवसर मिला। फ्रेंच, स्पेनिश, इटैलियन, जर्मन तथा रूसी साहित्य का अनुशीलन उनके अंग्रेजी अनुवादों द्वारा किया। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर से लेकर उन्नीसवीं शती तक के कवियों तथा आलोचकों की शायद ही कोई ऐसी प्रमुख कृति हो जो इनकी आँखों से न गुजरी हो। इनके विशेष प्रिय कवि और लेखक थे—वर्ड्सवर्थ, बाइरन, टेनीसन, ब्राउनिंग और कार्लाइल (अंग्रेजी), गेटे और शिलर (जर्मन), टाइल्स्टाय (रूसी) तथा मोलियर, वॉल्तेयर और रूसो (फ्रेंच)। इनके साथ ही बौद्ध-धर्म तथा वेदांत-विषयक ग्रंथों का भी अनुशीलन चलता रहा। बनारस

१. कविराजजी को अपने पिता पं० वैकुंठनाथ की पुस्तकों में एक डायरी मिली थी जिसके आरंभिक पृष्ठ पर लिखा था, 'नो डेज रिमेम्ब्रैंस शैल दि ग्रेट रिग्रेट।' इससे इन्हें डायरी लिखने का महत्त्व ज्ञात हुआ था। किंतु डायरी लिखने की प्रत्यक्ष प्रेरणा इन्हें श्री अक्षयकुमारदत्त गुप्त के संपर्क में आने पर प्राप्त हुई। कॉलेज में अध्ययन करते समय इन्होंने तीन प्रकार की डायरियाँ बनायीं १. लिट्रेरी (साहित्यिक) डायरी—इसके अन्तर्गत ये प्रतिदिन जो साहित्यिक पुस्तक पढ़ते थे, उसका प्राप्ति-स्थान, वर्ण्य विषय तथा संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणी लिखते थे। २. ह्वैर इज इट् (यह कहाँ है) शीर्षक दूसरी डायरी में अक्षर क्रम से पाठ्य विषय से संबद्ध शब्द—व्यक्ति, वस्तु या भाव संबंधी और उनके प्राप्ति-स्थान का निर्देश रहता था। यह प्रणाली इन्होंने डॉ० वेनिस से सीखी थी। कहा जाता है प्रसिद्ध प्राच्यविद् डॉ० कीथ की भी यही शैली थी। ३. इंडियन क्रोनोलाजी (भारतीय तिथिक्रम) के अंतगर्त ६०० वर्ष ई० पू० से लेकर भारतीय इतिहास की समस्त महत्वपूर्ण घटनाओं तथा व्यक्तियों का तिथिक्रम से ब्योरा अंकित किया जाता था।

संस्कृत कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० आर्थर वेनिस द्वारा अनूदित 'वेदान्त मुक्तावली' तथा 'वेदान्त परिभाषा' को पढ़कर उस विदेशी विद्वान् के प्रति इनके हृदय में तभी से श्रद्धा हो गयी थी।

गुलेरी परिवार से परिचय—जयपुर में पढ़ते हुए ही ये गुलेरी परिवार के संपर्क में आये। पं० चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'[१] पहले जयपुर कॉलेज के विद्यार्थी रह चुके थे और अब मेयो कॉलेज, अजमेर, में संस्कृत के अध्यापक थे। उनका परिवार जयपुर में रहता था, इसलिए वे छुट्टियों में वहाँ बराबर आया करते थे। उनके पिता पं० शिवराम अच्छे साधक थे। पं० चंद्रधर से गोपीनाथजी की घनिष्ठता थी। वे बंगला भी जानते थे, चंद्रनाथ वसु के 'हिंदुत्व' तथा 'शकुंतलातत्व' नामक ग्रंथों का उन्होंने हिंदी रूपांतर किया था। उन्हीं के माध्यम से गोपीनाथजी का रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा से परिचय हुआ।

कलकत्ता के लिए प्रस्थान—इस प्रकार १९०६ से लेकर १९१० ई० तक महाराजा कालेज जयपुर में इनका अध्ययन चलता रहा। १९१० के अप्रैल में बी० ए० द्वितीय वर्ष की परीक्षा देने इलाहाबाद गये। परीक्षा समाप्त होने पर जयपुर वापस आये। एक महीने के बाद ग्रीष्मावकाश हुआ। इसके आरंभ में ही स्नेहीजनों तथा मित्रों से मिलकर इन्होंने कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया। संसार बाबू का देहान्त एक वर्ष पहले हो चुका था, मेघनाथजी के भी अवकाश ग्रहण का समय निकट था। आते समय अंग्रेजी के प्रोफेसर नवकृष्ण राय ने इन्हें सर ब्रजेन्द्रनाथ शील से मिलने के लिये एक परिचय-पत्र दिया। 'कलकत्ता रिव्यू' में शील महाशय के प्रकाशित लेखों को देखकर उनसे मिलने की इच्छा कविराजजी के मन में बहुत दिनों से थी। नवकृष्ण बाबू द्वारा प्राप्त उनकी कृति 'नियो रोमांटिक मूवमेंट इन बंगाली लिटरेचर' पढ़कर इनकी उत्कंठा और बढ़ गयी थी।

सर ब्रजेंद्रनाथ शील से भेंट—कलकत्ता पहुँच कर ये अपने बालसखा के पास ठहरे। दूसरे दिन दोनों मित्र साथ ही शील महोदय से मिलने गये। वे १५, राममोहन साहा स्ट्रीट में रहते थे। दोपहर का समय था। सतीश को बाहर बरामदे में बैठाकर गोपीनाथजी अंदर गये। कमरे में प्रवेश करते ही देखा, चौकी पर मसनद लगाये एक वृद्ध महाशय बैठे हैं, जिनकी दाढ़ी सफेद है और मुद्रा गंभीर। इन्होंने उनसे कहा, 'डॉ० शील से मिलना है, सूचना भेज दें।' वृद्ध महाशय ने पूछा, 'कहाँ से आये हो?' अब इन्हें आभास हो गया कि शील महोदय यही हैं, उत्तर दिया, 'जयपुर से।' यह कहते हुए इन्होंने नवकृष्ण बाबू का पत्र बढ़ा दिया। उसे देखते ही वे बोले, 'यह तो नवकृष्ण के हाथ का लिखा है।' नवकृष्ण बाबू ने अपने पत्र में परिचयार्थ कविराजजी के पिता वैकुंठनाथजी का नाम लिखा था। उसे पढ़कर वे गद्‌गद हो गये। बोले,'तुम बैकुंठ के लड़के हो, फिर नवकृष्ण की चिट्ठी की क्या आवश्यकता?' इसके बाद उन्होंने इन्हें निकट बैठाकर इनके पिता के छात्रजीवन से संबद्ध अपने कई संस्मरण सुनाये और कहा, 'वैकुंठनाथ हमसे केवल एक साल छोटे थे। मुझे यह नहीं मालूम था कि उनकी कोई संतान भी है।' गोपीनाथजी ने निवेदन किया : 'पिताजी की मृत्यु के पाँच महीने बाद मेरा जन्म हुआ था। इसीलिए उनके घनिष्ठ मित्र और संबंधी भी मुझे नहीं पहचानते।'

---

१. 'उसने कहा था' नामक कहानी के प्रसिद्ध लेखक।

इसके अनंतर शील महोदय ने इनके पिता के सहपाठी, रिपन कालेज के प्रोफेसर जानकीनाथ भट्टाचार्य के लिय एक पत्र देकर कहा : 'वे तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। अवश्य मिल लेना!'

शील महोदय से विदा होने के पूर्व इन्होंने उनसे कुछ तत्वों के विषय में अपनी शंकाओं का समाधान कर लेना आवश्यक समझा।

उन दिनों 'संजीवनी' के संपादक बाबू कृष्णकुमार मित्र की पुत्री कुमुदिनी मित्र एक मासिक पत्र निकालती थीं। कृष्णकुमारजी कविराजजी की पितृभूमि दान्या के निकटस्थ वाघिल नामक गाँव के निवासी थे। इस संबंध से उनके परिवार से इनकी घनिष्ठता हो गयी थी। कुमुदिनीमित्र द्वारा संपादित पत्रिका इनके पास बराबर आती थी। इस पत्रिका के एक अंक में अरविंदघोष का एक 'काराकाहिनी' (स्टोरी आव दि अलीपुर जेल) शीर्षक लेख निकला था, जिसमें लेखक ने अपने प्रथम वासुदेव-दर्शन का विवरण दिया था। कविराजजी ने डॉ० शील से जिज्ञासा की : 'अरविंद घोष के संबन्ध में आपका क्या विचार है?' शील महोदय का उत्तर था : 'ही इज ए पोएट, मिस्टिक एंड प्रॉफेट।' अरविंद के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा देखकर गोपीनाथजी ने डॉ० शील का ध्यान अरविंद के उक्त लेख की ओर आकृष्ट करते हुए पूछा : 'क्या आप कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं?' डॉ० शील ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। डॉ० शील ब्राह्मसमाजी थे। अत: वे कृष्णावतार में आस्था नहीं रखते होंगे, अपनी इस धारणा को पुष्ट करने के लिये ही इन्होंने पुनः प्रश्न किया : 'क्या आप अरविंद द्वारा प्राप्त कारागार में वासुदेव-दर्शन और उपदेश में विश्वास करते हैं?'

शील महोदय का स्वर गंभीर हो गया, बोले : 'इसका क्या तात्पर्य है? कृष्ण पृथ्वी पर रहे हों या नहीं, उससे कृष्ण-दर्शन के क्या संबंध? दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। क्राइस्ट (ईसा) की ऐतिहासिकता पर भी लोगों को संदेह है, किन्तु सेंट थेरेसा तथा विभिन्न देश और विभिन्न काल के अनेक ईसाई महात्माओं ने उनके दर्शन देने का उल्लेख किया है। पृथ्वी पर अवतरित होकर शरीर धारण न करते हुए भी उनकी आत्मा तो दर्शन दे ही सकती है। ऐतिहासिक कृष्ण तथा तत्त्वरूपी कृष्ण का पृथक् अस्तित्व नितांत संभव है। उनके प्रति जिसकी जैसी भावना होगी वे उसे तदनुरूप प्राप्त हो जायेंगे। विश्व का आध्यात्मिक साहित्य इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। सभी संत झूठे नहीं हो सकते। ध्याता के भावानुसार परमशक्ति स्वयं ही तदाकार हो प्रत्यक्ष हो जाती है। यह तथ्य है, ऐतिहासिकता से इसका कोई सरोकार नहीं?'

कविराजजी ने दूसरा प्रश्न किया : 'परलोकगत आत्मा की स्थिति के संबंध में आपका क्या विचार है?' शील महोदय का उत्तर था : ''संसार के विभिन्न देशों के विद्वानों ने गंभीरतापूर्वक विचार करके शरीरांत के अनंतर आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि की है, जन्मांतर संबंधी कथाओं के विवरण दिये हैं, छानबीन करके उनकी सत्यता का पता लगाया है और संबद्ध व्यक्तियों के फोटो भी लिये हैं। इसके अतिरिक्त मैं अपने निजी अनुभव के आधार पर भी कह सकता हूँ कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी उसकी आत्मा जीवित रहती है। कुछ समय पहले मेरी स्त्री का देहांत हो गया था। वे घर का सारा काम-काज देखती थीं। जमींदारी तथा संपत्ति-संबंधी कागजात भी वे ही रखती थीं, मैं इससे उदासीन था। वे सहसा बीमार पड़ीं और दो-तीन दिन के भीतर ही दिवंगत हो गयी। इस घटना के थोड़े समय बाद मुझे कुछ

दस्तावेजों की जरूरत एक मुकदमे के सिलसिले में पड़ी। मैं दिन भर ढूँढ़ता रहा। सारी आल्मारियाँ और बक्स छान डाले—कहीं पता न चला। इसी परेशानी में सो गया। रात में स्त्री का स्वप्न दर्शन हुआ । वे बोलीं : 'इतने चिंताग्रस्त क्यों हो?' यह कहकर उन्होंने आल्मारी ही नहीं उसका वह खाना भी बता दिया जिसमें दस्तावेज रखा था। मैंने उठकर इस तथ्य को एक कागज पर नोट कर लिया। इसी आधार पर प्रातः उस कागज को ढूँढ़ निकाला। मेरे दुःखातिशय को देखकर परिपरायणा स्त्री की आत्मा प्रकट हो गयी।''

इसके बाद उन्होंने इनको छात्रावस्था में ब्राउनिंग के अनुकरण में लिखी गयी अपनी कुछ कविताएँ दिखायीं और 'नियो रोमांटिक मूवमेंट इन बंगाली लिटरेचर' तथा 'जॉन कीट्स—हिज माइंड ऐंड आर्ट' शीर्षक दो लेखों के संग्रह तथा 'न्यू एसेज इन क्रिटिसिज्म' नामक अपनी लिखी अंग्रेजी की पुस्तक भेंट की।

कविराजजी ने भी ब्राउनिंग की कविता के प्रति अपनी रुचि व्यक्त की। डॉ० शील ने इन्हें डॉ० बर्डोकृत 'ब्राउनिंग इंसाइक्लोपीडिया' पढ़ने का सुझाव दिया। चलते समय कलकत्ता में ही रहकर इन्हें पाली से एम० ए० की सलाह देते हुए उन्होंने कहा : 'इसमें अनुसंधान का विस्तृत क्षेत्र है। सतीशचंद्र विद्याभूषण से कह दूँगा तुम्हारी मदद कर देंगे।' इन्होंने पत्र द्वारा, शील महोदय के साथ हुई इस भेंट का विवरण, नवकृष्ण बाबू के पास जयपुर भेज दिया।

स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए काशी आगमन—दो-चार दिन कलकत्ता रहकर ये दान्या चले गये। जून (१९१०) समाप्त हो रहा था। जुलाई से एम० ए० में प्रवेश लेना था, अतः उसके लिए स्थान निश्चित करना आवश्यक था। चार वर्ष पूर्व रामदयाल मजूमदार ने इन्हें काशी आने की प्रेरणा दी थी और वहाँ निवासादि की व्यवस्था करा देने का भी आश्वासन दिया था। उस समय ये भावुकतावश जयपुर चले गये थे, किंतु अब किसी ओर से सहायता न पाते हुए भी इनका मन काशी के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र जाने को कर ही नहीं रहा था। कलकत्ता में मलेरिया का भय था—बनारस की जलवायु में उससे मुक्त रहने की पूरी संभावना थी। इसके अतिरिक्ति जयपुर में अध्ययन करते हुए ये बनारस संस्कृत कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ० वेनिस की कृतियों को पढ़कर उनके प्रति आकृष्ट हुए थे। इन कारणों से कलकत्ता की अपेक्षा काशी जाना इन्हें अधिक श्रेयस्कर हुआ। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि इनके प्रपितामह पं० कमलाकांत के एक भतीजे पं० दीनबंधु कविराज काशीवास कर रहे हैं। उनकी आयु उस समय ८५ वर्ष की थी। वे पहले ताहिरपुर के राजा के यहाँ द्वार-पंडित थे। उक्त राजा साहब का एक मकान केदारघाट पर था, वे उसी में रहते थे। राज्य से उन्हें १५ रु० मासिक वृत्ति मिलती थी। राजा साहब भारतधर्म-महामंडल के संस्थापकों में से थे। गोपीनाथजी ने दादा जी के साथ ठहरने का निश्चय किया। उनके पास इस आशय का एक पत्र भेजा, तत्काल उत्तर आया : 'चले आओ।' जुलाई के आरंभ में इन्होंने अकेले ही काशी के लिए प्रस्थान किया।

काशी आकर ये दादाजी के पास केदारघाट पर ठहरे । मकान की दूसरी मंजिल पर एक खाली कमरा मिल गया, उसी में रहने लगे। एक वृद्धा वंगीय महिला रसोई बनाती थी, नौकर भी था। इससे अध्ययन के लिए पूरी सुविधा मिल गयी। अब कॉलेज में भर्ती होने की चिंता हुई। क्वींस कॉलेज में उस समय दो विभाग थे—एक अंग्रेजी का और दूसरा संस्कृत का।

अंग्रेजी विभाग मे एम० ए०, एम० एस-सी० की पढ़ाई होती थी और संस्कृत विभाग में प्राचीन परिपाटी से आचार्य तक की शिक्षा दी जाती थी। इन दोनों विभागों की कक्षाएँ एक ही भवन में लगती थीं। संस्कृत कॉलेज का समय प्रातः ६-३० से १० बजे तक था और अंग्रेजी विभाग का १० से ४ बजे सांयकाल तक। संस्कृत की कक्षाओं में अध्यापकों के लिए गद्दा-मसनद तथा छात्रों के लिए दरी की व्यवस्था थी और अंग्रेजी कक्षाओं में मेज-कुर्सी की। कॉलेज के हाल में पुस्तकालय था।

डॉ० वेनिस से साक्षात्कार और क्वींस कॉलेज में प्रवेश—ये कॉलेज आरंभ होने के समय से कुछ पहले पहुँच गये थे, इसलिए प्रिंसिपल से उनके बँगले पर ही मिल लेना उचित समझा। चपरासी द्वारा अपने आने की सूचना भेजी। वेनिस साहब अध्ययन कक्ष में बैठे कुछ लिख रहे थे। उसे बंद करके उन्होंने तुरंत ही इन्हें बुला लिया। पूछा : 'किस कक्षा में प्रवेश चाहते हो?'

इन्होंने कहा : 'पंचम वर्ष में।'

'बी० ए० कहाँ के पास किया है?'

'महाराज कॉलेज, जयपुर से।'

'वहाँ संजीवन बाबू प्रिंसिपल हैं, फिर यहाँ क्यों चले आये?'

'आपके नाम से आकृष्ट होकर।'

'मुझे कैसे जाना?'

इन्होंने बताया : 'सेकरेड बुक्स आव दि ईस्ट' में थिवो ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' के अनुवाद की भूमिका में आपके द्वारा प्राप्त सहायता के लिए आभार-प्रदर्शन किया है। यह ग्रंथ मैंने पढ़ा है। 'एपीग्राफिया इंडिका' में आसाम के एक शिलालेख पर आपके खोजपूर्ण निबंध के अतिरिक्त 'सिद्धांतमुक्तावली'[१] तथा 'सिद्धांतलेश' के अंग्रेजी अनुवाद भी मैंने देखे हैं। वेनिस साहब संस्कृत तथा पुरातत्त्व विषयक इनकी व्यापक जानकारी से प्रभावित हुए। उन्होंने एम० ए० (प्रथम वर्ष) में प्रविष्ट होने की सहर्ष अनुमति दे दी । उन दिनों स्वदेशी आंदोलन चल रहा था, इसलिए गवर्नमेंट कॉलेज की उच्चकक्षाओं में प्रवेश बहुत छानबीन के बाद ही मिलता था। विषय-निर्वाचन के संबंध में वेनिस साहब के पूछने पर इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और दर्शन में अपनी विशेष रुचि बतायी। वे बोले : 'प्रथम वर्ष में तो सब कुछ पढ़ना है, द्वितीय वर्ष में ग्रूपिंग (वर्ग-विभाजन) है। उस समय 'डी' ग्रुप ले लेना। उसमें भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, पुरालेखशास्त्र, मुद्राविज्ञान तथा पुरालिपिविद्या पढ़ायी जाती है। इन विषयों का अध्यापन मैं ही करता हूँ। दर्शन लेने की जरूरत नहीं है, अंग्रेजी की भी नहीं।' उन्होंने आगे कहा : 'मेरी इच्छा है कि इन विषयों के साथ ही तुम प्राचीन परिपाटी से संस्कृत का भी अध्ययन करो। इस समय हमारे यहाँ महामहोपाध्याय पं० कैलाशचंद्र शिरोमणि के सबसे योग्य शिष्य पं० वामाचरण न्यायाचार्य हैं, उनसे न्यायदर्शन पढ़ो। कल मुझसे कॉलेज में मिलना।' प्रिंसिपल के आदेशानुसार ये दूसरे दिन उनसे कॉलेज में मिले। उन्होंने पं० वामाचरण को बुलाकर इनको सौंप दिया। पंडितजी ने न्यायशास्त्र का

१. 'सिद्धांत मुक्तावली' (प्रकाशानंद विरचिता) अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी सहित संपादित। संपादक-आर्थर वेनिस, एम० ए० : प्रकाशक-ई० जे० लजरस एंड कं० बनारस, १८९८ ई०।

ग्रंथ 'तर्क-भाषा' कक्षा में पढ़ाना प्रारम्भ किया। 'भामती' स्वयं पढ़ लेने का आदेश दिया। डॉ० वेनिस पुरालेखशास्त्र पढ़ाने लगे।

उस समय भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग के संचालक सर जॉन मार्शल थे। वे वेनिस साहब के मित्र थे। खोज में प्राप्त होने वाले शिलालेखों के प्रतिचित्र,पाठोद्धार तथा आलोचना के निमित्त, वे वेनिस के पास बराबर भेजते रहते थे। वेनिस साहब कक्षा में अपने विद्यार्थियों के साथ उन पर विचार-विमर्श किया करते थे। यह कक्षा प्रात: लगती थी। अपराह्न में प्रोफेसर नार्मन पालि-प्राकृत पढ़ाते थे। इससे इन्हें दो बार कॉलेज आना-जाना पड़ता था। इस प्रकार केदारघाट से क्वींस कॉलेज आने-जाने में इन्हें प्रतिदिन ८ मील पैदल चलना पड़ता था। इनका दुर्बल शरीर यह परिश्रम सहन न कर सका। ये अस्वस्थ रहने लगे। परीक्षा का समय निकट आ गया।

आचार्य नरेंद्रदेव से प्रथम परिचय—१९११ ई० के मार्च में ये पंचम वर्ष की परीक्षा देने इलाहाबाद गये। बिहारीलाल की धर्मशाला में सामान रखकर उपयुक्त स्थान की तलाश में निकले। संयोगवश जयपुर के एक पुराने साथी, गंगाप्रताप गुप्त से भेंट हो गयी। वे कटरा के पास 'ला हॉस्टल' में रहते थे। उन्होंने अपने यहाँ ठहरने का प्रस्ताव किया, किन्तु अध्ययन में बाधा की संभावना देखकर इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। तब गुप्तजी ने इन्हें कटरा के पास ही रहने वाले अपने एक मित्र के साथ ठहरा दिया। वे मित्र (आचार्य) नरेंद्रदेव थे। उन्होंने गोपीनाथजी के रहने और भोजन की समुचित व्यवस्था करा दी। संयोगवश परीक्षाकाल में ही ये मलेरिया-ग्रस्त हो गये। नरेंद्रदेव ने बड़ी तत्परता से चिकित्सा करायी, जिससे परीक्षा सकुशल समाप्त हो गयी। उनकी आत्मीयता, उदारता और सेवाभाव से ये बहुत प्रभावित हुए। प्रथम परिचय में ही नरेंद्रदेवजी से इनकी घनिष्ठता हो गयी जो उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी।

अस्वस्थता अध्ययन में अंतराल—परीक्षा समाप्त होने पर ये काशी आये। बीमारी से अभी तक पूर्णतया मुक्ति नहीं मिली थी। अत: ग्रीष्मावकाश में घर (पूर्व-बंगाल) चले गये। वहाँ भी शारीरिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। छुट्टी बीतने पर १९११ ई० की जुलाई में पुन: बनारस लौटकर एम० ए० के द्वितीय वर्ष में प्रवेश लिया। किन्तु स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता ही गया। हृदय-रोग जोर पकड़ गया। वेनिस साहब को इसकी सूचना मिली। उन्होंने इनको एक वर्ष तक पढ़ाई स्थगित करके कलकत्ता जाकर दवा कराने की सलाह दी। वे इनकी आर्थिक स्थिति से भलीभाँति परिचित थे, अत: अपने विशेषाधिकार से पढ़ाई स्थगित करने पर भी इनके लिए छात्रवृत्ति मिलने की व्यवस्था करा दी। कलकत्ता जाकर इन्होंने हृदय-रोग के विशेषज्ञ डॉ० एस० के० मल्लिक तथा डॉ० आर० एल० दत्त से तीन महीने तक चिकित्सा करायी। साथ में माता सुखदासुंदरी देवी भी थीं। कुछ स्वस्थ होने पर डॉक्टरी सलाह से वायु-परिवर्तन के लिए १९११ ई० के अक्तूबर महीने में पुरी गये। परिचर्या के लिए दान्या के ही निवासी जानकीनाथ राय के पुत्र सुरेंद्रनाथ राय और राजेंद्रमोहन सान्याल (ब्रजेंद्रमोहन सान्याल के पुत्र) साथ गये। इस समय इनकी माता के मामा नवकुमार विश्वास, जो विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य थे, पुरी में ही, जटिया बाबा की समाधि के पास रहते थे। उन्होंने इनको स्वर्गद्वार मुहल्ले में समुद्र-तट पर हरिदास साधु की समाधि से संलग्न

एक मकान किराये पर दिला दिया। वहाँ की जलवायु से एक सप्ताह के भीतर ही इनका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो गया। ये पुरी से घर चले गये। वहाँ दो महीने के लगभग रहकर जनवरी, १९१२ ई० में पुनः काशी आ गये।

इस बीच पं० दीनबंधु कविराज केदारघाट का मकान छोड़कर ५३, देवनाथपुरा में रहने लगे थे। गोपीनाथजी वहीं ठहरे। कुछ दिन बाद इनके एक मित्र नृपेशचंद्र गुह ने हरद्वार चलने का प्रस्ताव किया। नृपेश बरीसाल के स्वदेशी आंदोलन के नेता अश्विनीकुमार दत्त के निकट संबंधी थे। कविराजजी स्वयं भी किसी स्वास्थ्यप्रद पर्वतीय प्रदेश की यात्रा करना चाहते थे। अतः तैयार हो गये। दोनों साथ ही हरद्वार गये। दो-ढाई महीने कनखल, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, हरद्वार, मंसूरी और देहरादून की सैर करते रहे। अप्रैल बीतते काशी लौट आये। इसके बाद कॉलेज में ग्रीष्मावकाश हो गया। ये दान्या चले गये।

स्नातकोत्तर (द्वितीय वर्ष) में पुनः प्रवेश—१९१२ ई० की जुलाई में इनका एम० ए० (द्वितीय वर्ष) में पुनः प्रवेश हुआ। जो छात्र इनसे एक वर्ष पीछे थे, अब सहपाठी हो गये। इनमें नरेंद्रदेव और हरिराम दिवेकर भी थे। ये तीनों डॉ० वेनिस के निर्देशन में पुरातत्त्व पढ़ने लगे। इस कक्षा में ब्राह्मी, कुषाण तथा गुप्तलिपि के ऐतिहासिक क्रम-विकास का अध्ययन एवं आलोचन होता था। पालि-प्राकृत-कक्षा में एक सहपाठी और थे—महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री के छोटे भाई पं० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग। वे व्यक्तिगत छात्र के रूप में केवल इसी कक्षा में बैठते थे। ये लोग प्रोफेसर नार्मन से पालि-प्राकृत के अतिरिक्त अँतरे दिन फ्रेंच और जर्मन भी पढ़ते थे। पं० वामाचरण के छोटे भाई ताराचरण भट्टाचार्य भी उनके सहपाठी हुए।

देवनाथपुरा से कॉलेज आने-जाने में कृशकाय गोपीनाथ को कष्ट होता था। आर्थिक चिंता का भार इसके ऊपर से था। ब्रजेंद्रमोहन सान्याल कुछ न कुछ भेजते रहते थे, किन्तु उससे खर्च पूरा नहीं पड़ता था। इस परेशानी को दूर करने के लिए इन्होंने औरंगाबाद में एक प्राइवेट ट्यूशन कर ली। वेनिस साहब को जब इसका पता लगा तो उन्होंने इनको दो छात्रवृत्तियाँ दिला दीं—'शेक्सपियर' तथा 'साधोलाल ट्रस्ट' स्कॉलरशिप। इसके साथ ही कॉलेज के छात्रावास में एक कमरा भी दे दिया। छात्रावास कॉलेज से सटा हुआ था। नरेंद्रदेव उसी में रहते थे। गोपीनाथजी पहले दिन उन्हीं के मेहमान रहे। दूसरे दिन १० अगस्त, १९१२ ई० को एक अलग कमरा मिल गया। उससे संलग्न कमरे में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के अध्यक्ष बाबू चिंतामणि घोष के दामाद नलिनीमोहन वसु रहते थे। वे गणित से एम० ए० कर रहे थे और डॉ० गणेशप्रसाद के विद्यार्थी थे। इनके अन्य समकालीन छात्रों में मुरलीधर ठाकुर, बलदेव मिश्र, गंगाधर मिश्र, गिरीशचंद्र अवस्थी, रामेश्वर देव, ललिताप्रसाद, मनसाराम, कालिकाप्रसाद और जानकीशरण विशेष उल्लेखनीय हैं।

१९१३ ई० के अप्रैल में ये नरेद्रदेव के साथ एम० ए० द्वितीय वर्ष की परीक्षा देने इलाहाबाद गये। मौखिक परीक्षा लेने के लिए पूना से डॉ० डी० आर० भंडारकर आये थे। वे जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में प्रकाशित पुरातत्त्व-संबंधी नवीन खोजों के विवरणों से इनका परिचय देखकर बहुत प्रभावित हुए।

वायु-परिवर्तन के लिए नैनीताल यात्रा—इसी महीने (अप्रैल, १९१३ ई०) के आरम्भ में प्रोफेसर नार्मन की अचानक मृत्यु हो गयी। उन्होंने आत्महत्या कर ली थी। नार्मन साहब का गोपीनाथजी पर बहुत स्नेह था। इस घटना से इनके हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा। मलेरिया का पुन: आक्रमण हो गया। तत्परता से दवा करने पर कुछ राहत मिली, किन्तु पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए। वेनिस साहब ने इन्हें स्वास्थ्य-लाभ के उद्देश्य से पहाड़ पर जाने की सलहा दी। वे उन दिनों शिक्षा संचालक के पद पर स्थानापन्न रूप में कार्य कर रहे थे। अपने मित्र ज्ञानेंद्रनाथ चक्रवर्ती से उन्होंने नैनीताल में इनके रहने के लिए व्यवस्था कराने का अनुरोध किया। चक्रवर्तीजी के दामाद जगदीशचंद्र चट्टोपाध्याय काश्मीर राज्य में अनुसंधान-विभाग के संचालक थे। इन्होंने ही काश्मीर-शैव-ग्रंथमाला की स्थापना की थी, जिसके अंतर्गत अनेक बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हुए। इनके मित्र अतुलचंद्र चटर्जी इंगलैंड में भारत के हाई कमिश्नर थे। वे कलकत्ता की 'डान सोसाइटी' के प्रतिष्ठापक और 'डान मैगजीन' के अधिष्ठाता सुप्रसिद्ध मनीषी, सतीशचंद्र मुखोपाध्याय के शिष्य थे। चटर्जी महोदय गर्मी के दिनों में प्राय: नैनीताल के तारा कॉटेज में आकर रहा करते थे। वे बड़े ही सज्जन तथा उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। चक्रवर्तीजी की प्रेरणा से उन्होंने गोपीनाथजी के लिए पुराने गवर्नमेंट हाउस में ठहरने का प्रबंध करा दिया। वेनिस साहब ने इसकी सूचना कविराजजी को दे दी।

दिल्ली में कश्मीरी गेट के पास कविराजजी के अन्यतम स्नेही मेघनाथ भट्टाचार्य के मित्र अक्षयकुमार मुखर्जी रहते थे। उन्ही के पास मेघनाथजी के पुत्र नृत्यगोपाल ठहरे हुए थे। कविराजजी ग्रीष्मावकाश में उनसे मिलने दिल्ली गये। छुट्टी होने के कारण उन दिनों जयपुर से नृत्यगोपाल के छोटे भाई व्रजगोपाल भी आये हुये थे। अक्षयकुमारजी का पुत्र नगेंद्रनाथ इनका समवयस्क था। इन सब ने मिलकर गोपीनाथजी भी साथ नैनीताल जाने का निश्चय किया। अत: जब ये नैनीताल आने लगे तो भी व्रजगोपाल और नगेंद्रनाथ भी साथ हो लिये। तीनों पूर्व-निश्चित स्थान पुराने गवर्नमेंट हाउस में ठहरे। चटर्जी महाशय ने गवर्नमेंट हाउस के एक चपरासी को इन लोगों की यथावसर सहायता करने का आदेश दे रखा था। इससे कोई तकलीफ नहीं हुई।

स्नातकोत्तर परीक्षा में असाधारण सफलता—जून समाप्त हो रहा था। गोपीनाथ जी बड़ी उत्सुकता से परीक्षाफल की प्रतीक्षा करने लगे। समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने के पूर्व ही वेनिस साहब को उसका पता चल गया था, किंतु बताया उन्होंने प्रकाशित होने के बाद ही। कविराजजी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। वेनिस साहब ने बताया कि उक्त विश्वविद्यालय में इससे पूर्व उस परीक्षा में किसी छात्र ने इतने अंक नहीं प्राप्त किये थे। उन दिनों माधोलाल, जिनके द्वारा स्थापित 'साधोलाल न्यास' से इन्हें छात्रवृत्ति मिल रही थी, नैनीताल में ही 'चीना पीक' पर ठहरे हुए थे। डॉ० वेनिस ने इन्हें कृतज्ञता ज्ञापन के लिए उनसे मिल लेने की प्रेरणा दी। गोपीनाथजी ने राजा साहब से मिलकर अपने परीक्षाफल की सूचना दी। वे इनकी असाधारण सफलता का संवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुए और भविष्य में भी यथेष्ट सहायता करने का आश्वासन दिया।

सेवावृत्ति-संबंधी विकल्प—एक-दो दिन के बाद वेनिस साहब ने इन्हें बताया कि उनके पास इनके नियुक्ति-संबंधी तार दो स्थानों से आये हैं—एक लाहौर कॉलेज के प्रिंसिपल ए० सी० वूलनर का, दूसरा मेयो कॉलेज, अजमेर के संस्कृत प्रोफेसर के स्थान के लिए जयपुर के प्रिंसिपल संजीवन बाबू का। गोपीनाथजी ने एतद्विषयक निर्णय उन्हीं पर छोड़ दिया। डॉ० वेनिस ने इस संबंध में पहले ही निश्चय कर लिया था, बोले : 'यदि हमारी सलाह मानो तो इनमें से कोई पद स्वीकार न करो।' इनकी भी इच्छा, आर्थिक विपन्नता के बावजूद, धनोपार्जन की अपेक्षा ज्ञानोपार्जन की अधिक थी। अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए वेनिस महोदय ने आगे कहा : 'अभी कुछ दिनों तक उत्तर स्नातकीय छात्रवृत्ति लेकर अनुसंधान करो, पीछे सब ठीक हो जायगा।' गोपीनाथजी ने उनके आदेशानुसार उक्त दोनों संस्थाओं को अस्वीकृति का पत्र भेज दिया। वेनिस साहब का विचार हुआ कि अजमेर कॉलेज में नरेंद्रदेव की नियुक्ति करा दें। इस हेतु उन्होंने कविराजजी को उनके पास पत्र लिखने को कहा। इन्होंने ११ जुलाई, १९१३ ई० को इस आशय का एक पत्र फैजाबाद भेजा। १७ जुलाई को इन्हें उत्तर मिला कि नरेंद्रदेव पिता के इच्छानुसार वकालत पढ़ने इलाहाबाद चले गये हैं। कविराजजी ने यह सूचना वेनिस साहब को दे दी।

विद्यार्थी जीवन में स्थापित नरेंद्रदेवजी से इनकी मैत्री भावना उत्तरोत्तर घनिष्ठ होती गयी। काशी विद्यापीठ की प्रतिष्ठा के बाद जब वे वहाँ के आचार्य हो गये और 'विद्यापीठ-पत्रिका' का सम्पादन करने लगे तो उनकी प्रेरणा से कविराजजी ने उक्त पत्रिका के लिये कई लेख दिये। इसके अनन्तर हिन्दू विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद पर कार्य करते हुए भी आचार्यजी ने इनसे प्रत्यक्ष संपर्क बनाये रखा। 'बौद्धधर्म-दर्शन' समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने इनके सामने उसकी भूमिका लिखने का प्रस्ताव रखते हुए उसके अन्तर्गत आगम और तंत्र-विषयक सामग्री पर विशेष प्रकाश डालने का अनुरोध किया। कविराजजी उनकी इस इच्छा की पूर्ति कर एक प्रकार से मित्र-ऋण से मुक्त हुए।

स्नातकोत्तर अनुसंधायक—१९१३ ई० की जुलाई में ये नैनीताल से काशी लौट आये। शचींद्रनाथ सान्याल ने पुरानी दुर्गाबाड़ी में एक मकान किराये पर तै करा दिया। उसी में कुछ दिन रहे। इसके बाद वेनिस साहब ने कॉलेज के छात्रावास में इनके आवास की व्यवस्था करा दी। ये स्नातकोत्तर अनुसंधायक के रूप में वहीं रहने लगे। वेनिस साहब ने अशोक के शिलालेखों पर एक जनरंजक पुस्तक तैयार करने का निर्देश दिया। इस कार्य में इन्हें एक वर्ष लग गया। इसके अतिरिक्त जो समय बचता उसे ये रहस्यवादी साहित्य के अध्ययन में लगाते थे। इस विषय पर जयपुर प्रवास के समय इन्होंने कई ग्रंथ पढ़े थे, किंतु उस समय इनकी रुचि साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन की ओर अधिक थी। अब उससे विरक्ति हो चली थी। इस बीच इन्होंने यूरोपीय, मध्य-एशियाई तथा भारतीय रहस्यवादी एवं गुह्य विद्या का गंभीर अनुशीलन किया। थियोसाफिकल सोसाइटी का एतत्संबंधी साहित्य तथा डॉ० भगवानदास का 'साइंस ऑव पीस' और 'प्रणववाद' विशेष प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।

संस्कृत कॉलेज की तत्कालीन व्यवस्था—राजकीय संस्कृत कॉलेज, बनारस में उन दिनों प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों शिक्षा-प्रणालियों द्वारा विविध विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं तक की शिक्षा देने की व्यवस्था थी। क्वींस कॉलेज में अंग्रेजी के माध्यम से एम०

ए० तथा एम०एस-सी० तक की पढ़ाई होती थी और संस्कृत कॉलेज में प्राच्य पद्धति से संस्कृत के माध्यम से आचार्य-कक्षा तक अध्यापन का प्रबंध था। सरस्वती-भवन पुस्तकालय इसी के अंतर्गत था। इसके अतिरिक्त पंडितों को अंग्रोजी की शिक्षा देने के लिए इसमें एक एँग्लों संस्कृत विभाग भी था। डॉ० वेनिस उक्त दोनों कॉलेजों के प्रिंसिपल थे। इसके साथ ही वे सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्ष तथा संस्कृत कॉलेज द्वारा संचालित परीक्षाओं के रजिस्ट्रार भी थे। ये सब नियम प्राचीन काल से ही चले आते थे।

वर्षों तक संस्कृत कॉलेज की सेवा करने के बाद १९१४ ई० में डॉ० वेनिस ने अवकाश ग्रहण किया। इसके बाद स्थिति बदल गयी। अब अंग्रेजी तथा संस्कृत विभाग के लिए पृथक्-पृथक् प्रिंसिपल नियुक्त करने की व्यवस्था हुई। संस्कृत कॉलेज द्वारा संचालित परीक्षाओं के रजिस्ट्रार का पद भी अलग कर दिया गया। अंग्रेजी विभाग के प्रिंसिपल के पद पर पी० एस० बरेल की नियुक्ति हुई। संस्कृत-विभाग के लिए 'सुपरिंटेडेंट ऑव संस्कृत स्टडीज इन यू० पी०' नाम से एक नया पद बनाकर डॉ० वेनिस को पुनः प्रतिष्ठापित किया गया। ऐसा करने में शासन का आशय यह था कि डॉ० वेनिस ऐसे विश्व-प्रसिद्ध प्राच्य-विद् की सेवाएँ जब तक वे जीवित रहें, प्राप्त की जायें। उक्त नूतन पद की सृष्टि इसी उद्देश्य से की गयी थी। अब वे संयुक्तप्रांत की संस्कृत-शिक्षा के अधीक्षक के रूप में दो अन्य विभागों के भी अधिष्ठाता हो गये—गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल तथा रजिस्ट्रार संस्कृत कॉलेज परीक्षाएँ। संस्कृत साहित्य में गवेषणा तथा आलोचनात्मक अध्ययन में उन्हें अधिक से अधिक समय मिल सके इसलिए उनके सहायतार्थ संस्कृत पाठशालाओं के वरिष्ठ निरीक्षक (इंस्पेक्टर ऑव संस्कृत पाठशालाज) का एक नया पद प्रवर्तित हुआ जो उनके अधीन रहकर पाठशालाओं का निरीक्षण करता था।

सरस्वती भवन में नियुक्ति—इसके साथ ही लार्ड कार्नवालिस के समय में स्थापित, बनारस-संस्कृत-कॉलेज के पुस्तकालय को, जो क्वींस कॉलेज में था और सरस्वती भवन नाम से प्रसिद्ध था, पृथक् रूप से स्थापित करने के लिए एक नया भवन बनाया गया। वेनिस साहब इस पुस्तकालय के भी अधीक्षक थे। इनका द्वारोन्मोचन फरवरी, १९१४ ई० में हुआ। इसके अध्यक्ष-पद पर उसी वर्ष ४ अप्रैल से कविराजजी की नियुक्ति हुई। इस पद पर पहले पं० विंध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी कार्य कर रहे थे। अब वे कविराजजी के सहकारी हो गये। इस पुस्तकालय में दो विभाग थे, एक हस्तलिखित पुस्तकों का विभाग—जिसकी देखरेख का भार पूर्ववत् पंडित विंध्येशवरीप्रसाद पर रहा और दूसरा मुद्रित पुस्तकों का विभाग, जिसमें भारतीय ज्ञान-संबंधी संस्कृत वाङ्मय के विविध विषयों के ग्रंथों के अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन प्रभृति यूरोपीय भाषाओं की भी मुद्रित पुस्तकें, जो पहले क्वींस कॉलेज के विराट् पुस्तकालय में अंतर्भुक्त थीं, स्थानांतरित होकर सरस्वती भवन में चली आयीं। इस नये पुस्तकालय-भवन के ही एक प्रांत में अवसर-प्राप्ति के पश्चात् डॉ० वेनिस का आवास-स्थान रहा, किन्तु उनका कार्यालय अब भी पुराने कालेज-भवन में ही था।

सरस्वती भवन की चहारदीवारी के भीतर बहुत व्यापक स्थान था। चारों ओर किसी प्रकार का कोलाहल नहीं था। सड़कों पर चलने वाली सवारियों का शब्द नहीं सुनायी पड़ता

था। यह स्थान उन दिनों एकांत अध्ययन के सर्वथा अनुकूल था। इसी भवन में रहते हुए वेनिस साहब ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष बिताये। यहीं से वे संस्कृत कॉलेज का निरीक्षण भी करते थे और पुस्तकालय के कार्य की देखभाल भी। १९१५ ई० की जनवरी से डॉ० वेनिस इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 'पोस्ट वैदिक आसन' पर प्रोफेसर नियुक्त हो गये किन्तु उन्हें इलाहाबाद रहना नहीं पड़ता था। रहते वे काशी में ही थे। कभी-कभी इलाहाबाद जाकर व्याख्यान दे आते थे।

रीडर-पद-प्राप्ति—इस विभाग में एक रीडर तथा कुछ शोध-छात्रों को वृत्ति देने का भी प्रबंध था। वह व्यवस्था इलाहाबाद विश्वविद्यालय के 'पोस्ट वैदिक डिपार्टमेंट' के अंतर्गत की गयी थी, किन्तु इसका कार्यक्षेत्र बनारस संस्कृत कॉलेज का सरस्वती भवन ही था। इसी वर्ष ईस्टर की छुट्टियों के बाद रीडर का पद कविराजजी को प्रदान किया गया और शोध-छात्रों में पंजाब विश्वविद्यालय से डॉ० वूलनर द्वारा संस्तुत पं० रामलभय गोस्वामी तथा महाराजाकॉलेज, जयपुर के पं० श्यामसुंदर शर्मा सर्वप्रथम प्रविष्ट हुए। शर्माजी जयपुर कालेज के पं० वीरेश्वरशास्त्री द्रविड़ के विद्यार्थी थे। इनका शोध-विषय था 'एडिटिंग ऑव दि वोकाबुलारी ऑव पोस्ट अशोकन एंड प्री गुप्ता इंसक्रिप्संस' और गोस्वामीजी का 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑव दि रामायन ऑन दि बेसिस ऑव दि कतक भाष्य'। कुछ दिनों बाद एक और शोध-छात्र आये। ये थे पं० बदरीनाथ शास्त्री जो जयपुर कॉलेज में गोपीनाथजी के गुरु रह चुके थे। इन्हें न्यायशास्त्र पर शोध कार्य दिया गया।

क्वींस कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर पी० एस० बरेल प्रिंसिपल हुए। उनके अवकाश-ग्रहण करने के बाद इस पद पर एच० एन० रैंडेल की नियुक्ति हुई। रैंडेल साहब इसके पूर्व यहीं प्राच्य-विभाग में दर्शन के अध्यापक थे। वे ग्रीक-दर्शन के अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। संस्कृत में भी उनकी असाधारण गति थी। 'दिङ्नाग' के दर्शन का अनुशीलन उनका प्रिय विषय था। इस पर आगे चलकर उन्होंने 'फ्रैगमेंट्स फ्राम दिङ्नाग' नामक एक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया था।

संस्कृत विभाग में डॉ० वेनिस के उत्तराधिकारी डॉ० गंगानाथ झा हुए। ये रैंडेल साहब के समकालीन थे।

डॉ० वेनिस का देहावसान—कार्यकाल के अंतमि दिनों में डॉ० वेनिस अपने प्रिय विषय पुरालेख को छोड़कर न्याय-वैशेषिक पर एक ग्रंथ लिख रहे थे। अभी वह पूरा नहीं हुआ था कि वे अचानक बीमार पड़े और १४ अप्रैल, १९१८ ई० को उनका निधन हो गया। न्यायवाले उनके अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए एक रूसी विद्वान् चारवास्काय की नियुक्ति हुई, किन्तु वे कृत-कार्य न हो सके। उनके बीच में छोड़कर चले जाने के कारण वह ग्रंथ वैसे ही पड़ा रह गया।

सरस्वती भवन ग्रंथमाला का सूत्रपात—देहावसान के कुछ महीने पूर्व डॉ० वेनिस ने कविराजजी को बुलाकर अंतरंग भाव से कहा, 'सरस्वती भवन में सुरक्षित हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथों का बड़ा महत्त्व है। संसार को इस अमूल्य निधि का पता नहीं है। मेरी कामना है कि वे यथासंभव शीघ्र प्रकाश में आ जायें। मेरा सुझाव है कि तुम यहाँ से एक ग्रंथमाला प्रकाशित करो जिसके दो विभाग होंगे—एक में वे विशिष्ट संस्कृत ग्रंथ प्रकाशित

किये जायेंगे जिनके हस्तलेख अपने यहाँ संगृहीत हैं। इस प्रकार अनेक मूल्यवान ग्रंथों का उद्धार हो जायगा। इस योजना के अंतर्गत प्रकाशित होने वाले ग्रंथों में पाठ-संपादन की वैज्ञानिक पद्धति का यथाविधि व्यवहार होगा। आरम्भ में विद्वत्तापूर्ण भूमिका दी जायेगी। इसका नाम होगा 'प्रिंस ऑव वेल्स,'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स।' दूसरी ग्रंथमाला में शोधमूलक लेखों का संग्रह रहेगा। यह अंग्रेजी में रहेगी। तुम जो कुछ गवेषणापरक कार्य कर रहे हो, इसमें उस पर आधारित निबंध प्रकाशित किये जायेंगे। यह ग्रन्थ माला 'सरस्वती भवन स्टडीज' नाम से अभिहित होगी।'

डॉ० वेनिस के इस उपदेशमूलक आदेश के अनुसार कविराजजी ने सरस्वती भवन ग्रंथमाला का आरंभ किया। पहले किरणावलीभास्कर, कुसुमांजलिबोधिनी, वेदांतकल्पलतिका तथा अद्वैतचिंतामणि—इन चार पुस्तकों को लिया गया। इनमें से प्रथम दो पुस्तकों का संपादन कविराजजी ने किया। पहली पुस्तक किरणावलीभास्कर वैशेषिक दर्शन पर थी। इसके रचयिता थे पद्मनाभ मिश्र। यह उदनाचार्य के ग्रंथ पर लिखी गयी प्रसिद्ध टीका है। दूसरी कुसुमांजलिबोधिनी उदयन की 'कुसुमांजलि' पर वरदराज की टीका है। वर्द्धमान से भी अधिक प्राचीन होने के कारण यह अत्यन्त प्रामाणिक तथा महत्त्वपूर्ण है। संपूर्ण प्रकरण पर यही सर्वश्रेष्ठ विवरण है। तीसरा ग्रंथ वेदांतकल्पलतिका, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि संबंधी रचना है। मोक्ष विषय पर यह एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसका संपादन-भार कविराजजी के अधीन कार्य करने वाले शोधछात्र पं० रामाज्ञा पांडेय ने लिया था। ये कुछ दिनों बाद संस्कृत कॉलेज जगन्नाथपुरी में अध्यापक होकर चले गये थे। चौथे ग्रन्थ 'अद्वैतचिंतामणि' के रचयिता हैं कोंडभट्ट। वेदान्त-विषयक यह एक अच्छा ग्रंथ है, इसका संपादन पं० नारायण शास्त्री खिस्ते ने किया। ये म० म० पं० विंध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी के अवकाश ग्रहण करने पर सरस्वती-भवन के सहकारी पुस्तकाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए थे। इन्हीं चार ग्रंथों को लेकर 'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स' का शुभारंभ हुआ। कविराजजी ने 'कुसुमांजलिबोधिनी' की जो भूमिका लिखी थी उसके हस्तलेख का डॉ० वेनिस ने समालोचन किया था। विचार यह था और यही वेनिस की इच्छा भी थी कि इस ग्रंथमाला के दो संपादक रहेंगे—एक वे स्वयं और दूसरे कविराजजी।

'प्रिंस ऑव वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज' के लिए उसी समय कविराजजी की दो पुस्तकें तैयार हो रही थीं—'थीज्म इन ऐंशंट इंडिया' तथा 'बिबलियोग्राफी ऑव न्याय वैशेषिक लिटरेचर'। इन दोनों पुस्तकों के हस्तलेखों का कुछ अंश डॉ० वेनिस ने देखा था और उन्होंने इस विषय में कविराजजी को प्रोत्साहित किया था। पूर्वोक्त दो विषयों के अतिरिक्त उन दिनों कविराजजी गोरक्ष-संप्रदाय तथा वीरशैव-मत पर भी कार्य कर रहे थे। दुर्भाग्य से इन विषयों पर उनके ग्रंथों के प्रकाशन के पूर्व ही वेनिस साहब का परलोकवास हो गया। इन्हें प्रकाशित रूप में देखने की उनकी साध पूरी न हो सकी। उनके स्थान पर डॉ० गंगानाथ झा आ गये। अब वे और कविराजजी—दोनों के सम्मिलित संपादकतत्व में उक्त ग्रंथमाला निकलने लगी। कालांतर में डॉ० झा, इलहाबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति होकर चले गये। तब से उक्त दोनों ग्रंथमालाओं के चलाने का भार अकेले

कविराजजी ही संभालने लगे। इन्होंने इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य का बड़ी योग्यता तथा तत्परता से संपादन किया। १९३७ ई० में इनके अवकाश-ग्रहण काल तक इसके अंतर्गत लगभग ७० ग्रंथ प्रकाशित हो गये। इसी से इनकी तद्विषयक कर्त्तव्यनिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार इन्होंने अपने विद्यागुरु वेनिस साहब की अंतिम इच्छा पूरी की।

डॉ० वेनिस की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में निष्ठा—डॉ० वेनिस भारतीय संस्कृति, विशेष रूप से उसकी प्राचीन शिक्षा-पद्धति, के अत्यंत अनुरागी थे। यहाँ के निवासियों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए वे प्राचीन परिपाटी के अध्ययन तथा अध्यापन और उसी में उत्कर्ष संपादन कराना उचित समझते थे।

एक बार संभवतः बटलर के समय में, संस्कृत-शिक्षा-प्रणाली पर अंतरंग विचार-विमर्श करने के लिए विशेषज्ञों की एक समिति की बैठक शिमला में हुई थी। उसके संयोजक थे डॉ० वेनिस। इसमें महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर भी सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर विभिन्न दृष्टिकोण से संस्कृत शिक्षा के उत्कर्ष-संपादन-विषयक आलोचना हुई थी। डॉ० भंडारकर और शास्त्रीजी का मत यह था कि संस्कृत साहित्य, दर्शनादि का अध्ययन-अध्यापन नवीन प्रणाली से नियोजित होने पर अधिक उपादेय एवं कालोपयोगी होगा। उनका विचार था कि ऐसा करने से अंग्रेज सरकार का भाव अधिक अनुकूल होगा। आश्चर्य की बात यह है कि डॉ० वेनिस ने इसका घोर प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा, 'वर्तमान शिक्षाप्रणाली अच्छी है, इसमें संदेह नहीं। इसका उपयोग होना चाहिए, यह भी सत्य है। कारण कि वर्तमान जगत् में नवीन धाराओं के साथ संबंध रखे बिना उन्नति हो नहीं सकती। परंतु इसके साथ ही प्राचीन धारा का संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। इसके संरक्षित न होने से प्राचीन विद्या का गौरव लुप्त हो जायगा और उसके रहस्य नष्ट हो जायेंगे। नव्य न्याय, नव्य स्मृति, नव्य व्याकरण इत्यादि का दृष्टांत लेकर उन्होंने बताया कि इनका संरक्षण न करके केवल नवीन प्रणाली के द्वारा शिक्षा-प्रवर्तन होने से प्राचीन विद्या का मर्मार्थ सदा के लिए जगत् से लुप्त हो जायगा।

डॉ० वेनिस स्वयं भी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के प्रसार के लिए सतत प्रयत्न करते रहते थे। इस विषय में वे गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज कलकत्ता के प्रिंसिपल म० म० पं० महेशचंद्र न्यायरत्न तथा बनारस संस्कृत कॉलेज के ख्यातिलब्ध अध्यापक म० म० पं० कैसालचंद्र शिरोमणि जैसे पंडितों को प्राचीन धारा को संरक्षित रखते हुए नवीन विद्यार्थियों के लिए ज्ञानार्जन का प्रवेश-द्वार जिस प्रकार खुल सके वैसी व्यवस्था करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने महेशचंद्र न्यायरत्न महाशय द्वारा 'अवच्छेदकता' ऐसे विषय पर लिखित पुस्तक का अनुमोदन किया और स्वयं भी पं० कैलासचंद्र शिरोमणि से इस विषय पर एक पुस्तक लिखायी, जिसको कविराजजी ने भी देखा था। इसका हस्तलेख सरस्वती भवन के पुस्तकाध्यक्ष पं० विंध्येश्वरीप्रसाद के पास रखा हुआ था।

डॉ० वेनिस कहते थे कि मध्ययुग में ऑक्सफोर्ड विद्यालय में ग्रीक तथा लैटिन के अध्यापन के विषय में भी यही समस्या उठ खड़ी हुई थी। वहाँ इसका निर्णय प्राचीन पद्धति को प्रोत्साहन देने के पक्ष में ही हुआ था। इसी कारण से नव्यन्याय के सिद्धान्त के विषय में

वे बहुत वर्षों से निरंतर कुछ लिख रहे थे। कविराजजी को पता चला था कि इस विषय में 'ग्रुंडरिश डेर इंडियन फाइलोलोजी' नामक डॉ० बूलर द्वार संपादित ग्रंथमाला में डॉ० वेनिस एक पुस्तक देना चाहते थे। दैवयोग से उनकी यह इच्छा आकस्मिक देहावसान के कारण पूरी न हो सकी।

वेनिस साहब जिस प्रकार प्राचीन के प्राचीनत्व की रक्षा के पक्षपाती थे उसी प्रकार नवीन की यथासंभव प्रगति के भी हिमायती थे। प्राचीन काल से बनारस संस्कृत कॉलेज की शिक्षा-व्यवस्था इसी आदर्श पर चली आ रही थी। यहाँ से 'काशी-विद्या-सुधानिधि' नामक पत्रिका इसी उद्देश्य को लेकर निकलती थी । स्वयं डॉ० वेनिस ने 'वेदान्त-परिभाषा', 'वेदांत-सिद्धांत-मुक्तावली', 'पंचपादिका' प्रभृति ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद इसी दृष्टिकोण से किया था।

प्राचीन भावापन्न पंडितों का वे बहुत सम्मान करते थे और उन्हें अपने महान् आदर्श की रक्षा के लिए बराबर उत्साहित करते रहते थे। वे कहते थे कि आप लोग नवीन भाव में मत डूबिये, अपनी परंपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहिए। डॉ० वेनिस प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते हुए भी, महामहोपाध्याय पं० कैलासचंद्र शिरोमणि तथा महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री से प्राचीन पद्धति के अनुसार स्वयं अध्ययन करते थे और अपने अधीनस्थ इन प्राध्यापकों का गुरुरूपेण सत्कार करते थे। शिरोमणि महाशय पर इनकी पितृवत् श्रद्धा थी। पंडितजी जब अशक्त होकर अवकाश ग्रहण करने को बाध्य हुए तब भी वेनिस साहब उनको छोड़ने को राजी नहीं हुए। बार-बार कालवर्धन करके कालेज के साथ उनके संबंध की रक्षा करते रहे। अंत में शिरोमणि महाशय पालकी पर कॉलेज आते-जाते थे और वहाँ थोड़े ही समय ठहरते थे। इस अशक्तावस्था में भी वेनिस साहब उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। वे कहा करते थे कि शिरोमणि महाशय हमारे कॉलेज के गौरव हैं।

वेनिस साहब ने अपने इस सिद्धांत की रक्षा अंतिम समय तक की। १९१८ की एक घटना है। देहावसान के कुछ महीने पहले वे अस्वस्थ शरीर सरस्वती भवन के एक प्रांत में स्थित अपने निवास-स्थान में विद्यमान थे। बाहरी लोगों से मिलना-जुलना बंद था। इसी समय महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश उनसे मिलने के लिए आए। वेनिस साहब की अस्वस्थता का संवाद पाकर वे कविराजजी के पास सरस्वती भवन में गये और उनसे कहा कि मैं बंगला में अनूदित न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य का प्रथम खंड वेनिस साहब को अपने हाथ से उपहार-रूप में देना चाहता हूँ। उक्त पुस्तक उनके पास थी। उनकी इच्छा थी कि ये किसी प्रकार उन्हें वेनिस साहब से मिला दें। कविराजजी उन्हें लेकर वेनिस साहब के निवास-स्थान पर गये। डॉ० वेनिस ने तर्कवागीश महाशय को बड़े आदर से अपने सामने बैठाया और बहुत सत्कार किया। वे बड़ी देर तक उस ग्रंथ के संबंध में अनेक प्रश्न पूछते रहे, क्योंकि उन्होंने स्वयं वात्स्यायन भाष्य का, उसकी न्यायवार्तिक टीका सहित, विशेष रूप से अध्ययन किया था और ये दोनों ग्रंथ स्वसंपादित 'विजय-नगरम् सिरीज' में प्रकाशित किये थे। डॉ० वेनिस का आशीर्वाद और प्रोत्साहन पाकर तर्कवागीश महाशय बहुत आनंदित हुए। कालांतर में इस अनूदित ग्रंथ से प्रभावित होकर

ही कविराजजी प्रांतीय सरकार द्वारा अनुमोदित कराने के पश्चात् फणिभूषण जी को केंद्रीय शासन से महामहोपाध्याय की उपाधि दिलाने के लिए प्रयत्नशील हुए थे।

वेनिस साहब का गृहस्थ जीवन—डॉ० वेनिस का सारा समय अध्ययन-अध्यापन में बीतता था, घर का पूरा प्रबंध उनकी मेम साहब करती थीं। वे उग्र स्वभाव की थीं। बहुत जल्दी नाराज हो जाती थीं, इसलिए वेनिस साहब उनसे बहुत डरते थे। पढ़ने में कभी-कभी वे इतने लीन हो जाते कि भोजन करना भी भूल जाते—देरी होने पर मेम साहब उनके कमरे में आकर गरजतीं, 'आर्थर, खाने का समय हो गया।' डॉक्टर वेनिस हड़बड़ा उठते और तत्काल सब कुछ छोड़कर उनके साथ खाने के कमरे में चले जाते।

एक दिन की घटना है। गया नामक चपरासी ने, जो साहब का अर्दली भी था, बाजार से सामान लाने में कोई गलती की। मेम साहब ने कुद्ध होकर उस पर २०) जुर्माना कर दिया और आदेश दिया कि यह रकम तुम अभी जमा करो नहीं तो बर्खास्त कर दिये जाओगे। उस चपरासी का मासिक वेतन कुल दस रुपया था, २०) कहाँ से लाता। मेम साहब से बहुत प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने क्षमा नहीं किया। लाचार होकर वह साहब के पास आया और सारा वृत्तांत कह सुनाया। साहब बोले, 'तुमने ऐसी गलती क्यों की?' मैं कुछ नहीं कर सकता, जुर्माना दो या निकल जाओ।' चपरासी जीविका चली जाने की आशंका से रोने लगा। उस समय वेनिस साहब कक्षा ले रहे थे। उसमें कविराजजी भी थे। चपरासी ने अत्यंत कातर स्वर में कहा, 'हुजूर १०) तनखाह है, २०) कहाँ से देंगे? आप कह दें तो मेम साहब माफ कर देंगी।' वेनिस साहब की मेम साहब से कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। उन्होंने अपनी जेब से दस-दस रुपये के दो नोट निकाले और उसे गया के हाथ में देकर कहा, 'मेम साहब से यह मत बताना कि साहब ने दिया है। नहीं तो वे मुझ पर गुस्सा होंगी।' चपरासी की जीविका बच गयी—उसने वे रुपये ले जाकर मेम साहब को दे दिये। इस प्रकार न्याय और दया का समन्वय वेनिस साहब के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता थी।

वेनिस साहब के दो संतानें थीं—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र प्रथम महायुद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। उस घटना से संबद्ध एक पत्र उन्होंने कविराजजी के पास लिखा था। पुत्री का विवाह हो गया। अंतिम दिनों में पति-पत्नी एकाकीपन का अनुभव करते थे। डॉ० वेनिस के दिवंगत होने के पश्चात् उनकी स्त्री की आर्थिक स्थिति विपन्न हो गयी। एक-दो बार वे कविराजजी से मिलने काशी आयीं। ये अपनी स्थिति के अनुसार उनकी सहायता बराबर कर दिया करते थे।

डॉ० वेनिस के तिरोधान के अनंतर कुछ समय तक संस्कृत पाठशालाओं के वरिष्ठ परीक्षक पं० ठाकुरदास शर्मा ने स्थानापन्न रूप से प्रिंसिपल का कार्यभार सँभाला—इस बीच उनके पद पर पं० काशीराम शर्मा काम करते रहे। डॉ० झा की नियुक्ति के पश्चात् पं० ठाकुरदास शर्मा अपने पूर्व पद पर पुनः चले गये।

डॉ० गंगानाथ झा से सौहार्द—गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस के नये प्रिंसिपल डॉ० गंगानाथ झा, वेनिस साहब के शिष्य रह चुके थे। अतः ये गोपीनाथजी के साथ गुरुभाई जैसा व्यवहार करते रहे। डॉ० झा के समय में ही कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर आशुतोष मुकर्जी कविराजजी को अपने यहाँ ले जाने के उद्देश्य से काशी आये। उन्होंने

अधिक वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करने का प्रस्ताव किया, किन्तु ये राजी न हुए। इसी वर्ष (१९१८) इन्होंने दीक्षा ली थी। गुरुदेव अधिकतर काशी में ही रहते थे। उनके चरणों के सामीप्य लाभ से वंचित होना किसी भी मूल्य पर इनके लिए स्वीकार्य न था। इसी कारण से लखनऊ विश्वविद्यालय के उपकुलपति ज्ञानेंद्रनाथ चक्रवर्ती के अनुरोध करने पर भी काशी छोड़कर लखनऊ जाने में इन्होंने असमर्थता व्यक्त की थी।

अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार—इस बीच इनकी रुचि एवं अध्ययन की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। धीरे-धीरे भक्ति और दर्शन की ओर इनका झुकाव अधिक होता गया। भारतीय आस्तिकवाद गोरखपंथ, वीरशैवमत, तांत्रिक दर्शन, मध्यकालीन भक्ति-संप्रदाय—मुख्यतया गौड़ीय वैष्णव-धर्म—इनके विशेष अध्ययन के विषय हो गये। इन पर हिन्दी, अंग्रेजी तथा बँगला की शोध एवं साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख समय-समय पर निकलते रहे।

प्रिंसिपल के रूप में—१९२४ ई० में डॉ० गंगानाथ झा के गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल के पद से कार्यनिवृत होने पर उनके स्थान पर पं० गोपीनाथ कविराज की नियुक्ति हुई। इस पद के प्रत्याशियों में दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० एस० एन० दास गुप्त भी थे। किन्तु निर्वाचन-समिति के सदस्यों—श्री ए० बी० ध्रुव और डॉ० गंगानाथ झा ने कविराजजी को, उनके अगाध पांडित्य और संस्कृत कॉलेज के प्रति की गयी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए, वरीयता दी। प्रिंसिपल होने के बाद भी कुछ समय तक ये रजिस्ट्रार तथा परीक्षा-योजक का कार्य सँभालते रहे। इन दोनों पदों पर पृथक्-पृथक् नियुक्तियाँ बाद को हुईं। इस प्रकार तेईस वर्ष तक पूर्ण निष्ठा से संस्कृत कॉलेज का कार्य संचालित करने के बाद १९३७ ई० में इन्हें 'बेरी-बेरी' की बीमारी हुई। उसके भीषण प्रकोप से शरीर जर्जर हो गया। डॉक्टरों ने पूर्ण विश्राम की सलाह दी। इसके अतिरिक्त दीक्षा के बाद आध्यात्मिक साधना में निरंतर लीन रहने के कारण इनका मन सांसारिक कार्यों से उत्तरोत्तर विरत हो रहा था। प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते हुए व्यवस्था, अनुशासन आदि में काफी समय निकल जाता था। यह व्यावहारिक जीवन-पद्धति इनकी अंतर्मुखी वृत्ति के प्रतिकूल पड़ती थी। बीमारी ने विरक्ति भावना को और उद्दीप्त कर दिया।

अवकाश-ग्रहण—१९३७ ई० में इन्होंने कालपूर्व कार्य-निवृत्ति के लिए आवेदन-पत्र दे दिया। प्रांतीय शिक्षा-विभाग ने रोगमुक्ति के हेतु लंबा अवकाश देकर इनकी सेवावृत्ति को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, किन्तु ये पहले ही पदत्याग का संकल्प कर चुके थे, उस पर दृढ़ रहे। ऐसी स्थिति में सरकार को विवश होकर इन्हें १३ मार्च, १९३७ ई० को कार्यमुक्त करना पड़ा। इस पद से निवृत्त होकर ये एकनिष्ठ भाव से स्वाध्याय एवं साधना में निरत रहने लगे।

आवास-व्यवस्था—बनारस संस्कृत कॉलेज में नौकरी करने के आरंभिक काल (सं० १९१४) में कविराजजी अपना परिवार कांठालिया (पूर्ववंग) से काशी ले आये। इस समय से लेकर अवकाश-ग्रहणकाल (१९३७) तक ये किराये के मकान में रहे। तेईस वर्षों की इस लंबी अवधि में इन्हें काशी के कई मुहल्लों का चक्कर लगाना पड़ा। यह क्रम इनकी सरस्वती भवन में नियुक्ति के समय (१९१४ ई०) तेलियाबाग से आरंभ होकर अगस्त्यकुंड,

पिशाचमोचन, विक्टोरिया पार्क (बेनियाबाग), हौज कटोरा (कोदई चौकी), मिसिरपोखरा, कालिकागली, बड़ादेव, ध्रुवेश्वर में समाप्त हुआ। सेवावृत्ति से विरत होने के पूर्व ही इन्होंने काशी में आजीवन निवास का निर्णय ले लिया था। गुरुदेव ने किराये के मकान में रहना छोड़कर अपना मकान बनवाने की प्रेरणा दी। अतः सिगरा पर दाऊजी के मंदिर के पास भूमि खरीद कर इन्होंने मकान बनवाना आरंभ कर दिया। १९३७ ई० में वह पूरा बन गया। इसलिए अवकाशग्रहण के बाद शीघ्र ही ध्रुवेश्वर वाला किराये का मकान छोड़कर ये ३१ मार्च की रात्रि को अपने नये घर में चले आये।

बिंदु-परंपरा—कविराजजी के दो संतानें हुईं—एक पुत्री सुधारानी और एक पुत्र जितेंद्रनाथ। इन दोनों का जन्म दान्या में ही हुआ था। स्नेहमूर्ति नानी वामासुंदरी का निधन १३ नवंबर, १९१२ ई० को धामराई में हो चुका था। उसके बाद उनकी पुत्री स्वर्णमयी और दामाद कैलासचंद्र नियोगी कविराजजी के घर पर रहते थे। १९१४ ई० में जब इनकी नियुक्ति क्वींस कॉलेज में हो गयी तो अपने परिवार के साथ मौसी और मौसा को भी ये काशी ले आये। उन्हें एक किराये के मकान में ठहरा दिया। उनका सारा खर्चा यही देते थे। १९१८ ई० के जनवरी महीने में मौसा का देहांत हो गया। इसके बाद इन्होंने मौसी के इच्छानुसार उनके रहने का व्यवस्था गंगा-तट पर कर दी। कई वर्षों तक तपोमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् वे रोगग्रस्त हुईं। उन दिनों कविराजजी अपने सिगरा वाले नये मकान में आ गये थे। ये उन्हें सेवा-सुश्रूषा के लिये अपने घर ले आये। यहीं ६ अक्तूबर, १९४५ ई० को उनका देहांत हो गया।

माता सुखदासुंदरी देवी १० अप्रैल, १९२५ ई० को परलोकवासिनी हुईं। इसी वर्ष इनकी पुत्री सुधारानी का विवाह ढाका जिले की मानिकगंज तहसील के निवासी कुसुदबंधु राय के पुत्र सुशीलनाथ के साथ संपन्न हुआ। देश के विभाजन के बाद उनका परिवार पश्चिम-बंगाल चला आया और दमदम में बस गया। सुशीलनाथजी का १९६५ ई० में देहांत हो गया। अब सुधारानी अपने दो पुत्रों के साथ दमदम में ही स्थायी रूप से रहती हैं। उनकी दो पुत्रियों का विवाह हो चुका है। बड़ा लड़का नौकरी करता है, छोटा लड़का पढ़ता है।

पुत्रशोक—जितेंद्रनाथ ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की डिग्री लेकर एल-एल० बी० किया। १९३३ ई० में उनका विवाह हुआ। इसके बाद भारत बैंक में सहायक मैनेजर के पद पर उनकी नियुक्ति हो गयी। उक्त बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय हो जाने पर वे १९४६ ई० में उत्तर प्रदेशीय शासन के राशनिंग-विभाग में सीनियर मार्केटिंग इंस्पेक्टर हो गये। इनके दो पुत्रियाँ और एक पुत्र हुआ। इंस्पेक्टर के पद पर कार्य करते चार वर्ष भी नहीं बीते थे कि एक दिन आफिस से लौटने के बाद रात को ९ बजे के लगभग उनकी तबीयत एकाएक खराब हो गयी। उस समय कविराजजी से कोई वैद्य मिलने आये थे। उन्हें दिखाकर दवा मँगाई गयी। इससे कुछ आराम हो गया। किंतु रात को तीन बजे के लगभग जितेंद्र को बेचैनी हुई, अपना अंतिम समय निकट जानकर उन्होंने माताजी को बुलाया और कहा, 'माँ! कहो कि मैंने तुम्हें क्षमा किया।' माताजी पुत्र के ये शब्द सुनकर घबड़ा गयीं। रोती हुई बोलीं, 'बेटा, क्या बात है? ऐसा क्यों कह रहे हो?' जितेंद्र ने हठ किया, 'बस इतना ही कह दो कि मैंने क्षमा किया।' माता ने सिसकते हुए, पुत्र

द्वारा कहे हुए वाक्य के अंतिम शब्द दोहरा दिये। इसके बाद जितेंद्र ने उन्हीं के द्वारा पिताजी को बुलवाया और उनसे भी वे ही शब्द कहने का अनुरोध किया। कविराजजी उन्हें धैर्य बँधाते हुए बोले : 'ऐसा क्यों कह रहे हो? पुत्र का ऐसा कौन-सा अपराध है, जिसे पिता क्षमा नहीं कर सकता?' जितेंद्र की परेशानी बढ़ती देखकर उन्होंने भी 'क्षमा कर दिया' की आवृत्ति की। इसके आधा घंटे बाद प्रातः चार बजे के करीब दो पुत्री, एक पुत्र, पत्नी तथा माता को शोकमग्न छोड़कर जितेंद्र ने शरीर छोड़ दिया। एकलौते पुत्र की महायात्रा पिता की आँखों के सामने हुई। सारे घर में कुहराम मच गया, किन्तु कविराजजी की आँखों में आँसू नहीं थे। वे ही आँखें जो 'श्यामा-संगीत' की गोष्ठियों में जल-प्रवाह रोकना ही नहीं जानतीं आज सूखी थीं। शिष्यों, स्नेहियों और संबंधियों ने शवयात्रा की तैयारी की। वे ही अंत्येष्टि क्रिया के लिए उसे गंगातट पर ले गये। कविराजजी थोड़ी देर तक मौन रहकर पुनः अध्यात्मचर्या में लग गये। इस असामयिक वज्रपात के दो घंटे बाद इनके घर पर जो लोग संवेदना प्रकट करने आये इनकी विदेह-वृत्ति देखकर अवाक् हो गये। गरल पान कर इनका शिवत्व और निखर उठा।

पुत्र के देहावसान के दो मास के भीतर ही पुत्र-वधू भी दो पुत्रियाँ और एक पुत्र छोड़कर दिवंगत हुई। कविराजजी ने दोनों पौत्रियों का विवाह कुछ वर्ष पूर्व कर दिया था, पौत्र शशिशेखर कविराज साधारण शिक्षा प्राप्त करके नौकरी में लग गया।

स्वास्थ्य—अवकाश-ग्रहण के पश्चात् कविराजजी का स्वास्थ्य साधारणतया संतोषजनक रहा, यद्यपि अध्यात्म-साधना और आगत जिज्ञासुओं एवं साधकों से बातचीत करने में अत्यन्त व्यस्तता के कारण ये स्वास्थ्य के मूलाधार नियमित भोजन तथा विश्राम की निरंतर अवहेलना करते रहे। १९६१ ई० में इन्हें पेचिश की शिकायत हुई। उसकी चिकित्सा हुई, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। इसी बीच माता आनंदमयी इन्हें देखने आयीं। इनके गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर उन्होंने डॉक्टरी परीक्षा कराने की सलाह दी। उनके अनुरोध को ये टाल न सके। माताजी इन्हें अपने साथ दिल्ली ले गयीं। डॉ० सेन के नर्सिंग-होम में 'चेक-अप' हुआ। रिपोर्ट में कैंसर की संभावना का उल्लेख था। डॉ० सेन ने बंबई के टाटा मेमोरियल कैंसर इंस्टीट्यूट में इन्हें ले जाकर अविलंब आपरेशन कराने का परामर्श दिया। माताजी इन्हें बंबई ले गयीं। आपरेशन की व्यवस्था में महाराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल बाबू श्रीप्रकाश एवं ग्वालियर की महारानी श्रीमती विजयराजे सिंधिया ने विशेष सहायता की। १४ मई, १९६१ ई० को कैंसर के विश्व-प्रसिद्ध विशेषज्ञ डॉ० बर्जेस ने आपरेशन किया। पाँच घंटे के बाद ये आपरेशन-कक्ष से बाहर लाये गये। इस दिन माताजी ने अपने बंबई तथा पूना स्थित आश्रमों में अखंड संकीर्तन का आयोजन कराया और उनके प्रिय शिष्य कमल ब्रह्मचारी ने २४ घंटे का निराहार व्रत रखा। आपरेशन की सफलता के उपलक्ष में माताजी ने अस्पताल के समस्त कर्मचारियों तथा रोगियों में प्रसाद वितरण कराया। तेईस दिन अस्पताल में रहकर डॉक्टर की अनुमति प्राप्त करके ये पूना चले आये। यहाँ श्रीप्रकाशजी ने गवर्नमेंट हाऊस में इनके ठहरने का प्रबन्ध कर रखा था, परन्तु उनसे पूछकर योगिराज अरविंद के प्रधान शिष्य दिलीपकुमार राय ने सेवा के लिए इन्हें अपने यहाँ रोक लिया। वे इनको नित्य सायं ५ से ५-३० बजे तक

भक्ति-संगीत सुनाते थे। भोजन की व्यवस्था माताजी के आश्रम की ओर से थी। पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करने पर ये पूना से काशी चले आये। आपरेशन से रोग निर्मूल हो चुका था। अत: उसका फिर प्रकोप नहीं हुआ।

सेवक एवं सहचर—सीताराम—कविराजजी का यह वृत्त उनके अनन्य सेवक तथा सहचर श्री सीताराम पांडे के परिचय बिना अधूरा रहेगा। ये श्रीचरणों में एक निराश्रित बालक के रूप में शिक्षा में सहायता-प्राप्ति के उद्देश्य से १९३५ ई० के प्रारंभ में उपस्थित हुए थे। इनका जन्म बस्ती जिले के कठेला बाजार में हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद ये विधवा माता के साथ अपने बहनोई पं० बद्रीनाथ त्रिपाठी के यहाँ चले गये। वे ही इस परिवार को अपने साथ काशी ले आये और पंडिताई वृत्ति से जीविकोपार्जन करने लगे। दुर्भाग्यवश कुछ वर्षों काशी में रहकर उनका शरीरांत हो गया। निराश्रित सीताराम पहले से ही कविराजजी की शरण में आये थे। उस समय ये क्वींस कॉलेज में प्रिंसिपल थे। कविराजजी ने इस बालक का नाम स्थानीय हाई स्कूल में लिखा दिया था। सीताराम इन्हीं के साथ रहने लगे। माता के भरण-पोषण के लिए उसी समय से कविराजजी ने ३० रु० मासिक बंधान कर दिया जो अब तक चला आता है। वे इन्हीं के आश्रय में रहती हैं। बहन-बहनोई की मृत्यु के अनंतर उनके पुत्र-पुत्री के निर्वाह का भार सीताराम पर ही पड़ा। 'बाबूजी ' से आज्ञा लेकर इन्होंने पढ़ाई बंद करके १९४२ ई० में लोहे की एक छोटी-सी दुकान कर ली। इस कार्य के लिए अपेक्षित तीन हजार रुपये की पूँजी भी इन्हें श्रीचरणों से ही प्राप्त हुई। १९५२ ई० में कविराजजी ने इनका विवाह करा दिया और अपनी कोठी की नीचे वाली मंजिल आवास के लिए दे दी। इनकी संतानों, विशेष रूप से बड़ी पुत्री शिवरानी को 'दादू' का अगाध स्नेह प्राप्त है। सीतारामजी जीविकोपार्जन के लिए थोड़ा समय निकाल कर अहर्निश सेवा में लगे रहते हैं। यात्राओं में भोजनादि की व्यवस्था के लिए ये निरंतर साथ रहते हैं। 'बाबूजी' के साथ रहकर इन्होंने आध्यात्मिक जगत् की प्रसिद्ध विभूतियों—मेहेरबाबा, राम ठाकुर, सीताराम दास, ओंकारनाथ, ताराचरण साधु प्रभृति संतों के दर्शन एवं सत्संग का सुयोग प्राप्त किया है। इस महामानव की छत्रछाया में अर्थ और परमार्थ दोनों की एक साथ उपलब्धि से ये कृतार्थ हो गये।

सम्मान—कविराजजी की लोकोत्तर प्रतिभा, साधनापुष्ट-पांडित्य तथा साहित्यिक सेवाओं के प्रस्वीकरणस्वरूप केन्द्रीय शासन, विश्वविद्यालयों तथा गण्यमान्य साहित्यिक संस्थाओं ने इन्हें सम्मानक उपाधियाँ प्रदान कर अपने को गौरवान्वित किया है। इनके उपलक्ष में आयोजित वितरणोत्सवों में ये कभी सम्मिलित नहीं हुए। 'आप्तकामस्य का स्पृहा' की सत्यता इनके आचरण से सतत चरितार्थ होती रही।

कविराजजी द्वारा अद्यावधि उपलब्ध सम्मानसूचक पद, पुरस्कार तथा उपाधियों का विवरण कालक्रम से नीचे दिया जाता है :

१.	महामहोपाध्याय	भारत सरकार, ४ जून १९३४ ई०
२.	कोरोनेशन मेडल	भारत सरकार, १ सितंबर १९३७ ई०
३.	डी० लिट्०	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९४७ ई०

४.	डी० लिट्०	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, २१ दिसम्बर १९५६ ई०
५.	सर्टिफिकेट ऑफ ऑनर	राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, १९५९ ई०
६.	फेलोशिप	बर्दवान विश्वविद्यालय, १९६४ ई०
७.	पद्म विभूषण	भारत सरकार, २६ जनवरी १९६४ ई०
८.	फेलोशिप	रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता १९६४ ई०
९.	मानद सदस्य	लोनावला (पूना) से प्रकाशित योगमीमांसापत्रिका
१०.	साहित्यिक पुरस्कार (तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पर)	साहित्य अकादमी, भारत सरकार, १९६५ ई०
११.	डी० लिट्०	कलकत्ता विश्वविद्यालय,१९ जनवरी १९६५ ई०
१२.	साहित्य-वाचस्पति	हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, १९६५ ई०
१३.	अध्यक्ष-पद	गंगानाथ झा इंस्टीट्यूट, प्रयाग १९६६ ई०
१४.	सर्वतंत्र सार्वभौम	गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, ८ अप्रैल १९६७ ई०
१५.	फेलोशिप	साहित्य अकादमी, भारत सरकार, १९७१ ई०
१६.	विल्सन-स्वर्णपदक	रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई
१७.	डी० लिट्० (मानद)	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७६ ई०
१८.	देशिकोत्तम	विश्वभारती शांतिनिकेतन
१९.	सम्मान तथा साहित्यिक पुरस्कार	उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा '**तांत्रिक साहित्य**' पर पुरस्कार, प्रकाशनोद्घाटन समारोह पर १९७५ ई०

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्रीविश्वनाथ दास के व्यक्तिगत अनुरोध से गत वर्ष कविराजजी ने वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के तत्वावधान में तंत्र-योग विषय पर अनुसंधान-निर्देशन का ससंमानक कार्य स्वीकर कर लिया है। इस विभाग से संबद्ध शोधार्थी, प्रवक्ता तथा अनुसंधान-सहायक इनके घर पर ही आकर पथ-निर्देश प्राप्त करते हैं। काम रुचि के अनुकूल है, वैधानिक उत्तरदायित्व एवं व्यवस्था का झमेला नहीं है, कहीं आना-जाना नहीं पड़ता, जिनसे अपनी दिनचर्या बाधित होती हो, इसलिए निभाये जा रहे हैं। लोग आश्चर्य करेंगे कि जिस व्यक्ति ने छ: वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय का उसी प्रशासन द्वारा सानुरोध प्रस्तावित उपकुलपति-पद यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि 'अब वह बहुत पीछे छूट गया है' वही इस बार लौकिक दृष्टि से अपेक्षाकृत न्यूनतर शोध-निर्देशक का पद स्वीकार करने को कैसे राजी हो गया। किन्तु जो कविराजजी के जीवन की अंतर्धारा से परिचित हैं, उनकी दृष्टि से यह तथ्य ओझल नहीं होगा कि ये आजीवन अखंड अक्षर-साधक रहे हैं। इसलिए इनके अपने दृष्टिकोण से बुद्धिजीवी के लिए अध्यापन-कार्य किसी भी प्रशासकीय पद की अपेक्षा अधिक अभिनंदनीय है। भगवद्भाव से परिभावित अखंड ज्ञानयज्ञ-रत इस महामानव की लोकयात्रा का प्रत्येक क्षण तथा प्रत्येक पदविन्यास इसका साक्षी है।

अध्यात्मचर्या

धार्मिक वातावरण—कविराजजी के व्यक्तित्व में आध्यात्मिकता के जो तत्व संस्कार रूप में विद्यमान थे, बाल्यावस्था में उनके विकास के लिए अभिभावकों ने उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया। इनकी जन्मभूमि धामराई की माधव-बाड़ी में नित्य भजन-कीर्तन होता था। ये मौसी स्वर्णमयी के साथ उसमें बड़ी रुचि के साथ सम्मिलित होते थे। उत्सवों में वहाँ वैष्णव गोस्वामी भागवत के दशमस्कंध की कथा बाजा एवं संगीत के साथ भाव-विभोर होकर कहते थे। इनमें कृष्णलीला के अतिरिक्त रामायण-गान भी होता था और भक्ति-ज्ञान-संबंधी पद भी गाये जाते थे। गोपीनाथजी उन्हें तन्मय होकर सुनते थे। जब ये धामराई से आकर नाना कालाचंद के पास कांठालिया में रहने लगे तो यहाँ भी इन्हें घर में होने वाली गृहदेव की नियमित पूजा एवं कीर्तन के अतिरिक्त जन्माष्टमी तथा दुर्गाष्टमी के अवसर पर विशेष धार्मिक समारोहों में सम्मिलित होने का सुयोग मिलता रहा। माता सुखदासुंदरी देवी इनमें धार्मिक रुचि उत्पन्न करने की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहीं। उपनयन के बाद वे इनसे वैदिक संध्या नियमपूर्वक कराती थीं। संध्या-वंदन किये बिना भोजन न देने का उन्होंने नियम सा बना दिया था।

रामदयाल मजूमदार का प्रभाव—कुछ बड़े होने पर इन्हें अपने पिता पं० वैकुंठनाथ की पुस्तकों में तत्कालीन प्रसिद्ध धर्मोपदेशक पं० शशधर तर्कचूड़ामणि का 'धर्मव्याख्या' नामक एक ग्रंथ मिला। इसे पढ़कर ये बहुत प्रभावित हुए। ढाका में अध्ययन करते समय इन्हें उस क्षेत्र के प्रतिष्ठित धर्मतत्ववेत्ता रामदयाल मजूमदार के संपर्क में आने का अवसर मिला। मजूमदारजी का आदर्श था प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मभाव से भावित करना। उनकी गीता पर लिखी हुई विशद व्याख्या का अनुशीलन करने पर जीवन के प्रति कविराजजी की दृष्टि ही बदल गयी। इस समय से ये अपने एक मित्र यतींद्र के साथ साधु-संन्यासियों की जीवनियों के अध्ययन, दर्शन तथा सत्संग लाभ में विशेष रूप से प्रवृत्त रहने लगे।

योगत्रयानंद से संपर्क—इन्हीं दिनों दान्या के निवासी जानकीनाथ गोप का, जो किसी प्राइमरी पाठशाला के प्रधानाध्यापक थे, शरीरांत हो गया। वे बड़े विद्याव्यसनी और पुस्तक-संग्रही थे। उनके मरने के बाद उत्तराधिकारियों ने पुस्तकें बेच डालीं। उनमें से कुछ गोपीनाथजी ने भी खरीदीं। इन पुस्तकों में तैलंग स्वामी तथा भास्करानंद स्वामी के जीवन-वृत्तों के अतिरिक्त 'आर्यशास्त्र प्रदीप' नाम का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्राप्त हुआ, जो रचयिता के उल्लेखानुसार उसके द्वारा निर्मित एक विशाल दार्शनिक ग्रंथ की प्रस्तावना मात्र था। उस पुस्तक में कहीं लेखक का नाम नहीं दिया गया था। वह अध्यात्म-विद्या का विश्वकोश सा था। उसके अध्ययन से इनका मानसिक क्षितिज अत्यंत विस्तृत हो गया। कविराजजी उसकी तत्वविवेचनशैली पर मुग्ध हो गये। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसके प्रणेता का संधान न मिल सका, किंतु ये हताश न हुए।

जयपुर में अध्ययन करते हुए एक दिन ये राज्य के महालेखा-परीक्षक सत्येंद्रनाथ मुखर्जी से मिलने गये। वे बाबा प्रेमानंद भारती के भाई और सात्विक वृत्ति के व्यक्ति थे। अध्यात्म-चर्चा के क्रम में कर्मतत्व-संबंधी उनकी कुछ मौलिक स्थापनाओं को सुनकर ये

आश्चर्यचकित रह गये। इन्होंने जिज्ञासा की : 'ये विचार आपको कहाँ से मिले ?' मुखर्जी ने बताया, 'एक गृहस्थ महापुरुष हैं। वे बड़े ज्ञानी हैं। किसी से कुछ माँगते नहीं। जीविकोपार्जन के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते। सदैव तत्वानुसंधान में लीन रहते हैं। उनके गृहस्थ-जीवन का नाम शशिभूषण सान्याल है। महात्मा शिवरामानंद उनके गुरु हैं। अत: वे अपने को शिवराम-किंकर कहते हैं। उन्होंने 'आर्यशास्त्र प्रदीप' नामक एक महान् ग्रंथ की रचना की है।' इतना पता लग जाने पर भी उक्त महापुरुष का साक्षात्कार न हो सका। मुखर्जी बाबू को उनके तत्कालीन निवास-स्थान की सूचना नहीं थी। कविराजजी की इनके दर्शन की अभिलाषा और बलवती हो गयी।

बनारस आने पर जब ये क्वींस कॉलेज में एम० ए० के विद्यार्थी हुए, तो इनका परिचय प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता शचींद्रनाथ सान्याल से हुआ। उस समय वे सेंट्रल हिंदू कॉलेज की एफ० ए० कक्षा में पढ़ रहे थे। उनके चाचा पं० हरिकेशव सान्याल क्वींस कॉलेज में तर्कशास्त्र के प्रोफेसर थे। कविराजजी उनके स्नेहभाजन थे। इस नाते शचींद्र से इनकी घनिष्ठता हो गयी। दोनों मित्र दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर बैठकर प्राय: घंटों धार्मिक चर्चा किया करते थे। सान्याल जी का विचार था कि भारत का उद्धार धार्मिक उत्थान से ही हो सकता है। इसी प्रसंग में एक दिन उन्होंने अपने परिचित एक तत्वज्ञ महापुरुष का उल्लेख किया, जिनका पुत्र इंदुभूषण सान्याल उनका सहपाठी था। कहना न होगा कि वे महानुभाव शशिभूषण सान्याल ही थे। कविराजजी को अकस्मात् अभीष्ट सिद्धि से अपार आनंद हुआ। इन्होंने उनका दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। शचींद्र ने कहा : 'यों वे सामान्य लोगों से नहीं मिलते। एक बार तो उन्होंने द्वार पर दर्शनार्थ उपस्थित कश्मीर के महाराज प्रताप सिंह को लौटा दिया था। किन्तु इंदुभूषण के माध्यम से संभव है, हमें सफलता मिल जाये।' दो दिनों के बाद शचींद्र ने सूचना दी : 'मिलने का समय निश्चित हो गया है। कल संध्या को चार बजे इंदु के घर पहुँच जाना है।'

शिवराम-किंकर योगत्रयानंद[१] महाशय सोनारपुरा में रहते थे। मकान के दूसरे तल्ले में एक बड़ा कमरा था । उसी में उनका आसन था। जिस समय कविराजजी शचींद्र के साथ वहाँ पहुँचे, पहले से ही कई लोग मिलने की प्रतीक्षा मे बैठे थे। किन्तु शिवराम किंकरजी ने इंदुभूषण द्वारा इन लोगों के समय से आने की सूचना पाकर तत्काल ही बुला लिया। कई कमरे पार करते हुए दोनों केन्द्रीय हाल में पहुँचे। देखा, पुस्तकों से घिरा, लंबी जटा रखाये, गले में रुद्राक्ष की माला धारण किये, प्रसन्न वदन, साक्षात् शिव की भाँति तेजपूर्ण मुखमंडलवाला एक गौरवर्ण का वृद्ध महापुरुष बैठा है। प्रणाम करके ये लोग एक किनारे बैठ गये। शचींद्र ने इनसे पहले ही कह दिया था : 'बातें तुम्हीं करना। मैं पीछे बैठा रहूँगा।' वैसा ही हुआ। कविराजजी आगे बैठे और शचींद्र कुछ फासले पर पीछे। महापुरुष ने परिचय पूछने के बाद जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए प्रश्न करने का आदेश दिया। गोपीनाथजी ने निवेदन किया : 'आये

---

१. आचार्य नरेंद्रदेव के पिता बाबू बलदेवप्रसाद भी इनके भक्त थे। उन्होंने अयोध्या में गायत्री-मंदिर की स्थापना इन्हीं की प्रेरणा से की थी। 'गायत्रीतत्वभास्कर' नामक ग्रंथ जिसे आचार्य नरेंद्रदेव ने पिता के इच्छानुसार प्रकाशित कराया था, इन्हीं की प्रेरणा से लिखा गया था।

तो थे केवल दर्शनार्थ, किन्तु यदि आज्ञा है तो एकाध शंकाएँ सेवा में प्रस्तुत करूँगा।' इसके बाद इन्होंने निम्नांकित श्लोक पढ़ा :

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

और निवेदन किया कि क्या तत्वज्ञानी मुनियों में भी, जो पूर्णसत्य के साक्षात् स्वरूप ही होते हैं, मतभेद संभव है? महात्माजी इनकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते हुए बोले : 'धर्म का तत्त्व एक अत्यंत गंभीर रहस्य है। वह मन से अतीत है। मन का निरोध किये बिना इस गुहा में प्रवेश असंभव है। मुनिवर्ग मन को लेकर शास्त्रों की व्याख्या करता है। जो मन से इसकी व्याख्या करेगा या इसको देखने का प्रयत्न करेगा, उसको शास्त्र के तत्त्व अपनी प्रकृति के अनुसार ही दिखायी पड़ेंगे। प्रत्येक मुनि की प्रकृति भिन्न है। अतः उनके मतों में विभिन्नता स्वाभाविक है, क्योंकि मुनि-मात्र मन के अनुगामी हैं। तत्त्व का साक्षात्कार मन को अतिक्रम करके होता है, किंतु इस स्थिति में साक्षात्कार कर लेने पर भी वर्णन नहीं हो सकता। कारण कि वर्णन करने के लिए शब्द की आवश्यकता होती है और उसकी पृष्ठभूमि में मन की क्रिया रहती है। मन ही विकल्पों का मूल है। प्राचीन काल में योगी लोग वितर्क-समाधि से किसी वस्तु का स्वरूप-साक्षात्कार करके उसका विवरण जनता के सामने व्यवहारभूमि में देते थे। ये विवरण विकल्पमय हैं। तत्त्व का साक्षात्कार होता है जहाँ मन नहीं रहता। वह निर्विकल्प स्थिति है। परन्तु तत्त्व का उपदेश होता है वाक्यों से, जिनमें मन की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान विकल्पज्ञान है, किन्तु साक्षात्कार विकल्पशून्य अथवा निर्विकल्प है। वेद, स्मृति सब शब्दात्मक हैं, अतः परम प्रामाणिक होने पर भी ये विकल्परहित नहीं हैं। मुनि भी मननशील हैं, वे विकल्प से रहित नहीं हैं। इसलिए धर्म का तत्वान्वेषण करना हो तो हृदय-गुहा में प्रवेश करना पड़ता है। जन-साधारण के लिए हृदय-गुहा में प्रविष्ट होकर तत्वग्रहण करना संभव नहीं। उनके लिए एकमात्र उपाय है महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना।'

संध्या हो जाने पर उनकी आज्ञा प्राप्त करके जब ये चलने लगे तो उन्होंने कहा : 'जब इच्छा हो आ जाना।' इस प्रकार भविष्य में विचार-विनिमय का मार्ग खुल गया। इसके बाद शिवराम-किंकर महाशय सोनारपुरा छोड़कर राजघाट पर अपने एक शिष्य द्वारा प्रदत्त मकान में जाकर रहने लगे। कविराजजी यहाँ भी इनका सत्संग-लाभ नियमपूर्वक करते रहे। अपने सेवक सतीशचंद्र पाल को उन्होंने आज्ञा दे रखी थी कि गोपीनाथ जिस समय भी आयें मेरे पास पहुँचा देना।

कविराजजी के व्यक्तित्व के निर्माण में इन महाशय की योगसिद्धि, स्वच्छंद प्रवृत्ति, अनन्य रामभक्ति और अगाध ज्ञान का विशेष योग है। इनके विद्यार्थियों में स्वामी अभेदानंद ऐसे अनेक तत्वज्ञ महापुरुष थे। कविराजजी इनके संपर्क में सात वर्ष (१९११ से १९१७ ई० तक) रहे। इन्होंने एक बार भगवदाश्रय की महिमा बताते हुए कविराजजी को अपने जीवन की घटना सुनायी : 'मैं किसी से कभी कुछ माँगता नहीं और न मेरे पास कोई निजी संपत्ति या वृत्ति ही है। फिर भी काम चलता रहता है। आराध्य की ऐसी ही इच्छा है। एक दिन जब मैं वराहनगर में अभेदानंद को वेदांत पढ़ा रहा था, डाकिये ने आकर एक बीमाकृत

लिफाफा दिया। मैंने उसे खोला, भीतर तीस रुपये के नोटों के साथ एक पत्र था। उसे पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आ गये। अभेदानंद को यह दृश्य देखकर आश्चर्य हुआ। पूछा : 'क्या बात है महाराज?' मैंने बताया : 'प्रमदादास मित्र नामक व्यक्ति ने ये ३० रु० भेजे हैं और लिखा है कि मुझे तीन दिन हुए भगवान् शंकर ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा, तुम तीन दिनों से जो भोग लगा रहे हो उसे हम नहीं खा रहे हैं। मेरा परमभक्त शिवराम-किंकर वराहनगर में तीन दिन से बिल्वपत्र मात्र खाकर रहता है। स्वप्न में ही उन्होंने आपका पता लिखा दिया। उसी आधार पर ये ३० रु० सेवार्पित हैं।' शिवराम-किंकर महाशय ने इस प्रसंग में आगे कहा : 'निराहार रहने की बात मेरे निकटतम व्यक्ति भी नहीं जानते थे। भगवान् का अपने आश्रित के प्रति यह करुणाभाव देखकर मेरे नेत्र सजल हो गये थे।' इन महानुभाव की अनासक्ति की चर्चा करते हुए आश्रमवासियों ने कविराजजी को बताया था कि अपने वयस्क पुत्र के आकस्मिक देहावसान से वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए थे। इतना ही नहीं, उसके शव को वे गंगातट पर कीर्तन करते हुए ले गये थे।

शिवराम-किंकर महाशय से इनका संबंध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। उनकी लिखी 'परलोक', 'मानवतत्व', 'भूत और शक्ति' आदि पुस्तकें पढ़कर इनकी इच्छा उनसे मंत्रदीक्षा लेने की हुई, किन्तु कुछ कारणों से इसकी व्यवस्था न हो सकी। फिर भी इनके आत्मिक विकास के लिए वे निरंतर प्रयत्नशील रहे। उनकी छाया में विद्यार्थी जीवन में ही भगवान् की शरणागत-वत्सलता में कविराजजी का अगाध विश्वास हो गया। अध्ययन के साथ ही ज्ञान, भक्ति और योग संबंधी ग्रन्थों का परिशीलन, सत्संग तथा साधु-दर्शन में इनकी रुचि बढ़ती गयी।

प्रथम गुरुदर्शन—गुरुदीक्षा का सुयोग इसके छः वर्ष बाद जनवरी में १९१८ ई० में संघटित हुआ। एक दिन काशी में ही हरद्वार के भोलागिरि मठ से संबद्ध एक ब्रह्मचारी से इनकी अचानक भेंट हो गयी। उन्होंने इनसे तिब्बत से आये हुए एक सिद्ध महात्मा का दर्शन करने के लिए अपने साथ चलने का अनुरोध किया। उनकी योगशक्ति की चर्चा करते हुए ब्रह्मचारी जी ने बताया कि वे अपने तथा समागत जिज्ञासुओं के शरीर से मनचाही सुगंध पैदा कर देते हैं। महात्माजी हनुमानघाट पर ठहरे हुए थे। उक्त ब्रह्मचारी के साथ कविराजजी उनके निवास-स्थान पर ४ बजे अपराह्न में पहुँचे। मकान तिमंजिला था। निचली मंजिल में शिष्य रहते थे। दूसरे तल्ले में एक बड़ा कमरा था जिसकी बैठक का दरवाजा सड़क की ओर खुलता था। तीसरे तल्ले में एक छोटा कमरा पूजागृह के रूप में प्रयुक्त होता था। उसके निकट रसोई घर था। महात्माजी दो तल्ले में ही दर्शनार्थियों से मिलते थे। ब्रह्मचारी के साथ जब ये उनकी बैठक में प्रविष्ट हुए तो १०-१५ व्यक्ति बैठे थे, जिनमें हिन्दू विश्वविद्यालय के कुछ अध्यापक और नगर के संभ्रांत लोग थे। बाबाजी का आसन उत्तर ओर एक पलंग पर था। उस पलंग के ऊपर व्याघ्रचर्म बिछा था। वे जोगिया रंग का वस्त्र धारण किये हुए थे और देखने से लगभग ६० वर्ष के लगते थे। उनके मुख-मंडल की दिव्य आभा देखकर इनके मन में अपार श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। संकेत पाकर ये पलंग के पास बैठ गये।

उस समय बाबाजी रहस्य-साधन के केन्द्र 'ज्ञानगंज' की चर्चा कर रहे थे। प्रसंग को बढ़ाते हुए बोले : 'यह गुप्त योगाश्रम तिब्बत में स्थित है। जलंधर (पंजाब) से होकर जाना

पड़ता है। कश्मीर से भी रास्ता गया है। यहाँ योग की शिक्षा दी जाती है। यह नालंदा जैसा ही विशाल आध्यात्मिक-शिक्षा-केन्द्र है। जब मैं १४-१५ वर्ष का था, पगले कुत्ते ने काट लिया। उन दिनों इसकी चिकित्सा की व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकार के घटनाग्रस्त व्यक्ति प्राय: पागल होकर मर जाते थे। अपनी मृत्यु निश्चित जानकर मैंने आत्महत्या करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से हुगली के निकट गंगातट पर गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि गंगा के गर्भ से एक महात्मा डुबकी लगार ऊपर उठ रहे हैं। जल उनके साथ ही स्तंभ की भाँति ऊपर उठता और डुबकी लगाने पर नीचे गिर जाता है। यह दृश्य देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। स्नान करने के बाद वे महापुरुष मेरे पास आये और पूछा : 'क्या तुम डूबने आये हो?' मैंने अपना वृत्तांत सुनाकर निवेदन किया, 'आजीवन कष्ट भोगने से मैं गंगा में डूबकर प्राणांत करना अच्छा समझता हूँ।' उन्होंने मेरे मस्तक पर अपना हाथ रखा। उनके स्पर्शमात्र से मेरा सारा शरीर शीतल हो गया। इसके बाद वे बोले : 'घर जाओ, पेशाब होगा, उसके साथ ही तुम्हारे शरीर का सारा विष बह जायगा।' मैंने प्रार्थना की : 'आपने लौकिक जीवन की रक्षा की है, परमार्थ का पथ भी बताइये।' महात्माजी ने कहा : 'मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ, फिर भी यदि तुम्हारी इच्छा है तो गुरु के स्थान तक पहुँचा सकता हूँ। किंतु इसके लिए तुम्हें अपनी माता से अनुमति प्राप्त करनी पड़ेगी।' मैंने घर आकर माताजी को सारी कथा कह सुनायी। मेरे जीवन-रक्षा का समाचार पाकर वे बहुत प्रसन्न हुईं। इसके कुछ दिनों बाद महात्मा जी आये और माँ की स्वीकृति प्राप्त कर मैंने उनका अनुगमन किया। वे पहले मुझे आकाश-मार्ग से अष्टभुजा ले गये। वहाँ एक सप्ताह तक निर्जन स्थान में रहा। इसके अनंतर वे मुझे हिमालय में विज्ञान एवं योगशिक्षा के केन्द्र ज्ञानगंज आश्रम को ले गये।

इस आश्रम के अधिष्ठाता परमहंस भृगुराम थे। इनकी आयु लगभग ८०० वर्ष की थी।। परमहंस के गुरु का नाम था--महातपा। इन महापुरुष की आयु १५०० वर्ष की कही जाती थी। इनका लौकिक शरीर नहीं था। ये समस्त योगियों के अध्यक्ष थे। यहाँ सात दिन रहकर परमहंसजी के आज्ञानुसार स्वामी नीमानंद मुझे राजराजेश्वरी मठ ले गये। इस मठ में महात्माजी से मुझे दीक्षा मिली। ज्ञानगंज में श्यामानंद परमहंस ने प्रकृति-विज्ञान की दीक्षा दी, इसके साथ ही अन्य बहुत से नूतन विज्ञान के भी आविष्कार की क्रियाएँ सीखीं। आश्रम के नियमानुसार मुझे यहाँ १२ वर्ष ब्रह्मचर्यावस्था में बिताने पड़े, दो वर्ष संन्यासावस्था में रहा, फिर कुछ समय परिव्राजक रूप में तीर्थाटन किया। इस बीच कभी-कभी प्रतिश्रुति के अनुसार घर आकर माताजी से भेंट कर जाया करता था। अध्ययन-काल समाप्त होने पर परीक्षा हुई। यह परीक्षा परमहंसजी के मस्तक के सहस्रदल में प्रतिष्ठित शिवलिंग द्वारा हुई। प्रत्येक योगी की अंतिम परीक्षा इसी से ली जाती है। यह ज्ञानगंज का मुख्य शिवलिंग था। परीक्षा के पश्चात् इसे मस्तक से निकाल कर यथास्थान रखना पड़ता है। किन्तु परमहंस भृगुरामजी ने इसे हमें अत्यन्त कृपापूर्वक प्रदान कर दिया। इस अवसर पर मुझे पूर्वनाम भोलानाथ के स्थान पर विशुद्धानंद की संज्ञा मिली। इसके बाद गुरुदेव ने आदेश दिया कि लोकालय में जाकर धर्म-प्रचार करो। मेरी इच्छा वह स्थान छोड़ने की नहीं थी, क्योंकि इस प्रकार दिव्य जीवन लाभकर फिर संसार में आना अच्छा नहीं लगा, किंतु गुरुआज्ञा का उल्लंघन कैसे करता? गरुदेव ने चलते हुए आदेश दिया कि संसार में जाकर विवाह करो, फिर

पूर्णता-लाभ होगा। आरंभ में कई आश्रमवासी योगियों ने मुझे सिद्धलिंग प्रदान किये जाने का विरोध किया, किंतु अंत में परमहंजी का तीव्र आग्रह देखकर वे सहमत हो गये। मैं गुरुआज्ञानुसार अपनी जन्मभूमि पश्चिमी बंगाल के वर्धवान जिले के अंतर्गत गुशकरा नामक स्थान को चला आया। यहाँ तीर्थस्वामी के रूप में कुछ समय तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। जीविकोपार्जन का साधन बनाया-चिकित्सावृत्ति। परमहंसजी द्वारा प्रदत्त शिवलिंग को मैंने यहीं 'भोलानाथेश्वर' नाम से स्थापित कर दिया। पत्नी के वियोग-काल तक मेरी तीर्थस्वामी अवस्था रही। इसके बाद परमहंस अवस्था में आ गया।

यह सत्संगवार्ता घंटों चलती रही। उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त कविराजजी को यह भी ज्ञात हुआ कि बाबाजी के शरीर में सैकड़ों स्फटिक गोलक भरे पड़े हैं। इन्हें ये यदा-कदा बिना रक्तपात किये निकाल लेते थे। इसी प्रकार अपने मस्तक से कभी-कभी वे शालिग्राम शिला भी निकालते थे। उस अवसर पर समुपस्थित भक्त इन दिव्य वस्तुओं का दर्शन कर कृतार्थ होते थे।

परमहंस जी की योगविभूति—स्वामी विशुद्धानंद में आलौकिक योगशक्ति थी। जब उनके साथ कविराजजी का संबंध हो गया तब क्रमश: उनके स्वरूप का परिचय बाहर की दृष्टि से स्पष्ट होने लगा। उनमें योगविभूतियों का तो अंत ही नहीं था। पातंजल- योगदर्शन के 'विभूतिपाद' में जितनी विभूतियों का वर्णन मिलता है उससे भी किसी किसी अंश में अधिक शक्तियों, विशेष करके इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति का स्फुरण इनके देखने में आया।

परमहंसजी के पास दर्शनार्थियों की सदा भीड़ लगी रहती थी। कोई 'ज्ञानगंज' की विभूतियों का वर्णन सुनाने के लिए अनुरोध करता, कोई अपनी मनचाही सुगंधों को सूँघने का। बाबाजी हाथ रगड़ कर सुगंध उत्पन्न कर देते थे। कविराजजी कुछ दिनों तक यह सब देखते रहे। एक दिन इनसे नहीं रहा गया, प्रश्न कर बैठे : स्वामीजी! योग की इन सब विभूतियों का अध्यात्म-साधना से क्या संबंध है? इसे लेकर हम क्या करेंगे? योग क्या है और उससे किस प्रकार हमारा आत्मिक विकास हो सकता है, यह बताइए?' बाबाजी बोले : 'तुम्हारा शास्त्र योग की क्या परिभाषा देता है?' कविराजजी ने निवेदन किया : 'चित्तवृत्तियों का निरोध। किन्तु इसके द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से संयोग कैसे स्थापित हो सकता है? यह समझ में नहीं आता। इस संदर्भ में योग की उपादेयता पर प्रकाश डालिए।'

स्वामीजी बोले : 'यह बड़ी दुर्लभ अवस्था है। वह ऐसी स्थिति है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है।' कविराजजी ने कहा : 'यह हमारी बुद्धि में नहीं आता। क्या योग असंभव को भी संभव कर सकता है।' बाबाजी का उत्तर था :'योगी के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। वह ईश्वर से अभिन्न है। माया ईश्वर की भाँति योगी की भी शक्ति है। जो ईश्वर का आदर्श जितना प्राप्त कर सके, वह उतना ही बड़ा योगी है। जब तक वह माया को नियंत्रित नहीं कर पाता तब तक साधक रहता है। उसे स्ववश कर लेने पर योगी हो जाता है। यथार्थ उपासक ईश्वर है, उपास्य है महाशक्ति।' कविराजजी ने शंका व्यक्त की : 'क्या ईश्वर और महाशक्ति एक नहीं हैं।' बाबाजी ने एक दृष्टांत देकर इस गूढ़ तत्त्व को समझाते हुए कहा : 'आग में लोहे का टुकड़ा डाल दीजिए। एक घंटे में वह तपकर लाल हो जायेगा। इस तप्त लोहे से यदि कपड़े का संपर्क हो जाये तो वह अग्नि के प्रभाव से

पुत्र तथा पुत्रवधू
जितेन्द्रनाथ कविराज और वीणापाणि देवी, १९३४ ई०

पुत्रवधू की गोद में पौत्र शशिशेखर

बाल सखा के साथ

बाएँ : गोपीनाथ कविराज, *दाएँ :* ज्योतीन्द्रनाथ चौधरी

ढाका, १९०४ ई०

गोपीनाथ कविराज मित्रों के साथ
महाराजा कॉलेज, जयपुर, १९०७ ई०

खड़े हुए (दूसरी पंक्ति)

इन्दु चटर्जी, नृत्यगोपाल भट्टाचार्य, सुधीरचन्द्र राय,
अक्षयकुमार सेन, सत्य मुखर्जी

बैठे हुए (पहली पंक्ति)

गोपीनाथ कविराज, कृष्णपद बनर्जी, पाँचू गुप्त, आशुतोष भट्टाचार्य,
रवीन्द्र सेन, ब्रजगोपाल भट्टाचार्य, अनन्त मुखर्जी, मंजु भट्टाचार्य

सहपाठियों के बीच
(गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस, जनवरी १९१३ ई०)
पीछे की पंक्ति में खड़े हुए :
चारु शशि वन्द्योपाध्याय, रामदास उकील, धीरेन्द्र राहा
बीच की पंक्ति में कुर्सी पर बैठे हुए :
वृन्दावन भट्टाचार्य, हरिहर शास्त्री, गोपीनाथ कविराज, हाराणचन्द्र शास्त्री
आगे की पंक्ति में बैठे हुए :
जीव भट्टाचार्य, बृजगोपाल भट्टाचार्य

कविराजजी, परिजनों, सत्संगियों, लेखक (डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह खड़े हुए) तथा प्रकाशक (श्री पुरुषोत्तमदास मोदी-बायीं ओर बैठे हुए) के साथ।

कविराजजी पौत्र (श्री शशिशेखर कविराज) तथा पौत्र-वधू (श्रीमती शिवानी दाहिनी ओर) के साथ कविराज परिवार

महाप्रयाण

ज्ञानगंज आश्रम (हिमालय) के महासिद्ध

स्वामी अभयानन्द परमहंस

तत्काल भस्म हो जायगा, किन्तु वही लोहा जब ठंडा हो जायेगा तो यह कार्य नहीं कर सकेगा। यहाँ लोहा ईश्वर है और अग्नि है महाशक्ति। ये दोनों तत्त्व नित्य संयुक्त रहते हैं। मनुष्य महाशक्तिरूपी शुद्ध अग्नितत्त्व की उपासना नहीं कर सकता, उससे युक्त ईश्वर की कर सकता है। ईश्वर को प्राप्त किये बिना महाशक्ति तक उसकी पहुँच असंभव है।' कविराजजी ने आगे प्रश्न किया : 'बताइये असंभव संभव कैसे हो सकता है ?' बाबाजी ने बड़े सरल भाव से समझाते हुए कहा : 'योगी के लिए कुछ भी असंभव नहीं, किन्तु ऐसे योगी हैं कहाँ ? जिन्हें आप गेरुआ वस्त्र धारण किये मठों में निवास करते हुए देखते हैं, वे साधक मात्र हैं। योगी अत्यंत दुर्लभ हैं।' यह कहते हुए उन्होंने अपने गले में पड़ी हुई माला से एक फूल निकाला और पूछा—'कौन फूल है ?' कविराजजी ने कहा—'गुलाब'। इनके देखते-देखते कुछ ही क्षणों में वह जवापुष्प हो गया, फिर थोड़ी देर बाद कपूर बन गया। बाबाजी बोले : 'इस गुलाब में ही विश्वब्रह्मांड की सारी वस्तुओं के उपादान अंतर्निहित हैं। इससे जो चाहो बना लो। सिद्धांत है : 'सर्वं सर्वात्मकम्'। 'क' में ही 'ख' है। 'क' नाम इसलिए है कि उसमें वही तत्त्व प्रधान है, शेष अप्रधान हैं, दबे हुए हैं। देवता में भी पशुत्व रहता है, प्रच्छन्न रूप में। जगत् में योगी प्रायः दिखायी नहीं देते, इसलिए इन तथ्यों पर विश्वास नहीं होता। योगी होना अत्यन्त कष्टकर है। उनका मुख्य स्थान तिब्बत है।'

योग की इस व्याख्या से कविराजजी की मूल शंका का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। उसे पुनः प्रस्तुत करते हुए ये बोले : 'इस चमत्कारमूलक योग से जीव का पारमार्थिक कल्याण कैसे हो सकता है ?' बाबाजी ने अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा : 'कर्म ही मन्थन है, उसी से ज्ञान होता है। चैतन्यरूप ज्ञान से भक्ति, भक्ति से प्रेम और प्रेम से साक्षात्कार, यही अध्यात्मसाधना की, योगियों द्वारा अनुभूत परिपाटी है। सबके मूल में है कर्म—वह योग-साधना का प्रथम सोपान है, मूलाधार है। इसीलिए कहा गया है 'योगः कर्मसु कौशलम्।' प्रेम की प्राप्ति योगमार्ग से ही हो सकती है। साधारण प्रेम मनोविकार मात्र है। योगी ही सच्चा प्रेमी है।' इस प्रकार सत्संग करते-करते संध्या हो गयी। पूजा का समय आ गया। वे आसन से उठे। पूजा-घर की ओर बढ़ते हुए कविराजजी को अकेले में ले जाकर पूछा : 'अब तुम्हारा हृदय कैसा है ?' ये बोले : 'पहले से अच्छा है।' इन्हें आश्चर्य हुआ कि 'इस बात को तो कभी हमने इनसे कहा नहीं, मेरी उक्त बीमारी से अभिज्ञ कोई ऐसा परिचित व्यक्ति भी नहीं है, जो इनके संपर्क में हो। फिर ये कैसे जान गये!' बाबाजी ने आश्वासन देते हुए कहा : 'कोई चिंता न करो। दीक्षा लेने पर सब ठीक हो जायगा।'

परमयोगी के इन शब्दों को सुनकर कविराजजी को इनकी कृपा से अपने आधिदैविक के साथ भौतिक (जहाँ तक शरीर का संबंध है) कल्याण का विश्वास हो गया। चलते-चलते स्वामीजी ने पूछा, 'कल तो आओगे ही।' 'अवश्य' कहकर ये सीढ़ियों से नीचे उतर आये। इस समय ये पिशाचमोचन पर रहते थे। स्वामीजी के दर्शन-हेतु वहाँ से पैदल ही नित्य हनुमानघाट पर आते, उनकी विभूतियों का चमत्कार देखते और सत्संग लाभ करते थे।

एक दिन संध्या समय बाबाजी के साथ हरिश्चंद्रघाट होते हुए गंगा के किनारे टहलते-टहलते ये अस्सीघाट तक गये। रास्ते में योग और विज्ञान के संबंध में बहुत बातें हुईं। स्वामी जी ने कहा : 'योग की मुख्य वस्तु प्राकृत नेत्रों से दिखायी नहीं देती। विज्ञान के प्रयोगों का

फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्राचीन काल में अपने यहाँ योग-विद्या का बहुत प्रचार था। उसी के प्रभाव से यह देश आध्यात्मिक के साथ ही भौतिक उन्नति की भी पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। विज्ञान में आज जिस आकर्षण-शक्ति को इतना महत्त्व दिया जा रहा है, उसका मूल सूर्य है। इस रहस्य को जान लेने पर चंद्र, नक्षत्र, वायु, पृथ्वी आदि के विज्ञान करतलगत हो जाते हैं।'

बाबा का सूर्य-विज्ञान—कविराजजी ने स्वामीजी के सूर्य-विज्ञान तथा उसके प्रतिपादन के लिए प्रदर्शित चमत्कारों की चर्चा क्वींस कॉलेज में भौतिकी के प्रोफेसर अभय सान्याल से की। उन्होंने कहा : 'यह धारणा विवेकशून्य है। बाबाजी विज्ञान से अनभिज्ञ श्रद्धालुओं को ऐसे चमत्कार दिखाकर मुग्ध कर सकते हैं। हम लोग उनके सूर्य-विज्ञान के भुलावे में नहीं आ सकते। सूर्य-रश्मि से किसी भी स्थिति में ठोस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' बहुत कहने-सुनने पर कविराजजी के अनुरोध से वे इनके साथ एक दिन स्वामीजी के आश्रम पर गये। परिचय के बाद उन्होंने बाबाजी से कहा : 'आप अपने पसंद की नहीं, हमारे द्वारा निर्दिष्ट वस्तु यदि सूर्य-रश्मि से उत्पन्न कर सकें तो हम आपके सिद्धांत की वास्तविकता स्वीकार कर लेंगे।' बाबाजी ने कहा : 'क्या देखना चाहते हो?' सान्याल बोले : 'रेड ग्रेनाइट स्टोन (लाल कणाश्म पत्थर)।' बाबाजी ने अंगूर के डिब्बे में रखी हुई रूई का एक टुकड़ा मँगाया और उसे कुछ दूर पर रखकर लेंस से प्रकाश देने लगे। वह शनैः शनैः सफेद से लाल रंग में परिवर्तित होकर दो-ढाई मिनट में जमकर काठ की भाँति कड़ा हो गया। इसके अनंतर लाल ग्रेनाइट पत्थर बन गया। प्रोफेसर सान्याल ने शंका की : 'स्वामीजी आप विज्ञान तो जानते नहीं, अपने योगबल से इसे उत्पन्न कर दिया होगा। चमत्कार दिखाने के थोड़ी देर बाद ही यह अदृश्य हो जायगा।' स्वामीजी ने उनकी इस धारणा का खंडन करते हुए कहा : 'नहीं, यह सूर्य-रश्मि के प्रभाव से बना है, ले जाकर अपने पास रखो। जीवन भर देखते रहना, इसमें रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं आयेगा।' इसके बाद बाबाजी ने प्रोफेसर सान्याल के सामने ही एक फूल उठाया और उसकी प्रत्येक पँखुड़ी से एक-एक फूल उत्पन्न कर दिया, फिर उन्हें संबोधित करते हुए बोले : 'आप भौतिक-विज्ञान के बाहरी ढाँचे को लेकर बहुमूल्य उपकरणों की सहायता से कुछ तथ्यों को खोजकर अपनी सफलता से गर्वित होते हैं, किन्तु यह प्रकृति विज्ञान है। इसकी तथ्यान्वेषण-प्रक्रिया बाह्य-उपादानों की अपेक्षा नहीं रखती। अधिकारी के समक्ष नियति अपने रहस्य स्वतः खोल देती है। पात्रता प्राप्त कीजिये।'

कुछ दिनों बाद प्रयाग में कुंभस्नान का पर्व (दिसंबर, १९१७ ई०) लगा। बाबाजी के साथ कविराजजी भी गये। जार्जटाउन में ठहरे। प्रोफेसर अन्नदा सरकार पास ही रहते थे। एक दिन उनसे सूर्य-विज्ञान पर बातें हो रही थीं। सरकार का विश्वास बाबाजी की स्थापनाओं पर नहीं जम रहा था। बाबाजी ने सामने लगे हुए चीनी-खजूर के पेड़ से एक पत्ता तोड़ा और सरकार से पूछा : 'यह क्या है?' सरकार ने कहा : 'चीनी खजूर का पत्ता।' बाबाजी ने उनके देखते ही देखते लेंस द्वारा सूर्य का प्रकाश देकर उसे पत्थर बना दिया। प्रोफेसर सरकार यह चमत्कार देखकर चकित हो गये। बाबाजी ने कहा : 'आप लोग वैज्ञानिक पद्धति से वस्तुओं

का संश्लेषण और विश्लेषण करते हैं, किंतु उसके पश्चात् परीक्षित वस्तु को उसकी पूर्व स्थिति में नहीं ला सकते। योग के द्वारा यह भी संभव है। योगी को संश्लेषण तथा विश्लेषण दोनों क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। आज के विज्ञान और प्राचीन योगविज्ञान में यही अंतर है।' ये लोग कुंभ मेले में एक महीने के लगभग ठहरे। बाबाजी के साथ कविराजजी भी नित्य त्रिवेणी-स्नान को जाते थे। माघी पूर्णिमा के बाद सभी काशी लौट आये।

मंत्रोपदेश—अब दीक्षा का समय आ गया था। स्वामी जी ने तिथि निश्चित की। उसी के अनुसार २१ जनवरी, १९१८ ई० को हनुमानघाट पर मंत्रोपदेश-संस्कार विधिवत् संपन्न हुआ। इस समय से कविराजजी नियमित रूप से गुरु-सेवा में उपस्थित होकर साधना-पथ पर अग्रसर हुए। एक दिन बाबाजी से प्रश्न किया : 'हम लोग साधारणतया चंचल मन से जो जप करते हैं, उससे अर्थानुसंधान नहीं हो पाता। फिर उसका उपयोग ही क्या?' बाबाजी बोले : 'ब्राह्मण शरीर है, गायत्री-जप करते ही होगे, किन्तु उसका महत्त्व नहीं जानते। मेरे पूजा-घर में जाओ। ताम्रकुंड को गंगाजल से धोकर ले आओ।' यह कहते हुए उन्होंने अफीम के रंग के किसी द्रव्य से गायत्री का एक उपादान बनाकर इनके हाथ में दिया और आदेश दिया कि इसे ताम्रकुंड पर रखकर गायत्री-जप करो।' कविराजजी उसे लेकर पूजा घर में गये और बाबाजी के निर्देशानुसार सामने ताम्रकुंड पर रखकर जप करने बैठे। इसी समय उनके मन में तर्क उठा : 'देखें किसी अन्य मंत्र या लौकिक कविता के पाठ से यह उपादान प्रभावित होता है या नहीं। इससे स्वामीजी के कथन की सत्यता की भी परीक्षा हो जायगी।' यह निश्चय करके पहले अंग्रेजी की एक कविता पढ़ी, फिर बँगला कविता, तदनंतर संस्कृत के श्लोकों (जिनमें एकाध वेदमंत्र भी थे) का पाठ किया, किन्तु उक्त उपादान में कोई परिवर्तन लक्षित न हुआ। अंत में गायत्री-मंत्र पढ़ा। यह देखकर इनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि इस मंत्र को मन में गुनगुनाते ही वह उपादान प्रज्वलित हो उठा। बाद को कविराजजी ने बाबाजी के समक्ष यह सारी कथा ज्यों की त्यों कह सुनायी। बाबाजी ने कहा : 'तुम्हारी आस्था को दृढ़ करने के लिए ही यह उपक्रम किया गया था। मन की एकाग्रता के अभाव में भी मंत्र की ग्रहणशीलता अत्यंत प्रखर होती है। वह अपना प्रभाव अवश्य दिखाती है। इसलिए चंचल चित्त से भी किया गया भगवन्नाम अथवा मंत्र-जप कल्याणकारी होता है।'

इसी प्रकार उपदिष्ट मंत्र की उपादेयता पर शंका प्रकट करते हुए एक दिन कविराजजी ने स्वामीजी से कहा : 'आपके द्वारा प्रदत्त दीक्षा-मंत्र मैंने श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया, किन्तु विश्वास नहीं होता कि इस छोटे से जप करने से जीवन में परिवर्तन कैसे आ जायगा?' परमहंसजी बोले : 'अभी समझाने से कुछ नहीं समझोगे। सात दिन तक इसका जप करो, फिर देखो क्या होता है। इसका विवरण तुम स्वयं आकर बताओगे, विश्वास करने की कोई जरूरत नहीं है। जिस प्रकार आग में हाथ डालने से उसका जलना निश्चित है, उसी प्रकार मंत्र-जप का भी प्रभाव अवश्यभावी है।' इसके बाद कविराजजी घर गये। सात दिन तक गुरु के निर्देशानुसार अनुष्ठानपूर्वक मंत्रराज का जप किया। अंतिम दिन इन्हें ऐसा लगा जैसे सारा पूजागृह विद्युत्-प्रवाह से भर गया हो। ये आश्चर्यचकित रह गये। दूसरे दिन प्रातःकाल जाकर बाबाजी से सारी अवस्था निवेदित कर दी। उसे सुनकर बाबाजी ने कहा : 'एक छोटे

से मंत्र में जो शक्ति है, वह समस्त विश्व में उपलब्ध विद्युत शक्ति के पुंजीभूत स्वरूप में भी संभव नहीं है।'

जपयोग और क्षण-विज्ञान—स्वामीजी सूर्य-विज्ञान की भाँति क्षण-विज्ञान के भी प्रबल समर्थक थे। उनके आदेशानुसार कविराजजी भी जप करते समय घड़ी लेकर बैठते थे। इन्हें यह देखकर विस्मय होता कि कभी उतने ही समय में दो हजार मंत्रजप होता, कभी पाँच हजार और कभी उसी अवधि में संख्या दस हजार तक पहुँच जाती थी। इसके रहस्य की व्याख्या करते हुए बाबाजी ने कहा : 'शक्ति गुण के विकास से समय का मान बदल जाता है। सतोगुणी वृत्ति के उद्दीप्त होने पर जप अधिक और तमोगुण की वृद्धि में कम होता है। काल से संकर्षण करना चैतन्य का काम है। यही काल-संकर्षण शक्ति है।'

बाबाजी वर्ष में पाँच-छः महीने काशीवास करते थे। शेष समय कलकत्ता, जगन्नाथपुरी आदि में बिताते थे। ग्रीष्मावकाश में कविराजजी प्रायः उनके साथ इन स्थानों में जाकर रहा करते थे। धीरे-धीरे इनका सारा परिवार श्रीचरणों में शरणागत हुआ और सबने मंत्रदीक्षा ले ली। यह भाव-संबंध शनैः शनैः घनिष्ठ होता गया। गुरुदेव सुदूर बंगाल रहते हुए भी यदा-कदा पूजागृह में, स्वप्न में तथा दुःख-सुख के अवसरों पर इनके कुटुंबियों को दर्शन दिया करते थे। घर में उनकी निरंतर उपस्थिति का अनुभव होता था। उन्होंने चार बार इनकी धर्मपत्नी का मृत्युमुख से उद्धार किया था। कलकत्ता में भेंट होने पर कविराजजी ने बाबाजी के इन घटनाओं का रहस्य जानने की इच्छा व्यक्तकी। बाबाजी बोले : 'योगी सर्वव्यापक है। उसे शरीर से कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। वह अवर्णनीय अनंत शक्ति से युक्त है। अष्टसिद्धियों से परे इच्छाशक्ति का भोक्ता है। इससे संपन्न होकर वह प्रयोजन के अनुसार समस्त ऐश्वरिक कार्य करता है, या कर सकता है। इसके अनंतर एक ऐसा समय आता है, जब उसे इस इच्छाशक्ति को महाइच्छा में अर्पण करना पड़ता है। तब उसकी अनंत अपरिच्छिन्न आनंद-स्वरूप में स्थिति हो जाती है। उस दशा में योगी को किसी कार्य के लिए इच्छा नहीं करनी पड़ती। उसके सब काम महाइच्छा से स्वतः होते रहते हैं। आश्रितों के दुःखनाश के लिए कभी-कभी इस विज्ञान का प्रकाशन आवश्यक हो जाता है।'

गुरु-आश्रम की व्यवस्था—आगे चलकर काशी में स्थापित अपने आश्रम श्री विशुद्धानन्द कानन में परमहंसजी ने इस विद्या के अध्ययन के लिए एक विज्ञान मंदिर का निर्माण कराया जिसमें वैज्ञानिक पद्धति से सूर्य-रश्मि के आकर्षण की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु ज्ञानगंज की सिद्ध-मंडली ने इस सिद्धान्त के लोक-प्रचार की अनुमति नहीं दी। इसलिए यह योजना स्थागित कर दी गयी। इसके अनंतर उसी आश्रम में स्वामीजी ने नवमुंडी आसन की स्थापना की। इसके अंतर्गत देव-मंदिर, शिव मंदिर तथा गुरु-मंदिर का निर्माण हुआ और साधक तथा साधिकाओं के आवास हेतु पृथक् भवन बनाये गये। हनुमानघाट वाले प्राचीन आश्रम का भी जीर्णोद्धार हुआ। इनके अतिरिक्त भवानीपुर, जगन्नाथपुरी, बंडुल (बर्दवान) और पुरुलिया में स्थित बाबाजी के आवासस्थलों को भी आश्रम का रूप दिया गया जिनमें रहकर उनके शिष्य साधनापूर्ण जीवन बिताते हैं। इनमें काशी के 'श्री विशुद्धानन्द कानन' तथा हनुमानघाटवाले आश्रम की व्यवस्था की देखरेख कविराजजी ही करते हैं। अपना यह कर्तव्य ये अत्यंत निष्ठापूर्वक अब तक संपादित कर रहे हैं।

परमहंसजी का महाप्रयाण—स्वामीजी का लोकांतरण ११ जुलाई, १९३७ को कलकत्ता में हुआ। जीवन को प्रकाशमय पथ पर अग्रसर करनेवाले इस परमशरण्य महापुरुष से वियुक्त होने के क्षण कविराजजी के लिए अत्यंत हृदयद्रावक थे। आँसू इस जन्मसिद्ध महापुरुष की आँखों से इस बार भी नहीं निकले। वियोग की भीषण अंतर्ज्वाला ने उनका स्रोत ही सुखा दिया था। इस प्रक्रिया में इन्हें जो आतंरिक वेदना सहनी पड़ी उसकी रेखाएँ इनकी मुखमुद्रा को विकृत करती हुई स्पष्टतया लक्षित की जा सकती थीं।

गुरु के दिवंगत होने पर भी इनकी साधना उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अबाध गति से चल रही है। जब कभी किसी विषय में कोई शंका होती है तो उसका समाधान स्वामीजी की व्यापक आत्मा द्वारा इन्हें अनायास प्राप्त होता रहता है। कमरे में स्थापित आचार्य का चित्रपट ही इनका शाश्वत पथ-निदर्शक है। श्रद्धालुओं द्वारा लायी गयी वस्तुएँ ये स्वयं न ग्रहण कर गुरु-चरणों में अर्पित करा देते हैं।

सत्प्रसंग—कविराजजी के आध्यात्मिक जीवन के विकास में योग देने वाले अन्य महापुरुष है—राम ठाकुर (श्री रामचंद्र चक्रवर्ती), पागल बाबा, सिद्धिमाता, सतीशचंद्र मुखर्जी तथा माँ आनंदमयी। इन महात्माओं के संसर्ग से भक्ति, ज्ञान तथा योग के गूढ़ रहस्यों को हृदयंगम करने की इन्हें अद्‌भुत क्षमता प्राप्त हो गयी। इनकी ज्ञानालोकपूर्ण वाणी में जो माधुर्य है और लेखनी में गूढ़तम दार्शनिक तत्वों के साधारणीकरण की जो अद्‌भुत क्षमता है वह बहुत अंशों में साधना, स्वाध्याय और सत्प्रसंग का ही प्रसाद है।

कविराजजी की अध्यात्म-चर्या विद्यार्थी जीवन की प्राथमिक स्थिति से प्रारंभ हुई, बीच में लौकिक आपदाओं के अनेक झोंके आये-किन्तु उसकी शिखा क्षण मात्र के लिए भी नहीं लटपटायी, उसका प्रकाश उत्तरोत्तर प्रखर ही होता गया।

दिनचर्या—प्रिंसिपल के पद से निवृत्त होने के बाद १९३७ में इनकी दिनचर्या प्रायः स्थिर हो गयी है। जाड़ों में ६ बजे और गर्मियों में ५ बजे प्रातः कमरा खुलता है। नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूजा पर बैठ जाते हैं। इसमें एक घंटा लगता है। फिर मिलनेवाले आते हैं। उनके साथ १२ बजे तक सत्संग, तत्व-विचार और उपदेश चलता है। इसी बीच यदि अवसर मिल गया—तो जलपान कर लेते हैं। एक बजे के लगभग भोजन करते हैं। पहले तुरंत ही आसन पर बैठ जाते थे। दिन में विश्राम नहीं करते थे, किंतु इधर दो वर्षों से १ से ३ बजे तक विश्राम करते हैं। जिज्ञासुओं के आने का क्रम पुनः चलता है जिसकी समाप्ति गर्मियों में सन्ध्या को सात बजे और जाड़ों में पाँच बजे होती है। एक घंटे में नित्य-क्रिया समाप्त कर ८ बजे रात तक पूजा में बिताते हैं। १० बजे के आसपास भोजन करते हैं। यदि कोई घनिष्ठ व्यक्ति आ गया तो उसे उपदेश कर देते हैं, अन्यथा लिखते हैं। इसके अनंतर साधना में प्रवृत्त होते हैं। यह कब तक चलती है, किसी को पता नहीं। कब सोते हैं, कब उठते हैं, आश्रम-वासी भी नहीं जानते। मति की भाँति इनकी गति भी अगम है।

❖

२
उत्तर चरित

जीवन की सांध्यवेला

कैंसर के आपरेशन के बाद लगभग पाँच वर्षों तक कविराजजी सामान्यतया स्वस्थ रहे। १९६६ ई० में विषम ज्वर का आक्रमण हुआ। उपचार के क्रम में एक दिन डॉक्टर ने इंजेक्शन लगाया, उससे बुखार तो उतर गया किंतु जाते-जाते प्रतिक्रिया-स्वरूप एक नयी व्याधि दे गया। उसी दिन से कानों में सनसनाहट उत्पन्न हो गयी जिससे श्रवणशक्ति कम हो गयी। अनेक उपचार करने पर भी वह अंतिम समय तक ज्यों की त्यों बनी रही। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उस स्थिति में भी वे परमार्थवार्ता तो आसानी से सुन लेते थे किन्तु लोक-व्यवहार-विषयक ग्राम्यवार्ता जोर से कहने पर ही श्रवण-गोचर होती थी।

पौत्र का विवाह

पौत्र शशिशेखर नौकरी के सिलसिले में कलकत्ता रहता था। कविराजजी की रुग्णता देखकर श्रद्धालुओं ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ० त्रिगुणसेन से कहकर विश्वविद्यालय में ही उसकी नौकरी की व्यवस्था करा दी जिससे पितामह की सेवा के लिए पास रह सके। घर में ठाकुर माँ (कविराजजी की धर्मपत्नी) को छोड़कर कोई दूसरी स्त्री थी नहीं, पौत्र सयाना हो चुका था। अत: दादी की प्रेरणा से कविराजजी ने बर्दवान के श्री गोपाल चौधरी का उसके विवाह-विषयक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। स्वास्थ्य की स्थिति ठीक न होते हुए भी उन्होंने बारात का नेतृत्व किया और विवाह-संबंधी सारे लोकाचार यथाविधि संपन्न कराये। पौत्र का विवाह निश्चित हो जाने पर पुत्रवियोग से जर्जर माँ के हृदय का घाव हरा हो गया था, उसके उपचार-रूप में कविराजजी ने द्विगुणित उत्साह से विवाह की सारी व्यवस्था का भार सहयोगियों के सहारे वहन किया।

इस अवसर की एक घटना उल्लेखनीय है। ठाकुर माँ की सलाह से कविराजजी ने बनारस में ही बहू के लिए गहने बनवाने का प्रबंध कर दिया था। किन्तु माँ जी को यह आशंका थी कि बनारस के स्वर्णकार बंगाली गहने उतनी सफाई और सुंदरता के साथ नहीं बना सकेंगे जितना कलकत्ता के कारीगर बनाते हैं। अत: एक संबंधी से उन्होंने कुछ विशेष गहने कलकत्ता में भी बनवाने का आर्डर देने की बात की थी। संयोगवश उन सज्जन ने कविराजजी के पास भेजे गये अपने पत्र में इसकी चर्चा कर दी। इस पर कविराजजी यह समझ कर बहुत नाराज हुए कि माँ ने मुझ पर विश्वास नहीं किया और गहनों के आर्डर दो जगह दिला दिये। माँ उस समय तिमंजिले पर रहती थीं, चलने-फिरने से मजबूर होने के कारण नीचे नहीं उतर पाती थीं। किसी ने यह संवाद उनसे कह दिया। वे फूट-फूट कर रोने

लगीं। दिवंगत पुत्र और बहू का स्मरण हो आया। करुण स्वर में बोलीं, 'आज यदि जितेन्द्र और उसकी बहू जीवित होती तो मुझे ये बातें क्यों सुननी पड़तीं—वे ही सारा प्रबंध करते।' सेवकों के लाख समझाने पर भी माँ का रुदन बंद न हुआ। कविराजजी को इसकी खबर लगी। वे छड़ी के सहारे ऊपर गये। माँ को बड़ी मुश्किल से शांत कर पाये।

धर्मपत्नी का परलोकवास

ठाकुर माँ का वार्द्धक्य-जर्जर शरीर किसी प्रकार जीवन की शेष साँसें पूरी कर रहा था। रीढ़ की हड्डियाँ जवाब दे चुकी थीं। इससे वे पूर्णतया पंगु हो गयी थीं। असहाय माँ की सेवा के लिए सुधा जी कलकत्ता से काशी चली आयी थीं। पौत्रवधू शिवानी शक्ति भर परिचर्या करती थी किंतु घर सँभालने का भी भार उसी पर था, इसलिए माँ की सेवा की यथोचित व्यवस्था के लिए उसे एक सहायक की आवश्यकता थी, वह कमी पूरी हो गयी। १९६८ के लगते ही माँ शय्याग्रस्त हो गयीं। इसी बीच एक दिन मेरी बहन तथा धर्मपत्नी उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुईं। उनसे बातचीत के क्रम में माँ ने अपनी व्यथा बड़े ही मर्मस्पर्शी स्वर में व्यक्त करते हुए कहा, 'बेटी! अब गुरुदेव से यही मनाती हूँ कि वे मुझे जल्दी उठा लें। जितेंद्र (पुत्र) हमारी कमर तोड़कर चला गया। पंगु तो मैं उसी दिन हो गयी। सब दिन उसी की याद में घुटती रहती हूँ। बाबू जी तो विद्वान् हैं, पढाई-लिखाई, सत्संगवार्ता और साधना में अपना समय बिता लेते हैं। मैं मूर्ख हूँ किस प्रकार जीवन काटूँ, बेटा रात-दिन आँखों के सामने रहता है।' यह कहकर वे बड़ी देर तक आँसू बहाती रहीं।

१९६८ ई० के अप्रैल के दूसरे सप्ताह में माँ की स्थिति गंभीर हो गयी। पौत्र शशिशेखर से उन्होंने बाबा को ऊपर बुलवाया। कविराजजी ने देखा, इनका अंत निकट है। उन्हें आया जानकर बोलीं, 'लोग कहते हैं कि आप अपनी शक्ति से मुझे रोके हुए हैं। अब मेरा शरीर नहीं चलेगा, कृपा करके अपने चरणों में शरण दीजिए।' यह सुनकर कविराजजी कुछ क्षणों के लिए मौन हो गये, फिर कहा, 'अच्छा तुम जाना चाहती हो?' माँ बोलीं, 'हाँ शरीर नहीं चलता।' इसके बाद वे नीचे चले आये। सीढ़ी से उतरते हुए शशि से कहा—'अब तुम्हारी ठाकुर माँ मालूम पड़ता है, ज्यादा दिन नहीं रहेंगी।' कविराजजी की शब्दावली में 'मालूम पड़ता है' निश्चय का बोधक होता था।

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद १६ अप्रैल, १९६८ को ठाकुर माँ का परलोकवास हो गया। स्वजनों द्वारा उसी दिन अंत्येष्टि संपन्न कर दी गयी। यह समाचार पाकर माँ आनंदमयी कविराजजी के सिगरा स्थित निवास पर पधारीं। कविराजजी की आँखों में आँसू देखकर बोलीं, 'बाबा! हम लोगों को रोना मना है।' बाबा ने गंभीर स्वर नें कहा—'रोते नहीं हैं।' इसके बाद पौत्रवधू शिवानी ने कई दिन देखा कि बाबा की कोठरी के किवाड़ ईषत्‌बंद हैं, बाबा बैठे हैं, आँखों से आँसू की बूँदें ढुलक रही हैं। पुत्र तथा दामाद के मृत्यु-शोक का हलाहल पी जाने वाले नीलकंठ की इस विह्वलता का रहस्य क्या था? तत्त्वज्ञ के लिए पत्नी के नश्वर देह पर ममता का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे विचार में इसके मूल में ७५ वर्ष व्यापी सुदीर्घ कालखंड में उनके द्वारा उठायी गयी अपार दैहिक, दैविक तथा भौतिक यातनाओं तथा एकांत निष्ठा के साथ पति के स्वाध्याय एवं साधना की अखंड ज्योति की प्रज्वलित रखने में दी

गयी आत्माहुति का कृतज्ञतापूर्ण स्मरण था। वे कविराजजी की सहधर्मिणी ही नहीं पारमार्थिक जीवन-संगिनी भी थीं। श्री विशुद्धानंद परमहंस ने दीक्षा प्रदान कर उनके साधन जीवन के विकास में योगदान किया था। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी दिव्य उपस्थिति से एक बार उनकी प्राण-रक्षा भी की थी, इसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।

सिगरा से आनंदमयी आश्रम आगमन

ठाकुर माँ के देहावसान के अनंतर कुछ दिनों तक तो कविराजजी का स्वास्थ्य ठीक रहा किंतु वर्षा लगते ही ज्वरग्रस्त हो गये, उससे कमजोरी बढ़ गयी। माँ आनंदमयी बाबा की स्थिति की बराबर खबर लेती रहती थीं। बीमारी का समाचार पाकर सिगरा आयीं। माँ ने अनुभव किया कि अब उनकी निरंतर देखभाल तथा चिकित्सा अनिवार्य हो गयी है। घर पर उसका ठीक प्रबंध हो नहीं सकेगा, ऐसी स्थिति में उन्हें अपने आश्रम में चलने के लिए कहा। कविराजजी माँ के वचन नहीं टाल सके। सित० ६८ लग चुका था। माँ के भदैनी स्थित आश्रम में पहुँच गये। जाते समय माँ ने पौत्रवधू शिवानी को बुलाकर बाबा के भोजन आदि विषयक जानकारी प्राप्त की। आश्रम में उन्हें कन्यापीठ भवन के नीचे के तल्ले में दाहिनी ओर के कमरे में ठहराया गया। यह बहुत स्वास्थ्यप्रद था—नीचे गंगा बहती थीं—प्रातः खिड़की खुलते ही सूर्यरश्मियों के साथ त्रिपथगा के दर्शन होते थे। माँ ने कुछ समय बाद बाबा की सेवा के लिए सुधा जी को, जो माता के देहावसान के अनंतर कलकत्ता चली गयी थीं, काशी बुला लिया।

रोगों का आक्रमण

लगभग एक वर्ष तक शरीर की दशा सामान्तया संतोषजनक रहने के बाद १ सितंबर, ६९ को एक नयी व्याधि 'मूत्रकष्ट' के रूप में उदित हुई। पीड़ा सहनशीलता की शक्ति से बाहर हो जाने पर कविराजजी को आश्रम से लाकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्विज्ञान संस्थान में भरती कराया गया। चिकित्सा तथा सेवा का पूरा प्रबंध माँ की ओर से था। डाक्टरों की तत्परता तथा माँ के असीम अनुग्रह से एक महीने में हालत काफी सुधर गयी। अक्टूबर में वे पुनः आश्रम लौट आये। अबकी बार उसी भवन के उत्तर वाले कमरे में बाबा का आसन लगाया गया। तात्कालिक उपचार से असमय मूत्रकष्ट शमित हो गया था। किन्तु कुछ न कुछ पीड़ा बनी रहती थी। शरीर प्रायः शिथिल रहता था।

२ जनवरी, १९७० को मूत्रकष्ट का पुनः उद्रेक हुआ। कुछ दिनों तक तो आश्रमस्थ चिकित्सालय के डाक्टरों की ही दवा चली किंतु उससे लाभ न होते देखकर १३ जनवरी को पुनः आयुर्विज्ञान संस्थान के सरसुंदरलाल अस्पताल की शरण लेनी पड़ी। परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि प्रोस्ट्रेट ग्लैंड का आपरेशन कराने से ही व्याधि निर्मूल होगी। इसमें दो बाधाएँ थीं। एक तो कविराजजी की ८० वर्ष से ऊपर आयु और दूसरी मधुमेह के कारण कैंसर के आपरेशन से संभावित आंतरिक क्षति की अपूरणीयता। अतः प्रोस्ट्रेट ग्लैंड को सीधे चीरकर निकालना संभव नहीं था। इस किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में भगवत्कृपा का एक विस्मयकारी प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ।

दैवयोग से इन्हीं दिनों कनाडा के विश्वविख्यात सर्जन ए० के० फेरी का काशी हिंदू विश्वविद्यालय के आयुर्विज्ञान संस्थान में आने का पुरोगम बना। उन्होंने परम्परागत सीधे

आपरेशन के स्थान पर मूत्रद्वार से कैथेडर प्रविष्ट करके एक नयी विधि 'टनेल प्रणाली' से प्रोस्ट्रेट ग्लैंड निकालने का आविष्कार किया था। इसमें मृत्यु का खतरा नहीं था। उसी के प्रदर्शन हेतु उन्होंने भारत के कुछ विशिष्ट चिकित्सा केंद्र चुने थे, उनमें से एक काशी का आयुर्विज्ञान संस्थान भी था। इस विधि से कविराजजी का आपरेशन डॉ० फेरी के हाथों १९ जनवरी, ७० को ११ बजे दिन में हुआ। माँ आनन्दमयी उस समय काशी में ही रहकर आपरेशन की सारी व्यवस्था की जानकारी प्राप्त करती रहीं। आपरेशन पूर्णतया सफल रहा। वे कविराजजी को देखने बराबर अस्पताल आती रहीं। उन्होंने उस बीच कहीं बाहर जाने का प्रोग्राम नहीं बनाया। २१ जनवरी की कैथेडर भी निकाल दिया गया। व्याधिमुक्ति से कविराजजी बहुत प्रसन्न हुए। बोले, 'देखो, माँ की कृपा से हम ठीक हो गये।' यह उल्लेखनीय है कि ८३ वर्ष की आयु में भी आपरेशन के समय दी गयी बेहोशी की दवा का प्रभाव आपरेशनकाल तक ही रहा। शल्य कक्ष से लौटने पर विश्राम कक्ष के बिस्तर पर आते ही पूर्ववत् चेतना की स्थिति में आकर बातें करने लगे। २२ जनवरी से समागत सत्संगियों से अध्यात्म चर्चा आरंभ कर दी।

आपरेशन के बाद की बात है, १ फरवरी ७० को माँ बाबा को देखने अस्पताल पधारीं। कविराजजी ने अनुभूत कष्ट के क्षणों की चर्चा करते हुए कहा, 'शरीर का कष्ट सहा नहीं जाता। जीवों का कष्ट कितना हो सकता है इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। गुरुदेव बाँध कर मार रहे हैं। रोने भी नहीं देते। यह सब कष्ट जगत-कल्याण के लिए सहना ही है।' कुछ दिनों तक अस्पताल में रहकर फरवरी में ही वे आश्रम पर आ गये। इस बार स्थान बदल कर पहली मंजिल में सीढ़ी के पास वाली कोठरी में उनके ठहरने की व्यवस्था की गयी। सत्संग का क्रम पुनः आरंभ हो गया। एक दिन बोले,'इच्छा दो प्रकार की होती है—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक इच्छा स्वाभाविक होती है तथा आत्मिक जीवन-प्रेरणा-मूलक। शरीर यात्रा की एक ऐसी स्थिति है जो अवांछित होती है। मेरी दशा इस समय वही है, पेशाब करने की इच्छा नहीं रहती किन्तु हो जाती है।'

काशी में रहने पर माँ 'बाबा' को देखने के लिए बराबर आती थीं। १० मार्च को उनके पधारने पर ये अपनी आंतरिक स्थिति का विवरण देते हुए बोले, 'मेरे स्वरूप में अभाव और तृप्ति दोनों चल रहे हैं। अभाव का उदय, तत्काल तृप्ति। जिस प्रकार का अभाव उसी प्रकार की तृप्ति। तृप्ति की दिशा में तारतम्यभाव नहीं है। अभाव की दिशा में तारतम्यभाव है। जैसे चन्द्रमा को देखकर तृप्ति हुई किंतु आड़ पड़ गया, फिर हट गया। भीतर की चंद्रिका लौकिक चंद्रिका से विलक्षण है, यह इंद्रिय-प्रत्यक्ष भी है। जागतिक भाव और अभाव के पृष्ठ में रहने वाली यही आनंद की स्वरूप शक्ति है।' माँ ने कहा, 'यह धराहीन (कल्पनातीत) वस्तु है।' इसके एक सप्ताह बाद १७ मार्च, ७० को कविराजजी ने पार्श्ववर्तियों से कहा, 'आज रात में स्वप्न की स्थिति में मैंने तीन विलक्षण बालकों को देखा, इससे मुझे मालूम पड़ता है कि बीच का रास्ता खुल रहा है।' इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग की चर्चा करते हुए कुछ दिनों पूर्व उन्होंने बताया था कि स्वामी विवेकानंद ने एक बालक का स्वप्न-दर्शन किया था, उसके बाद उनका शरीर छूट गया था।

उत्तराधिकार व्यवस्था

अपनी शारीरिक स्थिति अनिश्चित देखकर ३ मई '७० को कविराजजी ने अपने पौत्र

शशिशेखर कविराज के नाम मकान, पुस्तकों का कापीराइट, बैंक खाता आदि की वसीयत लिखकर रजिस्ट्री करा दी।

उपचार यात्रा

माँ की इच्छा हुई कि बाबा के स्वास्थ्य की एक बार पूर्ण रूप से परीक्षा करा लेनी चाहिए। इस कार्य के लिए बंबई उपयुक्त समझा गया। वहाँ सर नानावती के दामाद श्री वी० के० शाह माँ के परम भक्त हैं, उन्हीं पर इसकी व्यवस्था का भार सौंपा गया। कविराजजी बंबई ले जाए गये। नानावती अस्पताल में चेक-अप हुआ। टाटा मेमोरियल अस्पताल में कैंसर का आपरेशन १९६१ में हुआ था। इसलिए एक बार वहाँ भी दिखा लेना आवश्यक समझा गया। परीक्षा के पश्चात् किसी विशेष खराबी का संधान नहीं मिला। बंबई में कार्य संपन्न हो जाने के बाद पूना आये और वहाँ अपने श्रद्धालु तथा पूर्वपरिचित श्री दिलीपकुमार राय के आश्रम में ठहरे। चंद्रशेखर स्वामी पूना से बाबा को अपने निपानी स्थित मठ में ले जाना चाहते थे। इसकी चर्चा उन्होंने काशी में ही दी थी और बाबा ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

७ जून को शिष्यमंडली समेत बाबा को निपानी ले जाने का विधिवत् निमंत्रण देने के लिए चंद्रशेखर स्वामी पूना आये। प्रस्थान की तिथि ३० जून निश्चित की गयी। अनुगतों के साथ पूर्व निश्चय के अनुसार चंद्रशेखर जी २९ मई को पुनः पूना आ गये। ३० जून को प्रातः ९ बजे बाबा ने निपानी के लिए प्रस्थान किया। निपानी में १५ हजार के लगभग दर्शनार्थियों द्वारा अपूर्व स्वागत हुआ। बाबा के आगमन के उपलक्ष में मठ की ओर से एकादश रुद्राभिषेक की योजना हुई। बाबा के निपानी प्रवासकाल में ही ३ जुलाई ७० को चंद्रशेखर स्वामी का अनुरोध स्वीकार कर माँ आनंदमयी भी निपानी पधारीं। इस अवसर पर कुमारीपूजा की विधिवत् व्यवस्था की गयी। माँ उसी दिन लौट आयीं। बाबा का पुरोगम ५ जुलाई को निपानी से बंबई जाने का बना। बंबई पहुँचने के बाद सहयोगियों के साथ काशी के लिए प्रस्थान हुआ।

दुर्घटना से प्राणरक्षा

बंबई-जबलपुर मार्ग में एक भीषण दुर्घटना होते-होते बची। रात में १ बजे के समय जबलपुर के पास प्रथम श्रेणी के जिस डिब्बे में कविराजजी सो रहे थे, एकाएक आग लग गयी। पास के दो डिब्बों सहित उनके डिब्बे का आधा भाग जल गया किंतु बाबा की बर्थ के पास आते-आते आग स्वतः बुझ गयी—इसका बोध गाड़ी रुकने पर हुआ। कविराजजी को जगाया गया। वे यह देखकर आश्चर्यचकित हो गये। बोले, 'बड़ा विचित्र व्यापार हो गया।' तत्काल उस डिब्बे में से तीसरी श्रेणी के एक डिब्बे में उन्हें स्थानांतरित किया गया। आगे चलकर फिर प्रथम श्रेणी की बर्थ मिल गयी—अतः डिब्बा बदल दिया। दूसरे दिन सकुशल काशी पहुँच गये। कविराजजी की यह अंतिम यात्रा थी।

अखंड आश्रमवास

इसके पश्चात् जुलाई, १९७० से अंतिम समय तक बंबई से लौटने के बाद कविराजजी अनवरत रूप से माँ आनंदमयी के आश्रम में ही रहे। सुधा दीदी देखभाल करती थीं—सेवा में श्रीधर तथा गोपाल मजूमदार भी यथासमय उपस्थित रहते थे।

पौत्र शशिशेखर तथा पौत्रवधू शिवानी भी अपनी पुत्री के साथ सप्ताह में दो-तीन बार बाबा का हाल-चाल लेने सिगरा से आश्रम जाया करती थीं। उसे बाबा का आदेश था कि, 'अकेले मत आना और संध्या के पूर्व ही वापस हो जाना।' जब कभी लौटने में रात हो जाती थी तो कहते : 'बाप रे बाप! कैसे जाओगी, समय बहुत खराब है।' शिवानी ने बताया कि जब तक बाबा घर पर रहे हम लोगों से उतना संबंध नहीं रखते थे किंतु आश्रम पर जाने के बाद ही उनकी ममता अकस्मात् बढ़ गयी थी। घर का सारा खर्च महीने की पहली तारीख को दे देते थे। इतना ही नहीं, कुल-प्रमुख के दायित्व का अनुभव करके वे वृद्ध-जनोचित उपदेश भी देते थे। एक बार शिवानी को चिंतित देखकर उसे समझाते हुए कहा,'चिंता मत करना, सब ठीक हो जायगा। गुरुदेव में भक्ति रखो, तभी तुम्हारी आत्मा को शांति मिलेगी। कुमारी-पूजा के लिए जब गुरु-आश्रम (श्री विशुद्धानंद कानन) से बुलावा आये तब बेटियों को साथ लेकर जाना। यदि किसी कारणवश न जा सको तो मना कर देना, हाँ कर देने पर जाना अनिवार्य है। गुरुदेव का जन्मदिन, गुरुदेव और उनकी माता का तिरोधान-दिवस जैसे अवसरों पर आश्रम पर कुमारी-पूजा होती है, उसमें यथासंभव अवश्य सम्मिलित होना।'

कालक्षेप

नियमित उपचार के बावजूद स्वास्थ्य में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। थकान तथा कमजोरी पीछा नहीं छोड़ रही थी। इसलिए दैनिक चर्या में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। गर्मियों में ६ बजे तथा जाड़ों में ७ बजे प्रातः उठते। नित्यक्रिया के बाद पेट की ड्रेसिंग होती, कैंसर के आपरेशन के बाद यह अनिवार्य हो गया था। फिर कपड़ा बदला जाता। इसके बाद संध्या के लिए बैठते। उसमें प्रायः एक घंटा लगता। भीषण अस्वस्थता, यहाँ तक कि आपरेशन के दिनों में भी जब ये निश्चेष्ट पड़े रहते थे, इसका क्रम भंग नहीं हुआ। संध्या की बेला आते ही सहसा सचेत हो जाते थे। संध्या के बाद १० बजे के करीब स्वल्पाहार के रूप में छेना और हार्लिक्स लेते थे। इसी बीच जिज्ञासु तथा श्रद्धालु आ जाते थे। यदि तबीयत ठीक रहती तो आत्मस्थ होकर उनका शंका-समाधान करते, अन्यथा दर्शन के बाद बिदा कर देते थे। ११ बजे स्नान लीला आरंभ होती। शरीर जर्जर होने के कारण जाड़े के दिनों में ठंढक अधिक लगती थी। इसलिए उससे बचने का यथासंभव प्रयास करते। गरम पानी लेकर तैयार सेवकों से कहते, 'आज शीत-शीत करो छे। आज नहइबो ना। माथा धोके शरीर पोंछ दो।' अनुगत वृद्धहठ का आनंद लेने के लिए बाबा से बार-बार नहाने के लिए अनुरोध करते। इस प्रकार कुछ देर तक नोंक-झोंक चलती फिर राजी हो जाते। स्नानोत्तर काल बाबा के दैनंदिन जीवन का स्वर्णकाल होता था। पहले कितने भी शिथिल रहे हों इससे नवीन चेतना आ जाती। मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती। थोड़ी देर पुनः सत्संग होता। उस समय समागतों के प्रश्नों का उत्तर हँस-हँस कर देते थे।

१२ बजे भोजन का थाल कन्यापीठ से आ जाता। सुधाजी पर खिलाने का दायित्व था, निरंतर बीमारी के कारण हाथ में इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि स्वयं ग्रास उठाकर मुँह में डाल सकें। अतः कहते—'निजे हाथे खेते पारो ना' (मैं अपने हाथ से खा नहीं सकता)। इसलिए सुधा जी ही खिलाती थीं। सहायक भोज्य सामग्री में बाबा को बैंगन का भुर्ता और

टमाटर की चटनी पसंद थी। भोजन के अंत में दोनों वक्त दूध-रोटी दी जाती थी—फिर अनन्नास का रस या फसल में आम का गूदा। आम की गुठली चूसने में विशेष आनंद लेते थे। चूसते-जूसते कभी वह फिसल कर कपड़ों पर आ जाती—अमरस दाढ़ी-मूछों को वसंती जामा पहना देता था—कभी-कभी खीर और मिठाई भी लेते थे। किन्तु रक्त तथा मूत्र में शकर की उपस्थिति का पता चल जाने के बाद सारी मीठी चीजें वर्जित हो गयीं। मिर्चा से बड़ी चिढ़ थी। कहते थे, 'योगी के लिए मिर्चा एकदम मना है।' भोजन में उन्होंने कभी किसी वस्तु विशेष की फरमाइश नहीं की, न निंदा ही। यदि कोई पदार्थ अरुचिकर लगता तो मुँह में जाते ही विचित्र प्रकार की मुख-मुद्रा बन जाती। फिर कहते,'एटा खाबो ना (यह नहीं खाऊँगा)।' भोजन की मात्रा अत्यंत स्वल्प होती थी। १९७४ के बाद ठोस पदार्थों को निगलने में कष्ट होने लगा, इसलिए वे उन्हें प्रायः चूसकर थूक देते थे। यहाँ तक कि छेना जैसी नरम वस्तु को गले के नीचे उतारने में भी कठिनाई होती थी। भोजन समाप्त होने पर थाल में अवशिष्ट अंश समुपस्थित आश्रितों के बीच प्रसाद रूप में वितरित हो जाता था। भोजन के पश्चात् उन्हें लिटा दिया जाता था।

जाड़ों में ५ और गर्मियों में ७ बजे संध्या तक निश्चेष्ट पड़े रहते थे। पार्श्ववर्ती समझते थे कि सो रहे हैं किन्तु उनकी तंद्रिल अवस्था वस्तुतः रक्त-शर्करा के प्रकोप का प्रतिफल थी। इसका पता बाद में चला। उठने पर हाथ-मुँह धोकर पहले फल का रस इसी समय दिया जाता था किन्तु बाद में अपराह्न में दिया जाने लगा था—मधुमेह का निदान हो जाने पर यह बंद कर दिया गया। तब उन्हें नमक कड़वा तेल के साथ लाई का चूर्ण दिया जाने लगा। अशक्तता में कुछ अंदर जाता, कुछ मुँह में लगा रहता, शेष गिर जाता था। गर्मियों में सात बजे और जाड़ों में ६ बजे दो तकिया अगल-बगल लगाकर उन्हें संध्या के लिए बैठा दिया जाता। कमरे की लालटेन धीमी कर दी जाती। माँ आनंदमयी द्वारा प्रदत्त पूजा का रेशमी चदरा ओढ़ाकर गंगाजल छिड़क दिया जाता। फिर आँखें मुँदतीं और अँगुलियों के सहारे जप आरंभ हो जाता। १९६१ में कैंसर के आपरेशन के समय जप खंडित हो गया था। कविराजजी की मान्यता थी कि रुद्राक्ष की माला (पहले इसी का प्रयोग करते थे) जप खंडित हो जाने के बाद पुनः प्रयोग में नहीं लानी चाहिए किन्तु तुलसी की माला में इसका प्रतिबंध नहीं है। इस समय समागत सत्संगी मौन होकर बैठे रहते थे। कोई ध्यानस्थ और कोई इष्ट नाम अथवा मंत्र जप में लीन। संध्या के अंत में हाथ जोड़कर गुरुदेव को प्रणाम करते। तब समझा जाता था कि पूजा समाप्त हो गयी। पूजा के पश्चात् भोजन फिर थोड़ी देर तक एकांताश्रितों के आग्रह पर सत्संगवार्ता करते थे।

परमार्थ चर्चा

अनुगतों की जिज्ञासा पर साधना में उत्कर्ष के मूलभूत उपादानों की चर्चा करते हुए एक बार उन्होंने कहा था, 'भीतर की केन्द्रात्मक गति ही रूपांतर का कारण है। तैलंग स्वामी ने शरीर को तेजोमय बनाया था। शरीर के भीतर मूलाधार चक्र में शीत विद्युत् और सहस्रार में उष्ण विद्युत् का निवास है। यदि योग-प्रक्रिया से दोनों को समस्थिति में लाया जाय तो शरीर विद्युन्मय अथवा तेजोमय हो जाएगा। पृथ्वी, अप, तेज, वायु सभी को तेज में परिणत किया

जा सकता है।' इसी प्रकार 'अखंड-महायोग' के महत्त्व वर्णन के प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा था,'समन्वय दृष्टि के बिना जगत् का कल्याण नहीं। सांप्रदायिक दृष्टि खंड-दृष्टि है। साधक के संस्कार अथवा रुचि के अनुसार साधना भेद से राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति की उपासना में दृष्टिभेद स्वाभाविक है, किन्तु भावदृष्टि इन सारे दृष्टिभेदों को समाप्त कर देती है। वही पूर्ण या समष्टि-दृष्टि है। अखंड महायोग का यही लक्ष्य है। समष्टि परिवर्तन उसी के द्वारा संभव है।' एक दिन नाम-जप प्रक्रिया का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था, 'नाम का अर्थ है भीतरी स्वरूपशक्ति। नाम लेने में प्राण, इच्छा और वाक् तीनों की समष्टि होती है। इनके ठीक मिलन का यदि प्रयास हो तो भीतर से ही नामध्वनि निकलने लगती है, बिना जप किये ही जप होने लगता है, यही अजपाजप है।'

साधकों के लिए अधिक बोलना वे ठीक नहीं समझते थे। इसकी दार्शनिक व्याख्या करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, 'सब भीतर राखते हय किछू बोल्लई ओटा कालेर प्रवाह पोड़े जा' (सब कुछ भीतर रखने चाहिए, यदि कुछ कहो तो वह काल-प्रवाह में पड़ जाता है। तांत्रिक साधकों का यह एक दृढ़ सिद्धान्त है।

पहुँचे हुए संतों की भाँति प्रतिकूलता को भी वे भगवत्कृपा ही मानते थे। उनका मत था कि प्रत्येक स्थिति में भगवान् की इच्छा को ही प्रधानता देनी चाहिए, वही कल्याणकर होती है। उसके विरुद्ध तर्क करने पर वे आवेश में आ जाते थे, तब कहते—'तोमार इच्छेइ इच्छा भगवानेर इच्छा इच्छेइ नाइ (तुम्हारी इच्छा ही इच्छा है भगवान् की इच्छा इच्छा ही नहीं है।) तुमी डिक्टेट कोरबे तबे से शुनबे (तुम्हीं आदेश दोगे तभी वह सुनेगा)। Proposal तोमार किन्तु Disposal तार।' (प्रस्ताव तुम्हारा किन्तु निर्णय उसका।)

१९७४ ई० के बाद उत्तरोत्तर अस्वस्थता बढ़ती जाने से सत्संग का यह क्रम प्रायः खंडित हो जाता था। रात में नींद कम आती थी। शिथिलता के कारण करवट बदलने में कभी कठिनाई होती थी किन्तु पास में रहने वाले भी यह नहीं जान पाते थे कि वे सो रहे हैं अथवा आत्मस्थ हैं। घोर से घोर पीड़ा में भी उन्हें जोर से कहराते हुए नहीं सुना गया। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी व्याकुलता बढ़ जाने पर पीड़ा-सूचक उद्‌गार अनजाने ही निकल जाते थे।

देवरहा बाबा से परोक्ष संपर्क

कविराजजी की संतनिष्ठा जीवन के उत्तर काल में भी जब वे स्वयं साधना की उत्कृष्टतम स्थिति-लाभ कर चुके थे, पूर्ववत् बनी रही। शारीरिक अक्षमता के कारण अब वे संतदर्शन के लिए यात्रा करने में असमर्थ थे, किन्तु जब कभी किसी विशिष्ट महात्मा की चर्चा श्रद्धालुओं से सुनते थे तो उनसे संपर्क स्थापित करने के उद्देश्य से अपने किसी अंतेवासी को उनके पास अवश्य भेजते थे।

काशी तथा उसके चतुर्दिक् क्षेत्र में उन दिनों एक सिद्ध योगी के रूप में देवरहा बाबा की ख्याति फैल चुकी थी। कविराजजी के पूछने पर इन पक्तियों के लेखक ने अपने दीर्घकालीन संपर्क के आधार पर बाबा के साधनामय जीवन-विषयक कुछ तथ्य बताये। यह बात १९६९ के दिसंबर की है। उन्होंने अपनी ओर से मुझे बाबा के चरणों में उपस्थित होने का आदेश

दिया। उस समय बाबा देवरिया जिले के लार रोड स्टेशन (पूर्वोत्तर रेलवे) के समीपस्थ सरयूतट पर स्थापित अपने मचान पर निवास कर रहे थे। 'मनीषी की लोकयात्रा' छप चुकी थी। अतः सोचा, इस अवसर पर उसे बाबा के कर-कमलों में समर्पित कर दूँ। ११ बजे अपराह्न में श्रीचरणों में उपस्थित होकर मैंने कविराजजी की प्रणति निवेदित की साथ ही उनके जीवन दर्शन पर लिखी गयी अपनी पुस्तक भी दे दी। बाबा बोले, 'कविराज देवता भक्त हैं।' इसके बाद बड़ी देर तक उनके संबंध में बातें करते रहे। इसी बीच अपने शिष्य ब्रह्मचारी गोकुलदास को मचान के पास लगे हुए आँवले के पेड़ से कुछ फल तोड़ लाने को कहा और चलते समय मुझे कविराजजी को प्रसाद रूप में उसे देने का आदेश दिया। बाबा से शिष्यरूपेण मेरा संपर्क लगभग चालीस वर्ष का है किन्तु इस अवधि में कभी भी किसी व्यक्ति को इस प्रकार का प्रसाद देते नहीं देखा। उनका अपना नियम है कि भक्त-मंडली जो प्रसाद ले जाती है पूर्वापर क्रम से उसे ही वितरित करते रहते हैं। किसी श्रद्धालु के विशेष आग्रह पर 'अमृत बूटी' (इमली के पत्ते के आकार की एक मीठी पत्ती) भी दे देते हैं। किन्तु कविराजजी के लिए ये दोनों पद्धतियाँ त्याग दी गयीं। कारण पर विचार करने से आभास हुआ कि पूर्वाचरित दोनों पद्धतियाँ सकाम भक्तों के लिए हैं—अलग से आयी हुई वस्तुएँ वस्तु-दृष्टि वाले भक्तों को दी जाती हैं। बाबा का नैसर्गिक प्रसाद पाने के अधिकारी तत्व-दृष्टि-संपन्न कविराजजी जैसे योगी ही हो सकते हैं, जो स्वादानुसंधान से परे प्राप्त वस्तु को प्रसाद रूप में ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते हैं। लौटकर मैंने कविराजजी को बाबा का प्रसाद दिया। आनंद-विह्वल होकर उन्होंने उसे माथे लगाया।

बाबा की योगसिद्धि के बारे में चर्चा करते हुए एक बार मैंने कविराजजी से निवेदन किया कि बाबा की यह विशेषता है कि एक बार भी जो उनके समक्ष दर्शनार्थ उपस्थित हो जाता है उसे फिर कभी नहीं भूलते। चाहे कितने वर्षों के अंतराल से जाये, वे कुछ समय तक, तो भक्त कहाँ से आये हो......तुम्हारा नाम......है न?......वर्ष पहले दर्शन में उपस्थित हुए थे......तब तुम्हारे साथ (यदि कोई हो) अमुक व्यक्ति था। लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं। विशेष रूप से यह देखकर कि बाबा के दर्शनार्थ प्रतिदिन कम से कम एक हजार व्यक्ति आश्रम पर उपस्थित होते हैं। उनके प्रयाग-प्रवास में तो यह संख्या कभी-कभी दस हजार से भी ऊपर पहुँच जाती है। हरिद्वार, वृंदावन तथा काशी पधारने पर यह संख्या दो से पाँच हजार के बीच रहती है। इनमें से सौ-दो सौ लोगों से बाबा का संलाप होता है—उपर्युक्त व्यवस्था उन्हीं के साथ होती है। सामान्य दर्शनार्थियों के प्रसंग में नहीं। इस संबंध में कविराजजी का समाधान था, 'योगी के लिए यह अत्यंत सामान्य व्यापार है। उसकी दृष्टि के सामने जो एक बार पड़ जाता है उसकी आकृति नेत्रों में अंकित हो जाती है। कैमरा जैसी प्रक्रिया है, 'निगेटिव' मानस में सुरक्षित हो जाता है, फिर वह जब चाहे उसे 'पाज़िटिव' में परिवर्तित कर स्मृतिगम्य बना लेता है।' इसी प्रकार प्रसंग छिड़ने पर एक दिन मैंने कहा कि देवरहा बाबा दर्शनार्थ एकत्रित लोगों को सामान्यतया 'दया है, मेरी असीम कृपा है,' कहकर विदा करते हैं। लोग दर्शन के साथ प्रसाद पाकर तृप्त हो जाते हैं। किन्तु कभी-कभी सामान्य लोगों में से कुछ मुँहलगे पुराने परिचित कार्यसिद्धि के लिए हठ करते हुए अपने इष्ट सिद्धि-विषयक आशीर्वाद की याचना करते हैं। बहुत समझाने पर भी जब वे जिद नहीं छोड़ते तो बाबा कहते हैं, 'बच्चा जैसा तुम

चाहते हो वह हो जाए तो अच्छा ही है किन्तु न हो तो और भी अच्छा।' इसका रहस्य क्या है? कविराजजी बोले : 'ठीक ही तो है। बाबा का तात्पर्य रहता है कि यदि निवेदक का इष्ट सिद्ध हो जाए तो उसकी इच्छा पूरी होती है-यह प्रारब्धानुसार होता है जो सामान्य बात है किन्तु परिणाम उसकी इच्छा के विपरीत होने पर भगवान् की इच्छा पूरी हो रही है, यह समझ कर ईश्वरीय न्याय को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। आस्तिकता की यही कसौटी है। देवरहा बाबा महायोगी हैं। कैसी विडंबना है कि शरीर अक्षम होने से उनके काशी आने पर भी मैं दर्शन नहीं कर पाता।

१९७४ ई० की ११ मई को कविराजजी ने अपने अंतेवासी चंद्रशेखर स्वामी को बाबा के पास भेजा। उस समय बाबा काशी में ही गंगा-सेवन कर रहे थे। उनका मचान बाबू शिवप्रसाद गुप्त की कोठी के सामने वाले कच्चे घाट के पास नदी के मध्य में लगा हुआ था। चंद्रशेखर स्वामी से कविराजजी का स्वास्थ्य समाचार पूछने के पश्चात् बाबा ने किशमिश का प्रसाद देते हुए कहा, 'कविराज भक्त से कहना कि मैं उन्हें हृदय में रखता हूँ।' चंद्रशेखर स्वामी द्वारा लाया हुआ प्रसाद पाकर कविराजजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दूसरे दिन पुनः चंद्रशेखर स्वामी को बाबा की भेंट के लिए फल देकर भेजा और अपना संदेश कहलाया : 'बाबा हमारे हृदय-प्रदेश में निवास करते हैं।' इसके बाद कविराजजी के शय्याग्रस्त हो जाने से लौकिक माध्यम के द्वारा बाबा से संपर्क स्थापना का क्रम बंद हो गया।

आश्रम निष्ठा

माँ-आनन्दमयी-आश्रम में आने के बाद एक दिन कविराजजी ने पाँच हजार रुपये प्रबंधक के पास भेजे, इस विचार से कि आश्रम की भोजन तथा आवास-व्यवस्था निःशुल्क स्वीकार करना गृहस्थ धर्मोचित नहीं है। माँ को जब इसका पता चला तो यह कहते हुए मना कर दिया : 'बाबा को यहाँ रुपये के लिए नहीं रखा गया है।' कविराजजी के अनुरोध पर पीछे वह राशि कन्यापीठ के पुस्तकालय-कोष में जमा हो गयी। आश्रम के व्यवस्थापक 'पानूदा' ने पूरे आश्रमवास काल में कविराजजी की सँभाल अत्यंत तत्परतापूर्वक की। चिकित्सा, भोजन आदि सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इतर प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था में कर्त्तव्य भावना की अपेक्षा उनकी आंतरिक श्रद्धा का अधिक योगदान रहता था।

उपरामवृत्ति का उन्मेष

१९७४ ई० के पूर्व तबीयत ठीक रहने पर बाहर से आये हुए लोगों को दर्शन का सुयोग प्राप्त हो जाता था। इस समय भी वे दो-चार बातें वास्तविक जिज्ञासु से ही करते थे। शेष लोगों को दर्शन के बाद विदा कर दिया जाता था। एक बार कहीं के राजा साहब आये। वे कविराजजी का दर्शन पहले भी एक बार कर चुके थे इसलिए परिचित थे। फिर भी उनको विशेष समय नहीं दिया गया। उनके जाने के थोड़ी ही देर बाद पत्नी सहित एक व्यक्ति आया जो कलकत्ता में किसी मिल का मजदूर था। वह काली का उपासक था। प्रार्थना करने पर कविराजजी ने उसे संक्षेप में ध्यानविधि बतायी। उनकी दृष्टि वास्तविक तत्वग्राही को ही महत्व देती थी चाहे उसकी सामाजिक स्थिति कैसी भी हो । आगे चलकर उन्हें जनसंपर्क से ही विरक्ति हो गयी। तब जिज्ञासु और सामान्य श्रद्धालु का भी भेद जाता रहा। अकेले ध्यानस्थ पड़े रहने में ही सुख का अनुभव करते थे।

अंतिम जनदर्शन

१९७५ ई० में उत्तर प्रदेश शासन की हिंदी समिति ने कविराजजी के 'तांत्रिक साहित्य' नामक ग्रंथ पर पुरस्कार की घोषणा की। अस्वस्थता को ध्यान में रखते हुए उक्त पुरस्कार से संबद्ध समारोह उनके तत्कालीन निवास, आनंदमयी आश्रम, पर ही आयोजित किया गया। कविराजजी अपनी कोठरी से परिचारकों द्वारा उठाकर आनंद मंदिर में लाये गये, वहाँ शासन की ओर से पं० कमलापति त्रिपाठी ने माँ आनंदमयी की उपस्थिति में उक्त पुरस्कार कविराजजी के चरणों में अर्पित किया। कविराज जी की सार्वजनिक सभा में उपस्थिति का यह अंतिम अवसर था।

आत्मलीन स्थिति

१९७५ के प्रारंभ से ही शरीर की स्थिति शोचनीय प्रतीत होने लगी। आत्मलीनावस्था बेसुधी की सीमा तक पहुँच गयी। इसके पूर्व स्वास्थ्य ढीला होते हुए भी उद्वेगजनक नहीं था। चलना-फिरना तो बहुत पहले बंद हो गया था। किन्तु डॉक्टरों के निर्देशानुसार संध्या के समय पैरों की नसें ठीक रखने के लिए सेवकों के सहारे छड़ी लेकर कोठरी के सामने वाले बरामदे में टहल लेते थे पर अब उसकी भी शक्ति नहीं रही। एक दिन संध्या हो जाने पर भी नहीं उठे। अनुगतों ने साहस करके जगाया। बोले, 'क्या समय हुआ है?' उत्तर मिला, 'छः बजे हैं।' फिर पूछा, 'सुबह का, कि शाम का?' अनुगतों ने निवेदन किया, 'शाम का। संध्या हो गयी है।' कविराजजी की प्रतिक्रिया थी 'कैसी अवस्था हो गयी है, जिसमें देशकाल का भी भान नहीं रहता।'

इन दिनों सुधा जी के अतिरिक्त गोपाल मजूमदार तथा श्रीधर सेवा में रहते थे। डॉ० शांतिप्रसाद चंदोला ने भी एक नौकर सेवार्थ नियुक्त कर रखा था। उठने-बैठने की मजबूरी थी इसलिए स्नान का प्रश्न ही नहीं था। लेटे ही लेटे गर्म पानी में कपड़ा भिगोकर शरीर पोंछ दिया जाता था। संध्या के लिए इतना अनिवार्य था। १९७५ के समाप्त होते-होते शीघ्रता से स्वास्थ्य में गिरावट आयी।

निर्णायक आघात

अप्रैल, १९७६ के प्रारंभ में कुछ दिनों तक ज्वर हुआ। उसके प्रभाव-स्वरूप भोजन से अरुचि हो गयी। यदि कुछ खा लेते तो पचता नहीं, खट्टी डकार आने लगती। कहते 'आम्मुल है, पित्त का प्रकोप है।' कभी-कभी वमन भी हो जाता था। पेट में हल्का दर्द बना रहता। भोजन छूट जाने से कमजोरी बढ़ती गयी। मई आते-आते स्थिति गंभीर हो गयी। इसी बीच श्वाँसकष्ट की एक दूसरी व्याधि आ गयी। यह समाचार पाकर ५ मई, ७६ को माँ अचानक काशी आयीं। बाबा को देखकर तत्काल चिकित्सा की विशेष व्यवस्था करायीं। ६ मई को हालत किंचित् सुधर गयी किन्तु कुछ दिनों बाद पुनः बिगड़ने लगी।

जून, ७६ के आरंभ में श्वास-कष्ट का पुनरुद्रेक हुआ। ८ जून को गले से थूक के साथ थोड़ा खून निकला। दशा अकस्मात् चिंताजनक होती देखकर आक्सीजन चढ़ाया गया किन्तु उससे कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। शरीर में रक्त की कमी से शिथिलता घातक स्तर तक पहुँचने की संभावना देखकर उन्हें ९ जून को आश्रम की कोठरी से उठाकर

संलग्न माँ आनंदमयी अस्पताल के आपातकालीन कक्ष में ले जाया गया। वहाँ रक्त चढ़ा, साथ ही आक्सीजन भी दिया गया। गले में कष्ट होने के कारण मुँह से कोई वस्तु ग्रहण नहीं हो सकती थी, कुछ भी खाते तो उल्टी हो जाती जिससे परेशानी बढ़ जाती थी। अत: नाक में नली लगाकर दूध भीतर पहुँचाया जाने लगा। इस समय परिचर्या के लिए बाबा के परम श्रद्धालु श्री जगदीश्वर पाल भी आ गये थे। सुश्री प्रेमलता शर्मा तथा श्रीमती लीना बनर्जी सेवा के लिए यथासमय आ जातीं। अनन्य सेवक सीताराम पांडे बराबर सिरहाने बैठे रहते, पौत्र शशिशेखर रात में शय्या के पास ही सोते थे, तथा पौत्रवधू शिवानी समय से सेवा के लिए उपस्थित होती थी।

१० जून को दिन में खून की भीषण कै हुई तथा रात में शौच मार्ग से बहुत सा खून निकला। माँ के विशेष प्रतिनिधि के रूप में आश्रम के व्यवस्थापक पानूदा भी काशी आ गये। धीरे-धीरे कविराजजी की बाह्य चेतना लुप्त होने लगी। साँसें जोर से चलने लगीं। श्वसनक्रिया में अवरोध के कारण बड़ा कष्ट था। ११ जून को डाक्टरों के अथक प्रयास के बावजूद दशा में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इस नाजुक स्थिति में भी सेवकों के पूछने पर 'बाबा कैसे हैं।' वे 'हाँ' कहकर मुस्कराने का प्रयास करते। अंतिम समय जानकर आश्रम में 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे' का संकीर्तन आयोजित किया गया।

महाप्रयाण

१२ जून को माँ के भेजे हुए दो सज्जन बाबा के लिए चंदन की माला लेकर आये। आक्सीजन देने का यंत्र लगा हुआ था। उससे कविराजजी को कष्ट था। वे बार-बार हाथों से उसे हटाने का संकेत करते थे। इसका पता बाद में चला कि उसमें कुछ आंतरिक गड़बड़ी थी। किन्तु यह बात डाक्टरों की समझ में तत्काल नहीं आयी। आक्सीजन चढ़ाना जारी रहा। अस्ताचलगामी सूर्य के साथ बाबा का शरीर शनै: शनै: शीतल होने लगा। गुर्दा ने काम पहले ही बन्द कर दिया था, नाड़ी भी छूटने लगी। इसी बीच ५.१७ पर पुन: रक्त का वमन हुआ। मुँह खून से भर गया। किसी प्रकार उसे साफ किया गया। ५.१९ पर बाबा के मुखमंडल पर एक अलौकिक दीप्ति दिखाई पड़ी। कुछ क्षणों के लिए वे सहसा सावधान हो गये, आँखें खुल गयीं। प्रणाम की मुद्रा में सिर झुका, जैसे गुरुदेव आ गये हों। मुँह से दो बार क्षीण स्वर में 'माँ! माँ!' का शब्द निकला। फिर सदा के लिए आँखें बंद हो गयीं। ओठ तब भी कुछ पलों तक हिलते रहे। प्रयाणकाल में गुरुदेव का साक्षत्कार तथा इष्टदेवी की स्मरणक्रिया संपन्न होते ही महामनीषी का शिर जगन्माता की गोद में लटक गया। इस समय संध्या के ५.२० बजे थे। बाबा का शव अस्पताल से आश्रम में लाकर कन्यापीठ के आँगन में रखा गया। कीर्तन चलता रहा। ९ बजे रात तक शव-यात्रा की तैयारी हुई। ९.३० बजे अर्थी उठी। साथ में विशाल जन-समूह था। पहले शव कविराजजी के निवास-स्थान तथा अंतिम साधना भूमि, सिगरा पर ले जाया गया, फिर वहाँ से सीधे मणिकर्णिका घाट। तब तक रात्रि के बारह बज चुके थे। ठीक महानिशा के समय महापुरुषों की दाह-स्थली 'चरण-पादुका' पर चिन्मय का स्थूल शरीर अंगारों को सौंपा गया। अंत्येष्टि क्रिया पौत्र शशिशेखर ने की। 'काशी काशते तत्त्वं' के

अखंड विश्वासी की पार्थिव देह का कण-कण गहन तमिस्रा से आच्छन्न जगत् को आलोकित करता हुआ अनंत में विलीन हो गया। महामानव की लोकलीला की यही अंतिम झाँकी थी। इसके बाद बच रहा कालराज्य से परे उनका अपार तेजोमय यश:शरीर, वह तत्त्वज्ञान-स्पृही साधकों का अनंत काल तक पथनिर्देश करता रहेगा।

विराट् व्यक्तित्व

ऋषिकल्प कविराजजी भारतीय मनीषा के मूर्तिमान स्वरूप थे। उनके प्रज्ञामय व्यक्तित्व में वैदिक ऋषियों की क्रांतदर्शिता, दार्शनिक आचार्यों की तर्कणा शक्ति तथा मध्यकालीन वैष्णव संतों का उच्छल भावावेश विलक्षण अनुपात में समाहित था। भारतीय दर्शन के विविध अंगों की भाँति ही ख्रीष्टीय तथा इस्लामी मत की अनेक साधना-पद्धतियों पर भी उनका असाधारण अधिकार था। आगम एवं तंत्र को जो प्रतिष्ठा आज प्राप्त है उसका मुख्य श्रेय कविराजजी की मर्मोद्‌घाटिनी निर्वचन पद्धति तथा व्याख्याओं को है। पातंजल-योगसूत्र के गह्वर में प्रवेश कर उन्होंने उसकी विशिष्टताओं का जिस सरल सुबोध शैली में उद्‌घाटन किया है वह उसके सुविज्ञ अध्येताओं को भी विस्मय-विमुग्ध कर देती है। तुलनात्मक दृष्टि से दार्शनिक विवेचन उनकी अपनी पद्धति थी जिसके द्वारा विश्व के नाना धर्मों तथा संप्रदायों की चिंतन-धाराओं में उनकी अबाध गति पदे-पदे अभिव्यक्ति पाती थी।

महाप्रकृति ने इस दिव्य मानव के साधन-देह के निर्माण की तैयारी प्राकृत शरीर के भूमिष्ठ होने के पूर्व से ही आरंभ कर दी थी। ये गर्भ में ही थे कि भूतनाथ की श्मशानलीला का सूत्रपात हो गया। पिता का अकस्मात् देहावसान, उसके पाँच महीने बाद इनका जन्म, माँ के आश्रयदाता नाना कालाचंद सान्याल की सहसा धनुष्टंकार से मृत्यु, अनाथ बालक के रूप में विद्योपार्जन, जीर्ण ज्वर से जर्जर शरीर लेकर बंगाल छोड़कर राजस्थान की शरण-प्राप्ति, स्नातकोत्तर शिक्षाकाल में हृद्‌रोग का आक्रमण, एकमात्र युवापुत्र का आँखों के सामने देहावसान, निराश्रिता पत्नी और छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर दामाद का निधन, पुत्रशोक की ज्वाला में आजीवन भस्म होती हुई धर्मपत्नी का लोकांतरण—एक के बाद दूसरे शव के विसर्जन के हृदयद्रावक दृश्य उनके जीवनपट पर चलचित्र की भाँति गुजरते रहे। लोकार्थ तथा परमार्थ का आदि साधन शरीर बाल्यावस्था से ही व्याधि-मंदिर बन गया था। पद-निवृत्त होने के बाद कैंसर जैसे प्राणलेवा रोग का आक्रमण, वार्द्धक्य-जर्जर शरीर में मूत्रकृच्छ्र व्याधि का उदय और रक्तमधु के प्रकोप से आलस्य तथा शिथिलता की निरंतर व्याप्ति—इस प्रकार अनगिनत आधि-व्याधियों से जूझते हुए इनके पंचतत्वात्मक शरीर ने दंश से भरी ८९ वर्ष की लंबी जीवन यात्रा पूरी की।

उत्कर्ष के विचित्र सोपान

कविराजजी के ही दार्शनिक दृष्टिकोण से इन सारी घटनाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि वे सभी उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए प्रकारांतर से महत्वपूर्ण सोपान प्रामाणित हुईं। प्रत्यक्ष प्रतिकूलता अपने गर्भ में परोक्ष रूप में कितनी अनुकूलता छिपाये रहती है—कौन जानता है? भगवत्कृपा की यही विचित्रता है—'यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं

हराम्यहं'। भवग्रस्तजीव को अपनी शरण में लाने की उनकी यही परंपरा-प्रतिष्ठित पद्धति है। संतों का यही अनुभव है—

ईश्वर छोरैं जाहि को तासु पुत्र धन लेयँ।
अरु डारैं अपमान करि रोगवृद्धि कै देयँ॥
रोग वृद्धि कै देयँ रहै नहिं कोई आसा।
लोग निरादर करैं हृदय महँ होय प्रकासा॥
यहि विधि लावैं शरण निज रहै कमलपद सेय।
ईश्वर छोरैं जाहि को तासु पुत्र धन लेयँ॥

लौकिक आपत्तियों के झँकोरों ने कविराजजी के साधनदेह को मायिक शरीर के निर्मोक से उत्तरोत्तर मुक्त होने में सहायता ही नहीं दी, स्वाध्याय, सत्संग तथा साधना द्वारा उसके विकास का भी मार्ग प्रशस्त कर दिया।

मौलिक चिंतन

कविराजजी की आध्यात्मिक शिक्षा का प्रारंभ सत्प्रसंग तथा स्वाध्याय से हुआ था किन्तु आगे चलकर अपने जीवन लक्ष्य के अनुरूप उन्होंने चयन तथा विश्लेषण की पद्धति का अनुसरण कर मौलिक जीवन-दर्शन का प्रवर्तन किया। ज्ञानोपार्जन प्रक्रिया के तीन स्तरों— अध्ययन, मनन तथा बोध, की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं, 'अध्ययन ऐंद्रिय व्यापार है। साधना की विकासात्मक यात्रा में मन के स्तर पर वही मनन या चिंतन का स्वरूप धारण करता है। किंतु बोध इन दोनों से ऊपर की स्थिति है जिसमें साधक बोधभूमि में पदार्पण करता है, यह प्रज्ञात्मक है। यहाँ मानवीय चेतना का वह आलोक फूटता है जिससे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधमय जगत का रहस्य खुलने लगता है और 'सर्वं सर्वात्मकं' जगत की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त होती है। उनका अखंड महायोग इसी साधनापुष्ट मौलिक चिंतन की देन है।

जिज्ञासुओं को भी स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा देते हुए वे कहते थे, 'रट लेने से कुछ नहीं होता, समझिए, हमसे पूछिए हम बताएँगे। ऐसा पढ़ना-लिखना व्यर्थ है जिससे दूसरों की विचारधारा उधार लेनी पड़े। व्यर्थ प्रपंच में न पड़कर मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए, उससे बुद्धि स्वत: सूक्ष्म विचार-ग्रंथियों को खोलने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेगी और सांस्कृतिक अभेद की प्रतीति होने लगेगी।

साधना और सिद्धि

दीक्षा-पूर्व जीवन में अध्यात्म साधना की दिशा में किये गये स्वाध्याय, मंत्र-जप, तथा सत्संग को कविराजजी ने 'कर्म' की संज्ञा दी है और उसे साधन-जीवन का प्रवेश प्राप्त करने की आवश्यक भूमिका बताया है। उनकी मान्यता है कि निजानुभव बिना आंतरिक स्थिरता प्राप्त नहीं होती। दीक्षा के बाद वे विधिवत् साधनापथ पर अग्रसर हुए। उनकी तपश्चर्या का लक्ष्य बना जगत-कल्याण-साधना। गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए अखंड महायोग की सिद्धि द्वारा उन्होंने परिपूर्ण अवस्था की प्राप्ति की। इसीलिए परमवस्तु की उपलब्धि में ये गुरुकृपा को प्रधान मानते थे, स्वप्रयास को गौण। अपने अनुभव के आधार पर प्रत्येक जीव के हृदय में ये अंतस्थ गुरु का अस्तित्व और साधना की उन्नत स्थिति में बाह्य गुरु की

अंतस्थ गुरुरूप में परिणित स्वीकार करते थे। गुरुदेव से इन्हें योग तथा भक्ति-साधना के अतिरिक्त प्राचीन भारत की अनेक लुप्तप्राय विद्याओं तथा विज्ञानों के गूढ़ रहस्यों का भी ज्ञान प्राप्त हुआ था। 'सूर्यविज्ञान' के प्रयोगात्मक प्रदर्शन हेतु परमहंस विशुद्धानंद ने इन्हें ज्ञानगंज से प्राप्त एक लेन्स भी प्रदान किया था किन्तु उसका प्रयोग कदाचित् ही कभी किया गया हो।

कविराजजी के जीवन की दो घटनाओं से विदित होता है कि वे जन्मजात सिद्ध थे। पहली घटना ढाका में हुई, जब वे स्थानीय जुबिली स्कूल के विद्यार्थी थे। उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से उसकी चर्चा करते हुए कहा था कि एक दिन नगर की समीपवर्ती नदी में स्नान के लिए जाते हुए दृष्टि ऊपर उठने पर उन्हें सहसा चिदाकाश के दर्शन हुए, देखत-देखते वे मूर्छित हो गये और बहुत देर तक उसी दशा में पड़े रहे। इसी प्रकार काशी के छात्र-जीवन में एक बार ग्रांड ट्रक रोड पर संध्या समय टहलते हुये उन्हें परतत्व का साक्षात्कार हुआ था। कालांतर में दीक्षा प्राप्त करने के बाद गुरुदत्त शक्ति तथा व्यक्तिगत साधना के द्वारा जब परमानुभूति की स्थायी उपलब्धि हो गयी तो उन्हें बोध हुआ कि उपर्युक्त दोनों अवसरों पर प्राप्त होने वाली दिव्यानुभूति उससे अभिन्न थी। जीवन के उत्तर भाग में तो इस प्रकार की अनुभूति के अवतरण काल में इनके नेत्रों के सामने से प्राकृत प्रकाश हट जाता था और दैवी वाणी स्पष्ट सुनाई देती थी।

दर्शनमय जीवन

जीवनव्यापी स्वाध्याय तथा साधना द्वारा संचित ज्ञान एवं दिव्य अनुभूतियाँ इन शांभव पुरुष के व्यक्तित्व में घुल-मिल कर स्वभाव का अभिन्नांश बन गयी थीं। ज्ञान 'कथनी' के स्तर से बहुत ऊपर उठकर उनकी 'करनी' तथा 'रहनी' में अनुस्यूत हो गया था। उनका देदीप्यमान मुखमंडल तथा विशाल तंद्रिल नेत्र जीवन्मुक्तावस्था के साक्षी थे। स्थितप्रज्ञता उनके आचार-व्यवहार से क्षणे-क्षणे व्यक्त होती थी। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' की स्थिति प्राप्त कर वे काशी के 'सचल विश्वनाथ' बन गये थे।

कविराजजी की उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति उनके दैनंदिन जीवन में किस प्रकार अभिव्यक्ति पाती रही उसकी किंचित् झलक निम्नांकित विवरणों से प्राप्त की जा सकती है।

समत्व-निर्वाह

जीवन-यात्रा में समरसता का आद्योपांत निर्वाह उनकी विशेषता थी। वे सदैव उत्साहयुक्त रहे। सुख में हर्षातिरेक से गद्‌गद और दुःख में पीड़ा से व्याकुल उन्हें कभी नहीं देखा गया। इकलौते युवा पुत्र का आँखों के सामने निधन उनकी समाधि भंग नहीं कर सका। 'तरति शोकं आत्मविद्' उपनिषद् वाक्य की सार्थकता उनकी अचल अनासक्ति में देखने को मिली। कैंसर तथा मूत्रकष्ट से मुक्ति के लिए किये गये घातक आपरेशन और तज्जनित असह्य पीड़ा उनके मानसिक संतुलन को आंदोलित न कर पायी। दीर्घव्यापी भीषण बीमारी के बीच अचेतावस्था में भी उनकी संध्योपासना का क्रम नहीं टूटा। दुःख-सुख में इस प्रकार समभाव रखने का रहस्य योग-साधना के प्रसंग में बताते हुये उन्होंने कहा था, 'भगवत्-चिंतनरत योगी भौतिक देह की परवाह नहीं करता। जो अपार दुःख लोगों को मृत्यु सदृश कष्टकर लगता है शुद्ध देह विकसित होने के कारण वह उसका अतिक्रम कर जाता है।'

इसी प्रकार स्तुतिनिंदा में भी कविराजजी का समभाव रहता था। प्रशंसा से तीव्र विरक्ति जानकर उस प्रवृत्ति के लोगों का उनके मुँह पर तारीफ करने का साहस ही नहीं होता था। किसी के द्वारा की गयी अपनी निंदा की वे परवाह नहीं करते थे—प्राय: इस प्रकार की चर्चा को वे अनसुनी कर देते थे। कभी उनको किसी व्यक्ति के दुर्गुणों का निर्देश करते हुए सुना नहीं गया, किन्तु किसी में सामान्य गुण भी देखकर वे उसका मुक्त कंठ से बखान करते थे। आत्मख्यापन से तो उन्हें इतनी अरुचि थी कि शासन तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त मानद उपाधियों को लेने के लिए वे कभी नहीं गये—यहाँ तक कि भारतीय संस्कृत परिषद् द्वारा अपने सम्मान में आयोजित अभिनंदन समारोह में भी अनुपस्थित ही रहे। गीता में इस 'समत्व' को ही 'योग' की संज्ञा दी गयी है।

अपरिग्रह

कविराजजी गृहस्थ योगी थे। परिवार की बोझी हुई नौका आर्थिक झंझावतों के बीच इन्हें आजीवन खेनी पड़ी। परिवार भी केवल अपना नहीं मौसी स्वर्णमयी और उनके पति कैलासचंद्र नियोगी, दुर्गा (काकी माँ) का पालन तथा विवाह, सीताराम पांडे, उनकी माँ और बाल बच्चों का भरण-पोषण तथा उनकी बड़ी पुत्री शिवरानी की शिक्षा और विवाह का सारा व्यय, उन्होंने मूक भाव से वहन किया। इसके अतिरिक्त संत-महात्माओं का स्वागत-सत्कार और गुरु आश्रम की व्यवस्था में भी यथोचित रूप से पत्र-पुष्प अर्पित करते रहे। इन आर्थिक दबाओं से वे जीवन भर ग्रसित रहे। अवकाश प्राप्त करने के बाद तो स्थिति और संकटपूर्ण हो गयी थी। अस्वस्थता के कारण चिकित्सा का व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। ऐसी स्थिति में भी किसी से आर्थिक सहायता लेने की बात तो दूर उन्होंने सम्पर्क में आने वाले लोगों द्वारा भी स्वेच्छया अर्पित वस्तु अथवा द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। एक बार घनश्यामदास बिड़ला द्वारा भेजी गयी धनराशि को उन्होंने विनयपूर्वक लौटा दिया था। बीमारी के दिनों की बात है। उस समय कविराजजी अपने रथयात्रा स्थित मकान में रहते थे—तख्ते के ऊपर बिछौना बहुत पतला था। उससे पीठ और नीचे की खाल कटने का भय था। डॉक्टर ने डनलप का गद्दा बिछाने का सुझाव दिया। पार्श्ववर्ती श्रद्धालुओं ने उसे लाकर अर्पित करने की इच्छा व्यक्त की किन्तु यह किसी प्रकार भी उन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ।

इस अर्थ संकट का सामना वे मितव्ययिता से करते थे। पासबुक, चेकबुक और हिसाब की नोटबुक सिरहाने रखी रहती थी। एक-एक पैसा टाँका जाता था। डबल रोटी के स्लाइसों और दियासलाई की तीलियों तक का हिसाब उन्हें याद रहता था। एक बार इसी प्रकार की घटना देखकर मैंने श्रीचरणों से निवेदन किया, 'निर्विकल्प समाधि में निरंतर लीन रहते हुए भी आप जागतिक जीवन की इन छोटी-छोटी बातों की स्मृति कैसे रख पाते हैं ?' उनका सरल उत्तर था, 'पैसा अपना नहीं है, देने वाला हिसाब चाहता है, मैं विवश हूँ।' स्वाराज्य में विचरने वाले श्वेतवस्त्र के योगी की बातें सुनकर मैं दंग रह गया।

आप्तकामत्व

साधना तथा अध्ययन की दिशा को छोड़कर सांसारिक कार्यों में कविराजजी ने कभी अपनी रुचि को प्रधानता नहीं दी। स्पृहा वासना का ही नामांतर है जो उनके स्वभाव से

बाल्यजीवन में ही विदा ले चुकी थी। वे प्राय: कहा करते थे, 'जो वस्तु आवश्यक होती है भगवान् की कृपा से स्वत: प्राप्त हो जाती है।' इस सिद्धांत का कड़ाई से पालन करते हुये उन्होंने नौकरी के लिए भी कभी आवेदन पत्र नहीं दिया। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डॉ० संपूर्णानन्द द्वारा प्रस्तावित वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय का कुलपति-पद स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, 'अब वह बहुत पीछे छूट गया है।'

समन्वय भावना

कविराजजी समन्वय को विश्वसंचालन की मूलशक्ति मानते थे, अत: सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा परस्पर विरोधी विचारों के विरोध का परिहार उनके दार्शनिक चिंतन की प्रमुख विशेषता थी। बौद्ध अनात्मवाद तथा वैदिक आत्मवाद की तात्विक एकता का प्रतिपादन जिस गूढ़ दार्शनिक शैली में उन्होंने किया है उससे उनकी अंतर्भेदिनी दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं—'अनात्मवादी अनहंवादी बनकर सबसे समत्व स्थापित करता है जबकि आत्मवादी सब में आत्मभाव लाकर समत्व स्थापित करता है। लक्ष्य दोनों का एक है, साधन भिन्न-भिन्न हैं। भेद अज्ञान का फल है, अभेद ज्ञान का।'

उनकी तत्वग्राहिणी दृष्टि सभी दार्शनिक सिद्धांतों में उपलब्ध सत्यांश को ग्रहण कर लेती थी। इसलिए उन्होंने कभी किसी मत, धर्म तथा संप्रदाय के प्रवर्तक और उसके सिद्धांत की आलोचना नहीं की। आधुनिक विज्ञान की प्रशंसा और पुराणों की निंदा करना प्रगतिशीलता का प्रतीक माना जाता है। दोनों की सीमाओं से परित: परिचित कविराजजी विज्ञान के असामर्थ्य और पौराणिक अंधविश्वास की वैज्ञानिकता समझाते हुए श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि भारतीय संस्कृति को अखंड सत्य का पता है इसलिए वह खंडसत्य का भी आदर कर सकती है।

दर्शन की भाँति साधना के क्षेत्र में भी वे समन्वय के समर्थक थे। उनकी अपनी साधना-प्रणाली क्रिया, ज्ञान तथा योग समन्वित थी। विश्व की प्रमुख दार्शनिक धाराओं के मर्मज्ञ होने एक साथ ही शैव, शाक्त, वैष्णव, सूफी, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि मतों में उपलब्ध भक्ति साहित्य और उनके निर्माताओं के वे ज्ञाता और प्रशंसक थे। सांस्कृतिक अभेद के विकास को ही वे सारे अध्ययन का लक्ष्य मानते थे। उनके अनुसार मानव जीवन के परमलक्ष्य, विश्वकल्याण की साधना अभेद-स्थापन द्वारा ही संभव थी। उनके समन्वय-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता थी समन्यव-स्थापना की प्रक्रिया में सभी पक्षों के 'स्व' की रक्षा। समन्वय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है। ऐसे सर्वभूत-हितरत महापुरुष के पास पहुँच कर धर्म, संप्रदाय, जाति, देशकाल और भाषा की मानवनिर्मित सारी कृत्रिम सीमाएँ ध्वस्त हो जाती थीं। जगन्नियंता ने कपिल-कणाद-गौतम के तप:पूत जीवन तथा उपब्धियों की विश्वसनीयता अक्षुण्ण रखने के लिए ही इस नित्यमुक्त आत्मा की मर्त्यलोकयात्रा का आयोजन किया था।

❖

३

साहित्य-साधना

कविराजजी की साहित्य-सर्जना का श्रीगणेश बाल्यकाल में ही हो गया था। उनकी सर्वप्रथम रचना '**से खाने**' शीर्षक बंगला कविता ढाका से निकलनेवाली 'बांधव' नामक मासिक पत्रिका के 'नव-पर्याय' में १९०४ में प्रकाशित हुई। उस समय ये ढाका में जुबली स्कूल की दूसरी (वर्तमान नवीं) कक्षा के विद्यार्थी थे। तब से लेकर आज तक इनकी लेखनी अनवरत चलती रही। इस ६३ वर्ष के सुदीर्घ कालखंड में इन्होंने दर्शन, योग, तंत्र, भक्ति, संतचरित, पुरातत्व, साहित्यिक अनुसंधान, समालोचना, संस्मरण आदि विषयों पर मौलिक लेखों, ग्रंथों, संपादित पुस्तकों एवं भूमिका रूप में लिखे गये निबंधों द्वारा वाग्देवता की जो सेवा की है उसका देश के भीतर ही नहीं विदेशों में भी विद्वानों ने संस्कारमुक्त चित्त से अभिनंदन किया है। ये कृतियाँ इनकी तत्वग्राही प्रतिभा, सर्वविद्यावैदुष्य तथा पांडित्य के प्रकाशस्तंभ रूप में अनंतकाल तक जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करती रहेंगी।

कालक्रम के विचार से आचार्यपाद की साहित्य-रचना तीन खंडों में विभक्त की जा सकती है :

(१) ***अध्ययन-काल***—१९०४ ई० से लेकर १९१४ ई० तक।

(२) ***सेवा-काल***—१९१४ ई० से लेकर १९३७ ई० तक।

इनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रथम उन्मेष काव्य-रचना के रूप में हुआ। इसका निर्देश पहले हो चुका है। इस रचनात्मक प्रवृत्ति ने कालांतर में इनके भावुक व्यक्तित्व के विकास में योग दिया, जिससे इनकी रुचि आलोचना की ओर उन्मुख हुई। बंगला और अंग्रेजी कविताओं का समीक्षात्मक अनुशीलन इनका प्रिय विषय हो गया। १९०७ ई० में मैमनसिंह से निकलनेवाली 'आरती' नामक पत्रिका में इनके द्वारा लिखित रवींद्रनाथ टैगोर की 'हृदय-यमुना' शीर्षक कविता का आलोचनात्मक परिचय प्रकाशित हुआ। महाराजा कालेज (जयपुर) में अध्ययन करते हुए इन्होंने पाश्चात्य साहित्य, विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य, का गंभीर अध्ययन किया। इसके रचनात्मक तथा समीक्षात्मक दोनों अंगों पर उस समय तक प्रकाशित और कॉलेज-पुस्तकालय तथा अन्य स्थानीय व्यक्तिगत संग्रहों में उपलब्ध प्राय: सभी ग्रंथ इन्होंने पढ़ डाले। उनका संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय भी अपनी नोट-बुक में लिख लिया। १९१०-११ ई० में ब्राउनिंग तथा बाइरन पर क्रमश: 'प्रवासी' कलकत्ता और 'प्रतिभा' (ढाका) में इनके प्रकाशित लेख इनकी अंग्रेजी साहित्य में असाधारण गति तथा असामान्य समीक्षात्मक प्रतिभा के परिचायक हैं। जयपुर में अंग्रेजी साहित्य के साथ ही भारतीय धर्मदर्शन तथा पुरातत्त्व-विषयक ग्रंथों का भी अध्ययन चलता रहा।

बनारस संस्कृत कॉलेज में प्रविष्ट होने के पश्चात् डॉ० वेनिस की स्नेहपूर्ण छत्रच्छाया में इनके शोध तथा ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति पल्लवित हुई। इसकी रक्षा इन्होंने अपनी विपन्न स्थिति के बावजूद लौकिक उत्कर्ष के समस्त प्रलोभनों को तिलांजलि देकर की। मेयो कॉलेज अजमेर तथा ओरियंटल कॉलेज लाहौर द्वारा प्रस्तावित प्रवक्ता पद को अस्वीकार करके बनारस संस्कृत कॉलेज की शोध-छात्रवृत्ति ग्रहण करने का यही रहस्य था।

१९१४ से १९३७ ई० तक संस्कृत कॉलेज में विभिन्न पदों पर सेवा-कार्य करते हुए इन्होंने भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व-विषयक कुछ इने-गिने लेखों को छोड़कर अपना सारा समय तत्त्वज्ञान एवं साधना-संबंधी साहित्य के अनुशीलन-प्रणयन तथा संपादन में लगाया। इस बीच भारत के आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की विभिन्न शाखाओं, वैष्णव-भक्ति, गोरक्ष-संप्रदाय, तंत्र, संतचरित आदि विषयों पर लिखे गये इनके निबंधों तथा ग्रथों से राष्ट्रीय साहित्य के अनेक उपेक्षित और अविवेचित अंग प्रकाश में आये हैं और पूर्वज्ञात तथा आलोचित विषयों पर विचार करने की नयी दृष्टि मिली है।

१९३७ ई० में अवकाश ग्रहण करने के उपरांत ज्यों-ज्यों साधना में तन्मयता की मात्रा बढ़ती गयी, ये लौकिक विषयों पर साहित्य-रचना से विरत होते गये। अब संतचरित, योगतंत्र, दर्शन, वैष्णव भक्ति आदि आध्यात्मिक विषयों पर ही विचारों तथा अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में रुचि रह गयी। इस काल में लिखी गयी भूमिकाओं में भी प्रायः इन्हीं विषयों की प्रधानता है। यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न ग्रंथों पर लिखी गयी इनकी कतिपय भूमिकाएँ प्रचलित परंपरानुसार औपचारिक अथवा शोभावर्द्धक न होकर अनेक दृष्टियों से पूरक एवं उत्कर्ष-विधायक रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं।

कविराजजी की मातृभाषा बंगला है। अतः इनकी अधिकांश मौलिक कृतियाँ सर्वप्रथम बंगला में ही लिखी गयीं। इनके शिक्षाकाल में अंग्रेजी का प्रभुत्व था। सेवाकाल में भी अंग्रेजी ही राजभाषा थी। इसलिए बंगला के बाद यही भाषा विचार-विनिमय की दृष्टि से इनके लिए सर्वाधिक सुगम पड़ती थी। अत: अंग्रेजी पर इनका असामान्य अधिकार था। इसलिए परिमाण की दृष्टि से मातृभाषा के अनंतर अंग्रेजी में निर्मित ग्रंथों का ही स्थान है; किन्तु जहाँ तक लेखों का संबंध है इनके हिन्दी निबंधों की संख्या अंग्रेजी के लेखों से अधिक ठहरती है। यही स्थिति हिन्दी ग्रंथों में लिखी गयी भूमिकाओं की भी है।

संपादित साहित्य में संस्कृत ग्रंथ सबसे अधिक हैं। इनका प्रकाशन अधिकतर सरस्वती-भवन ग्रंथमाला-योजना के अंतर्गत राजकीय संस्कृत कॉलेज बनारस द्वारा हुआ। कुछ काशी के प्राचीन प्रकशकों ने भी निकाले हैं।

अनूदित लेख प्रायः बंगला से हिन्दी में रूपांतरित हैं। इनके अनुवाद कविराजजी ने हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लिए उनके संपादकों के अनुरोध पर स्वयं किये हैं। परन्तु बंगला से हिन्दी में अनूदित ग्रंथों में श्री-चरणों के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों का पर्याप्त योग रहा है। इसका उल्लेख उन ग्रंथों की भूमिका में यथास्थान कर दिया गया है।

इधर कई वर्षों से, विशेष रूप से १९६१ ई० में हुए कैंसर के भीषण आक्रमण के बाद, इनका जरा-जर्जर शरीर निरंतर रुग्ण रहता है। इसके परिणामस्वरूप परिश्रम-सापेक्ष मौलिक लेखों की संख्या घट गयी है; किन्तु वह कभी बंगला, हिन्दी तथा अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं और

अभिनंदन-ग्रंथों में पूर्व प्रकाशित लेखों के संकलनों से पूरी हो रही है। ऐसे कई ग्रंथ इधर प्रकाश में आये हैं। इस प्रकार की कुछ बंगला पुस्तकों के हिन्दी-अनुवाद भी निकले हैं।

यह हुई कविराजजी की प्रकाशित रचनाओं की बात। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा निर्मित साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश अभी तक हस्तलेखों के रूप में ही स्वाध्याय तथा आवासकक्ष की आलमारियों में भरा पड़ा है। यह सामग्री लगभग तीन हजार पृष्ठों में विस्तृत है। इसके अंतर्गत इनके साधक-जीवन की रहस्यपूर्ण अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं। श्री चरणों की अंतस्साधना के क्रमविकास का अनुशीलन तथा मानस-जगत् का विश्लेषण इस अनुभूति-निधि के अभाव में अधूरा ही रहेगा।

इनका सारा जीवन साधनामय है। साहित्य-रचना इनकी उस जीवनव्यापी साधना का अभिन्न अंग रही है। शारीरिक अस्वस्थता तथा वार्द्धक्यजन्य निर्बलता से इनका साधक-जीवन अब तक सर्वथा अप्रभावित है। इनकी तद्विषयक साहित्य-सर्जना का स्रोत भी उसी भाँति गतिशील है।

इस अध्याय में कविराजजी के प्रकाशित साहित्य की रूपरेखा का परिचयात्मक निरूपण मात्र किया गया है। जहाँ तक संभव हो सका है, इनकी समस्त रचनाओं की कालक्रमानुसार सूची प्रस्तुत की गयी है, फिर भी यह असंभव नहीं कि प्रमाद अथवा अज्ञानवश एकाध कृतियाँ छूट गयी हों अथवा किसी कृति के प्रकाशक, प्रकाशन काल आदि में उल्लेख की भ्रांति हो गयी हो। सहृदयों के समक्ष ऐसी भूलें क्षम्य होंगी।

पत्र-पत्रिकाओं तथा अभिनंदन-ग्रंथों में प्रकाशित शोध निबंध, लेख एवं कविता

(क) बंगला

१. बांधव—(नवपर्याय)—बांधव कुटीर, अरमानी टोला, ढाका, संपादक—कालीप्रसन्न घोष।
   (१) से खाने (कविता)—बंगाब्द १३११ आषाढ़ (१९०४ ई०)
२. स्टुडेंट्स मैंगजीन, कॉलेज स्ट्रीट, कलकत्ता—
   (१) सुंदर (कविता)—बंगाब्द १३१३ (१९०६ ई०)
३. आरती (मैमनसिंह)—सं० विश्वेश्वर पंडित—
   (१) हृदय-यमुना (व्याख्या)—बंगाब्द १३१४ कार्तिक (१९०७ ई०)
   (रवींद्रनाथ टैगोर की कविता आलोचनात्मक परिचय)
४. प्रवासी, कलकत्ता, सं० रामानंद चट्टोपाध्याय—
   (१) ब्राउनिंग—बंगाब्द १३१७ कार्तिक (१९१० ई०)
   (२) " बंगाब्द १३१८ अग्रहायण (१९११ ई०)
५. प्रतिभा (ढाका)—
   (१) बाइरन—बंगाब्द १३१८ भाद्र (१९११ ई०)

६. प्रवास-ज्योति (मासिक बनारस), सं० केदारनाथ बनर्जी—

(१) त्रिवेणी-संगम- पौष १३२७ बंगाब्द (१९२१ ई०)
(२) ,, ,, माघ १३२७ ,, ,,
(३) ,, ,, फाल्गुन १३२७ ,, ,,
(४) ,, ,, चैत्र १३२७ ,, ,,

७. अलका (बनारस)—सं० सुरेनद्रनाथ भट्टाचार्य एवं सुरेश चक्रवर्ती—

(१) प्रत्यभिज्ञादर्शनेर भूमिव —फाल्गुन १३२८ बगाब्द (१९२२ ई०)
(२) वही चैत्र १३२८ ,, (१९२२ ई०)
(३) वही वैशाख १३२९ ,, (१९२२ ई०)
(४) भर्तृहरि ओ ईत्सिंग ज्येष्ठ १३२९ ,, (१९२२ ई०)
(५) सागर संगीत (देशबंधु चितरंजनदास के काव्य-ग्रंथ का समालोचन) आषाढ़ १३२९ बं० (१९२२ ई०)
(६) वही वही श्रावण १३२९ बं० (१९२२ ई०)
(७) एकटी प्रश्न भाद्र १३२९ बं० (१९२२ ई०)
(८) भारतीय दर्शनेर इतिहास—प्रथम भाग (लेखक—एस० एन० दास गुप्त) का पर्यालोचन, आश्विन १३२९ बं० (१९२२ ई०)
(९) प्रह्लादपुर शिलालेख।

८. प्रवास-ज्योति (पाक्षिक, नवपर्याय)—बनारस, सं० केदारनाथ वंद्योपाध्याय—

(१) वैष्णव-कविता समालोचना ओ आध्यात्मिक व्याख्या—वैशाख १३२९ बं० (१९२२ ई०)
(२) सूर्य-विज्ञान—१८ वैशाख १३२९ बं० (अप्रैल १९२२ ई०)

९. बंग-साहित्य (त्रैमासिक, बनारस) सं० हरिहर शास्त्री एवं वृंदावनचंद्र भट्टाचार्य—

(१) रस ओ सौंदर्य, वर्ष १, अंक १, १३२९—३० बं० (१९२३ ई०)
(२) कुंडलिनी-तत्व, वर्ष १, अंक ४, १३३० बं० (१९२३ ई०)

१०. उत्तरा (बनारस)—सं० अतुलप्रसाद सेन, सुरेश चक्रवर्ती—

(१) गौडीय वैष्णव-दर्शन— आश्विन १३३२ बं० (१९२५ ई०)
(२) वही कार्तिक १३३२ बं० ,,
(३) वही अग्रहायण १३३२ बं० ,,
(४) वही पौष १३३२ बं० (१९२६ ई०)
(५) वही माघ १३३२ बं० ,,
(६) वही फाल्गुन १३३२ बं० ,,
(७) वही चैत्र १३३२ बं० ,,
(८) वही वैशाख १३३३ बं० ,,
(९) वही ज्येष्ठ १३३३ बं० ,,
(१०) वही आश्विन १३३३ बं० ,,
(११) रवीन्द्र व बलाका पौष १३३३ बं० (१९२७ ई०)

(१२) वही फाल्गुन १३३३ बं० ,,
(१३) तांत्रिक बौद्ध-धर्म कार्तिक १३३४ बं० ,,
(१४) वही ज्येष्ठ १३३५ बं० ,,
(१५) वही (सिद्धमार्ग) आषाढ़ १३३५ बं० ,,
(१६) वही ,, श्रावण १३३५ बं० ,,
(१७) तत्व ओ साधना-जीवनेर उद्देश्य, आश्विन १३३५ बं० ,,
(१८) महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री-अग्रहायण १३३८ बं० (१९३१ ई०)
(१९) वही पौष १३३८ बं० (१९३२ ई०)
(२०) वृद्धेर उपदेश आश्विन १३४३ बं० (१९३६ ई०)
(२१) तांत्रिक साधनार गोड़ार, कथा भाद्र १३४९ बं० (१९४२ ई०)
(२२) शक्तिपात-रहस्य कार्तिक १३४९ बं० (१९४२ ई०)
(२३) शक्तिपात-रहस्य पौष १३४९ बं० (१९४३ ई०)
(२४) गुरुतत्त्व ओ सद्गुरु रहस्य वैशाख १३५० बं० (१९४३ ई०)
(२५) वही ज्येष्ठ १३५० बं० (१९४३ ई०)
(२६) पूजार परम आदर्श आषाढ़ १३५४ बं०
(२७) भारतीय संस्कृति ,, ,,
(२८) भागवते ईश्वर ओ जीवतत्त्व १३५५ बं०
(२९) नाद-बिन्दु ओ कला श्रावण १३५५ बं० (१९४८ ई०)
(३०) देहसिद्धि ओ पूर्णत्वेर अभियान ज्येष्ठ १३५६ बं०
(३१) दत्तात्रेय संप्रदायेर दार्शनिक मतवाद आषाढ़ १३५६ बं०

११. साधनपंथा (बनारस)—संपादक तारामोहन भट्टाचार्य—

(१) शक्ति-साधना-खंड १, पृ० ३५३, अग्रहायण १३४१ बं० (१९३४ ई०)
(२) लिंग-रहस्य-खंड १, अंक ६, आश्विन ,, ,,
(३) अवतार-विज्ञान-खंड १, अंक १, वैशाख ,, ,,
(४) वही खंड १, अंक २, ज्येष्ठ ,, ,,
(५) वही खंड १, अंक ३, आषाढ़ ,, ,,
(६) वही खंड १, अंक ४, श्रावण ,, ,,
(७) वही खंड १, अंक ५, भाद्र ,, ,,
(८) ईश्वर-प्राप्ति ओ ताहार साधन—
खंड १, अंक ८ अग्रहायण ,, ,,
(९) योग ओ योग विभूति-खंड २, भाद्र १३४३ बं० (१९३६ ई०)
(१०) वही खंड ३, कार्तिक ,, ,,

१२. छात्र-महल (बनारस)—

(१) छात्र-महलेर उद्देश्य-खंड १, अंक १, श्रावण १३४१ बं० (१९३४ ई०)

१३. विश्ववाणी—सं० स्वामी अभेदानंद, प्रकाशक—वेदांत-समिति, कलकत्ता।

(१) मंत्र ओ देवता-रहस्य-खंड १३, पृ० १६७-७३

१४. पूजा (स्वामी प्रेमानंद द्वारा लिखित पुस्तक में कविराजजी का योगदान)
वर्ष—१९४६ ई०

(१) पुरुषोत्तम-तत्त्व — पृ० ६२,६३
(२) कृतज्ञता-प्रकाश — पृ० १५
(३) विष्णु — पृ० ४, ५
(४) गायत्रीर अर्थ — पृ० २३, २४
(५) धाम पृ० २६, २७
(६) शक्ति ओ बल — पृ० ५५, ५६
(७) गुरु — पृ० ११५
(८) पुरुषोत्तम-तत्त्व — पृ० १५२-५९
(९) इष्ट — पृ० १६०-६३
(१०) नाड़ी — पृ० २१५-१७
(११) ध्यान-धारणा — पृ० २३१-३५
(१२) जप — पृ० २५६-५७

१५. दयाल-प्रसंग—सुश्री मृणालिनीदेवी-ध्रुवेश्वर, बनारस द्वार संपादित पुस्तक में कविराजजी का योगदान।
(१) स्तुति-पुष्पांजलि—(महाशय रामदयाल मजूमदार का वृत्त)—पृ० ११०, १७

१६. उद्‌बोधन —प्रकाशक—श्री रामकृष्ण मिशन, कलकत्ता।
(१) अनादि सुषुप्ति ओ ताहार भंग—माघ १३५४ बं० (१९४८ ई०)

१७. आनंद-वार्ता—प्रकाशक—आनंदमयी संघ, भदैनी, वाराणसी।

(१) श्री श्री मायेर अमरवाणी ओ व्याख्या वर्ष १, अंक ३, १९५३ ई०
(२) वही वर्ष २, अंक ४, ,,
(३) मंत्र-विज्ञानेर एक दिक् वर्ष २, अंक ४, ,,
(४) आदिगुरु दत्तात्रेय वर्ष २, अंक १, ,,
(५) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष १, अंक ५, १९५४ ई०
(६) परम पथेर क्रम वर्ष १, अंक ५, ,,
(७) आदिगुरु दत्तात्रेय वर्ष २, अंक १, मई, १९५४ ई०
(८) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक १, मई, १९५४ ई०
(९) आदिगुरु दत्तात्रेय वर्ष २, अंक २, अगस्त, १९५४ ई०
(१०) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक २, अगस्त, १९५५ ई०
(११) आरोप-साधन वर्ष २, अंक २, अगस्त, १९५४ ई०
(१२) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक २, अगस्त, १९५४ ई०
(१३) अजपा-रहस्य वर्ष २, अंक ३, नवंबर, १९५४ ई०
(१४) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक ३, नवंबर, १९५४ ई०
(१५) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक ४, फरवरी, १९५५ ई०
(१६) आदिगुरु दत्तात्रेय वर्ष २, अंक ४, ,, ,,
(१७) श्री श्री मायेर अमरवाणी वर्ष २, अंक ४, ,, ,,

(१८) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ३, अंक १, मई, १९५५ ई०
(१९) वर्ण-विज्ञान जो आत्मार अवस्था-वैचित्र्य	वर्ष ३, अंक १, मई, १९५५ ई०
(२०) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ३, अंक ९, अगस्त, १९५५ ई०
(२१) वर्ण-विज्ञान ओ आत्मार अवस्था-वैचित्र्य	वर्ष ३, अंक १, आगस्त, १९५५ ई०
(२२) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ३, अंक ३, नवंबर, १९५५ ई०
(२३) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ३, अंक ४, फरवरी, १९५६ ई०
(२४) ब्रह्म, परमात्मा ओ भगवान्	वर्ष ३, अंक ४, फरवरी, १९५६ ई०
(२५) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ४, अंक १, मई, १९५६ ई०
(२६) श्री श्री मायेर संबंधे दुइचार कथा	वही वही
(२७) सिद्ध पुरुष	वही वही
(२८) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ४, अंक २, अगस्त, १९५६ ई०
(२९) दार्शनिक दृष्टि ते श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ४, अंक २, १९५६ ई०
(३०) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ४, अंक ३, नवंबर, १९५६ ई०
(३१) अध्यात्म जीवने गुरुर स्थान	वही वही
(३२) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ४, अंक ४, फरवरी, १९५६ ई०
(३३) अध्यात्म जीवने गुरुर स्थान	वही वही
(३४) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ५, अंक १, मई, १९५७ ई०
(३५) आमि के ? मनुष्य जीवनेर अभिव्यक्ति ओ परमादर्श	वही वही
(३६) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ५, अंक २, अगस्त, १९५७ ई०
(३७) शक्तिर जागरण	वही वही
(३८) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ५, अंक ३, नवंबर, १९५७ ई०
(३९) भक्ति साधनार एकटा दिक्	वही वही
(४०) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ५, अंक ४, फरवरी, १९५८ ई०
(४१) कृपा ओ उपायेर मिलन	वही वही
(४२) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ६, अंक १, मई, १९५८ ई०
(४३) मन हइते उन्मना	वही अगस्त, १९५८ ई०
(४४) श्री श्री मायेर अमरवाणी	वर्ष ६, अंक २, नवंबर, १९५८ ई०
(४५) अध्यात्म जीवने गुरुर स्थान	वही वही
(४६) षट्चक्र भेदेर रहस्य	वर्ष ६, अंक २, फरवरी, १९५८ ई०
(४७) अखंड भगवत्-स्मृति	वर्ष ६, अंक ४, मई, १९५८ ई०
(४८) षट्चक्र भेदेर पारवस्था	वर्ष ७, अंक १, मई, १९५९ ई०
(४९) भाव साधनार वैशिष्टय	वर्ष ७, अंक २, अगस्त, १९५९ ई०
(५०) जीवनेर लक्ष्य	वर्ष ७, अंक ३, नवंबर, १९५९ ई०

(५१) देह-विज्ञान वो अमरत्व-साधन — वर्ष ७, अंक ४, फरवरी, १९६० ई०
(५२) श्री भगवानेर स्वरूप ओ कृत्य (द्वैत शैव-मत) — वर्ष ८, अंक १, मई, १९६० ई०
(५३) परम शिवेर पृष्ठभूमि — वर्ष ८, अंक २, अगस्त, १९६० ई०
(५४) चक्षुर उन्मीलन — वर्ष ८, अंक २, नवंबर, १९६० ई०

१८. हिमाद्रि (साप्ताहिक, कलकत्ता) संपा०—प्रमथनाथ भट्टाचार्य—

(१) देहेर साधन (प्रथम पर्याय) — १५ मई, १९५३ ई०
(२) ,, ,, — २२ मई, १९५३ ई०
(३) ,, ,, — २९ मई, १९५३ ई०
(४) ,, ,, — ५ जून, १९५३ ई०
(५) ,, ,, — १२ जून, १९५३ ई०
(६) ,, ,, — १९ जून, १९५३ ई०
(७) ,, ,, — २६ जून, १९५३ ई०
(८) ,, ,, — ३ जुलाई, १९५३ ई०
(९) ,, ,, — १० जुलाई, १९५३ ई०
(१०) ,, ,, — १७ जुलाई, १९५३ ई०
(११) ,, ,, — २४ जुलाई, १९५३ ई०
(१२) ,, ,, — ३१ जुलाई, १९५३ ई०
(१३) ,, ,, — ७ अगस्त, १९५३ ई०
(१४) ,, ,, — १४ अगस्त, १९५३ ई०
(१५) ,, ,, — २१ अगस्त, १९५३ ई०
(१६) देहेर साधन (द्वितीय पर्याय) — १८ नवंबर, १९५५ ई०
(१७) ,, ,, — २५ नवंबर, १९५५ ई०
(१८) ,, ,, — २ दिसंबर, १९५५ ई०
(१९) ,, ,, — ९ दिसंबर, १९५५ ई०
(२०) ,, ,, — १६ दिसंबर, १९५५ ई०
(२१) ,, ,, — २३ दिसंबर, १९५५ ई०
(२२) ,, ,, — ३० दिसंबर, १९५५ ई०
(२३) ,, ,, — ६ जनवरी, १९५६ ई०
(२४) ,, ,, — १३ जनवरी, १९५६ ई०
(२५) ,, ,, — २० जनवरी, १९५६ ई०
(२६) ज्योतिर्जीर कथा (साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग) — २८ अगस्त, १९५३ ई० से १९ मार्च, १९५४ ई० तक
(२७) महात्मार कथा (साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग) — २६ मार्च, १९५४ ई० से १६ अप्रैल, १९५४ ई० तक
(२८) सोहं सिद्ध बाबार कथा — २३ अप्रैल, १९५४ ई० से २ जुलाई, १९५४ ई० तक

(२९) रामठाकुरेर कथा	९ जुलाई, १९५४ ई० से १३ अगस्त, १९५४ ई० तक
(३०) श्री नागाबाबार कथा	३ सितंबर, १९५४ ई० से १० सितंबर, १९५४ ई० तक
(३१) श्री श्यामदास बाबाजीर कथा	१९ नवंबर, १९५४ ई०
(३२) एकटि अद्‌भुत बालकेर कथा	२६ नवंबर, १९५४ ई० से २५ फरवरी, १९५५ ई० तक
(३३) किशोरी भगवानेर कथा	११ मार्च, १९५५ ई० से ३ जून, १९५५ ई० तक
(३४) योगत्रयानंदजीर कथा	१० जून, १९५५ ई० से २ सितंबर, १९५५ ई० तक
(३५) ख्यापा (पगला) साधुर कथा	१६ सितंबर, १९५५ ई० से ७ अक्तूबर, १९५५ ई० तक
(३६) सीतारामदास बाबाजीर कथा	७ अक्तूबर, १९५५ ई०
(३७) परकाया प्रवेश	६ जुलाई, १९५६ ई० से १० अगस्त, १९५६ ई० तक
(३८) आसनोत्थान ओ आकाशगमन	१० अगस्त, १९५६ ई० से ७ सितंबर, १९५६ ई० तक
(३९) महाज्ञानेर अवतरण	२३ नवंबर, १९५६ ई० से ३० नवंबर, १९५६ ई० तक
(४०) वही	३० नवंबर, १९५६ ई० से ७ सितंबर, १९५६ ई० तक
(४१) पथेर संधान	२८ जून, १९५७ ई०
(४२) वही	५ जुलाई, १९५७ ई०
(४३) वही	१२ जुलाई, १९५७ ई०
(४४) वही	१९ जुलाई, १९५७ ई०
(४५) वही	२६ जुलाई, १९५७ ई०
(४६) नरदेह	१९ दिसंबर, १९५८ ई०
(४७) वही	२६ दिसंबर, १९५८ ई०
(४८) वही	९ जनवरी, १९५९ ई०
(४९) भगवत्-स्मृति	६ फरवरी, १९५९ ई० से ६ मार्च, १९५९ ई० तक
(५०) भगवत्-स्मृति	६ मार्च, १९५९ ई०
(५१) परमपद	१३ मार्च, १९५९ ई०
(५२) वही	२० मार्च, १९५९ ई०
(५३) परमपद	२७ मार्च, १९५९ ई०
(५४) पूर्णत्वेर आरोह ओ अवरोह	२२ मई, १९५९ ई०

(५५) उद्धव-संप्रदाय	१६ नवंबर, १९६२ ई०
(५६) ,,	२३ नवंबर, १९६२ ई०

१९. विशुद्ध वानी (काशी)—सं० म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी

(१) सूचना	खंड १, १३६१ बं० (१९५४ ई०)
(२) देह ओ कर्म	खंड १, १३६१ बं० (१९५४ ई०)
(३) ,,	खंड २, १३६१ बं० (१९५५ ई०)
(४) ,,	खंड ४, १३६२ बं० (१९५६ ई०)
(५) ,,	खंड ५, १३६३ बं० (१९५७ ई०)
(६) आरोप-साधन	खंड १, १३६१ बं० (१९५४ ई०)
(७) ज्ञानगंजेर पत्रावली	खंड १, १३६१ बं० ,,
(८) ,,	खंड २, १३६१ बं० ,,
(९) अजपा साधन रहस्य	खंड २, १३६१ बं० ,,
(१०) ज्ञानगंजेर पत्रावली	खंड ३, १३६२ बं० (१९५५ ई०)
(११) श्री श्री नवमुंडी महाआसन	खंड ३, १३६२ बं० ,,
(१२) विहंगम योग ओ महापथ	खंड ३, १३६२ बं० ,,
(१३) श्री श्री गुरुदेवेर कएकटी उपदेश व्याख्या	खंड ३, १३६२ बं० ,,
(१४) ज्ञान गंजेर पत्रावली	खंड ४, १३६२ बं० ,,
(१५) सिद्धपुरुष	खंड ४, १३६२ बं० ,,
(१६) शुष्क ज्ञान ओ दिव्य ज्ञान	खंड ४, १३६२ बं० (१९५६ ई०)
(१७) कयेकखाना छिन्न पत्र	खंड ४, १३६२ बं० ,,
(१८) तीन जन्मेर विचार	खंड ४, १३६२ बं० ,,
(१९) ज्ञानगंजेर पत्रावली	खंड ५, १३६२ बं० ,,
(२०) महाशक्ति श्री श्री माँ	खंड ५, १३६३ बं० (१९५६ ई०)
(२१) देह ओ कर्म	खंड ५, अंक ४, १३६३ बं० ,,
(२२) ज्ञान गंजेर पत्रावली	खंड ६, ,, ,,
(२३) सूर्य-विज्ञान रहस्य (प्रथम प्रस्ताव)	खंड ६, ,, ,,
(२४) श्री गुरुचरणे	खंड ६, अंक १ ,, ,,
(२५) सनातन साधनार गुप्त धारा	खंड ६, ,, ,,
(२६) सामरस्य ओ महामिलन	खंड ७, ,, ,,
(२७) विंदु दर्शनेर रहस्य	खंड ८, १३७१ ,, (१९६४ ई०)
(२८) सिद्धभूमि	खंड ८, ,, ,,
(२९) मानस-पूजा	खंड ८, ,, ,,
(३०) जीवेर आविर्भाव ओ पूर्णता-लाभ : एकटी दृष्टि	खंड ८, ,, ,,
(३१) आत्मार पूर्ण जागरण ओ परिणति	खंड ९, १३७४ ,, (१९६७ ई०)

२०. हिमाद्रि (वार्षिक शारदीय अंक), संपादक—प्रमथनाथ भट्टाचार्य, कलकत्ता—

(१) माँ १३६० बं०, १९५३ ई०
(२) मायेर स्वरूप ओ महिमा १३६१ बं०, १९५४ ई०
(३) महाकरुणामयी श्री श्री माँ १३६३ बं०, १९५६ ई०
(४) सामरस्य १३६६ बं०, १९५९ ई०
(५) महाशक्तिर आराधना १३६७ बं०, १९६० ई०
(६) गुरु के? १३६९ बं०, १९६२ ई०
(७) शक्ति साधनार रहस्य १३७० बं०, १९६२ ई०
(८) प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत् १३७१ बं०, १९६४ ई०
(९) योगमार्गे इच्छाशक्ति ओ सृष्टि-रहस्य १३७२ बं०, १९६५ ई०
(१०) अमरत्व साधन : तांत्रिक ओ कौलिक १३७३ बं०, १९६६ ई०

२१. सुदर्शन (कलकत्ता)—संपादक—शिशिरकुमार ब्रह्मचारी, संतदास बाबाजी के शिष्य (निंबार्क-संप्रदाय)।

(१) दीक्षा-रहस्य खंड ५, अंक १, भाद्र, १३५४ बं०, (१९४७ ई०)
(२) ,, खंड ५, अंक २, अग्रहायण, १३५४ बं० ,,
(३) ,, खंड ५, अंक ३, फाल्गुन १३५४ बं० ,,
(४) ,, खंड ५, अंक ५, ज्येष्ठ, १३५५ बं० (१९४८ ई०)
(५) ,, खंड ६, अंक १, भाद्र १३५५ बं० ,,
(६) ,, खंड ६, अंक २, अग्रहायण, १३५५ बं० ,,
(७) दीक्षा-रहस्य खंड ६, अंक ३, फाल्गुन, १३५५ बं०, (१९४८ ई०)
(८) ,, खंड ७, अंक १, भाद्र, १३५६ बं०, (१९४९ ई०)
(९) नाम-साधन ओ ताहार परिणति खंड ७, अंक २, भाद्र, १३६१ बं०, (१९५४ ई०)
(१०) अक्लिष्ट अज्ञान खंड १२, अंक ३, फाल्गुन, १३६१ बं० ,,
(११) आदिगुरु दत्तात्रेय खंड २०, अंक १, भाद्र, १३६९ बं०, (१९६२ ई०)
(१२) ,, खंड २०, अंक २, कार्तिक, १३६९ बं०, ,,
(१३) ,, खंड २०, अंक ३, फाल्गुन, १३६९ बं०, ,,
(१४) ,, खंड २०, अंक ४, ज्येष्ठ, १३७० बं०, (१९६३ ई०)
(१५) ,, खंड २१, अंक १, श्रावण, १३७० बं०,
(१६) ,, खंड २१, अंक २, अग्रहायण, १३७० बं०,
(१७) म० म० गोपीनाथ कविराजेर पत्र, खंड २२, अंक १, भाद्र, १३७९ बं०,

२२. आर्य-दर्पण—सं० स्वामी सत्यानंद सरस्वती—(निगमानंद-संप्रदाय)

(१) तांत्रिक सिद्धांत ओ साधनार रहस्य—खंड ५६, अंक १, वैशाख १३७० बं०
(२) सामरस्य खंड ५६, अंक ४, श्रावण, १३७० बं० (१९६३ ई०)
(३) ,, खंड ५६, अंक ५, भाद्र, १३७० बं० ,,
(४) यामल-रूप खंड ५६, अंक ६, आश्विन, १३७० बं० ,,

२३. श्री श्री राम ठाकुर शतवार्षिकी स्मारक-ग्रंथ—कलकत्ता, १९६३ ई०
(१) राम ठाकुरेर कथा
२४. प्रणव—श्री प्रणवानंदस्मारक-समिति, कलकत्ता
शाक्तदृष्टिते जीवेर आविर्भाव व पूर्णत्व लाभ (प्रणवानंद-स्मारक अंक)१९६५ ई०
२५. कैवल्यम्—श्री श्री ठाकुर रामचंद्र देव एसोसिएशन नयी दिल्ली—
(१) जीवरे परम लक्ष्य वर्ष १, अंक १, फरवरी १९६६
(२) विदेह आत्मार गतिस्थिति (प्रथम प्रस्ताव), वर्ष २, अंक १, फरवरी १९६७
२६. आश्रमिका—प्रकाशक—संताश्रम, लक्सा, वाराणसी (वार्षिक) श्री श्री शोभा माँ की भक्त-मंडली का पत्र—
(१) स्वयं भगवान् १९६७ ई०
(२) ज्ञानाज्ञान-रहस्य १९६७ ई०
(३) शिवलिंगेर उपासना १९६७ ई०
२७. महात्मा तैलंग स्वामीर ३३० वार्षिक आविर्भाव-समारोह-उत्सव पत्र, पंच-गंगाघाट—
(१) महात्मा तैलंग स्वामी १९६७ ई०
२८. उत्तरवाहिनी (काशी) त्रैमासिक आशीर्वचन, वैशाख सं० १३७४ (बंगाब्द)
२९. श्री कृष्णसंघवार्ता—कलकत्ता, मानवेर लक्ष्य, १९६७ ई०
३०. काशीवासी—सं० अर्द्धेंदु कुमार गांगुली, काशी में लेख

ख-हिन्दी

(शोध-निबंध एवं लेख)

१. विद्यापीठ-पत्रिका (काशी)—सं० डॉ० भगवानदास एवं आचार्य नरेंद्रदेव प्रकाशक—काशी विद्यापीठ।
(१) संस्कृत-साहित्य के इतिहास में काशी, वर्ष १, अंक २, सं० १९८५ का भाग
(२) शंकराचार्य और अवैदिक ईश्वरवाद वर्ष १, अंक ३, सं० १९८५
(३) मधुसूदन सरस्वती का काल-निर्णय वर्ष २, अंक १, सं० १९८६
२. कल्याण (मासिक-पत्र)—सं० हनुमानप्रसाद पोद्दार, गोरखपुर—
(१) भगवत्-विग्रह वर्ष ६, श्रीकृष्णांक, सं० १९८८
(२) श्री मद्भागवत की हस्तलिखित प्राचीन पुस्तक वर्ष ६, अंक १, सं० १९८८
(३) ईश्वर में विश्वास वर्ष ७, अंक १७, ईश्वरांक, सं० १९८९
(४) महापुरुष शिवरामकिंकर की बानी वर्ष ७, अंक ४, सं० १९८९
(५) धर्म का सनातन आदर्श : प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म का स्वरूप वर्ष ७, अंक ६, सं० १९८९
(६) धर्म का सनातन आदर्श : प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म का स्वरूप (क्रमागत) वर्ष ७, अंक ७, सं० १९८९

(७) नित्यधर्म का व्यावहारिक रूप — वर्ष ७, अंक १०, सं० १९८९
(८) काश्मीरीय शैव-दर्शन — वर्ष ८, शिवांक, सं० १९९०
(९) लिंग-रहस्य — वर्ष ८, अंक १, सं० १९९०
(१०) काशी में मृत्यु और मुक्ति — वर्ष ८, अंक १, सं० १९९०
(११) शक्ति-साधना — वर्ष ९, अंक शक्ति, सं० १९९१
(१२) योग का विषय-परिचय — वर्ष १०, योगांक, अंक १, सं० १९९२
(१३) सूर्य-विज्ञान — वर्ष १०, योगांक, अंक १, सं० १९९२
(१४) योग तथा योग-विभूति — वर्ष १०, योगांक, अंक २, सं० १९९५
(१५) शून्यवाद और विज्ञानवाद — वर्ष ११, पृ० ५६२, अंक १, सं० १९९३
(१६) प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शंकर के अद्वैतवाद का संबंध — वर्ष ११, अंक पृ० ६१०, सं० १९९३
(१७) शंकर के पूर्ववर्ती आचार्य — वर्ष ११, अंक पृ० ६३३, सं० १९९३
(१८) विद्यार्णव नामक ग्रंथ के अनुसार शंकर संप्रदाय का वर्णन — वर्ष ११, अंक पृ० ६६६, सं० १९९३
(१९) संत-परिचय — वर्ष १२, अंक १, सतांक सं० १९९४
(२०) मृत्युविज्ञान और परमपद — वर्ष १४, अंक १, गीतातत्त्वांक सं० १९९६
(२१) तांत्रिक दृष्टि — वर्ष १५, अंक १,साधनांक, सं० १९९७
(२२) शक्तिपात-रहस्य — वर्ष १५, अंक १,साधनांक, सं० १९९७
(२३) दीक्षा-रहस्य — वर्ष १५, अंक ४, सं० १९९७
(२४) दीक्षा-रहस्य (क्रमागत) — ,, १५, अंक ५, सं० १९९७
(२५) दीक्षा-रहस्य (क्रमागत) — ,, १५, अंक ६, सं० १९९७
(२६) दीक्षा-रहस्य (क्रमागत) — ,, १५, अंक ७, सं० १९९७
(२७) गुरुतत्त्व व सद्गुरु-रहस्य — ,, १६, अंक १२, सं० १९९८
(२८) पूजा का परमादर्श — ,, १६, अंक ५, सं० १९९८
(२९) पूजा का परमादर्श (क्रमागत) — ,, १६, अंक ६, सं० १९९८
(३०) सूचना व वृद्ध का उपदेश — वर्ष १८, अंक ३, सं० २०००,१९४३ ई०
(३१) नागा बाबा — वर्ष १८, अंक ५, सं० २००१,
(३२) दीक्षा-रहस्य — वर्ष २२, अंक, पृ० १२७२,सं० २००५,
(३३) देहतत्त्व और मुक्ति — वेदांतांक, सं० १९९३ (पृ० ६२-६८)
(३४) इष्ट-रहस्य — वर्ष २३, अंक ५, सं० २००६
(३५) भक्ति-रहस्य — हिन्दू-संस्कृति अंक, पृ० ४३६-४४४, वर्ष २४, सं० २००६
(३६) रामनाम की महिमा — वर्ष २३, अंक ११, सं० २००६,
(३७) योग और परकाया प्रवेश — वर्ष २३, अंक १२, सं० २००६,
(३८) देहसिद्धि और पूर्णत्व का अभियान — वर्ष २४, अंक ८, सं० २००७,
(३९) दत्तात्रेय संप्रदाय का दार्शनिक मतवाद — वर्ष २४, अंक ९, सं० २००७,

(४०) अद्वयत्त्व का प्रकार भेद—ब्रह्म
परमात्मा, भगवान् — वर्ष २९, अंक ११, सं० २०११,
(४१) अद्वयतत्त्व का प्रकारभेद (क्रमागत) — वर्ष २९, अंक ११, सं० २०११,
(४२) एक अलौकिक भक्त— — भक्ति अंक,
श्री श्रीसिद्धि माता — वर्ष ३२, अंक १, सं० २०१५,
(४३) मनुष्यत्व — मांनवतांक, वर्ष ३३, अंक १, सं० २०१६,

३. विंध्यभूमि—रीवाँ (मध्यप्रदेश)
(१) नाद-बिन्दु और कला — वर्ष १, अंक १, सं० १९४४ ई०
(२) माँ आनंदमयी — वर्ष २, अंक २, सं० १९४५ ई०

४. मानवधर्म (लखनऊ)—जीवन में नियंत्रण, — अगस्त, १९४४ ई०

५. नाम माहात्म्य (वृन्दावन)—नाम से लीला का संबंध, ब्रजलीलांक,
अप्रैल, १९४६ ई०

६. राष्ट्रधर्म (लखनऊ)—भारतीय संस्कृति का स्वरूप अग्रहायण, १९४९ ई०

७. मानव (बनारस)—
(१) मनुष्य-देह और कर्म — वर्ष १, अंक २, मार्च, १९५२ ई०
(२) ,, — वर्ष १, अंक ४, मई, १९५२ ई०
(३) ,, — वर्ष १, अंक ५, जून, १९५२ ई०
(४) ,, — वर्ष १, अंक ६, जुलाई, १९५२ ई०
(५) ,, — वर्ष १, अंक ८, सितंबर, १९५२ ई०
(६) ,, — वर्ष १, अंक ९, फरवरी, १९५३ ई०

८. संमेलन-पत्रिका-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग-लोक संस्कृति विशेषांक,
सं० २०१० (१९५३ ई०)
(१) भारतीय संस्कृति में लोकजीवन की अभिव्यक्ति

९. विश्वभारती-शांति-निकेतन, (पश्चिमी बंगाल)
(१) अमरत्व साधन—तांत्रिक और कौलिक
प्रक्रियानुसार — वर्ष ७, अंक १, १९५६ ई०
(२) महाज्ञान का अवतरण — वर्ष ७, अंक २, १९५६ ई०

१०. त्रिपथगा—सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश शासन लखनऊ—
(१) भारतीय संस्कृति में सेवा का आदर्श — दिसम्बर, १९५६ ई०
(२) तंत्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद — अक्तूबर, १९५७ ई०

११. आज (दैनिक पत्र) : प्रकाशक—ज्ञानमंडल, वाराणसी
(१) आध्यात्मिक दृष्टि से काशी का स्वरूप
या काशी का आध्यात्मिक स्वरूप — काशीदर्शन अंक, १९५७ ई०
(२) तंत्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद — २३ अक्तूबर, ,,
(३) तिब्बत—सिद्धों की भूमि — १८ अप्रैल, १९५९ ई०

१२. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—ना० प्र० सभा, काशी
(१) मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य में काशी की देन
(न्याय, सांख्य तथा मीमांसा) — वर्ष ६३, अंक ३, सं० २०१६

(२) वही (क्रमागत)
(श्री चंद्रबली पांडेय स्मृति-अंक) वर्ष ६३, अंक ४, सं० २०१६

१३. गीता धर्म—काशी

(१) कृष्ण की मंत्रमूर्ति—श्रीकृष्णांक अगस्त, सितम्बर, १९३६ ई०
(२) वासना-निवृत्ति और परमपद १९३७-३८ ई०
(३) परमपद वर्ष २३, अंक ४, अप्रैल, १९५८ ई०
(४) मनुष्य-देह और कर्म वर्ष २३, अंक ८, अगस्त, १९५८ ई०
(५) आदिगुरु दत्तात्रेय और अवधूत-दर्शन
(रजतजयंती विशेषांक) वर्ष २५, अंक १, जनवरी, १९६० ई०
(६) वही (क्रमागत) वर्ष २५, अंक २, फरवरी, १९६० ई०

१४. आनंदवार्ता (त्रैमासिक पत्रिका)—प्रका०-श्री श्री माँ आनंदमयी संघ, भदैनी, वाराणसी

(१) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष १, अंक	३, मई,	१९५३ ई०
(२) ,,	वर्ष १, ,,	४, अक्तूबर,	१९५३ ई०
(३) ,,	वर्ष १, ,,	५, फरवरी ,	१९५४ ई०
(४) परम-पथ का क्रम	वर्ष १, ,,	५, फरवरी,	,,
(५) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष २, ,,	१, मई,	,,
(६) ,,	वर्ष २, ,,	२, अगस्त,	,,
(७) आदिगुरु दत्तात्रेय	वर्ष २, ,,	२, अगस्त,	,,
(८) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष २, ,,	३, नवम्बर,	,,
(९) आरोप-साधन	वर्ष २, ,,	३, नवम्बर,	,,
(१०) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष २, ,,	४, फरवरी,	१९५५ ई०
(११) आदिगुरु दत्तात्रेय	वर्ष २, ,,	४, फरवरी,	,,
(१२) अजपा-रहस्य	वर्ष २, ,,	४, फरवरी,	,,
(१३) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष ३, ,,	१, मई,	,,
(१४) मंत्र-विज्ञान की एक झलक	वर्ष ३, ,,	१, मई,	१९५५ ई०
(१५) आदिगुरु दत्तात्रेय	वर्ष ३, ,,	१, मई,	,,
(१६) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष ३, ,,	२, अगस्त,	,,
(१७) वर्णविज्ञान और आत्मा की विचित्र अवस्थाएँ	वर्ष ३, ,,	२, अगस्त,	,,
(१८) ,,	वर्ष ३, ,,	३, नवंबर,	,,
(१९) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष ३, ,,	३, नवंबर,	,,
(२०) वही (क्रमागत)	वर्ष ३, ,,	४, फरवरी,	१९५६ ई०
(२१) ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्	वर्ष ३, ,,	४, फरवरी,	,,
(२२) श्री श्री माँ की अमरवाणी	वर्ष ४, ,,	१, मई,	,,
(२३) वही	वर्ष ४, ,,	२, अगस्त,	,,

(२४) दार्शनिक दृष्टि से माँ की वाणी वर्ष ४, अंक २, अगस्त, १९५६ ई०
(२५) सिद्ध पुरुष वर्ष ४, ,, २, अगस्त, ,,
(२६) श्री श्री माँ की अमरवाणी वर्ष ४, ,, ३, नवंबर, ,,
(२७) वही वर्ष ४, ,, ४, फरवरी, १९५७ ई०
(२८) वही वर्ष ५, ,, १, मई, , ,,
(२९) मैं कौन हूँ? वर्ष ५, ,, १, मई, ,,
(३०) श्री श्री माँ की अमरवाणी वर्ष ५, ,, २, अगस्त, ,,
(३१) शक्ति का जागरण वर्ष ५, ,, २, अगस्त, ,,
(३२) श्री श्री माँ की अमरवाणी वर्ष ५, ,, ३, नवंबर, ,,
(३३) भक्ति-साधना की एक झलक वर्ष ५, ,, ३, नवंबर, १९५७ ई०
(३४) श्री श्री माँ की अमरवाणी वर्ष ५, ,, ४, फरवरी, १९५८ ई०
(३५) कृपा और उपाय का मिलन वर्ष ५, ,, ४, फरवरी, ,,
(३६) मन से उन्मना वर्ष ६, ,, १, मई, ,,
(३७) षड्चक्र-भेद का रहस्य वर्ष ६, ,, ३, नवंबर, ,,
(३८) अध्यात्म जीवन में गुरु का स्थान वर्ष ६, ,, ३, नवंबर, ,,
(३९) अखंड भगवत्स्मृति वर्ष ६, ,, ४, फरवरी, १९५९ ई०
(४०) भावसाधना का वैशिष्ट्य वर्ष ७, ,, २, अगस्त, ,,
(४१) षड्चक्र-भेद की परावस्था वर्ष ७, ,, ३, नवंबर, ,,
(४२) जीवन का लक्ष्य वर्ष ७, ,, ४, फरवरी, १९६० ई०

(४३) देह-विज्ञान और अमरत्व साधन वर्ष ८, ,, १, मई, ,,
(४४) श्री भगवान् का स्वरूप और कार्य (द्वैतदृष्टि से) वर्ष ८, ,, २, अगस्त, १९६० ई०
(४५) परमशिव की पृष्ठभूमि वर्ष ८, ,, ३,नवंबर, ,,
(४६) चक्षु का उन्मीलन वर्ष ८, ,, ४, फरवरी १९६१ ई०
(४७) इच्छाशक्ति वर्ष ९, ,, १, मई, ,,

१५. विदेह—दरभंगा (बिहार)—
(१) कार्यसिद्धि वर्ष १, अंक ८, १९६२ ई०
(२) ,, वर्ष १, अंक ९, १९६२ ई०

१६. परिषद्-पत्रिका—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—
(१) आसन से उत्थान और आकाश-गगन वर्ष १, अंक ८, १९६१ई०
(२) विहंगम-योग और महापथ ,, २, ,, १, १९६२ ई०
(३) काशी का सारस्वत-साधना ,, २, ,, २, १९६२ ई०
(४) वही (क्रमागत) ,, २, ,, ३, १९६२ ई०
(५) वही ,, ,, २, ,, ४, १९६२ ई०
(६) वही ,, ,, ३, ,, १, १९६३ ई०
(७) आचार्य नरेंद्र देव : एक संस्मरण ,, ४, ,, १, १९६४ ई०

१७. भारती—(बंबई), प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन, बंबई—

(१) भारत भंगुर देह को अमर बनाने की गुह्य विद्या जानता है : वर्ष ९, अंक १,६ सितंबर १९६४ ई०

(२) योगशक्ति द्वारा आसन का उत्थान व आकाश-गमन : वर्ष १०, अंक ५, सितंबर, १९६५ ई०

१८. महावीरप्रसाद द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ—सं० १९९०
प्रकाशक-नागरी प्रचारणी-सभा काशी

(१) कुंडलिनी-तत्व पृ० १७१-१८३

१९. महादेव शास्त्री अभिनंदन-ग्रंथ—(काशी)—

(१) शक्ति का जागरण पृ० १२१-२९

२०. महामहोपाध्याय विद्याधर गौड़ स्मृतिग्रंथ (काशी)—
प्रकाशक—वैदिक पुस्तकालय, ७।१४ सकरकंद गली, वाराणसी

(१) विशिष्टविभूति—(प्रथम खंड)

(२) योग और परकाय-प्रवेश (तृतीय खंड)

२१. हिन्दी-विश्वकोश—ना० प्र० सभा, काशी

(१) आत्मा, भाग १, १९६० ई०

(२) ईश्वर, भाग २, १९६२ ई०

(३) ओंकार, भाग २, १९६२ ई०

(४) तंत्र-साहित्य, भाग ५, १९६५ ई०

२२. धर्मेंद्र अभिनंदन-ग्रंथ (पटना)—

(१) सृष्टि का उन्मेष

२३. ओंकारनाथ ठाकुर संवर्धन-ग्रंथ—हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

(१) ओंकार-साधन

२४. वैराग्यज्योति (काशी)—रामानंद-संप्रदाय

(१) सहजिया मार्ग का संक्षिप्त विवरण : वर्ष १, अंक २, मार्च, १९६५ ई०

२५. चिंतामणि (काशी)—संपादक—श्री विश्वंभरनाथ द्विवेदी
प्रकाशक—सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, सी०के० ३६।२० आनंद-कानन, वाराणसी

(१) शुभाशंसा—अक्तूबर, १९६६ ई०

(२) सत्संग के कुछ क्षण : वही — नवंबर, १९६६ ई०

(३) वेदस्वरूप जिज्ञासा : वही — अगस्त, १९६७ ई०

१६. कल्याण (गोरखपुर)—परलोक और पुनर्जन्म विशेषांक

ग - संस्कृत

(शोध-निबंध एवं लेख)

१. संस्कृत-रत्नाकर (जयपुर)—सं० म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी—

(१) वेदस्वरूप जिज्ञासा वेदांक, वर्ष ३, अंक १२, १९३६ ई०

(२) वैंदवं शरीरम् दर्शनांक, वर्ष १०, अंक ११, १९४५ ई०

(३) शुभाशंसनम् वही

२. अमर-भारती (काशी), संपादक—नारायण शास्त्री खिस्ते—
प्रकाशक—गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस—

(१) अस्पर्शयोगः खंड १, अंक १, सं० १९९१
(२) ,, खंड १, अंक २, सं० १९९१
(३) वेदानां वास्तविकं स्वरूपम् खंड २, अंक ५, सं० १९९२

३. सारस्वती-सुषमा-प्रकाशक—गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस—
(१) कायसिद्धिः खंड १४, अंक १, १९५९ ई०
(२) कायसिद्धिः खंड १४, अंक २, १९५९ ई०

४. सागरिका (सागर-मध्यप्रदेश)
(१) शाक्तदृष्ट्या सृष्टितत्त्व-विमर्शः खंड १, अंक २, सं० २०१९

५. प्रबन्ध-प्रकाश (काशी), संपादक—डॉ० मंगलदेव शास्त्री—
(२) भगवतो बुद्धस्य चरितं उपदेशश्च (प्रबन्ध-प्रकाश में संगृहीत)

६. सूर्योदयः (वाराणसी), प्रकाशक—भारत-धर्म-महामंडल, जगतगंज,
वाराणसी—संपादक—गोविंद नरहरि वैजापुरकर

(१) वेदानां वास्तविकं स्वरूपम् खंड ३१, अंक ७, जुलाई, १९६३ ई०
(२) वेदानां वास्तविकं स्वरूपम् खंड ३१, अंक ८, अगस्त, १९६३ ई०
(३) योगोक्तविषयानां परिचयः अक्षय तृतीया १९६४ ई०
(४) भारते विदेशेषु च प्रस्थिता
तंत्रागम धारा खंड ४१, अंक ६, जून, १९६५ ई०
(५) शुभाशंसा खंड ४१, अंक ६, जून, १९६५ ई०

घ-अंग्रेजी
(शोध-निबंध एवं लेख)

१. जर्नल ऑव दि यू०पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी खंड १,अंक १, १९१६-१७ ई०
(१) नोट्स आन श्रुघ्न
(२) नोट्स ऐंड क्वैरीज़ (दिनकर भट्ट) वही खंड १, अंक २

२. भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, एनल्स् पूना—
डाक्ट्रिन ऑव प्रतिभा इन इंडियन फिलासफ़ी, खंड ५,अंक १, १९२३-२४ ई०
डाक्ट्रिन ऑव प्रतिभा इन इंडियन फिलासफ़ी, खंड ५,अंक २, १९२३-२४ ई०

३. काशी विद्यापीठ सिल्वर जुबिली वाल्यूम, काशी
कैवल्य ऐंड इट्स प्लेन इन डुवलिस्टिक तंत्राज

४. हिंदुस्तान रिव्यू
रिव्यू ऑव एस० एन० दासगुप्ताज इंडियन फिलासफी : जनवरी, १९२३ ई०

५. कल्याण-कल्पतरु, गॉड नंबर
फेद इन गॉड खंड १, वर्ष १, १९३४ ई०

६. माडर्न रिव्यू
   ए प्ली फॉर ए रेगुलर बिब्लियोग्राफी — जून, १९३६ ई०
७. जर्नल ऑव गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद—
   दि मिस्टिक सिगनीफेकेंस ऑव — खंड २, अंक १, नवंबर १९४४ ई०
   नाद-बिन्दु ऐंड कला — —वही खंड ३, अंक २, फरवरी १९४५ ई०

८. आनंदमयी माँ ६८वाँ जयंती-समारोह
   मदर एज सीन बाई हर डिवोटीज़ — १९५६ ई०
९. माँ आनंदमयी बाई डिवोटीज
   माँ आनंदमयी — १९४६ ई०
१०. हिस्ट्री ऑव फिलासफी, ईस्टर्न एंड वेस्टर्न
   फिलासफी — खंड १, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित १९५०-५१ ई०
   शाक्त फिलासफी
११. सिल्वर जुबिली कान्फ्रेंस ऑव इंडियन मेडिकल असोसियेशन, वाराणसी
   १९६० ई०
   कंट्रीब्यूशन ऑव काशी टु संस्कृत लिटरेचर (आगम) १५००-१८००

१२. विवेकानंद कमेमोरेशन वाल्यूम— बर्दवान विश्वविद्यालय — १९६५ ई०
   (१) बंगाली पडित्स इन मेडीवल वाराणसी,
१३. इंडियाना (काशी)
   (१) प्ली फॉर ए रेगुलर बिबलियोग्राफी ऑव इंडियन
   पीरियाडिकल्स — जनवरी, १९५० ई०
१४. दि प्रिंसेस ऑव वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज-गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस
   (१) दि व्यू प्वाइंट ऑव न्याय-वैशेषिक फिलासफी, — खंड १, — १९२२ ई०
   (२) निर्माण काय — वही — खंड १, — ,,
   (३) परशुराम मिश्र उपनाम वाणी रसालराय — खंड २, — १९३२ ई०
   (४) ए न्यू भक्तिसूत्र — खंड २ — ,,
   (५) दि सिस्टम ऑव चक्राज एकर्डिंग टु गोरखनाथ — वही — ,,
   (६) थीज्म इन ऐंशंट इंडिया १ — वही — ,,
   (७) सम एस्पेक्ट्स ऑव वीर शैव फिलासफी — वही — ,,
   (८) न्याय-कुसुमांजलि (इंगलिश ट्रांसलेशन) — वही — ,,
   (९) सोंदल उपाध्याय — वही — ,,
   (१०) थीज्म इन ऐंशंट इंडिया २ — खंड ३, — १९२४ ई०
   (११) हिस्ट्री ऐंड बिबलियोग्राफी ऑव न्यायवैशेषिक लिटरेचर खंड ३,
   (१२) वही — खंड ४, — १९२५ ई०
   (१३) दि प्रॉबलेम ऑव काजैलिटी
   (सत्कार्यवाद) इन सांख्य — खंड ४, — ,,

(१४) हिस्ट्री ऐंड बिबलियोग्राफी ऑव
न्याय-वैशेषिक लिटरेचर, खंड ५, १९२६ ई०
(१५) नोट्स ऐंड क्वैरीज़ (वर्जिन वर्शिप) वही ,,
(१६) ,, (दि आथर ऑफ प्रपंचसार) खंड ६, १९२७ ई०
(१७) दि मीमांसा मैनुस्क्रिप्टस् इन दि गवर्नमेंट
संस्कृत कॉलेज, बनारस खंड ६, ,,
(१८) सम ऐस्पेक्ट्स इन दि हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिस
ऑव दि नाथाज़ खंड ६, १९२७ ई०
(१९) सम वैरियंट्स इन दि रीडिंग ऑव
वैशेषिक सूत्राज़ खंड ७, १९२९ ई०
(२०) हिस्ट्री ऐंड बिबलियोग्राफी
ऑव न्याय वैशेषिक लिटरेचर खंड ७, १९२९ ई०
(२१) ग्लीनिंग्ज़ फ्राग दि तंत्राज (दि टेन महाविद्याज) खंड ७, १९२९ ई०
(२२) दि डेट ऑव मधुसूदन सरस्वती खंड ७, १९२९ ई०

(२३) डिस्क्रिप्टिव नोट्स ऑन संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स खंड ७, १९२९ ई०
(२४) मिस्टिसिडज्म इन वेद खंड ८, १९३० ई०
(२५) दि लाइफ ऑव ए योगिन् खंड ९, १९३४ ई०
(२६) दि फिलासफी ऑव दि त्रिपुरा-तंत्र खंड ९, ,,
(२७) नोट्स आन पाशुपत फिलासफी खंड ९, ,,
(२८) दि कंसेप्सन ऑव फिजिकल ऐंड सुपर
फिज़िकल आर्गेनिज्म इन संस्कृत लिटरेचर खंड १०, १९३८ ई०
(२९) सम ऐस्पेक्ट्स ऑव दि फिलासफी
ऑव शाक्त तंत्राज खंड १०, ,,
(३०) ए शार्ट नोट ऑन तत्त्व-समास (सांख्य) खंड १०, ,,

ग्रंथों की भूमिका

(क) बंगला—

(प्राक्कथन, प्रस्तावना, संमति, मुखबंध, परिचिति, श्रद्धांजलि आदि के रूप में)

१. स्तवांजलि (श्री हरिहर बाबा की)— लेखक-नकुलेश्वर मजूमदार
प्रकाशक—पं० रामचंद्र चक्रवर्ती, सं० १९१० ई०
२. अगस्त्यचरित—ले० श्री तारामोहन शास्त्री, (बंगाब्द १३३१, १९२४ ई०)
३. ब्रह्मचर्य-शिक्षा—ले० पार्वतीचरण भट्टाचार्य, काशी, १९२४ ई०
४. हिमालयेर पञ्चतीर्थ—ले० श्री सुशीलकुमार भट्टाचार्य, कलकत्ता
५. गीता-व्याख्या—ले० भूपेंद्रनाथ सान्याल, बंगाब्द १३४०, १९३३ ई०
६. देवी युद्धे चिंतनीय—ले० श्री दुर्गा चैतन्य भारती, काशी

७. सदगुरु वाणी (प्रथम संस्करण)—ले० श्री हरिनारायण पालधि,
प्रकाशक—सरोजरंजन मुकर्जी, पुरुलिया, बंगाल १९३८ ई०
(बंगाब्द १३४५)

८. श्री श्री माँ आनंदमयी (प्रथम भाग), ले० श्री गुरुप्रिया देवी,
प्रकाशक— आनंदमयी संघ, भदैनी, बनारस
वर्ष—१९३७-३८

९. दानविधि—ले० श्री महेशचंद्र भट्टाचार्य, काशी (सप्तम संस्करण)
वर्ष—बंगाब्द १३४९ (१९५४ ई०)

१०. श्री श्री सिद्धिमाता प्रसंग—ले० श्री राजबाला देवी
वर्ष—बंगाब्द १३५९ (१९५२ ई०)

११. बंगलाय रामचरित मानस—अनु०—श्री वीरेंद्रलाल भट्टाचार्य,
(रामचरित मानस का बंगला अनुवाद)
वर्ष—बंगाब्द १३६० (१९५३ ई०)

१२. अखंड महायज्ञ—ले० श्री गुरुप्रिया देवी
प्रकाशक—श्री आनंदमयी संघ, वाराणसी

१३. जपसूत्र (भाग ३)—ले० स्वामी प्रत्यगात्मानंद सरस्वती
वर्ष—बंगाब्द १३६० (१९५३ ई०)

१४. नादलीलामृत—ले० बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ,
वर्ष—बंगाब्द १३६३ (१९५६ ई०)

१५. सुधांजलि—श्री इंदिरा देवी, श्री दिलीपकुमार राय,
प्रकाशक— एम० जे० शाहानी, हरिकृष्ण मंदिर, गणेशखिंड रोड, पूना—५
वर्ष—१९५६ ई०

१६. भक्तिरसामृत—ले० निवारणचंद्र वंद्योपाध्याय,

१७. श्री गुरुतत्त्व—ले०-सुरेंद्रनाथ सेन, कलकत्ता (द्वितीय संस्करण)

१८. गीताय सुखेर तत्त्व—ले०-कालीचरण चट्टोपाध्याय, देवघर (बिहार)
वर्ष—१९५८ ई०

१९. मातृवाणी, **प्रकाशक**—श्री आनंदमयी संघ, वाराणसी
वर्ष—१९५८ ई०

२०. श्री श्री रामठाकुर व माधव पागला (श्री गुरुतत्त्व-साधन)
प्रकाशक—काशी
वर्ष—१९६० ई०

२१. ईश्वरसूत्र—ले० स्वामी निखिलानंद, कलकत्ता

२२. शिवशिवारहस्य—ले० स्वामी निर्मलानंद, काशी
वर्ष—बंगाब्द १३६७ (१९६० ई०)

२३. ज्ञानेश्वरी (बंगानुवाद)—**अनु०**—प्राणकिशोर गोस्वामी, कलकत्ता
वर्ष—१९६१ ई०

२४. ठाकुरेर चींटी—सं० ज्यतींद्रमोहन चट्टोपाध्याय, सदानंद ब्रह्मचारी
प्रकाशक—डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, कलकत्ता
वर्ष—१९६१ ई०

२५. आनंदमयी माँ—ले०-श्री गंगासमीरण
प्रकाशक—कलकत्ता
वर्ष—१९६२ ई०

२६. गीता (गद्यानुवाद) अनु०—श्री हरिदास सिद्धांत, कलकत्ता
वर्ष—१९६३ ई०

२७. श्री चक्रेर अवतरण (विश्वसृष्टि-रहस्य)—तृतीय संस्करण
(श्री गुरुतत्त्व का पूरकअंश)
ले०—श्री सुरेन्द्रनाथ सेन, कलकत्ता
वर्ष—१९६३ ई०

२८. बँगला रामचरित मानस—अनु० वीरेंद्रलाल भट्टाचार्य,
वर्ष—१९६३ ई०

२९. कृष्णकथा ओ काहिनी—सं० दिलीपकुमार राय,
वर्ष—१९६४ ई०

३०. भागवती कथा वो महाभारतीय कथा—ले०-श्री दिलीपकुमार राय, कलकत्ता
(दूसरा संस्करण)
वर्ष—१९६४ ई०

३१. ठाकुरेर जीवनी—ले०-ज्यतींद्रमोहन चट्टोपाध्याय (प्रेमानंद), कलकत्ता
वर्ष—१९६४ ई० (बंगाब्द १३७१)

३२. गाथा—(बंगानुवाद एवं भाष्य सहित)
अनु०—ज्योतींद्रमोहन चट्टोपाध्याय, कलकत्ता
वर्ष—१९६४ ई०

३३. यज्ञ— ले०-स्वामी प्रेमानंद,
प्रकाशक—सदानंद ब्रह्मचारी, काशी,
वर्ष—१९६५ ई०

३४. श्री ब्रह्मयज्ञ मायेर शतस्फूर्ति संगीतावली,
प्रकाशक—स्वामी शाश्वतानंद, देवघर (बिहार)
वर्ष—१९६५ ई०

३५. श्री श्री ठाकुर रामचंद्र देव—ले०- विश्वेश्वर चट्टोपाध्याय, दिल्ली
वर्ष—१९६५ ई०

३६. काशीवासी (साप्ताहिक) सं० अर्धेन्दु कुमार गांगुली, काशी
वर्ष—१९६६ ई०

३७. प्रत्यभिज्ञा हृदय (बंगानुवाद)—अनु०—डॉ० रामअधिकारी, काशी
प्रकाशक—बर्दवान विश्वविद्यालय, (पश्चिमी बंगाल)
वर्ष—१९६६ ई०

ग्रंथों की भूमिका

(ख) हिन्दी—

१. कामकुंज—विजयबहादुर सिंह,
प्रकाशक—नागेश्वरप्रसाद मिश्र
वर्ष—१९३२ ई०

२. वेदांत-दर्शन (रत्नप्रभानुवाद)—अनु०-भोले बाबा, बनारस
प्रकाशक—अच्युत-ग्रंथमाला,
वर्ष—१९३६ ई०

३. श्री सद्गुरु संग—मूललेखक—श्री कुलदानंद ब्रह्मचारी,
अनु०—श्री लल्लीप्रसाद पांडे,
प्रकाशक—गौरांगसुन्दर दा
२०, दमीहाटा स्ट्रीट, बड़ाबाजार, कलकत्ता
वर्ष—१९३८ ई०

४. भारतीय दर्शन—ले०—पं० बलदेव उपाध्याय, काशी
प्रकाशक—शारदा मंदिर, गणेश दीक्षित लेन, बनारस
वर्ष—१९४२ ई०

५. बौद्धदर्शन—ले०-पं० बलदेव उपाध्याय
प्रकाशक—शारदा मंदिर, गणेश दीक्षित लेन, बनारस
वर्ष—१९४६ ई०

६. अमृतमंथन—ले०- डॉ० मंगलदेव शास्त्री, काशी
जैनदर्शन—ले०-डॉ० महेंद्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
प्रकाशक—गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला
वर्ष—सं० २०१२ (१९५५ ई०)

७. सुधांजलि—इंदिरा देवी, दिलीपकुमार राय
प्रकाशक—एम० जे० शाहानी, हरिकृष्ण मंदिर,
गणेशखिंड रोड, पूना ५
वर्ष—१९५६ ई०

८. बौद्धधर्म दर्शन—ले०-आचार्य नरेंद्रदेव,
प्रकाशक—राष्ट्रभाषा-परिषद्, बिहार, पटना
वर्ष—१९५६ ई०

९. श्री सिद्धिमाता प्रसंग—मूल लेखिका (बंगाल) श्री राजबाला देवी,
अनुवादक—श्री श्रीकृष्णपंत,
प्रकाशक—श्री सदानंद दास,
वर्ष—१९५६ ई०

१०. रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय—
ले०— डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
प्रकाशक—अवध-साहित्य-मंदिर, बलरामपुर
वर्ष—१९५६ ई०

११. तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य—ले०-डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय,
प्रकाशक—नागरी-प्रचारणी-सभा, काशी
वर्ष—१९५८ ई०

१२. श्री प्रभुदेव-वचनामृत—(कन्नड़ से अनूदित)
अनुवादक—श्री शिवकुमार देव
संपादक—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, पं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र
प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी
वर्ष—सं० २०१७, (१९६० ई०)

१३. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन
लेखक—डॉ० रामकृष्ण आचार्य,
प्रकाशक—विनोद-पुस्तक-मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा
वर्ष—१९६० ई०

१४. दुर्गा-सप्तशती का आध्यात्मिक रहस्य—लेखक—श्री काशी नाथ झा,
वर्ष—१९६२ ई०

१५. निबार्क वेदांत—लेखक—श्री ललितकृष्ण गोस्वामी,
वर्ष—१९६३ ई०

१६. भारत के महान् साधक—लेखक—श्री शंकरनाथ राय,
प्रकाशक—निर्भय राघव मिश्र नवभारत प्रेस,
लहेरिया सराय, दरभंगा (बिहार)
वर्ष—१९६४ ई०

१७. योगमनोविज्ञान—लेखक—डॉ० शान्तिप्रकाश आत्रेय,
प्रकाशक—दि इंडियन स्टैंडर्ड पब्लिकेशंस, वाराणसी-५
वर्ष—१९६५ ई०

१८. नाथ और संत-साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० नागेंद्रनाथ उपाध्याय
वर्ष—१९६५ ई०

१९. ज्ञानदीप-बोध—(गोरख-दत्तात्रेय संवाद)
अनुवादक—दत्तात्रेय ब्रह्मचारी
वर्ष—१९६५ ई०

२०. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य—लेखक—डॉ० शिवशंकर अवस्थी
प्रकाशक—चौखंभा विद्याभवन, काशी
वर्ष—१९६५ ई०

२१. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका
लेखक—डॉ० रामजी उपाध्याय
प्रकाशक—लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१
वर्ष—१९६६ ई०

२२. जैन-न्याय—लेखक—पं० कैलासचंद्र शास्त्री सिद्धांताचार्य,
प्रकाशक—स्याद्वाद जैन विद्यालय, वाराणसी
वर्ष—१९६६ ई०

२३. भारतीय काव्य—ले०-पं० बिहारीलाल शर्मा, काशी
वर्ष—१९६६ ई०

ग्रथों की भूमिका

(ग) संस्कृत—

कविराजजी द्वारा लिखित प्राक्कथन सहित प्रिंसेस ऑव वेल्स, सरस्वती भवन ग्रंथमाला के अंतर्गत प्रकाशित ग्रंथ—

प्रकाशक—गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस

१. किरणावली-भास्कर : उदयन की 'किरणावली' (द्रव्य प्रकरण) पर भाष्य
भाष्यकार—पद्मनाभ मिश्र
संपा०—कविराजजी
सं०—१

२. कुसुमांजलि-बोधिनी—उदयन की 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' पर भाष्य
भाष्यकार—वरदराज
संपा०—कविराजजी
सं०—४

३. रस-सार — उदयन की 'किरणावली' (गुण-प्रकरण) पर भाष्य
भाष्यकार—भट्ट वादींद्र
संपा०—कविराजजी
सं०—५

४. योगिनीहृदय दीपिका—(वामकेश्वर तंत्रांतर्गत 'योगिनीहृदय' पर भाष्य)
भाष्यकार—अमृतानंदनाथ
संपा०—कविराजजी
सं०—७

५. भक्ति-चंद्रिका—शांडिल्य-भक्तिसूत्र पर भाष्य
भाष्यकार—नारायण तीर्थ
संपा०—कविराजजी
सं०—९

६. सिद्धांत-रत्नम्—(भाग-१) ले०—बलदेव विद्याभूषण
संपा०—कविराजजी
सं०—१०

७. सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह—संग्रहकर्ता—बलभद्र
संपा०—कविराजजी
सं०—१३

८. त्रिपुरा-रहस्यम्—(भा० १),

संपा०—कविराजजी

सं०—१५

९. गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह

संपा०—कविराजजी

सं०—१८, १९२५ ई०

१०. मांस-तत्त्व-विवेक (धर्मशास्त्र)—रचयिता—विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य

संपा०—जगन्नाथ शास्त्री होशिंग

सं०—२०

११. नवरात्र-प्रदीपः (धर्मशास्त्र)—रचयिता—नंदपंडित धर्माधिकारी

संपा०—पं० बैजनाथ शास्त्री बरकले

सं०—२२

१२. रामतापिनीयोपनिषद्—(रामकाशिका तथा आनंदनिधि नामक पूर्वोत्तरतापिनी टीका सहित)

संपा०—अनंतराम शास्त्री वेताल

टीकाकार—आनंदवन

सं०—२४

१३. विद्वच्चरित-पंचकम्—रचयिता तथा

संपा०—पं० नारायण शास्त्री खिस्ते

सं०—२७

१४. व्रत-कोशः—संकलनकर्ता

संपा०—पं० जगन्नाथ शास्त्री होशिंग

सं०—२८

१५. तंत्ररत्नम्—(मीमांसा)—रचयिता—पार्थसारथि मिश्र

संपा०—डॉ० गंगानाथ झा

सं०—३१

वर्ष—१९३० ई०

१६. आनंदकंद-चंपू—रचयिता—मित्र मिश्र

संपा०—पं० नन्दकिशोर शर्मा

सं०—३६

१७. कालतत्त्व-विवेचनम्—भाग १,२, रचयिता-रघुनाथ भट्ट

संपा०—पं० नन्दकिशोर शर्मा

सं०—४०

१८. भेदासिद्धिः (न्याय)—रचयिता—पं० विश्वनाथ भट्टाचार्य

संपा०—सूर्यनारायण शुक्ल

सं०—४२

वर्ष—१९३३ ई०

१९. स्मार्त्तोल्लासः—(भाग-१)

संपा०—भगवत्प्रसाद मिश्र

सं०—४३

वर्ष—१९३३ ई०

२०. किरणावली-प्रकाशः (वैशेषिक)—(भाग १२) (गुण-प्रकरण)

संपा०—पं० बदरीनाथ शास्त्री

सं०—४५

२१. भेद जयश्री—रचयिता—तर्कवागीश पं० वेणीदत्त भट्ट

संपा०—त्रिभुवन प्रसाद उपाध्याय

सं०—४७

वर्ष—१९३३ ई०

२२. सम्यक् संबुद्ध भाषित प्रतिमालक्षणम् (टीका)

टीकाकार—हरिदास मित्र एम० ए०, शांति-निकेतन

सं०—४८

वर्ष—१९३३ ई०

२३. मातृकाचक्र-विवेकः (तंत्र) सटीक—स्वतंत्रानंद नाथ

संपा०—पं० ललिताप्रसाद डबराल

सं०—५०

२४. भगवन्नाम माहात्म्य-संग्रहः—संकलनकर्ता—परमहंस रघुनाथेंद्र यति

संपा०—पं० अनंत शास्त्री फडके

सं०—५६

वर्ष—१९३४ ई०

२५. ख्यातिवादः (वेदांत)—कर्ता—शंकर चैतन्य भारती

सं०—५८

२६. सांख्य-तत्त्वालोकः —रचयिता—हरिहरानंद

संपा०—यज्ञेश्वर घोष

सं०—५९

२७. संक्षेप शारीरकम् (वेदांत)—भाग १ (तत्त्वबोधिनी व्याख्या)

रचयिता—सर्वज्ञात्म मुनि

व्याख्याकार—नृसिंहाश्रम

वर्ष—१९३६ ई०

२८. योगवासिष्ठ-दर्शनम्—संकलनकर्ता—डॉ० भीखनलाल आत्रेय, काशी

सं०—६४

२९. मध्वमुखालंकार (माध्यवेदांत)—रचयिता—वनमाली मिश्र

संपा०—नृसिंहाचार्य वरखेडकर

सं०—६८

वर्ष—१९३६ ई०

३०. उपेंद्र-विज्ञान—ले०—उपेंद्रदत्त (स्वामी भास्करानंद के गुरु)
संपा०—डॉ० मंगलदेव शास्त्री
सं०—७३

३१. योगिनी-हृदय (अमृतानंदनाथ कृत दीपिका तथा भास्कर राय कृत सेतुबंध नामक दो भाष्यों सहित)
प्रकाशक— वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वर्ष—१९६४ ई०

अन्य संस्कृत-ग्रंथ (जिनकी भूमिका कविराजजी ने लिखी)—

१. काल-सिद्धांत-दर्शिनी—ले०—म० म० हाराणचंद्र भट्टाचार्य
प्रकाशक—श्री जीवन्याय तीर्थ भट्टाचार्य, कलकत्ता
वर्ष—१८५९, शक (१९३७ ई०)

२. ब्रह्मसूत्र (शक्तिभाष्य)—भाष्यकार—पंचानन तर्करत्न, काशी
वर्ष—१९३७ ई०

३. चित्र-चंपू—रचयिता—बाणेश्वर विद्यालंकार
संपा०—रामचंद्र चक्रवर्ती, काशी
वर्ष—१९४० ई०

४. सर्वोल्लास-तंत्र—ले०—स्वामी सर्वानंद
संपा—रासमोहन चक्रवर्ती, कलकत्ता
वर्ष—१९४० ई०

५. आत्मतत्त्व-विवेक—(श्री रामतर्कालंकार, रघुनाथ तथा शंकर मिश्र के भाष्यों सहित)
प्रकाशक—चौखंबा विद्याभवन, काशी

६. श्री जानकी-चरितामृत—रचयिता—रामसनेहीदास
प्रकाशक—श्रीमती कमला देवी
वर्ष— सं० २०१४ (१९५७ ई०)

७. न्याय-कुसुमांजलि—सं०—ढंढिराज शास्त्री तथा पद्मप्रसाद भट्टराई
प्रकाशक—चौखंबा विद्याभवन, काशी
वर्ष—१९५७ ई०

८. ईश्वर-सूत्र—स्वामी निखिलानंद

९. सिद्धि-विनिश्चय—मूल लेखक—अकलंक
टीकाकार—अनंत वीर्य
संपा०—डॉ० महेंद्रकुमार जैन, काशी
वर्ष—१९५८ ई०

१०. श्री सिद्धिमहारहस्यम्—अमृत वाग्भव आचार्य
वर्ष—१९६५ ई०

ग्रंथों की भूमिका

(घ) अंग्रेजी—

१. तंत्र-वार्तिक (अंग्रेजी अनुवाद) मूल लेखक—कुमारिल भट्ट
अनुवादक—मं० म० डॉ० गंगानाथ झा
प्रकाशक—रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल
(बिबलियोथिका इंडिका सेरीज)
वर्ष—१९२४ ई०

२. इंडेक्स टु रामायण—ले० मन्मथनाथ राय
प्रकाशक— संस्कृत कॉलेज, बनारस
(सरस्वती भवन स्टडीज, खंड ५)
वर्ष—१९२६ ई०

३. जयमंगला-भाष्य (सांख्यकारिका पर) मू० ले०—शंकराचार्य (अंग्रेजी अनुवाद)
कलकत्ता ओरियंटल सेरीज सं० १९
अनुवादक तथा संपा०—डॉ० हरदत्त शर्मा
प्रकाशक—डॉ० नरेंद्रनाथ ला, ९६ एमहर्स्ट स्ट्रीट, कलकत्ता
वर्ष—१९२६ ई०

४. कंसेप्शन ऑव मैटर (थीसिस) ले०—म० म० डॉ० उमेश मिश्र

५. न्याय-भाष्य (अंग्रेजी अनुवाद)अनु०—म० म० डॉ० गंगानाथ झा
प्रकाशक—भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
(प्रथम संस्करण, १९२४ ई०)
वर्ष—पुनर्मुद्रण. १९३९ ई०

६. स्टडी इन जैन फिलासफी—ले०—डॉ० नथमल तातिया, कलकत्ता
वर्ष—१९५०ई०

७. मदर एज सीन बाई हर डिवोटीज—आनंदमयी संघ, वाराणसी
वर्ष—१९५६ ई०

८. वैदिक व्यू ऑव दि मैन एंड दि युनिवर्स—
लेखक—जगदीशचंद्र चटर्जी,
प्रकाशक—कलकत्ता
वर्ष—१९५८ ई०

९. ग्लिम्पसेज ऑव माई मास्टर (श्री सीतारामदास ओंकारनाथ)—
लेखक—डॉ० नीरजाकांत चौधरी,
प्रकाशक—कलकत्ता
वर्ष—१९५८ ई०

१०. फिलासफी ऑव गोरखनाथ
लेखक—अक्षयकुमार बनर्जी,
प्रकाशक—गोरखपुर मंदिर, गोरखपुर
वर्ष—१९६१ ई०

११. स्टडीज इन दि उपनिषद्स् —डॉ० गोविंद गोपाल मुखोपाध्याय

प्रकाशक—कलकत्ता

वर्ष—१९६० ई०

१२. मातृवाणी—

संपादक—आनन्दमयी आश्रम, भदैनी, काशी,

प्रकाशक—आनन्दमयी संघ, वाराणसी

वर्ष—१९५९ ई०

१३. इंट्रोडक्शन टु सम मिस्टिक्स ऐंड ऐस्पेक्ट्स ऑव मिस्टिसिज्म इन माडर्न इंडिया—(प्रेस में)

ले०—डॉ० शोभारानी वसु, काशी

१४. हिम्स ऑव अथर्वन् जरथुस्त्र—ज्योतींद्रमोहन चटर्जी, कलकत्ता

वर्ष—१९६६ ई०

१५. इंट्रोडक्शन टु फिलासफी—ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न—भारत सरकार का प्रकाशन

मौलिक ग्रंथ

(क) बँगला—

१. श्री विशुद्धानंद प्रसंग—

(क) चरित-कथा (प्रथम खंड), प्र० सं०, १३३४ बं०
द्वि० सं०, १३३५ बं०

(ख) तत्त्व-कथा (द्वितीय खंड), प्रथम संकरण, १३३५ बं०

(ग) लीलाकथा (दो भाग) (तृतीय खंड),
प्रथम भाग, १३३७ बं०
वही, द्वितीय भाग, प्रथम अंश, १३३७ बं०
वही, द्वितीय भाग, द्वितीय अंश, १३३८ बं०

२. अखंड महायोग—

प्रकाशक—चक्रवर्ती चटर्जी ऐंड कम्पनी
१५, कॉलेज स्क्वायर, कलकत्ता
वर्ष—श्रावण, १३३५ बं०, (१९४८ ई०)

३. पूजा—

प्रकाशक—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
मुद्रक—८०, लोअर सर्कुलर रोड, कलकत्ता
वर्ष—१३६२ बंगाब्द (१९५५ ई०)

४. साधुदर्शन ओ सत्-प्रसंग—

प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन, वाराणसी
प्रथम भाग—प्रथम संस्करण, १३६९ बं० (१९६२ ई०)
द्वितीय भाग—प्रथम संस्करण, १३७० बं०

५. **तंत्र ओ आगम शास्त्रेर दिग्दर्शन—**

प्रकाशक—कलकत्ता संस्कृत कॉलेज
वर्ष—१३६९ बं०

६. **विशुद्ध वाक्यामृत—**

प्रकाशक—श्री विशुद्धानंद काननाश्रम, मलदहिया, वाराणसी
वर्ष—१३७१ बं० (१९६४ ई०)

७. **भारतीय साधनार धारा—**

प्रकाशक—राजकीय संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता
वर्ष—१३७२ बं०

८. **साहित्य चिंता—**

प्रकाशक—इंडियन एसोशियेटेड पब्लिशिंग कंपनी प्रा० लि०,
९३, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७
वर्ष-जनवरी, १९६६ ई०

९. **तांत्रिक सिद्धांत ओ साधना—(प्रेस में)—**

प्रकाशक—बर्दवान विश्वविद्यालय, पश्चिमी बंगाल

१०. **श्रीकृष्ण प्रसंग—**

प्रकाशक—सदानंद ब्रह्मचारी,
श्रीकृष्णसंघ, कालिका गलो, काशी
वर्ष—१९६७ ई०

११. **पत्रावली—पर्श्यंति प्रकाशन, कलकत्ता १९६९ ई०**

१२. **स्वात्मसंवेदन**—भाग १, कलकत्ता १९६९ ई०
भाग २, ३, प्रकाशनाधीन

१३. **विशुद्ध वाणी**—दशम खंड (पूर्वार्द्ध)

(ख) हिन्दी—

१. **पूजातत्त्व—**

प्रकाशक—म० म० पं०गोपीनाथ कविराज
प्राप्ति-स्थान—ओंकारनाथ मुट्ठू
५२ /४६, लक्ष्मी कुंड, वाराणसी

२. **तांत्रि वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—**

प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
वर्ष—१९६३ ई०

३. **भारतीय संस्कृति और साधना (दो खंड)—**

प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
प्रथम खंड १९६३ ई०, द्वितीय खंड १९६४ ई०

४. **काशी की सारस्वत-साधना—**

प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिशद, पटना
वर्ष—१९६५ ई०

५. **श्रीकृष्ण प्रसंग—**

प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

६. **साधुदर्शन और सत्प्रसंग (प्रथम भाग)—**

प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
वर्ष—१९६७ ई०

७. **साधुदर्शन और सत्प्रसंग (द्वितीय भाग)—**

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
वर्ष—१९७५ ई०

८. **तांत्रिक साहित्य—**

प्रकाशक—हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ
वर्ष—१९७२ ई०

९. **अमरवाणी—**

प्रकाशक—माँ आनंदमयी संघ, भदैनी, वाराणसी

(ग) अँग्रेजी—

१. **ए कैटालाग ऑव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स एक्वायर्ड फॉर संस्कृत कॉलेज, बनारस ड्यूरिंग १९१८-१९१९ ई०**

प्रकाशक—सुपरिटेंडेन्ट स्टेशनरी ऐंड प्रिंटिंग यू० पी०,
लखनऊ, इलाहाबाद

२. **डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑव मीमांसा मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि संस्कृत कॉलेज, बनारस (इट्रोडक्शन)—**

प्रकाशक—सुपरिटेंडेन्ट स्टेशनरी ऐंड प्रिंटिंग यू० पी०, इलाहाबाद
वर्ष—१९२३ ई०

३. **बिबलियोग्राफी ऑव न्याय वैशेषिक लिटरेचर—**

प्रकाशक—देवीप्रसाद चटर्जी, शंभूनाथ पंडित स्ट्रीट, कलकत्ता
वर्ष—१९६१ ई०

४. **ऐस्पेक्ट्स ऑव थाट—**

प्रकाशक—बर्दवान विश्वविद्यालय

संपादित ग्रंथ

(क) बँगला—

१. **विशुद्ध वाणी—१९ खंड**

प्रकाशक—श्री विशुद्धानंद कानन, मलदहिया, वाराणसी

(ख) संस्कृत—

प्रिंसेस ऑव वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स (म० म० प० गोपीनाथ कविराज द्वारा प्रस्तावना सहित संपादित)

१. किरणावली-भास्कर (वैशेषिक, द्रव्य सेक्शन)—उदयन की किरणावली पर भाष्य
संख्या—१
भाष्यकार—पद्मनाथ मिश्र

२. कुसुमांजलि-बोधिनी (प्राचीन न्याय) उदयन की न्याय-कुसुमांजलि पर प्राचीन टीका—
सं०—४
टीकाकार—वरदराज
वर्ष—१९२२ ई०

३. रसैं-सार (वैशेषिक, गुण सेक्शन)—उदयन की 'किरणावली' पर भाष्य
भाष्यकार—वादींद्र भट्ट

४. योगिनी हृदय-दीपिका (तंत्र) भाग—१, २
वामकेश्वर तंत्र के एक भाग 'योगिनी-हृदय' पर भाष्य
सं०—७
भाष्यकार—अमृतानंद नाथ
वर्ष—१९२४ ई०

५. भक्तिचंद्रिका (भक्तिसूत्र पर भाष्य) प्रथम भाग
शांडिल्य भक्तिसूत्र पर भाष्य
सं०—९
भाष्यकार—नारायण तीर्थ

६. सिद्धांत-रत्न—रचयिता—बलदेव विद्याभूषण
(इंट्रोडक्शन टु आर्थर गोविंद भाष्य ऑन ब्रह्मसूत्र)
सं०—१०
वर्ष—१९२४ ई०

७. सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह—(गोरखपंथी दर्शन ग्रंथ)—
सं०—१३
संग्रहकर्ता—बलभद्र
वर्ष—१९२५ ई०

८. त्रिपुरा-रहस्य—(ज्ञान खंड) चार भाग— भाग १, वर्ष १९२५ ई०
सं०—१५ ,, २, ,, १९२७ ई०
,, ३, ,, १९३० ई०
,, ४, ,, १९३३ ई०

९. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह (गोरखनाथपंथी ग्रंथ)—
सं०—१८
वर्ष—१९२५ ई०

१०. सारस्वतालोक—प्रथम किरण—
(महाकवि भारवि का परिचय)

(ग) अंग्रेजी—

१. सरस्वती भवन स्टडीज, खंड १.—प्रकाशक—गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी

२.	,,	खंड २,	,,
३.	,,	खंड ३,	,,
४.	,,	खंड ४,	,,
५.	,,	खंड ५,	,,
६.	,,	खंड ६,	,,
७.	,,	खंड ७,	,,
८.	,,	खंड ८,	,,
९.	,,	खंड ९,	,,
१०.	,,	खंड १०,	,,

❖

श्यामाचरण लाहिड़ी

परमहंस योगानन्द

श्री मुक्तेश्वर

महावतार बाबाजी

संतदास बाबा

दिगम्बर बाबा

शोभा माँ

माँ आनन्दमयी

हरिहर बाबा

किशोरी भगवान

४
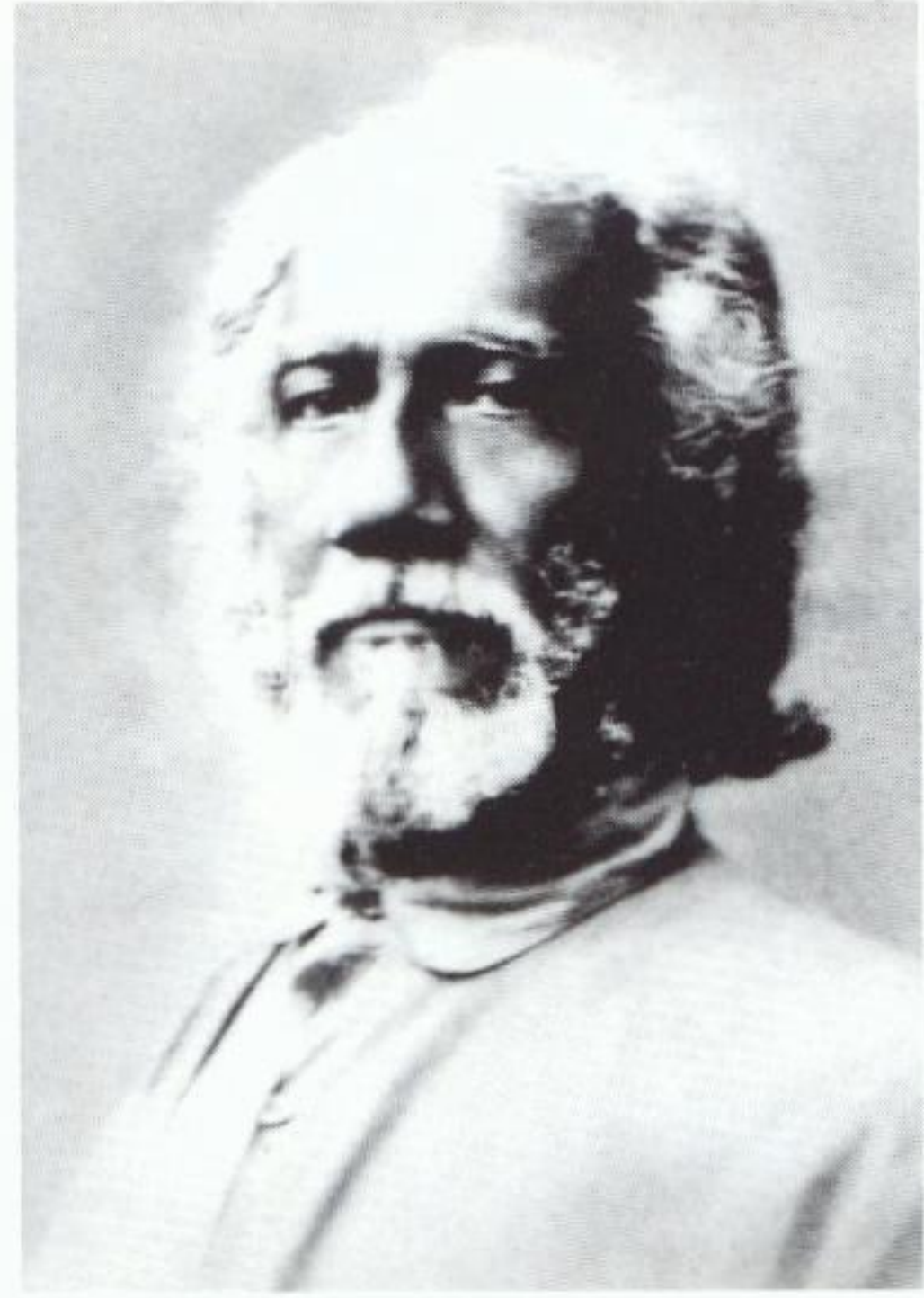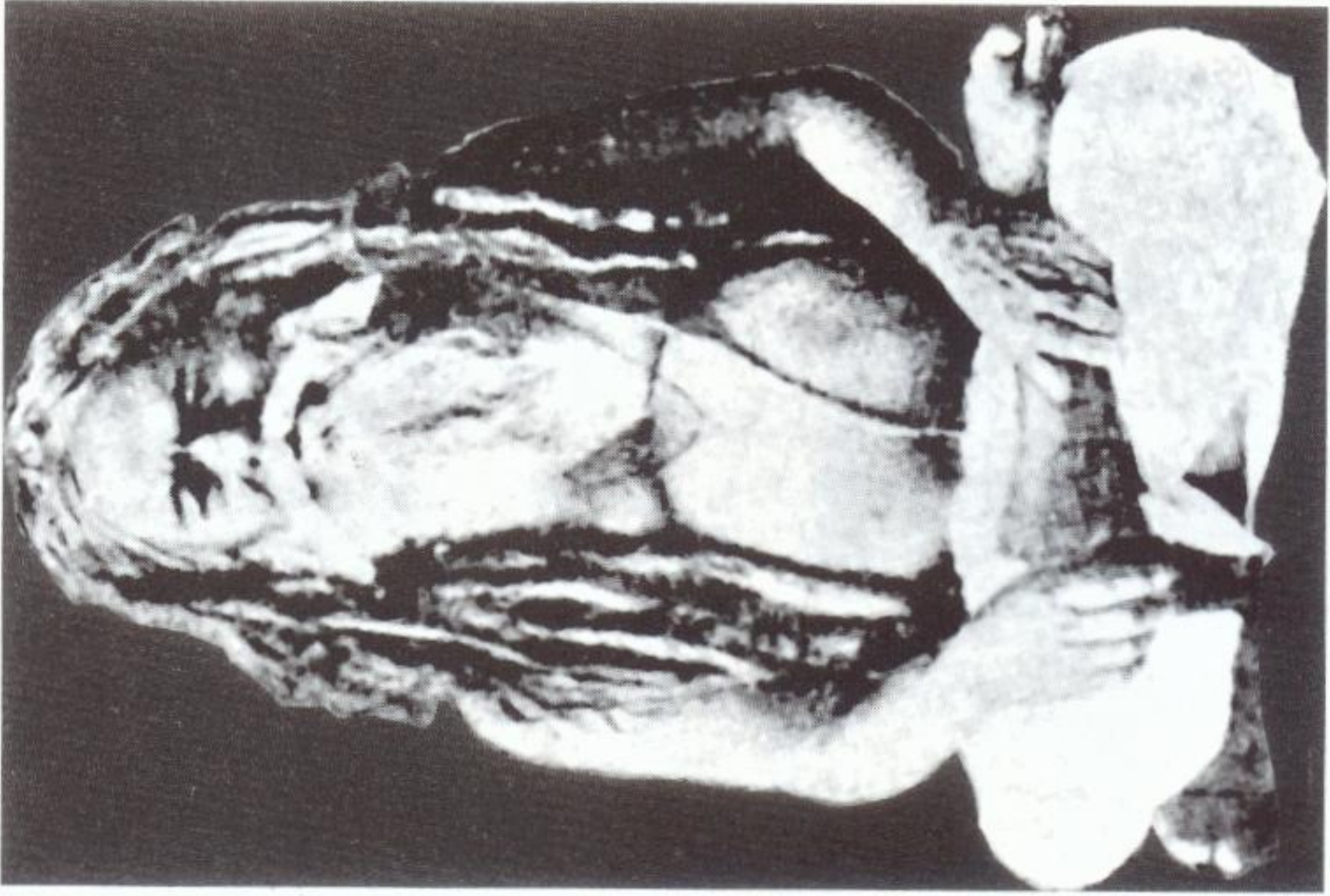
सत्संग

संत-दर्शन और तत्त्वानुसंधान कविराजजी के आध्यात्मिक जीवन के दो मुख्य संबल रहे हैं। इनके विराट् व्यक्तित्व के संघटन में संतकृपोपलब्ध ज्ञानकणों का विशेष योगदान रहा है। स्वरूपज्ञान के विभिन्न स्तरों में रमण करने वाले साधनामार्ग के पथिकों से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर इन्होंने जो स्फुलिंग संचित किये कालांतर में वे ही समवेत रूप में इनके अंत:प्रकाश के कारण बने।

सत्संग का स्वरूप

कविराजजी की यह सत्संगचर्या स्वरूप के विचार से दो प्रकार की रही है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य महात्माओं से व्यक्तिगत रूपेण स्थापित साक्षात् संबंध से है और परोक्ष से उनके जीवन, साधना-प्रणाली, सिद्धि आदि के संबंध में, साक्षात् दर्शन के अभाव में, अन्य स्रोतों से उपलब्ध सूचनाओं तथा उपदेशों से। इस अध्याय में जिन संतों के वृत्त वर्णित हैं उनमें केवल ढाका के प्रसिद्ध महापुरुष लोकनाथ ब्रह्मचारी द्वितीय वर्ग में आते हैं, शेष सभी प्रथम के अंतर्गत हैं। इस प्रथम वर्ग में भी, संपर्क की अवधि तथा संबंध के उत्कर्ष के विचार से, चार श्रेणियाँ हैं :

१. ऐसे महापुरुष जिनसे कविराजजी का दीर्घकालव्यापी तथा प्रगाढ़ संबंध रहा है और जो इनके साधक-जीवन के निर्माण में विशेष सहायक हुए हैं। इस प्रकार के कई विशिष्ट संतों की छत्रच्छाया आचार्यपाद को ढाका के प्रारंभिक छात्र-जीवन से लेकर अब तक प्राप्त है। महाशय रामदयाल मजूमदार, स्वामी योगत्रयानन्द, गुरुदेव परमहंस विशुद्धानन्द, महात्मा राम ठाकुर, ज्योतिजी, पागल बाबा, सिद्धिमाता और माँ आनंदमयी इसी प्रकार की विभूतियाँ हैं। इनके सानिध्य, स्नेह-सौहार्द तथा पथ-प्रदर्शन का कविराजजी के साधन-देह के पोषण और विकास में मुख्य योग रहा है॥

२. ऐसे महात्मा जिनके सत्संग-लाभ का सुयोग तो इन्हें बहुत थोड़े समय तक मिला किन्तु उस अल्पकालीन संपर्क में ही इन्हें विशेष प्रकाश की प्राप्ति हो गयी। इस संदर्भ में हरद्वार के प्रसिद्ध संत भोलागिरि, वृंदावन के बाबा संतदास, देवघर के ब्रह्मचारी बालानंद, विश्वरंजन ब्रह्मचारी, कालीनाथ स्वामी, टूड़ीपार का बाबा, सच्चा बाबा, मेहेर बाबा—प्रभृति संतों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके स्वल्पकालीन सत्संग से उपलब्ध तत्त्वज्ञान की, कविराजजी के मानसपटल पर, एक अमिट रेखा खिंच गयी।

३. ऐसे महात्मा जिनके विषय में किसी अंश तक अपने अनुभव द्वारा कविराजजी को विलक्षणता का अनुभव हुआ। जैसे देवनाथपुरा की भैरवी, नवीनानंद, वृद्ध महाशय, तारकेश्वर माँ आदि।

४. ऐसे महात्मा जिनके ज्ञान अथवा अलौकिक विभूतियों की लोक-प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर इन्हें दर्शनार्थ उपस्थित होने की अंत:प्रेरणा हुई। अंधामास्टर, किशोरी भगवान, टीलाबाबा, स्वामी ब्रह्मानंद आदि इसी कोटि में आते हैं।

उद्देश्य

कविराजजी के संतदर्शन और स्तप्रसंग का मुख्य उद्देश्य तत्वालोचन रहा है, सामान्य लोगों की भाँति लौकिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं। संतपद का उत्कर्ष संबंधी इनका मानदंड इतना ऊँचा रहा है कि वहाँ तक सामान्य साधक पहुँच ही नहीं सकते। जिनकी शिक्षा में कोई विलक्षणता नहीं और जिनके व्यक्तित्व में कोई वैशिष्ट्य नहीं, ऐसे साधु इनके प्रणम्य मात्र रहे हैं, संपर्क स्थापना के योग्य नहीं। संतों के शास्त्रज्ञान तथा बाह्य-प्रतिष्ठा पर ध्यान न देते हुए इन्होंने साधना के क्षेत्र में उनकी गति और पहुँच को ही उन्नति की कसौटी माना है। इसीलिए यहाँ उनके लौकिक जीवन की घटनाएँ बहुत कम दी गयी हैं।

संपर्क-स्थल

काशी कविराजजी का मुख्य कर्मक्षेत्र तथा साधनाभूमि रही है। अत: अधिकांश संतों का साक्षात्कार इन्हें यहीं हुआ। इस पुण्य-भूमि में ऐसे स्थान हैं—नगर के भीतर स्थापित विविध संताश्रम, मंदिर, मठ, संतसेवी एवं श्रद्धालु सद्गृहस्थों के आवासस्थल तथा गंगातटवर्ती घाट, जहाँ बाहर से आये हुए संत प्राय: ठहरते हैं। १९११ ई० से लेकर १९३७ ई० तक ये नियमित रूप से गंगातट-सेवन के उद्देश्य से अपराह्नकाल में दशाश्वमेध घाट से लेकर केदारघाट के बीच किसी स्थान पर जाकर मित्रवर्ग के साथ बैठकर अध्यात्मचर्चा किया करते थे। यहाँ नवागत संतों के विषय में सूचनाएँ मिलती थीं और यदाकदा उनके दर्शन भी हो जाते थे।

कविराजजी के जीवन में आने वाले इस प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण स्थल हैं— प्रयाग, हरद्वार तथा जगन्नाथपुरी। इनमें से प्रथम दो में प्रति बारहवें वर्ष लगने वाले कुंभ मेलों में इनके जाने का प्रधान लक्ष्य होता था समागत संतों का दर्शन-लाभ। जगन्नाथपुरी से तो इनका घनिष्ठ परिचय बाल्यकाल से ही स्थापित हो गया था। वहाँ इनके कई संबंधी तीर्थ-सेवन के निमित्त बहुत पहले से रहते थे। पीछे गुरुदेव का आश्रम भी वहाँ स्थापित हो गया था। तब से ये सेवानिवृत्तिकाल और उसके बहुत पीछे तक ग्रीष्मकाल में प्राय: प्रतिवर्ष वहाँ जाकर ठहरते थे और गुरुदेव तथा अन्य संतों के सान्निध्य में अध्यात्म-चर्चा करते हुये कालयापन करते थे। कभी-कभी वृंदावन तथा वैद्यनाथधाम भी जाते थे।

संत-दर्शन-विषयक इनकी अंत:प्रेरणा इतनी प्रबल रही है कि सेवाकाल में भी किसी उच्चाधिकारी के काशी आने पर ये बिना बुलाये अथवा कर्तव्य-पालन-संबंधी किसी नितांत आवश्यकता के अभाव में उससे मिलने कभी नहीं गये किन्तु किसी महात्मा की ख्याति सुनकर उसके दर्शन के लिए दस-पाँच मील की तो बात ही क्या, सैकड़ों मील की यात्रा भी इन्हें कभी रंचमात्र भी कष्टप्रद नहीं लगी। हरद्वार में 'शोभा' नाम की एक जन्मसिद्ध बालिका की अलौकिक शक्ति का वृत्तांत सुनकर ये अपने कुछ मित्रों के साथ कोमिल्ला (पूर्व-बंगाल) में स्थित उनकी जन्मभूमि को गये और उनका साक्षात्कार कर प्रसन्न हुए। इस संबंध में अर्थ एवं समय की हानि तथा शारीरिक कष्ट की अवहेलना कर ये एकनिष्ठ भाव से अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते रहे।

संतों के प्रकार भेद

सत्संग में कविराजजी ने धर्म, जाति, आचार, देशकाल तथा वयोगत भेद को स्थान न देकर सत्यान्वेषण को ही प्रधानता दी। संतों में उपासना, आश्रमगत तथा दर्शनगत विभिन्नता भी इनकी दृष्टि में महत्वहीन रही। इन सभी बाह्यावरणों को पारकर इनकी अंतर्भेदिनी दृष्टि संतों की साधना में निहित सारतत्व के अनुसंधान तथा आलोचन में ही प्रवृत्त हुई। इनके श्रद्धास्पद संतों में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि विविध धर्मों तथा उनके अनुगत विभिन्न संप्रदायों, जातियों तथा उपजातियों के अनुयायी रहे हैं। इस क्षेत्र में न तो इन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्तादि का भेद रखा, न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी, संन्यासी का और न द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मत के माननेवाले का। तात्विक दृष्टि से सभी प्रकार के साधकों में ऐक्यानुभव का सूत्र इनकी आँखों से कभी ओझल नहीं हुआ। इस मार्ग में ये ज्यों-ज्यों अग्रसर होते गये, इन्हें अनुभव होता गया कि प्रत्येक साधक की कुछ न कुछ व्यक्तिगत विलक्षणता होती है और वह उसी के द्वारा अपने इष्टदेव का साक्षात्कार करता है। अत: साधना के क्षेत्र में कोई भी किसी का पूर्णरूपेण अनुगमन नहीं कर सकता। साधन-मार्ग के अत्युच्च शिखर पर आरूढ़ संतों के जीवन से इन्होंने यही शिक्षा ग्रहण की। सत्यान्वेषी को इन विलक्षणताओं तथा विभिन्नताओं के अंतस्तल में विद्यमान सहज समानता का संधान ही अपना लक्ष्य रखना चाहिए।

सत्संग-विषयक दृष्टिकोण

सत्संग-प्राप्ति की प्रक्रिया में कविराजजी का विचार संतों को उन्हीं की दृष्टि के अनुसार देखने का रहा है, अपनी दृष्टि के अनुरूप नहीं। इनका यह दृढ़ विश्वास है कि जिज्ञासुओं के समक्ष महापुरुष अपना स्वरूप इसी पद्धति का अनुगमन करने पर उद्‌घाटित करते हैं। कुतर्की अथवा दुराग्रही उनके रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व का आवरण भेद कर ही नहीं सकते। अत: सत्संग चर्चा की पहली शर्त है—आत्मसमर्पण, कम से कम उतने समय के लिये अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं का पूर्णरूपेण लय, श्रद्धास्पद संत के विचारों से नितांत समन्वय।

संतों में इस प्रकार अगाध श्रद्धा रखते हुए भी उनकी उपलब्धियों के मूल्यांकन में कविराजजी का दृष्टिकोण पर्याप्त आलोचनात्मक रहा है। सत्संग-चर्चा में इनकी संतनिष्ठा कहीं भी अविश्वास में परिणत होती नहीं दिखायी देती। साधकों की न्यूनताओं का निर्देश, शास्त्रों में वर्णित तथ्यों के साथ उनके अनुभवों की तुलना, संतों द्वारा उपदिष्ट तत्वों की वैज्ञानिक शैली से परीक्षा आदि आधनों का अवलंबन इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा का प्रसाद है। कहीं-कहीं तो अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इन्होंने उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष का मात्रा-विषयक अपना मत भी प्रकट कर दिया है। यहाँ संतों के जो वृत्त संकलित हैं, उनमें उपलब्ध निम्नांकित तथ्यों से इसकी पुष्टि होती है :

(१) 'इनके वचन प्राय: मिथ्या होते देखे गये। ये अप्राकृत दिव्य तत्व तक नहीं पहुँचे थे।' *(हरिप्रसादजी का वृत्त)*

(२) 'शक्ति का कुछ विकास इनमें था किन्तु आधार के अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल विचार करने की सामर्थ्य नहीं थी।' *(जगदीश मुखोपाध्याय के वृत्त से)*

(३) 'कभी-कभी इनकी परीक्षा लेने के लिए मैं अद्‌भुत प्रश्न किया करता था। एक दिन मैंने इनसे कहा : 'तुम अभी किसी लोक में जाकर देख आओ और हमसे वहाँ का वृत्तांत बताओ। विश्व के बाहर जाकर विश्व की ओर दृष्टि दो, फिर बताओ क्या दिखायी पड़ता है ?' वे बोले, 'थोड़ा ठहरिए। मेरे शरीर की तरफ लक्ष्य रखिए।' यह कहकर वे शरीर से निकल गये। दो-तीन मिनट के बाद पुन: चेतना का अनुभव हुआ। वे लौट आये बोले, 'मैं देख आया। समस्त विश्व ऐसा दिखायी देता है जैसा एक मनुष्य खड़ा है, हाथ फैलाए हुए क्रास, की भाँति।' मैंने सोचा, उपनिषदों में निर्दिष्ट यही वैश्वानर विद्या का संकेत है। जैनाचार्यों का भी ऐसा ही मत है *(केदार मालाकर के वृत्त से)*

(४) 'परमपद के दर्शन के बाद इनके जीवन में अदभुत परिवर्तन हो गया था। इनकी दृष्टि के सामने सदैव परमज्योति विराजमान रहती थी जिसके प्रभाव से जागतिक लौकिक पदार्थ देखने में नहीं आते थे। व्यवहार-समय में चक्षु खोलकर बात करती थीं, परन्तु वक्र दृष्टि किये बिना इन्हें संसारी वस्तुएँ दिखलायी नहीं पड़ती थीं।' *(सिद्धिमाता के वृत्त से)*

सत्संगकाल में साधकों की प्रगति का निरीक्षण करते हुये ये कभी-कभी उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान भी करते थे। यह केदार मालाकर के वृत्त से स्पष्टतया विदित होता है। सिद्धलोक की स्थिति तथा विलक्षणताओं की व्याख्या कर किस प्रकार उन्होंने उस जन्मसिद्ध बालक को आश्वस्त किया था इसका प्रकृत प्रसंग में विस्तृत विवरण दिया गया है।

कालजयी तथा सिद्ध देहधारी संतों के अस्तित्व में विश्वास :

प्राकृत देहधारी संतों की अनंतशक्ति में आस्था रखने के साथ ही सत्संग के क्रम में प्राप्त एतद्विषयक सूचनाओं तथा स्वानुभूति के अनुसार सुदीर्घकालीन और चिन्मय देहधारी महापुरुषों के अस्तित्व और उपयुक्त आधार में प्रेरणाप्रदान के विश्वासी रहे हैं। कविराजजी के परिचितों मे ऐसे अनेक संतों के वृत्त यहाँ वर्णित हैं, जिनका आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन ही नहीं, सपूर्णजीवन-सूत्र का संचालन दिव्य देहधारी महापुरुषों द्वारा होता रहा है। कविराजजी ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर इस तथ्य का समर्थन किया है। परमहंस विशुद्धानंद, केदार मालाकर, योगप्रकाश ब्रह्मचारी, राम ठाकुर, काली पद गुहराय प्रभृति संत-साधकों तथा उनके जीवन का जो विवरण यहाँ दिया गया है उसमें इस प्रकार की अनेक घटनाएँ वर्णित हैं। ये महापुरुष प्राय: अलक्षित रूप से कृपापात्र संतों का मार्गदर्शन करते थे किन्तु आवश्यकतानुसार कभी-कभी स्थूल शरीर से भी प्रकट होकर उनकी अभीष्ट-सिद्धि करते थे। परमहंस विशुद्धानन्द की स्वामी नीमानंद ने और योगप्रकाश ब्रह्मचारी की आबू के महात्मा ने किस प्रकार जीवनधारा ही मोड़ दी थी, उक्त संतों के परिचय में इसका विवेचन विस्तार से किया गया है।

संतों की साधना-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कविराजजी ने कहीं-कहीं उनके भौतिक जीवन-विषयक कुछ तथ्यों का उल्लेख कर दिया है, परन्तु इनका ध्यान साधनतत्व की विशिष्टता प्रस्तुत करने की ओर ही विशेष रूप से रहा है। अत: गंभीर एवं सूक्ष्म अंतर्दृष्टि की सहायता से संतों की साधना में अंतर्निहित तत्वों का विवेचन बड़ी हार्दिकता से किया गया है। इसका कारण है बहिरंग जीवन की अपेक्षा आंतरिक उपलब्धि को ही साधकों की परम संपद् मानना। आलौकिक शक्ति-संपन्न साधकों की जीवन-यात्रा में घटित जिन अनेक

चमत्कारों तथा विभूतियों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है वे कविराजजी की निजी अनुभूति पर आधारित हैं, अत: उनकी सत्यता संदेह से परे है। इस प्रकार के चमत्कार हैं— तारकेश्वर माँ की रोगनिवृत्ति-संबंधी शक्ति, परमहंस विशुद्धानंद की सूर्य-विज्ञान द्वारा अभीसित्त पदार्थों की सृष्टि, नागाबाबा की देह-संबंधी लोकोत्तर क्रियाएँ, सोऽहं सिद्ध बाबा द्वारा देव-देवियों का दर्शन, राम ठाकुर की आकाशमार्ग से हिमालयस्थ दिव्य आश्रमों की यात्रा, सिद्धिमाता की कायाभेदी वाणी, ज्योतिजी का सूक्ष्मदेह से दिव्यलोक-भ्रमण, केदार मालाकर की स्थूल शरीर छोड़कर लोक-लोकांतर यात्रा आदि। नवीन पद्धति में पोषित विचारधारा के लोग इन तथ्यों को अस्वाभाविक तथा अंधविश्वास-प्रेरित कहकर अग्राह्य घोषित कर सकते हैं, किन्तु जो अतींद्रिय जगत् की विचित्रताओं से अभिज्ञ हैं उन पारदर्शी, छिन्नसंशय तथा आस्थावान् व्यक्तियों के सन्निकट इनकी वास्तविकता सदैव असंदिग्ध रहेगी।

कविराजजी की जीवनव्यापी सत्संगचर्या के ये संस्मरण उनके चरणों में बैठकर श्रुति-परंपरानुसार लिपिबद्ध किये गये हैं। महात्माओं के संपर्क और तत्त्वज्ञान की चर्चा इस प्रसंग में की गयी है। 'साधु दर्शन ओ सत्प्रसंग' नामक बंगला ग्रंथ के प्रथम भाग में पाँच[1] तथा द्वितीय भाग में सात[2] संतों के वृत्त पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इधर प्रथम भाग का हिंदी रूपांतर निकल चुका है। द्वितीय भाग भी हिन्दी में अनूदित होकर छप गया है। उक्त ग्रंथों में दिये गये बारह के अतिरिक्त तीन और संतवृत्त पहले लेख के रूप में काशी से प्रकाशित 'उत्तरा' तथा 'दयाल प्रसंग' और कलकत्ता की 'हिमाद्रि' नामक बंगला पत्रिका में निकले थे। इन सभी स्रोतों में केवल निम्नांकित महापुरुषों के साथ हुई कविराजजी की सत्संगचर्चा दी गयी थी—

१. महात्मा ज्येतिजी
२. तत्संगी महात्मा
३. सोऽहं सिद्ध बाबा
४. राम ठाकुर
५. एक अद्भुत बालक
६. श्री नागा बाबा
७. श्यामदास बाबाजी
८. किशोरी भगवान
९. योगत्रयानंद
१०. पागल साधु
११. सीतारामदास बाबाजी
१२. कालीनाथ बाबा
१३. वृद्धमहाशय
१४. सिद्धि माता
१५. रामदयाल मजूमदार

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित संतों के संबंध में प्रकाशित स्वतंत्र ग्रंथों में भी कविराजजी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं :

१. परमहंस विशुद्धानंद
२. माँ आनंदमयी
३. शोभा माँ
४. माधव पागल

इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में नीचे लिखे संतों के साथ कविराजजी की तत्त्व-चर्चा का विवरण पहली बार प्रकाश में आ रहा है :

---

१. 'साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग', प्रथम भाग— १. महात्मा ज्योतिजी, २. तत्संगी महात्मा, ३. सोऽहं सिद्ध बाबा, ४. राम ठाकुर ५. एक अद्भुत बालक (प्रकाशक-भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी)।

२. द्वितीय भाग—१. किशोरी भगवान, २. नागाबाबा, ३. श्यामदासबाबा, ४. योगत्रयानंद ५. पागल साधु ६. सिद्धिमाता, ७. कालीनाथ बाबा, (प्रकाशक-विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी)।

१. लोकनाथ ब्रह्मचारी
२. भोलागिरि
३. देवनाथ पुरा की भैरवी
४. सतीशचंद्र मुखोपाध्याय
५. अंधा मास्टर
६. नवीनानंद
७. रासबिहारी साधु (टीलाबाबा)
८. मायानंद चैतन्य
९. दयाल ब्रह्मचारी
१०. स्वामी ब्रह्मानंद
११. बसंत साधु
१२. कालिकानंद अवधूत
१३. हरिहर बाबा
१४. निश्चलानंद
१५. तरणीकांत सरस्वती
१६. संतदास बाबाजी
१७. महानंद गिरि
१८. हरिप्रसादजी
१९. केशवानंद
२०. जगदीश मुखोपाध्याय
२१. विश्वरंजन ब्रह्मचारी
२२. तारकेश्वर माँ
२३. पालधि महाशय
२४. तत्संगी महात्मा
२५. बालानंद ब्रह्मचारी
२६. नौका माँ
२७. टूडी पार का बाबा
२८. सच्चा बाबा
२९. स्वामी प्रेमानंद
३०. पुलिन ब्रह्मचारी
३१. सीतारामदास ओंकारनाथ
३२. निर्विकल्पान्द तीर्थस्वामी
३३. कालीपद गुहराय
३४. मेहेरबाबा
३५. उपवासी बाबा
३६. सत्य साईं बाबा
३७. कमरू बाबा
३८. कोठरी बाबा
३९. योगप्रकाश ब्रह्मचारी
४०. मधुसूदन ओझा
४१. डॉ० भगवानदास
४२. भूपेंद्रनाथ सान्याल

यह एक आश्चर्य की बात है कि आचार्य-चरण को अपने छात्र-जीवन के आरंभिक काल-१९०२ ई० से लेकर आजतक के साक्षात्कृत महात्माओं से प्राप्त तत्त्वज्ञान-विषयक तथ्य पूर्णतया स्मरण हैं। ये विवरण सत्संग-क्षणों में इनके मानस-पटल पर अंकित बिंबों की यथार्थ प्रतिकृति हैं। किस महात्मा से ये कब और कहाँ मिले ? क्या प्रश्न किये और उस महापुरुष ने उनका समाधान किन शब्दों में किया, उसकी साधना-प्रणाली की क्या विशेषताएँ थीं, वह अध्यात्म-साधना के किस सोपान तक पहुँचा हुआ था, उसकी शिक्षा की विलक्षणताएँ क्या थीं—आदि का निरूपण श्रीमुख से सुनते हुए ऐसा लगता है जैसे ६५ वर्षों के इस दीर्घ अंतराल में कालप्रवाह इनकी स्मरणशक्ति का स्पर्श किये बिना ही अलक्षित रूप से सरक गया हो।

प्रस्तुत सत्संगचर्चा के क्रम में संतों की साधना-पद्धति तथा तत्त्वज्ञान-विषयक बहुत सी सामग्री 'गोपनीय' तथा 'अनावश्यक' कहकर प्रकाश में आने से रोक ली गयी है। कुछ ऐसी सामग्री जिसमें संतों के वृत्त के साथ इनकी अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों की चर्चा आ गयी थी, अंतिम प्रूफ की स्थिति में निरस्त कर दी गयी है। मेरे विचार में इसका कारण कदाचित् अपेक्षित संस्कार के अभाव में सामान्य पाठकों द्वारा उसका अन्यथा अर्थ लगाने की आशंका रही है। भवरोगग्रस्त जीवों के लिए कविराजजी की यह व्यवस्था निस्संदेह कल्याणकर होगी।

आशा है, पूर्ण सत्य की गंभीर और व्यापक अनुभूति से संपन्न संत-महात्माओं के चरित तथा उपदेश का यह संग्रह साधकों के संस्कारमार्जन और अंतर्जीवन के विकास में यथेष्ट सहायक होगा।

१. लोकनाथ ब्रह्मचारी

जब मैं ढाका के जुबिली स्कूल में पढ़ता था, सर्वप्रथम उसी समय मैंने 'वारदी ब्रह्मचारी' जी का नाम सुना था। 'वारदी' नामक गाँव में रहने के कारण ही ये महाशय इस नाम से इस प्रदेश में प्रसिद्ध थे, वास्तव में इनका नाम 'लोकनाथ' था। मेरे अध्यापक मथुरामोहन चक्रवर्ती, जिन्होंने कालांतर में ढाका में शक्ति औषधालय की स्थापना की थी, ब्रह्मचारी जी के शिष्य थे। वे बड़े ही धर्मप्राण और सत्संगी थे। उनके मुख से मैंने परलोकगत ब्रह्मचारीजी की योग-विभूतियों की अनेक कथाएँ सुनी थीं। इनकी आश्रम-भूमि 'वारदी' पूर्वी बंगाल के ढाका जिले में नारायणगंज के पास स्थित है।

मेरे एक मित्र पुलिनबिहारी मुखोपाध्याय उस समय ढाका में ही रहते थे। उनका मथुरामोहन चटर्जी से, जो वहीं विद्यालय-निरीक्षक के पद पर कार्य कर रहे थे, घनिष्ठ संबंध था। ये मथुराबाबू प्रसिद्ध राष्ट्रनेत्री तथा कवयित्री सरोजनी नायडू के पिता अघोरनाथ चटर्जी के ज्येष्ठ भ्राता थे। पुलिन बाबू के लड़के वीरेंद्रमोहन, मेरे स्कूल ही में नीची कक्षा में पढ़ते थे, परन्तु मेरे घनिष्ठ मित्र थे। इनके भी मुख से मैंने वारदी ब्रह्मचारीजी की बहुत प्रशंसा सुनी थी। उन्होंने मुझसे कहा कि वे एक बार सहसा मलेरिया से पीड़ित हुए। धीरे-धीरे वह जड़ पकड़ गया। बहुत दवा की गयी किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। निराश होकर उनके पिता उन्हें लेकर ब्रह्मचारीजी के पास गये। ब्रह्मचारीजी विलक्षण प्रकृति के व्यक्ति थे। पुलिन बाबू ने डरते-डरते उनसे निवदेन किया, 'महाराज, मेरा लड़का बहुत कष्ट पा रहा है। ज्वर छूटता नहीं है। आप कुछ कृपा करें।' ब्रह्मचारी जी ने उग्र स्वर में कहा : 'छूटता नहीं है, तो मैं क्या करूँ? डाक्टर वैद्य को दिखाओ।' पुलिन बाबू ने कहा : 'बहुत दिखाया गया, कुछ फायदा नहीं हुआ।' यह कहने पर ब्रह्मचारी जी ने एक डंडे से वीरेन्द्र को मारा। डंडे की चोट खाकर भी वह रंचमात्र भी विचलित नहीं हुआ। उसे न क्रोध आया, न मुँह से आह का शब्द निकला। वह ब्रह्मचारीजी के चरणों में पड़ा रहा। फिर उसने दृढ़तापूर्वक कहा : 'मैं नहीं जाऊँगा, आप जो करेंगे सोई होगा।'

ब्रह्मचारीजी को दया आ गयी। बोले : 'अच्छा उस पोखरे में स्नान करके आओ।' पोखरा आश्रम के पास ही था। वीरेंद्र को उस समय भी बुखार था। परन्तु ब्रह्मचारीजी का आदेश मानना ही था। पोखरा में जाकर स्नान किया। उसके लौट आने पर ब्रह्मचारीजी ने कहा : 'दही और भात खाओ', आश्रम में दही भी था, भात भी था। वीरेन्द्र ने बुखार रहते हुए भी निश्शंक होकर ब्रह्मचारीजी के आदेशानुसार दही-भात पेट भर खाया। इसके बाद ब्रह्मचारीजी ने कहा : 'बस हो गया। अब घर चले जाओ।'

वीरेंद्र पिता के साथ घर चले आये। बुखार उतर गया। सबको आश्चर्य हुआ कि इतना पुराना मलेरिया कुपथ्य-सेवन के बावजूद ब्रह्मचारीजी के डंडे की मार से तत्काल भाग गया और उसने फिर लौटकर आने का साहस नहीं किया।

इस प्रकार की बहुत सी घटनाएँ मैंने ब्रह्मचारीजी के संबंध में सुनी थीं, परंतु दर्शन का सौभाग्य नहीं हुआ। उत्तर काल में ब्रह्मचारीजी के प्रधान शिष्य ब्रह्मानंद भारती ने उनका जीवन-वृत्त 'सिद्ध-जीवनी' नाम से लिखा था। इनसे मेरी भेंट काशी में हुई थी। ये भी अच्छे योगी थे। सांख्य-योग पर इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं है। इनसे संश्लिष्ट एक अन्य

महात्मा प्रेमानंद भारती थे, जिन्होंने 'श्रीकृष्ण' नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ लिखा था। पीछे ये अमेरिका चले गये थे और वहाँ से 'लाइट आफ इंडिया' नामक पत्र निकालते थे।

ब्रह्मचारीजी १६० वर्ष की आयु तक जीवित रहे। इनका वैशिष्ट्य यह है कि इनके चक्षु में कभी निमेष नहीं पड़ता था और बहुत दूर की वस्तुएँ, यहाँ तक कि दूरस्थ वृक्षों की डालों या पत्तों पर बैठे हुए छोटे-छोटे चीटों को भी, ये देख लेते थे। इनमें आकाशगमन की भी शक्ति थी। पूर्वबंग में इनके विषय में बहुत अलौलिक आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं। सुना जाता है कि एक बार जब महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी किसी कठिन रोग से पीड़ित थे तो ब्रह्मचारीजी ने शून्य मार्ग से जाकर उन्हें दर्शन दिया था और इनके आविर्भाव से वे तत्काल रोगमुक्त हो गये थे।

२. रामदयाल मजूमदार

ये अपने समय में बंगदेश के एक प्रभावशाली धर्मोपदेष्टा महापुरुष माने जाते थे। इनसे मेरा पहली बार परिचय अपने निवास ग्राम के निकट टंगइल नगर में हुआ था जो अब पूर्वी पाकिस्तान के मैमनसिंह जिले के अंतर्गत है। ये उस समय वहाँ के इंटरमीडियेट कॉलेज के प्रिंसिपल थे। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी और मेरे स्वर्गीय पितृदेव के सहपाठी थे। इनके प्रवचनों तथा आदर्श धर्माचरण के प्रभाव से असंख्य युवकों के जीवन में परिवर्तन हुआ था। उनमें बंगाल के वर्तमान प्रसिद्ध महात्मा बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ भी हैं।

इन्होंने १९०६ ई० में 'उत्सव' नाम से एक मासिक पत्रिका निकालना प्रारंभ किया था। वह इनके संपादकत्व में बहुत वर्षों तक चली। उसमें इनके गीता तथा योगवासिष्ठ (लीला-उपाख्यान) प्रभृति धर्म-ग्रंथों पर बहुत सुंदर लेख निकलते थे। जीवन के अंतिम समय में ये प्राय: कलकत्ता में रहा करते थे। वर्ष में एक बार काशी आते थे और गंगा के किनारे चौसट्ठी घाट पर कुछ दिनों तक अवस्थान करते थे।

१९३४ ई० के आसपास जब मैं कलकत्ता गया था और अवसर ग्रहण करने की तैयारी कर रहा था, इनके घर पर जाकर मिला था। इन्होंने बड़े सत्कार के साथ मेरी अभ्यर्थना की थी। मैंने भी इन्हें पितृवत् प्रणाम किया था। उस समय कुछ आध्यात्मिक विषयों पर इनके साथ विचार-विमर्श हुआ था। उनमें से एक था 'जप और ध्यान', इस संबंध में इनका उपदेश यह था कि आरंभ में इष्टमूर्ति का निर्माण करके ध्यान करना चाहिए। वस्तुत: साधारण लोग ऐसा ही करते हैं। परन्तु मेरा सिद्धान्त था, जिसका मैंने वहाँ प्रतिपादन किया, कि भावना अथवा ध्यान दर्शनमूलक होता है। जब तक इष्टदेवता का दर्शन न हो तब तक उसका ठीक ध्यान कैसे हो सकता है? पूजा भी कैसे होगी?

''देवे परिचयो नास्ति देवपूजा कथं भवेत्?''

अत: उपासक का पहला कार्य है इष्टदेवता का साक्षात्कार करना। यह साक्षात्कार ध्यानमूलक अवश्य हो सकता है, परन्तु साक्षात्कार का श्रेष्ठ उपाय है गुरुप्रदत्त वीर्यसंपन्न मंत्र का यथाविधि जप। काष्ठ में अग्नि है अवश्य, किन्तु वह निहित है। उसे अभिव्यक्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इसी प्रकार इष्टदेवरूपा शक्ति अव्यक्त रूप से विद्यमान है। उसे

प्रत्यक्ष करने के लिए गुरुदत्त मंत्र के साथ चित्त का संघर्ष होना चाहिए। इससे देवता का रूप अभिव्यक्त हो जाता है। उसके बाद क्रिया के प्रभाव से धीरे-धीरे उसको स्थायी किया जा सकता है। परन्तु स्थायी होने के पहले देवता के आविर्भाव के अनंतर ध्यान आवश्यक होता है। ध्यान देखी हुई वस्तु का ही किया जा सकता है, यही यथार्थ ध्यान है अन्यथा ध्यान कल्पित होता है।

यह सुनकार मजूमदार महाशय अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले, 'यह बात सत्य है, परंतु साधारण अवस्था में शक्तिसंपन्न मंत्र या नाम तो मिलता नहीं है। इसलिये श्रद्धा तथा भक्ति के सहित देवता के शास्त्रकल्पित रूप का भी ध्यान करना चाहिए।' मैंने इसे मान लिया, किंतु गौण-कल्परूपेण।

एक बार भारत-धर्ममहामंडल के विशिष्ट अधिवेशन में भाषण देने के लिए मजूमदार महाशय काशी पधारे थे। यह उनके देहावसान के चार-पाँच वर्ष पहले की बात है। उस समय इनको बुलाकर मैंने गुरुदेव के दर्शन का प्रबंध किया था। गुरुदेव उस समय अपने आश्रम 'श्री विशुद्धानंद-कानन' में समागत साधकों को सूर्य-विज्ञान की शिक्षा दे रहे थे। सूर्य -रश्मियों से किस प्रकार जागतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं इसकी प्रक्रिया दिखा रहे थे। मजूमदार महाशय की बहुत दिनों से इच्छा थी कि यह व्यापार वे अपनी आँखों से देखें। मैंने गुरुदेव से यह निवेदन कर दिया था। बाबा ने प्रसन्न होकर इनके इच्छानुसार नाना प्रकार की वस्तुओं की सृष्टि रश्मियों के संघटन से करके दिखाया। उस समय मजूमदार महाशय के मन में प्रश्न उठा कि इस सृष्टि का रहस्य क्या है? यह कैसे होती है? मैं जहाँ तक अनुभव कर पाया था, उसके अनुसार उन्हें समझाया। सूर्य-विज्ञान में रश्मियों का परिचय आवश्यक है। प्रत्येक रश्मि को निकालने की प्रक्रिया भी सिखानी पड़ती है। फिर एक रश्मि के साथ दूसरी रश्मि का संयोजन और उसके साथ तीसरी रश्मि का संयोजन तदनंतर क्रम से वस्तुविशेष के संस्थान के अनुरूप वर्णों का क्रमशः समावेश करना पड़ता है। जिस प्रकार वर्णमाला का परिचय होने पर पद बनाने के लिए वर्णों का संयोजन आवश्यक होता है उसी प्रकार सूर्य विज्ञान में भी क्रमशः वर्णों का संयोजन आवश्यक होता है।

परंतु इसमें एक रहस्य है। यह जगत् वर्णमय है। इस वर्णमय जगत् में शुद्धवर्ण का परिज्ञान कैसे होगा? दूसरा प्रश्न यह है कि वर्ण का परिचय होने पर और उसका स्फुरण करने पर भी वर्णांतर के साथ उसका संयोग कैसे होगा? क्योंकि प्रति वर्ण स्वभावतः क्षणिक है। वह एक क्षण से अधिक प्रकाशमान रहता नहीं है। एक वर्ण स्फुरित होने पर दूसरे वर्ण के स्फुरण तक स्थायी नहीं रहता। प्रतिवर्ण आशुसंचारी है। परस्पर दो अथवा उससे अधिक वर्णों का संघटन कैसे होगा? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है। जगत् में सर्वत्र वर्ण ही वर्ण है, परन्तु इस अभिव्यक्त वर्ण की पृष्ठभूमि में निर्मल-शुभ्र-सत्ता विद्यमान है। उसी को सर्वशास्त्र में विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। सबसे पहले इसे ही अभिव्यक्त करना पड़ता है। यह अभिव्यक्त होकर परिच्छिन्न देश में परिच्छिन्न काल के लिए स्थायी होता है। इस शुद्ध-सत्त्व अथवा श्वेत-वर्ण के ऊपर स्फुरित करने से प्रतिवर्ण की निजसत्ता अभिव्यक्त होती है। वर्ण-परिचय का यही रहस्य है। यह न करने से विभिन्न वर्णों का संमिश्रण होने के कारण वर्ण-विशेष का परिचय नहीं मिल सकता।

इस विशुद्ध सत्त्व का एक और भी गुण है। यह इसमें प्रकाशित किसी भी वर्ण को स्थायी कर सकता है। उसी प्रकार से प्रतिवस्तु का जो वर्णमूलक सन्निवेश क्रम है, तदनुसार क्रमश: वर्णों की अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। जब तक अंतिम वर्ण की अभिव्यक्ति न हो तब तक वस्तु का गुण प्रकाशित नहीं होता। जिसको हम द्रव्य या मैटर कहते हैं वह उस वर्णरूप शक्ति के ही संघटन से होता है। जैसे संघटन से वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विघटन से उसका लय भी हो जाता है।

मजूमदार महाशय ने पूछा, 'सूर्य-किरण से अपेक्षित वर्ण की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है?' हमने कहा, 'बाबाजी का निर्देश यही है कि शिक्षार्थी इसे लेंस अथवा आतिशी शीशे के द्वारा कर सकते है। इसके लिए 'ज्ञानगंज-आश्रम' से जो लेंस बाबाजी के निकट आया करता है, वह सर्वोत्कृष्ट है। पाश्चात्य देशों में भी उतना अच्छा लेंस नहीं बनता। वह स्फटिक का है। रामदयालजी ने बाबाजी के लेंस को हाथ में लेकर भलीभाँति देखा। हमने कहा, 'शास्त्रों में जो वाक् और अर्थ का वाच्यवाचक संबंध माना गया है, वह इसकी पुष्टि करता है। यह केवल दार्शनिक सिद्धांत नहीं, प्रायोगिक विज्ञान है। व्यापक रश्मि-जाल का रूप ही वर्णमाला है। यह वाक्तत्त्व का ही स्फुरण है और जो वस्तु निर्गत होती है, वह अर्थ-स्वरूप है। 'वागर्थाविव संपृक्तौ' का यही तात्पर्य है।'

इसके अतिरिक्त बाबाजी के सान्निध्य में एक और विषय की चर्चा हुई थी। यह थी संकल्प या एकाग्रता के प्रभाव से वस्तु की सृष्टि का रहस्य। योगी का संकल्प, विकल्पशून्य होता है इसीलिए उसका नाम सत्य-संकल्प है। विकल्प न रहने के कारण संकल्प अबाधित रूप से अर्थरूपेण होता है। योगशास्त्र में त्रिपुरा-रहस्य के ज्ञान-खंड में तथा अन्यत्र भी इसका विशेष विवरण मिलता है। संकल्प मात्र से कैसे वस्तु का निमार्ण होता है, बाबाजी ने इसका भी उनको प्रत्यक्ष दर्शन कराया था। मजूमदार महाशय गुणग्राही थे और वे स्वयं भी एक महायोगी श्यामाचरण लाहिडी के शिष्य थे। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग के प्रत्यक्ष-दर्शन का सुयोग उन्हें नहीं मिला था। बाबाजी की इन आलौकिक योगविभूतियों को देखकर अत्यंत प्रसन्नचित्त हो वे आश्रम से विदा हुए।

३. स्वामी योगत्रयानंद

स्वामीजी संन्यासी नहीं थे। इन्होंने अपना सारा साधना-मय जीवन गृहस्थ रहकर ही बिताया था। कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग के गूढ़ तत्त्वों को इन्होंने इसी आश्रम में आयत्त किया था, 'योगत्रयानंद' के नाम से उनकी प्रसिद्धि का यही रहस्य था। इस लोक-प्रदत्त उपाधि के साथ इनकी साधकदेह की संज्ञा 'शिवराम किंकर' जुड़ी रहती थी। यह नाम इनका अपना रखा हुआ था; अवश्य गुरुदेव श्री शिवराम की अनुमति से। इसमें इनकी अगाध गुरुनिष्ठा निहित थी। गुरुदेव संन्यासी थे—उनके सर्वतोभावेन अनुगत होने के कारण—तद्रूपता प्राप्त कर ये भी स्वामी हो गये।

मेरे आध्यात्मिक जीवन के विकास में इनका अपूर्व योगदान रहा है। 'आर्यशास्त्र प्रदीप' को पढ़कर किस प्रकार मेरे मन में इनके दर्शन की अभिलाषा जागी और कितने वर्षों की निरंतर खोज के बाद इनके चरणों तक मैं पहुँच सका—इसका वृत्तांत स्थानांतर में दिया जा चुका है।[1] इनके विषय में जितनी बातें उल्लेख योग्य हैं, उनमें से कुछ नीचे दे रहा हूँ।

१. प्रस्तुत ग्रंथ (जीवनकथा) पृ० ३८-४०।

शिवराम किंकर महाशय का जन्म हबड़ा जिले के बाली ग्राम में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया रविवार १२६६ बंगाब्द (१८६० ई०) में हुआ था। यह स्थान बराहनगर के पश्चिम, गंगातीर पर है। ये श्री रामजीवन सान्याल और विश्वेश्वरी देवी के पुत्रों—शशिभूषण, देवेंद्रनाथ और राजेन्द्रनाथ में सबसे बड़े थे। इनकी पद्मावती और भुवनमोहिनी दो बहनें भी थीं। इनके छोटे भाई देवेन्द्रनाथ ने बाल्यावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और पीछे ब्रह्मचारी रामेश्वरानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

पिता ने विद्यारंभ-संस्कार के पश्चात् स्थानीय प्रारंभिक पाठशाला में इन्हें पढ़ने के लिए भेजा। साल भर स्कूल आते-जाते रहे—प्रथम भाग की क्रमशः ३० पुस्तकें नष्ट करके भी ये वर्ण-परिचय प्राप्त न कर सके। एक दिन पिता ने पास बुलाकर इनसे 'अनशन' शब्द लिखने को कहा, ये मूक होकर बैठ गये, पुत्र की इस मूर्खता पर क्रुद्ध होकर उन्होंने एक थप्पड़ मारा। शशिभूषण ग्लानि से गड़ गये—इनकी आँखों से प्रवाहित अश्रुधारा के साथ सारी जड़ता बह गयी। इनके ज्ञान-नेत्र खुल गये। पढ़ाई में मन लगाने लगे। स्कूल न जाकर घर पर ही अध्ययन करने लगे। थोड़े ही दिनों में इन्होंने बंगला तथा संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब ये १२ वर्ष के थे, बाली ग्राम में शिवराम नाम के एक संन्यासी आये। इनकी अद्‌भुत प्रतिभा और संस्कार-संपन्न व्यक्तित्व के प्रभावित होकर उन्होंने दीक्षा दे दी। कुछ दिन वहाँ निवास करके इन्हें साधन-पथ का निर्देश किया, फिर चले गये।

विवाह के उपरांत गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए एक दिन इनके घर में कोई बीमार पड़ा। ये उसे लेकर डॉक्टर के पास गये। डॉक्टर ने फीस और दवा के रुपये माँगे। इनके पास एक पैसा भी नहीं था। उसने दवा नहीं दी—रोगी को देखा भी नहीं। घर लौटने पर उसकी मृत्यु हो गयी। इस घटना का इनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने उसी समय डॉक्टरी सीखने का संकल्प किया। आयुर्वेद की एक पुस्तक कहीं से ले आये और उसे देखकर जड़ी-बूटी इकट्ठा कर घर पर ही दवा बनाने लगे। इस काम में इनका मन इतना लग गया कि रातदिन आयुर्वेद-ग्रंथों के अध्ययन और दवा बनाने में व्यस्त रहने लगे। इसके फलस्वरूप कुछ ही समय में ये आयुर्वेद में निष्णात हो गया। चारों ओर एक कुशल वैद्य के रूप इनकी प्रसिद्धि हो गयी। असाध्य रोगों से पीड़ित आर्त्त लोग इन्हें सदैव घेरे रहते थे। संयोगवश एक दिन जिस डॉक्टर ने इनका तिरस्कार किया था वही मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने पुत्र की जीवन-रक्षा के लिए इन्हें बुलाने के लिए आया। इन्होंने जाकर उसके पुत्र को देखा- निःशुल्क दवा दी। वह अच्छा हो गया। इसके बाद इन्होंने बायोकेमिक, होमियो-पैथिक तथा एलोपैथी चिकित्सा-पद्धतियों का भी अनुशीलन किया। शल्य-चिकित्सा सीखने के लिए छः मील पैदल चलकर ये नित्य कलकत्ता के कैंपवेल हास्पिटल जाते थे। इस प्रकार अनवरत स्वाध्याय एवं कठिन परिश्रम के द्वारा उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान में असामान्य दक्षता प्राप्त कर ली और इस रूप में ये बराहनगर में ही नहीं, कलकत्ता में भी बहुधा विख्यात हो गये।

एक बार कलकत्ता के प्रसिद्ध सर्जन डॉ० सुरेशप्रसाद सर्वाधिकारी के पिता किसी भीषण रोग से आक्रांत होकर बेहोश हो गये, इस स्थिति में वे तीन महीने तक पड़े रहे। रोग के निदान के लिए उनके घर पर नित्य मेडिकल-बोर्ड बैठता था। जब वह किसी प्रकार काबू

में न लाया जा सका, तो सर्वाधिकारी महाशय शिवराम किंकरजी के पास बराहनगर गये और उनसे चलकर अपने पिता को देखने की प्रार्थना की। इन्होंने कहा, 'आपके यहाँ एलोपैथी के धुरंधर चिकित्सक हैं, उनके रहते जो रोग दूर न किया जा सका उसे मैं कैसे हटा सकूँगा।' सर्वाधिकारी जी बोले, 'आप चलें, अब रोगी की स्थिति उन लोगों के वश से बाहर है।' शिवरामजी ने उनका अनुरोध टाला नहीं, आने की तिथि निश्चित कर दी। ये नियत समय पर सर्वाधिकारीजी के घर पहुँचे। उस समय वहाँ पाँच अँग्रेज डॉक्टर बैठे हुए थे। सर्वाधिकारीजी से इनके आने का समाचार पाकर उन लोगों ने कहा, 'रोगी की हालत बहुत नाजुक है। इस स्थिति में उसे नीम-हकीम को सौंपना ठीक नहीं है।' सर्वाधिकारी महाशय को इनकी दक्षता पर अगाध विश्वास था, इसलिए उनकी सलाह पर ध्यान नहीं दिया। शिवराम किंकरजी ने उन्हें अलग बुलाकर कहा, 'जिस समय मैं रोगी को देखूँगा, उस सयम तुमको छोड़कर वहाँ और कोई व्यक्ति नहीं रहेगा।' सर्वाधिकारीजी ने वैसी व्यवस्था कर ली और फिर इन्हें पिता के कमरे में ले गये। इन्होंने ज्योंही रोगी के मस्तक पर हाथ रखा उसने आँखें खोल दीं और बोला : 'यह कौन है ?' सुरेशबाबू ने कहा : 'यह वही हैं जिन्होंने मेरे बहन की चिकित्सा की थी।' उनके पिताजी इसका संशोधन करते हुए बोले, 'अरे क्या कह रहे हो ? चिकित्सा की थी ? इन्होंने तो उसे प्राणदान दिया था।' उस समय शिवराम किंकरजी के पास स्टेथिस्कोप नहीं था—अत: इन्होंने उनकी छाती पर हाथ रखकर ही श्वाँस-प्रक्रिया की परीक्षा करके बताया, 'इनके दाहिने फेफड़े में रुपये के बराबर रंध्र हो गया है। यह संज्ञा-शून्यता उसी का परिणाम है।' सुरेशबाबू ने कहा : 'आपको ही इसका इलाज करना होगा।' ये बोले : 'इनकी आयु मात्र तीन महीने शेष है।' सुरेशबाबू के अनुरोध से इन्होंने चिकित्सा की और १५ दिनों के भीतर ही उनके पिता चलने-फिरने लगे । इसके बाद एक बार सुरेशबाबू ने अपने भाई देवप्रसाद सर्वाधिकारी, जो बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने, के साथ बराहनगर जाकर शिवराम किंकरजी से कहा, 'हम लोग वायु परिवर्तन के लिए पिताजी को मधुपुर भेजना चाहते हैं। इसके लिए आपकी स्वीकृति लेने आये हैं।' इनकी इच्छा नहीं थी कि उन्हें बाहर भेजने की अनुमति दें, किन्तु उन लोगों के अनुरोध पर स्वीकृति दे दी साथ ही यह भी चेतावनी दे दी कि उनकी नित्य खबर लेते रहना। मधुपुर में उनका स्वास्थ्य बहुत सुधर गया। वे नियमित रूप से प्रात: एक मील टहलने जाने लगे। किन्तु भावी होकर ही रही। शिवराम किंकरजी के कथनानुसार जिस दिन तीन महीने पूरे हुए, वायु-सेवन के बाद घर लौटते हुए रास्ते में एक ठोकर लगने से वे गिर पड़े। खून की उलटी हुई और इसके पहले कि उनके दोनों पुत्र कलकत्ता से मधुपुर पहुँच सकें, उन्होंने शरीर त्याग दिया।

शिवराम किंकर महाशय चिकित्सा के साथ घर पर कुछ विद्यार्थियों को नि:शुल्क पढ़ाने का भी कार्य करते थे। इनके पास दो विद्यार्थी संस्कृत पढ़ने आते थे। ये यदाकदा आपस में अंग्रेजी में बातचीत किया करते थे। वह इनकी समझ में नहीं आती थी। इसके लिए इन्हें बहुत खेद हुआ। अर्थाभाव के कारण किसी अंग्रेजी शिक्षक को रखकर अध्ययन करना इनकी पहुँच के बाहर था। इन्होंने बिना किसी की सहायता के स्वयं ही अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया। पहली किताब मँगायी, अंग्रेजी वर्णमाला का परिचय प्राप्त किया, देख-देखकर लिखने का अभ्यास किया। शब्द-ज्ञान होने पर एक निकटवर्ती जमींदार के पुस्तकालय में

जाकर अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़ने लगे। अंग्रेजी उपन्यासों में इनका इतना मन लग गया कि भोजन करने के बाद सारा समय पुस्तकालय में बैठकर इसी प्रकार की पुस्तकें पढ़ने में बिताने लगे—केवल भोजन करने के लिए घर आते थे।

एक दिन संध्या समय ये उसी पुस्तकालय में बैठे हुए कोई अंग्रेजी उपन्यास पढ़ रहे थे। उसी समय एक संन्यासी उनके घर आये और इनका नाम लेकर पुकारा। घरवालों के बताने पर वे इन्हें ढूँढते-ढूँढते पुस्तकालय पहुँचे। चपरासी ने इन्हें उनके आने की सूचना दी। बाहर आकर इन्होंने उनको साष्टांग प्रणाम किया। उनके दिव्य तेजोमय मुखमंडल को देखकर ये अभिभूत हो गये। स्वामीजी संस्कृत में इनको फटकारते हुए बोले, 'तुम्हें लज्जा नहीं आती। ब्राह्मण के बालक होकर संध्या समय अंग्रेजी उपन्यास पढ़ते हो। तुम भूल गये हो कि किसके शिष्य हो ? मैं स्वामी शिवराम का प्रथम शिष्य हूँ। जिस समय गुरुदेव का देहांत तुम्हारे घर पर हुआ था, मैं हिमालय में तपस्या कर रहा था। मैं तुम्हें जानता नहीं था। 'गुरुजी की आत्मा से मुझे यह संदेश मिला कि बराहनगर के निकट बाली ग्राम में मैंने एक शिष्य बनाया है, वह अभी बालक है, तुम उसे देखना। मैं इसीलिए आया हूँ। जाओ अभी गंगास्नान करके प्रायश्चित करो। अब से नित्य संध्यावंदनादि करके नियमपूर्वक गायत्री जप करना न भूलना।' इतना कहकर वे इन्हें साथ लेकर इनके घर आये। शिवराम किंकर के जीवन में इसी समय से अद्‌भुत परिवर्तन हो गया। इनकी जीवन-धारा बदल गयी। उक्त स्वामीजी एक-दो दिन रहकर काशी चले गये। इन्हें नवीन दृष्टि प्रदान करने वाले ये महापुरुष स्वामी चिद्‌घनानंद थे।

घर पर कुछ दिनों तक साधन तथा स्वाध्याय में निरत रहने के बाद शिवराम किंकरजी बीमार माता को लेकर काशी चले आये, और यहाँ अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्वामी चिद्‌घनानंद से वेदांत पढ़ने लगे। चिद्‌घनानंदजी के आश्रम में संन्यासी लोग भी आकर उनसे पाठ लेते थे। शास्त्राध्ययन के समय चिद्‌घनानंदजी शिवराम किंकर को अपने सामने बैठाते थे और दृष्टि उन्हीं की ओर रखते थे। संन्यासी लोग पाठ सुनते मात्र थे। रात्रि में वे इन्हें योग की शिक्षा देते थे। स्वामीजी इन्हें गृहस्थ रूप में नहीं देखते थे— यद्यपि उस समय भी ये गृहस्थाश्रमी थे। शिवराम किंकरजी गणेश-मुहाल में रहते थे साथ में इनकी माताजी भी थीं। ये अध्ययन के साथ चिकित्सा भी करते थे। इस प्रकार १८८९ ई० के सितंबर महीने तक ये स्वामीजी के सान्निध्य में रहे। इसी वर्ष इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इसके पश्चात् ये बराहनगर लौट गये। चिद्‌घनानंदजी भी तीर्थ यात्रा पर चले गये। कई महीने पर्यटन करके वे माघ में प्रयाग पहुँचे और गंगा-तट पर एक पर्णकुटी में रहने लगे। यहाँ वे पेचिश से पीड़ित हुए। कुछ दिन रुग्ण रहने के बाद १८९० ई० के माघ मास में भीमाष्टमी को उन्होंने आसनबद्ध मुद्रा में संगम में प्रवेश कर जल-समाधि प्राप्त की। इसके पूर्व उन्होंने किसी परिचित व्यक्ति से शिवराम किंकरजी को तार देकर बंगदेश से बुलाने को कहा था और अपना पुस्तकालय उन्हें देने की इच्छा व्यक्त की थी, किन्तु उसकी व्यवस्था न हो पायी।

काशी से बराहनगर जाने पर पहले कुछ दिनों तक ये अपने श्वशुर के घर ठहरे। उसके बाद एक किराया का मकान ले लिया और उसी में सपरिवार रहने लगे। अर्थागम का कोई स्रोत न रहने से यह समय सारे परिवार के लिए बहुत कष्टकर था। दिन में तो कभी भोजन

बनता नहीं था—रात में यदि कहीं से कुछ आ जाता तो उससे बच्चों के लिए प्रबन्ध कर देते, स्वयं दो बतासे, एक चापाकला (केला) और गुड़ खाकर सो जाते। शास्त्राध्ययन, साधना और अध्यापन में ये किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ने देते थे। स्वामी अभेदानंद नियमित रूप से उनके पास वेदांत पढ़ने आते थे। अमेरिका जाने से पहले स्वामी विवेकानंद भी ब्रह्म-विद्या के गूढ़ तत्त्वों का मर्म समझने के लिए इनकी सेवा में प्राय: उपस्थित होते थे। प्रमदादास मित्र का शिवप्रेरित बीमाकृत ३० रु० सहित लिफाफा इसी स्थिति में प्राप्त हुआ था। इनके आजीवन सेवक सतीशचंद्र पाल पहले पहल इसी मकान में इनसे आकर मिले थे। बाबाजी का मुख्य ग्रन्थ 'आर्यशास्त्र-प्रदीप' यहीं लिखा गया था।

सतीशचंद्र पाल योगत्रयानंदजी के एकांत सेवक थे। इनका जीवन बहुत अद्‌भुत है। मैं जब बाबाजी से घनिष्ठ रूपेण परिचित हो गया था, इनका मधुर व्यवहार देखकर मुग्ध हो जाता था। बाबाजी के साथ ये छाया की भाँति लगे रहते थे। उनके आदेश से ये रोगियों के पास ओषधियाँ भी पहुँचाते थे। इनके जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन का इतिहास बहुत ही अद्‌भुत है। एक दिन इनके गाँव में यात्रीगण (सचल धार्मिक नाट्य-मंडली) द्वारा प्रह्लाद-चरित नाटक अभिनीत हो रहा था। ये उसे देखने गये। उसका इनके चित्त पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि इन्होंने उसी दिन घर छोड़ दिया और हरिनाम लेकर भजन करने लगे। कुछ दिनों तक साधु-सेवा के लिए स्वामी विवेकानंद के मठ वेल्लूर में भी रहे। अंत में ये शिवराम किंकर के पास आ गये और फिर जीवनांत तक इन्हीं के साथ रहे।

बराहनगर से बाली के जमींदार राजेंद्रलाल सान्याल इन्हें साथ सपरिवार कलकत्ता ले गये। वहाँ कई वर्ष रहे। फिर महेंद्रदास नामक एक ठेकेदार की प्रेरणा से ये १९०६ ई० में काशी चले आये। यहाँ उन्होंने सोनारपुरा में एक मकान किराये पर लेकर इनको टिकाया। इसी समय बंबई के प्रसिद्ध वकील भाई शंकर काशी आये। योगत्रयानंदजी से वेदांत विषय पर उनकी देर तक अंग्रेजी में बातचीत हुई। वे इनके मौलिक विचारों को सुनकर मुग्ध हो गये। देह-त्याग के पूर्व उन्होंने जो वसीयत लिखी उसमें स्वामीजी के नाम कई हजार रुपये देने की व्यवस्था थी। उनके मरणोपरांत वे रुपये इनके पास आये। स्वामीजी ने वह सारा धन आर्त्त व्यक्तियों को कन्या-दान अथवा ऋणमुक्ति के लिए बाँट दिया। इनका प्रथम दर्शन मैंने शचींद्रनाथ सान्याल के साथ इसी सोनारपुरा वाले मकान में किया था।

इसी मकान में इनके पिताजी निमोनिया से पीड़ित हुए। इस समय उनकी अवस्था ७२ वर्ष की थी। योगत्रयानंदजी ने उनकी स्थिति देखकर जान लिया कि अब अंत समय है। समस्त कुटुंब जुट गया। इन्होंने उनके सारे शरीर में चंदन से राम-राम लिखा, फिर उनके सम्मुख समाधिमुद्रा में बैठ गये। थोड़ी देर बाद इनके दोनों हाथ ऊपर उठे। उसी समय पिताजी का प्राणवायु ब्रह्मतालु से निकला। बाद में जब इनसे पूछा गया कि आपने हाथ ऊपर क्यों उठाया था तो इन्होंने बताया कि मैंने पिताजी की देह में प्रवेश करके उनका प्राणवायु ब्रह्मतालु से निकलवाया है। यदि पिता की इतनी भी सेवा न करता तो मेरे पुत्रत्व से उन्हें लाभ ही क्या होता ? इस घटना का विवरण मुझे इनके दौहित्र श्री श्रुतिप्राण भट्टाचार्य ने बताया था।

१९१० ई० में योगत्रयानंदजी सोनारपुरा छोड़कर भदैनी चले गये। कश्मीर नरेश महाराज प्रतापसिंह यहीं इनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए थे। जिन दिनों ये भदैनी में निवास कर रहे थे,

कालीपद मुखोपाध्याय नामक एक शिष्य ने इनके निवास के लिये राजघाट पर एक मकान निर्मित कराया और इन्हें बड़े आदर के साथ ले जाकर वहाँ ठहरा दिया। उन्होंने इनकी सेवा के लिए १०० रु० मासिक का बंधान कर दिया। स्वामीजी इसी मकान में अपने तीन पुत्रों— विभूतिभूषण, फणिभूषण और इंदुभूषण के साथ रहने लगे।

राजा मोतीचंद योगत्रयानंद पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। एक दिन उनकी पत्नी, स्वामीजी के दर्शन के लिए आयीं। थोड़ी देर तक बातचीत करने के बाद जब वे जाने लगीं तो चुपके से एक लिफाफे में १००० रु० के नोट बाबाजी के आसन के नीचे रख दिये। वे अभी पालकी पर नहीं बैठी थीं कि स्वामीजी को इसका पता चल गया। उन्होंने तत्काल एक सेवक द्वारा रानी साहिबा को वापस बुलाकर उनसे पूछा : 'यह रुपया आपने कैसे रख दिया?' रानी साहिबा ने कहा : 'मैं आपकी लड़की हूँ। बच्चों के लिए ले आयी थी।' स्वामीजी ने कहा : 'अभी इसे अपने पास रखे रहो। बच्चों को जब आवश्यकता होगी चला आयेगा।' यह कहते हुए इन्होंने लिफाफा रानी साहिबा को लौटा दिया। रानी साहिबा को भय था कि प्रतिवाद करने से स्वामी जी कुद्ध हो जायेंगे इसलिए चिंतित मन से उसे रख लिया। उस समय स्वामीजी का मध्यम पुत्र फणिभूषण वहाँ उपस्थित था। उसकी आदतें ठीक नहीं थीं। प्राय: बाबाजी के नाम पर उनके कृपापात्र सेवकों से रुपया उधार लाकर नाना व्यसनों में व्यय किया करता था। दस-पंद्रह दिन बीतने पर वह राजा मोतीचंद की कोठी पर गया और रानी साहिबा से कहला भेजा कि बाबा ने रुपये माँगे हैं। रानी साहिबा ने उसे तत्काल १००० रु० दे दिया। इसके कई महीने बाद राजा साहब के एक कर्मचारी द्वारा स्वामीजी को इसका पता चला। वे पुत्र के इस व्यवहार से अत्यंत दुखी हुए। उन्होंने सोचा कि यदि मैं अब काशी में रहूँगा तो इसी प्रकार हमारे परिचितों से रुपया लेकर वह मुझे बदनाम कर देगा। उन्होंने तत्काल काशी छोड़ देने का निश्चय किया। यह घटना १९२० ई० के अक्तूबर की है। काशी से अंतिम विदा लेकर ये इसी महीने में कलकत्ता चले गये।

कलकत्ता में राधिकाप्रसाद राय ने इनके निवास-भोजनादि का पूरा प्रबंध कर दिया। किन्तु वहाँ के जन संकुल अशांत वातावरण में इनका मन नहीं लगा। इनके एक शिष्य मुजफ्फरपुर के वकील बाबू नगेंद्रनाथ चौधरी को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने उत्तरपाड़ा में गंगातट पर इनके रहने के लिए एक किराये का मकान ठीक कर दिया। ये परिवार सहित वहाँ चले गये। अपने जीवन के शेष वर्ष स्वामीजी ने यहीं बिताये। अंतिम दिनों में कुछ समय तक इनके एक शिष्य यतींद्रनाथ मुखोपाध्याय ने नियमित रूप से स्वामीजी के परिवार का व्यय-भार वहन किया।

देहांत के पूर्व स्वामीजी ने आतुर संन्यास ले लिया था। इसी स्थान पर २५ आश्विन १३३६ बंगाब्द (१९२९ ई०) में प्रायोपवेश के द्वारा योगत्रयानंद महाशय ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की।

शिवराम किंकर महाशय भगवान् के अनुगत अनन्य भक्त थे। व्यावहारिक जीवन में इन्हें जैसे आवश्यकतानुसार अपेक्षित वस्तु यथासमय अयाचित प्राप्त हो जाती थी, तत्त्वज्ञान के संबंध में भी यही स्थिति थी। इनके जीवन की निम्नांकित घटना से यह स्पष्ट हो जायगा।

पाणिनि-व्याकरण पर पतंजलिकृत महाभाष्य पढ़ने की इनकी बलवती इच्छा थी; किंतु उस समय बंगदेश में पाणिनि-व्याकरण का प्रचार अधिक नहीं था। अत: महाभाष्य पढ़ाने

योग्य पंडित बिरले ही मिलते थे। इस विषय के दो विद्वान् सर्वाधिक प्रसिद्ध थे—पंडित तारानाथ तर्कवाचस्पति और महामहोपाध्याय पं० गोविंद शास्त्री। शास्त्रीजी वाराणसी संस्कृत कॉलेज के प्राध्यापक पं० दामोदर शास्त्री के भाई थे। शिवराम किंकरजी उनसे पढ़ना चाहते थे। यही भाव लेकर ये उनके पास गये और पढ़ाने की प्रार्थना की। उस समय उनके पास कॉलेज के कई विद्यार्थी बैठे हुए थे अत: इनसे कहा, 'आज नहीं होगा, किसी दूसरे दिन आना।' जब ये दूसरे दिन गये तब भी उन्हें पढ़ाने का अवकाश नहीं था। तीसरे दिन बुलाया, फिर भी समय न दे सके। इसका कारण यह था कि वे बाहर के विद्यार्थियों को पढा़ने में यह सोचकर रुचि कम लेते थे कि इससे प्राध्यापक का गौरव नहीं बढ़ता । तीसरे दिन कोरा उत्तर पाकर शिवराम किंकरजी हताश हो गये। चलते समय उन्होंने शास्त्री जी का पैर पकड़ कर अत्यंत दीन भाव से निवदेन किया, 'अवश्य थोड़ा समय दीजिए। कोई दूसरा पढ़ाने वाला नहीं है।' किन्तु शास्त्रीजी पसीजने के स्थान पर क्रुद्ध हो गये। उन्होंने पैर झटक कर कहा, 'यहाँ से चले जाओ। मुझे फुरसत नहीं है।'

शास्त्रीजी के इस प्रकार के व्यवहार से शिवराम किंकर मर्माहत हो गये। मैं तो इनके पास केवल ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से आया था, किसी लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं, इस पर इन्होंने हमारा इतना अपमान किया यह सोचकर ये बहुत दुखी हुए। इन्होंने वहीं संकल्प किया, अब मैं किसी मनुष्य के पास ज्ञानार्जन के लिए नहीं जाऊँगा। इस घटना से चित्त में बहुत निर्वेद रहा। घर जाकर भोजन नहीं किया। रात भर नींद नहीं आयी। मन में बार-बार विचार उठता रहा कि मैं अभागा हूँ, जिज्ञासु हूँ किन्तु ज्ञान का देने वाला नहीं है। यह सोचते इनकी आँखें झँपने लगीं। रात में दो बजे के लगभग अकस्मात् इन्हें झटका लगा, देखा कमरे में दिव्य आलोक का प्रकाश हो रहा है। सामने शून्य में एक महापुरुष खड़े दिखायी दिये—जटाधारी, वृद्ध शरीर, निलंबित श्मश्रु, करुण नेत्र। समागत महापुरुष ने बहुत करुणा-भाव से शिवराम किंकरजी से पूछा,'तुमने आज भोजन नहीं किया। ऐसे ही पड़ रहे।' ये बोले, 'महात्मन्! मेरे मन में अत्यन्त कष्ट है', इसके साथ उन्होंने शास्त्रीजी द्वारा किये गये तिरस्कार का वृत्तांत रो-रो कर कह सुनाया, मैंने उनसे कोई अर्थ-याचना की नहीं, केवल ज्ञान-भिक्षा की, वह भी नहीं मिली। उलटे घोर उपेक्षा सहनी पड़ी।' महापुरुष ने सांत्वना देते हेतु कहा; 'घबडाओ मत। किसी ने तुमको माहभाष्य नहीं पढ़ाया तो क्या हुआ ? मैं पढ़ाऊँगा। मैंने ही उसकी रचना की है, क्या पढ़ा नहीं सकता ?' यह सुनकर शिवराम किंकर महाशय गद्गद हो गये और महापुरुष से पढ़ने के लिए महाभाष्य की प्रति सामने रख ली। इसके बाद महापुरुष ने क्या पढ़ाया इसका उन्हें पता नहीं, किन्तु कुछ देर तक पढ़ाया, ऐसा इन्हें आभास हुआ। महापुरुष अंतर्धान हो गये। उनके चले जाने के पश्चात् जब इन्हें लौकिक चेतना प्राप्त हुई तो तब उनका स्मरण कर रोने लगे। कृतज्ञता से इनका हृदय भर गया। इस दर्शन का प्रभाव यह हुआ कि दूसरे दिन प्रात:काल जब इन्होंने पढ़ने के उद्देश्य से महाभाष्य खोला तो ऐसा लगा जैसे सब कुछ इनका पढ़ा हुआ है। समग्र महाभाष्य ज्ञान-गोचर हो गया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्यशास्त्र-प्रदीप' में इन्होंने पंतजलि के व्याख्यान का किसी-किसी स्थान में उल्लेख किया है। विशेष रूप से पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग का रहस्य समझाने के विषय में प्रवृत्ति-लक्षण और संस्त्यान-लक्षण का विश्लेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।
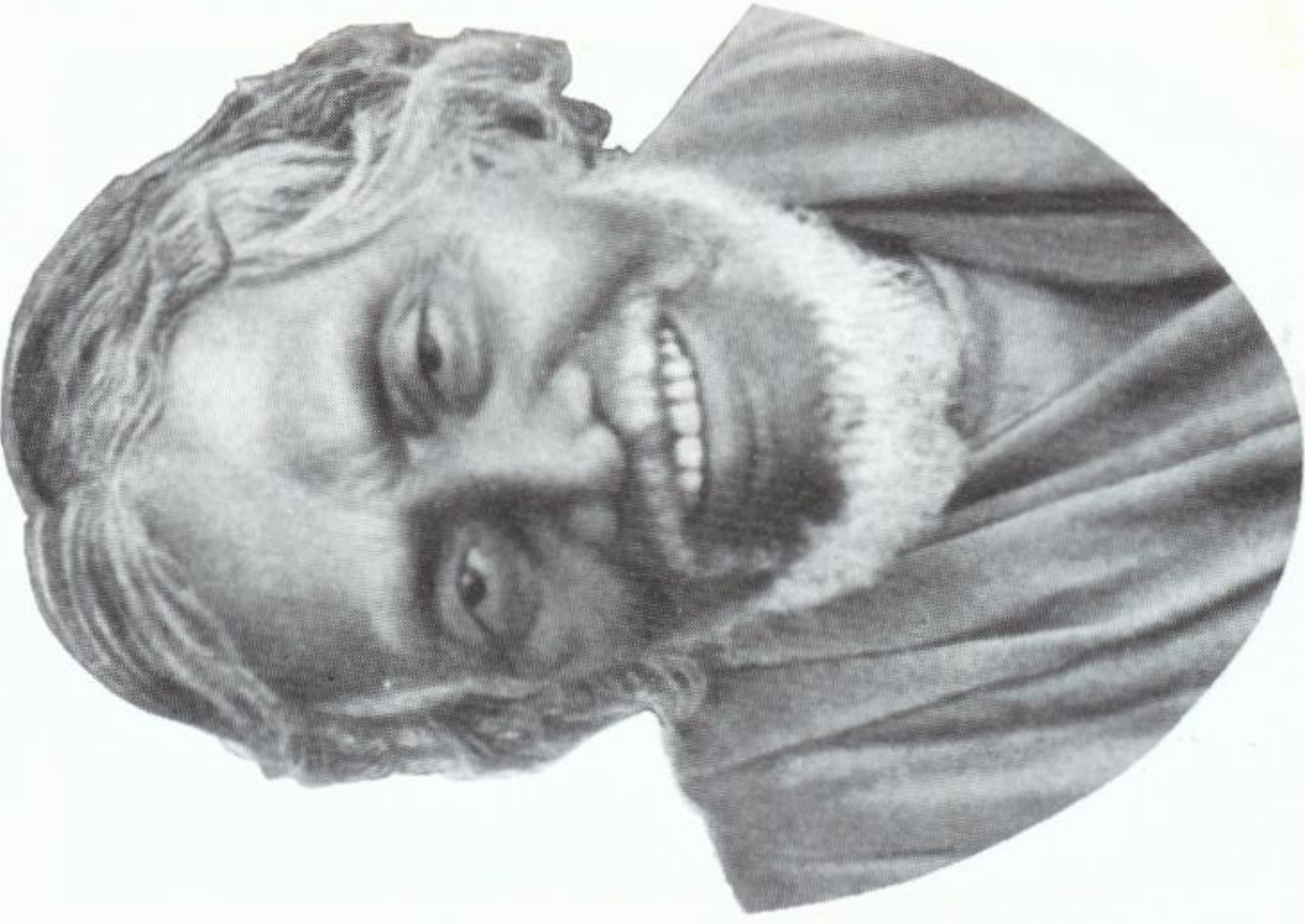
सिद्धिमाता

स्वामी प्रेमानन्द
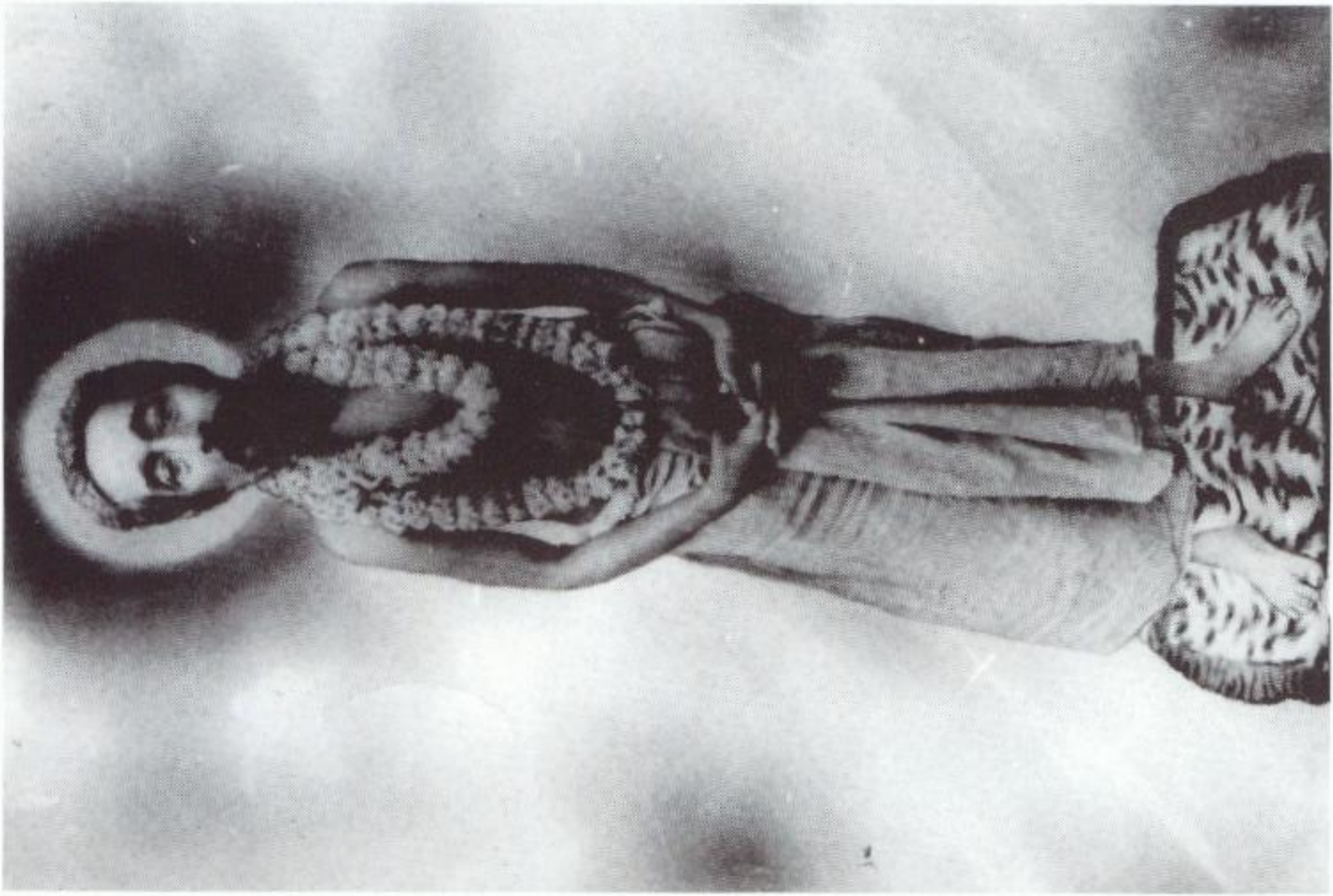
माधव पागला

स्वामी शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द

इसी प्रकार योगत्रयानंदजी ने मुझे एक दूसरी घटना बतायी थी जिसमें एक बार शिवरात्रि महापर्व की रात्रि में इन्होंने गौतम ऋषि से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। यह सब विषय साधारण मनुष्य-धारणा के अयोग्य है, परन्तु सत्य है।

४. भोलागिरि

इनका नाम लड़कपन से सुन रहा था। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी की भक्तमंडली में इनकी चर्चा बराबर होती थी। उसे सुनकर मैं इनके प्रति आकृष्ट हुआ था। तभी से इनके दर्शन की इच्छा तीव्र होती गयी, किन्तु उसकी पूर्ति में कई वर्ष लग गये।

१९१२ ई० में एक मित्र के साथ मैं हरद्वार गया था, यह मेरी पहली हरद्वार-यात्रा थी। संयोगवश इन दिनों ये महानुभाव वहीं विराज रहे थे। इसकी सूचना पाकर मैंने उनके गंगातटवर्ती आवास स्थल लालतारा बाग में जाकर दर्शन किया। इसके बाद कई दिनों तक निरंतर सत्संग करता रहा। इनकी विलक्षण प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुआ। बाबाजी ने अंतरंग भाव से अजपा-रहस्य के विषय में बहुत-सी बातें बतायीं। उनमें से अधिकांश गोपनीय हैं। प्रकाशयोग्य कुछ बातें ये थीं—

१. मनुष्य की स्वाभाविक श्वास की संख्या २१६०० मानी जाती है। इसलिए प्रतिश्वास के साथ नाम का संबंध रहना अजपा का गूढ़ तात्पर्य है। ऐसा न कर सकने पर भी नित्य जप चाहे एक समय में हो चाहे भिन्न समय में खंडशः हो, २१६०० से कम नहीं होना चाहिए।

२. प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन अपनी आय से कुछ अंश दान के लिए निकालना चाहिए।

इस सत्संग-काल में किसी-किसी विषय में इनकी विलक्षण अंतदृर्ष्टि तथा सामर्थ्य का परिचय मुझे मिला था। उस समय मैं विद्यार्थी था।

इसके बाद १९१८ ई० के कुंभ मेले में इनके दर्शन का पुनः सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अवसर पर समागत साधु-संतों ने इनको विशेष रूप से सम्मानित किया था।

५. देवनाथपुरा की भैरवी

१९१२ ई० में जब मैं एम० ए० में पढ़ता था, इनका दर्शन कभी-कभी होता था। उन दिनों मैं ५३, देवनाथपुरा में किराये का मकान लेकर रहता था। उसी मुहल्ले में ये हमारे घर के निकट ही एक शिवालय में रहती थीं, जो प्राचीन समय से ही सिद्ध शैव तथा शाक्तों द्वारा संश्लिष्ट रहा है। इनका वैशिष्ट्य इस बात में देखा गया था कि संध्या की आरती के समय उस मंदिर में जो लोग उपस्थित होते थे उन्हें ये अंत में कुछ न कुछ मिष्टान्न खाने को देती थीं। इनके पास एक झोला था। प्रसाद उसी में से निकाल कर बाँटती थीं। यह विशेषता थी कि चाहे जितने लोग हों इस छोटे झोले का मिष्टान्न कभी समाप्त होते नहीं देखा गया। इसीलिए लोग उसे 'सिद्ध की झोली' कहा करते थे। मालूम पड़ता था कि ये भैरवी माता तांत्रिक साधना में सिद्ध थीं। ये साक्षात् करुणा-मूर्ति थीं।

६. सतीशचंद्र मुखोपाध्याय

'डॉन सोसाइटी' के प्रतिष्ठाता तथा राष्ट्रीय आंदोलन के नवीन युगप्रवर्तक सतीशबाबू से यद्यपि वर्तमान समय में बहुत कम लोग परिचित हैं, परन्तु सर्वप्रकार से भारतीय स्वातंत्र्यधारा

की प्रचेष्टा के यथार्थ आदि पुरुष यही थे। 'डॉन सोसाइटी' तथा तत्संश्लिष्ट कार्यक्रम द्वारा बंगभंग के स्वदेशी आंदोलन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में इनका विशेष भाग रहा है। बंगीय नेशनल कॉलेज आफ एजुकेशन के भी मूल-प्रवर्तक यही थे। श्री अरविंद को राष्ट्रीय आंदोलन के कार्य में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से बड़ौदा से कलकत्ता लाने के मूल में भी इन्हीं का प्रधान उद्यम था। डॉ० राजेंद्रप्रसाद, डॉ० विनयकुमार सरकार, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ० सुरेंद्रनाथ दासगुप्त, सर अतुलचंद्र चटर्जी, हाराणचंद्र चकलादार प्रभृति मनीषी इन्हीं के अनुवर्ती थे। ये आबाल ब्रह्मचारी थे। इनक आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक १९वीं शती के प्रसिद्ध बंगदेशीय महापुरुष विजयकृष्ण गोस्वामी थे।

सतीशबाबू से मेरा परिचय महायुद्ध के पूर्व १९१४ ई० के आस-पास हुआ था। उस समय मैंने बनारस संस्कृत कॉलेज के सरस्वती भवन पुस्तकालय का कार्य-भार ग्रहण किया था। उन्हीं दिनों 'डॉन सोसाइटी मैगजीन' के संपादन-कार्य से निवृत्त होकर आचार्य सतीशचंद्र अस्वस्थ शरीर में विश्राम के लिए कलकत्ता से काशी आये थे और दशाश्वमेध के निकट टेढ़ीनीम मुहल्ले में रहते थे। इनके साथ छात्र तथा सेवक रूप में कई लोग थे जिनमें दो प्रधान थे—कृष्णदास और सतीशचंद्र गुह। कृष्णदासजी कुछ वर्षों के बाद सतीशबाबू के आदेश से महात्मा गांधी के पास जाकर उनके साथ अहमदाबाद तथा अन्य आश्रमों में रहे थे। 'यंग इंडिया' के संपादन में गांधीजी के साथ अपने सहवास का पूरा विवरण इन्होंने दो भागों में प्रकाशित किया था। ये (कृष्णदास) सतीशबाबू के साथ काशीवास करते हुए कभी-कभी पुस्तकों के लिए मेरे पास सरस्वती भवन में आया करते थे। इसी सूत्र से मैं सतीशबाबू के संपर्क में आया। शनैः शनैः घनिष्ठता हो गयी। फिर तो प्रायः सतीशबाबू मेरे घर पर प्रायः आने लगे। मैं भी अपराह्न में इनके टेड़ीनीम स्थित आवास स्थल पर जाया करता था। इनका घनिष्ठ सान्निध्य पाकर मैं अत्यन्त लाभान्वित हुआ।

इन्हीं दिनों इनके गुरुभ्राता, ब्रह्मचारी कुलदानंद की आध्यात्मिक डायरी 'सद्गुरु प्रसंग' का प्रकाशन आरंभ हुआ। सतीशबाबू उसका संशोधन करते थे। प्रथम पुस्तक (तृतीय खंड) प्रकाशित होने के बाद इन्होंने वह पुस्तक मुझे पढ़ने को दी थी। उसका प्रथम तथा द्वितीय खंड बाद में प्रकाशित हुआ। इस अपूर्व ग्रंथ का मेरे आध्यात्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसे प्रत्येक साधक का नित्य सहचर होना चाहिए।

सतीशबाबू क्षण-जन्मा महापुरुष थे। इनसे अपने जीवन का, विशेष रूप से गुरु-संबंध प्राप्ति का, अपूर्व वृत्तांत मैंने सुना था। पहले तो इनका गुरुलाभ ही आश्चर्यजनक था। एक दिन इन्होंने मुझसे कहा, 'मैं पूर्वावस्था में संदेहवादी (ऐगनॉस्टिक) था। मेरे पिता भी करीब-करीब उसी प्रकार भावापन्न थे। ईश्वर में दृढ़ विश्वास अथवा किसी साधु महात्मा का अनुगमन मेरी प्रकृति के विरुद्ध था। यहाँ तक कि श्री रामकृष्ण परमहंस के पास भी मैं कभी इच्छापूर्वक नहीं गया। मेरे जीवन में अलौकिक उपाय से सहसा परिवर्तन संघटित हुआ। मैं गोस्वामिपाद (श्री विजयकृष्ण गोस्वामी) के आकर्षण में विचित्र प्रणाली से पड़ गया।'

सतीशबाबू उस समय महान् पुरुष के रूप में प्रसिद्धि लाभ कर चुके थे। इनका विद्याबल, चरित्रबल तथा नैतिक-उत्कर्ष अतुलनीय था। ये स्वामी विवेकानंद के समकालीन ही नहीं थे, उनसे घनिष्ठ रूपेण परिचित भी थे। विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय के एक शिष्य

इनके मित्र थे। उनकी इच्छा थी कि किसी न किसी प्रकार से ये गोस्वामीजी के सान्निध्य में आ जायें, जिससे इनके जीवन में मांगलिक परिवर्तन संघटित हो सके। उन्होंने अपनी इच्छा गोस्वामीजी से व्यक्त की। उनका आदेश था, 'कल सतीशचंद्र को लेकर आ जाना।' मित्र ने सतीशचंद्र से सारी व्यवस्था कह सुनायी, किंतु ये गोस्वामीजी के पास जाने के लिए सहमत नहीं हुए। उस दिन बात यहीं समाप्त हो गयी। दूसरे दिन, इस आशंका से कि कहीं मित्र महोदय बुलाने न आ जायें, ये प्रात: ही घर से निकल गये। भाव यह था कि किसी प्रकार गोस्वामीजी के यहाँ जाना न हो सके। इन्हें डर था कि महात्मा के समक्ष उपस्थित होने पर उनके व्यक्तित्व के संमोहक प्रभाव में आकर हो सकता है, मेरे विचार परिवर्तित हो जायें। इसलिए ये गोस्वामीजी के घर की विपरीत दिशा में चले। आश्चर्य की बात यह है कि विभ्रांत रूप से इधर-उधर घूमते-घूमते पिपासा से कातर होकर आगे बढ़ने नहीं पाये। इच्छा हुई कि सामने जो मकान दिखायी पड़े वहीं से थोड़ा सा पानी लेकर अपनी प्यास बुझायें। उस समय इनका ज्ञान स्वाभाविक स्थिति में नहीं था। ऐसा लगता था मानो यंत्रचालित की भाँति आगे बढ़ रहे हैं। इतने में उस मकान के द्वार पर आ गये। देखा, एक युवक बैठा हुआ है। उससे कहा : 'प्यासा हूँ, थोड़ा पानी ला दीजिए।' युवक बोला, 'मेरे साथ ऊपर चलिये आपको पानी मिल जायगा। मैं आपके लिए ही यहाँ बैठा हूँ।' यह कहते हुए वह इन्हें उस मकान के इकतल्ले पर ले गया। वहाँ जाकर इन्होंने देखा कि कमरे में एक आसन बिछा हुआ है। इनको अब ज्ञात हुआ कि वह मकान गोस्वामी विजयकृष्ण का ही है और इन्हें ऊपर ले जाने वाला युवक गोस्वामीजी का पुत्र योगजीवन है। यह देखकर इनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, क्योंकि इनका संकल्प था कि किसी भी प्रकार गोस्वामीजी के पास नहीं जाना है। इसी उद्देश्य से ये उनके निवास-स्थान की विपरीत दिशा में अपने घर से रवाना हुए थे। न जाने किस शक्ति से प्रेरित होकर ये मुग्धावस्था में वहीं पहुँच गये!

इतने में गोस्वामीजी का कमरे में पदार्पण हुआ। वे आते ही सतीशबाबू को संबोधित करते हुए बोले, 'आप ठीक समय पर आ गये। मैं प्रतीक्षा कर रहा था।' यह कहकर वे इन्हें पास के दूसरे कमरे में ले गये। वहाँ पहले से ही आसन बिछा था। गोस्वामीजी ने कहा : 'यहाँ बैठिये, आपकी दीक्षा होगी।' ये आश्चर्यचकित हो गये किन्तु प्रतिवाद करने की सामर्थ्य नहीं थी, बोले : 'मैं तो यहाँ आना नहीं चाहता था, कैसे आ गया?' गोस्वामीजी ने कहा : 'अवश्यंभावी अवश्य होता है। आज ही आपके दीक्षा ले का दिन है।' सतीशबाबू नतमस्तक हो आसन पर बैठ गये और गोस्वामी जी ने उन्हें विधिवत् दीक्षा प्रदान की। इस संस्कार के समाप्त होते ही इनके अंतर्जीवन में विचित्र अनुभूतियों का उदय हुआ, व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन संघटित हो गया। इसी समय इन्हें अपने तथा गुरुदेव के यथार्थ स्वरूप का दर्शन हुआ। दोनों में क्या संबंध है, इसका भी साक्षात्कार हुआ। इन्हें अनुभव हुआ कि यही संबंध नित्य संबंध है, जो अनंतकाल तक वर्तमान रहता है। इनके अंतर्नेत्र खुल गये।

इसके बाद ये घर आये—मंत्र-मुग्धवत्। मन में प्रश्न उठने लगा कि यथार्थ सत्य वस्तु—भगवत्सत्ता है या नहीं? इस विषय में इन्हें अनेक दिव्य अनुभूतियाँ हुईं परंतु संशय निर्मूल नहीं हुआ। मन में आया, यह किसी अलौकिक शक्ति का प्रभाव तो नहीं है? इस प्रकार तर्क-वितर्क में सारा दिन बीत गया। संध्या समय जब ये स्नानगार में गये तो वहाँ इन्हें ऐसा

अनुभव होने लगा जैसे इनकी समग्र सत्ता—मन, देह, प्राण सबको निचोड़ कर एक भावमय ध्वनि उत्थित हो रही है—'मैं हूँ! मैं हूँ! मैं हूँ!' यह कोई शब्द नहीं था, न भीतर का न बाहर का ही, फिर भी शब्द था, शुद्ध बोधात्मक। इसी समय से भगवत्सत्ता के विषय में इनके संशय की सम्यक् निवृत्ति हो गयी और जीवन में फिर कभी उसका उदय नहीं हुआ।

सतीशबाबू के जीवन में गुरुदेव का प्रभाव आदि से अंत तक बना रहा। पहले ये गोस्वामीजी के अन्य शिष्यों की भाँति जप करने के लिए प्रवृत्त हुए, किन्तु गुरुदेव इनसे विलक्षण व्यवहार करने लगे। अन्य शिष्यों के लिए नियम था, अधिकार के अनुसार क्रमशः जप की संख्या बढ़ाना, किन्तु इन्हें वे क्रमशः जपसंख्या कम करने का उपदेश देते थे। इससे ये कभी-कभी घबड़ा जाते थे। अंत में गोस्वामीजी ने एक दिन कहा, 'अब आपको जप करना नहीं होगा। आपके लिए जो करणीय है वह मैं करूँगा। अब आपके लिए साधना की आवश्यकता नहीं है। वह अवस्था समाप्त हो गयी। परंतु आपका कुछ कार्य शेष है उसे करना पड़ेगा, क्योंकि उसे आपके पक्ष से मैं नहीं कर सकता। आपको लोक शिक्षा के लिए प्रयत्न करना होगा, क्योंकि वही आपका प्रारब्ध कर्म है। उसी के लिए आपको जन्म लेना पड़ा, साधना करने के लिए नहीं।

गुरुदेव के इस आदेश के बाद ही मुखोपाध्याय महाशय ने 'डॉन सोसाइटी' की स्थापना की। उसकी मुखपत्रिका प्रकाशित की और समय-समय पर बृहत् अधिवेशनों की व्यवस्था की। यह सब करते हुए एक दिन गोस्वामीजी से पूछा, 'यह कब तक चलेगा ?' गुरु ने कहा, 'तब तक चलेगा जब तक मैं मना न करूँ। मेरे कहने से इसका आरंभ हुआ है, जब मैं कहूँगा तब इसे बंद करियेगा।' 'डॉन सोसाइटी' और उसकी मैगजीन का कार्य इस प्रकार १८९८ ई० से लेकर १९१४ ई० तक अनवरत रूप से चलता रहा। इतने दिनों के भीतर बंगदेश में जागृति लाने का जो कार्य सतीशबाबू ने किया वह अनन्य-साधारण था। १९१४ ई० में गुरु के निर्देश से इसका पटाक्षेप हुआ।

आध्यात्मिक जीवन के प्राथमिक युग में एक दिन इनका चित्त बहुत व्याकुल हो गया। इसका कारण था संसार का दुःखानुभव। इन्हें सदैव चिंता रहती थी कि आर्त्तजनों का कष्ट कैसे दूर किया जाय। दुःख की परम निवृत्ति ही मोक्ष है, यह इन्हें ज्ञात था परंतु यह प्राप्त हो सकेगा, इसमें इन्हें संशय था। इसी व्याकुलता की स्थिति में चिंता करते-करते ये बिना कुछ खाये ही सो गये। महानिशा के समय इनके कमरे में उज्ज्वल आलोक का प्रकाश हुआ। सतीशबाबू ने देखा एक महापुरुष सामने खड़े हैं। उनकी देह ज्योतिर्मय थी, मुख पर अपार करुणा देख पड़ती थी। वे इनको संबोधित करते हुए बोले : 'बेटा, चिंताग्रस्त क्यों हो ? तुम्हें इतना कष्टानुभव क्यों हो रहा है ?' सतीशबाबू ने निवेदन किया : 'महाराज, यह अनित्य संसार और जागतिक कष्ट देखकर मेरा चित्त व्याकुल हो गया।' महापुरुष ने कहा : 'मैं तुम्हारा कष्ट देखकर यहाँ आया हूँ। एक शब्द दे रहा हूँ उसे ग्रहण करो, तुम्हारा कष्ट सदा के लिए दूर हो जायगा।' सतीशबाबू को ऐसा आभास हुआ कि महापुरुष उन्हें कोई मंत्र देना चाहते हैं। महापुरुष ने इन्हें द्विविधाग्रस्त देखकर आगे कहा :'तुम कुछ सोच-विचार न करो। मेरे आदेशानुसार शब्द ग्रहण करो। उसके प्रभाव से तुम्हारे समस्त दुखों की परम निवृत्ति हो जायगी।' क्षण भर के लिए इनके मन में आया : 'महापुरुष के निर्देशानुसार शब्द ग्रहण कर

लूँ, इसमें हर्ज ही क्या है ? दु:ख तो दूर हो जायगा।' यह विचार आते ही सहसा इनके हृदय में धक्का लगा। इन्हें अनुभव होने लगा कि मेरे हृदय में व्यभिचार भाव आ गया। ये सोचने लगे : 'मैं तो गुरु का शिष्य हूँ। यदि दु:ख की निवृत्ति होनी है तो उन्हीं से होगी। मैं इसके लिए किसी दूसरे पर दृष्टिपात क्यों करूँ ?' यह चित्त की अस्थिरता का लक्षण है।' फिर ये समागत महापुरुष से बोले : 'महाराज, आप मेरा दु:ख दूर करने के लिये जो देना चाहते हैं, उसे मैं लेना नहीं चाहता। क्योंकि अगर उस वस्तु की मेरे लिए आवश्यकता होती तो उसे मेरे गुरुदेव ही प्रदान कर देते। आप से क्यों लूँ ? हमारे चित्त में चांचल्य उपस्थित हो गया है। मेरा दु:ख रहे तो रहे, आपके द्वारा उसे दूर करना नहीं चाहता। जो कुछ करेंगे गुरु ही करेंगे।' यह सुनकर महापुरुष अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद देते हुए बोले : 'मैं तुम्हारी गुरुभक्ति देखकर प्रसन्न हूँ। तुम यह शब्द लेने को उद्यत नहीं हुए, यह देखकर मेरे मन में आनंद हुआ। तुम जो कुछ पाओगे गुरु से ही पाओगे। मैं तुमको हृदय से आशीर्वाद करता हूँ कि तुम इससे भी बड़ी वस्तु प्राप्त करोगे।' यह कहकर वे अकस्मात् वहीं अन्तर्हित हो गये। इसके बाद रात में सतीशबाबू को नींद नहीं आयी।

प्रात: उठकर तथासंभव नित्य कृत्य करके ये व्याकुल-हृदय गुरु से मिलने गये। संयोगवश उन दिनों गोस्वामीजी कलकत्ता में ही थे। गुरुदेव से भेंट हुई । एकांत पाकर इन्होंने उनसे रात का सारा वृत्तांत कह सुनाया और पूछा, 'ये महापुरुष कौन थे ?' गोस्वामीजी ने बताया, 'ये एक सिद्ध महापुरुष थे। ये लोग महानिशा में संचरण करते हैं और योग्य आधार में वस्तु दे भी देते हैं। तुमने लिया क्यों नहीं ?' लेने से तुम्हारी दु:ख-निवृत्ति हो जाती, इसमें संदेह नहीं।' सतीशबाबू ने कहा : 'मेरे मन में आया कि इसे ग्रहण करने से हृदय में व्यभिचार भाव आ जायेगा। लेना है तो गुरु से ही लूँगा, इनसे क्या लूँ ?' किंतु महाराज, एक बात समझ में नहीं आयी। जानता हूँ दु:ख-निवृत्ति ही मोक्ष है, इससे बड़ी वस्तु क्या हो सकती है, जिसे महापुरुष ने प्राप्त करने का मुझे आशीर्वाद दिया है।' गोस्वामीजी इसका समाधान करते हुए बोले : 'मोक्ष अध्यात्म-साधना का अंतिम सोपान नहीं है। इससे भी बड़ी वस्तु है। कितने सिद्ध तथा भक्त महापुरुष मुक्ति प्राप्त करके भी रो रहे हैं, परम वस्तु के अभाव में अशांत चित्त हैं। मुक्त होने से क्या होता है ? उससे जीवन सफल नहीं होता।' सतीशबाबू ने कहा : 'सुना है मोक्ष-प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। क्या उससे भी बड़ी कोई वस्तु है ?' गोस्वामीजी बोले : 'हाँ, है।' सतीशबाबू ने कहा : 'वह वस्तु क्या है ?' गोस्वामीजी ने सतीशबाबू को अपने पास खींचकर उनके कान में कहा : 'हाँ, मोक्ष से भी बड़ी वस्तु है। जानते हो वह क्या है ? उसका नाम है भगवत्प्रेम, जिसके लिए मुक्त पुरुष भी, अत्यन्त दु:ख-निवृत्ति प्राप्त करते हुए भी, हाहाकार करते हैं। यह सबको नहीं मिलता।'

कलकत्ता से पुरी जाने के पूर्व गुरुदेव ने इन्हें एकांत में बुलाकर एक आदेश दिया था और उस पर बहुत जोर देकर कहा था कि उसका पालन इन्हें यथाशक्ति आजीवन करना पड़ेगा। इस आदेश का उद्देश्य था कि सतीशचंद्र पूर्ण रूप से भगवान् के ऊपर निर्भर करके रहें। अर्थोपार्जन की चेष्टा न करें। कलकत्ता हाईकोर्ट की जमी हुई वकालत तो इन्होंने पहले ही छोड़ दी थी—गुरु ने कहा कि भविष्य में भी अर्थ के लिए कोई नौकरी न करें। पुस्तक प्रकाशनादि द्वारा भी अर्थागम न करें। कोई व्यापार न करें और किसी से

अपने प्रयोजन के लिए धन न माँगें। कभी किसी के निकट अपना अभाव निवेदन न करें। अर्थोपार्जन के सभी स्रोतों का इस प्रकार तिरस्कार करते हुए भी गुरु ने इन्हें अच्छे मकान में सेवक तथा अनुयायियों सहित आराम से जीवन यापन करने का आदेश दिया। यह अत्यंत अद्‌भुत और कठोर आदेश था, परन्तु सतीशबाबू ने जीवन के अंतिम मुहूर्त तक इसका अक्षरशः पालन किया।

मैं जिस समय १९१४ ई० में सतीशबाबू से पहली बार मिला था, मैंने देखा कि तब से इनके देहावसान काल १९४८ ई० तक इसमें कभी रंचमात्र भी व्यतिक्रम नहीं हुआ था। प्रति माह सैकड़ों रुपये आते थे। अधर्मोपार्जित धन कभी ग्रहण नहीं करते थे। प्रयोजन न होने पर किसी का स्वतः प्रवृत्त होकर दिया हुआ धन भी वे स्वीकर नहीं करते थे। एक दिन कलकत्ता के प्रसिद्ध सेठ गौरीशंकर गोयनका इनका दर्शन करने गये। सतीशबाबू उस समय एक फटा कुर्ता पहने हुए थे। यह देखकर सेठजी के मन में बड़ा कष्ट हुआ। दूसरे दिन उन्होंने अपने एक कर्मचारी के हाथ नया कुर्ता उपहार-रूप में उनके पास भेजा और उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की। सतीशबाबू ने उसे यह कहते हुए लौटा दिया : 'अभी इसी कुर्ते से हमारा काम चल जाता है। दूसरे की आवश्यकता नहीं है। इस समय इसे ग्रहण करने पर गुरुदेव अप्रसन्न होंगे।' इसी प्रकार इनके पास नाना स्थानों से प्रतिमास जो धन आता था अपने व्यय-निर्वाह के पश्चात् अवशिष्ट धन आश्रम में न रखकर ये जगन्नाथ जी के भोग के निमित्त पुरी भेज दिया करते थे। कभी-कभी ये इस प्रकार बचे हुए धन को विभिन्न प्रकार के धर्मकार्यों में लगा देते थे। तिरोधान के समय इनका आदेश था कि मेरे चले जाने पर ये धर्म-कार्य बन्द न हों। आश्चर्य यह है कि इनके दिवंगत होने के बाद भी गुरुकृपा तथा भगवत्‌चरणों में उनकी अगाध निष्ठा के प्रभाव से वे कार्य पूर्ववत् चलते रहे।

सतीशबाबू कहा करते कि साधन-जीवन में साधक को मुक्ति-प्राप्ति के अनंतर यह अनुभव होता है कि मैं उनका हूँ। जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक इस प्रकार का अनुभव यर्थाथ रूप से हो ही नहीं सकता। श्रीमूर्ति-दर्शन पूर्ण आत्मसमर्पण रूप है। उसमें 'मैं उनके ऊपर निर्भर करूँगा' यह भाव भी नहीं रहता। अपनी ओर से कुछ भी संभव नहीं है। उस समय 'प्रभु ने मुझको ग्रहण कर लिया है' केवल यही अनुभव होता है। 'जो कुछ मैं कर रहा हूँ सब काम उन्हीं का है, इस भाव की प्रतिष्ठा हो जाती है। साधक का मुख्य उद्देश्य है भगवान् अथवा श्रीगुरु की प्रीति या प्रसन्नता-लाभ करना। अपने प्रयत्न से कामना-सिद्धि नहीं होती, इससे साधक का कर्तृत्वाभिमान नष्ट होता है। यह अभिमान जितना क्षीण होगा और भगवत्-कर्तृत्व अनुभव में आने लगेगा उतनी ही साधना की लभ्य वस्तु निकट होने लगेगी। अपने प्रयत्न से लभ्य वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करने से सफल होने पर अहंकार की वृद्धि और विफल होने पर विषाद की प्राप्ति अवश्यंभावी है। साधक की प्रारंभिक आकांक्षा क्या है ? उनकी प्रीति संपादन करना या अपनी प्रीति संपादन करना—इसका निर्णय करके ही उसे साधन-पथ पर अग्रसर होना चाहिए। यथार्थ आकांक्षा क्या है ? इसी पर सब निर्भर करता है।

जीव को जितना कष्ट और उसकी जो दुर्दशा होती है उसके मूल में है भगवान् के प्रति वैमुख्य। माया की चक्की में पड़े हुए जीवन का भगवद् विस्मरण की प्रधान रोग है। उसको नष्ट किये बिना जप, ध्यान, अनुष्ठान आदि के द्वारा आनंदानुभव या हृदय को सरस करना सामयिक एवं ब्राह्य अनुष्ठान मात्र है, इनसे भव-रोग का बीज नष्ट नहीं होता। यदि यह

वैमुख्य निवृत्त हो जाय तो जो कुछ आकांक्षा सर्वदा चित्त में जगी हुई रहती है, वह भी निवृत्त हो जायगी। साधन-भजन के द्वारा आनंदलाभ होगा ऐसी इच्छा न रखने पर ही उसका यथोचित रीति से संपादन हो सकेगा। अपनी चेष्टा या स्वतंत्र शक्ति का आश्रय करने पर आनंद की आकांक्षा अवश्य होगी—उस समय आनंद न प्राप्त होने पर चित्त म्रियमाण हो जायगा और साधना में मन लगेगा नहीं। ऐसी स्थिति में यह भाव रखना चाहिए कि जो कुछ करेंगे तत्प्रीत्यर्थ करेंगे, अपने आनंद के लिए नहीं। भगवद्वैमुख्य होने पर कर्तृत्वाभिमान होता है जिसके फलस्वरूप गुरु के ईप्सित मार्ग में चलने के लिए अपनी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। यह जो तत्प्रीति है, उसी का नाम भगवत्सेवा है। यह जिस साधक के जीवन का उद्देश्य है उसके जीवन में सफलता-विफलता कुछ नहीं रहती। भगवत्प्रीति के लिए यथाशक्ति चेष्टा करना यही लक्ष्य रहता है। भगवत्प्रीति के लिए यदि साधक किसी कार्य में प्रवृत्त हो और उसके मन में किसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की आकांक्षा न रहे, तो कार्य की सब त्रुटियों का हृदय में बैठी हुई गुरु-शक्ति ही शोधन कर देती है। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि यथार्थ धर्म-जीवन का आदर्श अनुभूतिलाभ न होकर श्रीगुरुचरणों में आत्म-निवेदन है। आत्मनिवेदन रहने पर अपना लाभ या आध्यात्मिक अनुभव की प्राप्ति, साधना का आदर्श नहीं रह सकता। यर्थाथ उन्नति आध्यात्मिक अनुभव से नहीं होती, उससे तो केवल अंहकार की वृद्धि होती है। किन्तु आत्मनिवेदन के उपरांत जिस आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति होती है, उससे अहंकार-वृद्धि नहीं होती। मुक्तपुरुष मात्र को अलौकिक तथा असामान्य शक्तियों का अनुभव होता है, परंतु वह निरापद है। किन्तु मुक्तिलाभ करने के पहले इन शक्तियों का अनुभव करने से विपत्ति होती है। इससे आत्माभिमान स्फीत हो जाता है और धर्मजीवन में प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। भगवान् के चरणों में आत्मनिवेदन करने से वे आश्रित जीव को आत्मसात् कर लेते हैं। शक्ति, अनुभूति ये सब बाहर की वस्तुएँ हैं। इनमें आसक्ति रहने से परम वस्तु से दूर रहना पड़ता है, यहाँ तक कि उसकी गोदी में बैठने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती। अत: साधक का मुख्य उद्देश्य है 'उसकी गोदी में बैठा हुआ हूँ' इस भाव की उपलब्धि। उस स्थिति में भय नहीं रहता। उनकी कृपा से शत-शत अनुभूतियों का क्रमश: स्फुरण होता है—किन्तु साधक की उन पर सतृष्ण दृष्टि नहीं पड़ती, क्योंकि आत्मनिवदेन के द्वारा उसके अहंकार का सर्वथा लोप पहले ही हो चुका है। इसलिए नाम-जपादि को साधना का उद्देश्य नहीं मानना चाहिए। भगवत्प्रीति के लिए भगवदादेश-पालन ही साधक का एकमात्र लक्ष्य रहना चाहिए।

भगवदाश्रय की भाँति गुरु-शरणागति के विषय में भी उनका सिद्धांत था कि शिष्य को साधना तब तक करनी चाहिए जब तक वह गुरु-अनुगत न हो जाये। इसके पश्चात् गुरु ही सब कुछ कर लेते हैं। जो श्रीगुरुचरणों का आश्रय लेकर पड़ा रहता है, उसे फिर कुछ करना शेष नहीं रह जाता, उसके सारे कार्य समय से शनै: शनै: स्वत: हो जाते हैं।

सतीशबाबू साधन के तीन स्तर बताते थे— (१) शिशुभाव से जीव सेवा—प्रतिजीव ही भगवान् की संतान या शिशु है। यह मानकर जीव मात्र की सेवा करना—यह अपने देश, जाति या संप्रदाय का है, यह समझ कर नहीं। (२) शास्त्रानुवर्तन और (३) भगवदाराधन—यह तब होता है जब भगवान् से साक्षात् संबंध स्थापित हो जाये। इन तीन स्थितियों को पार करने पर साधन दशा समाप्त हो जाती है, तब भजन का आरंभ होता है।

सतीशबाबू की जीवन-यात्रा के उत्तरोत्तर विकासशील निम्नांकित तीन स्तरों में ये स्थितियाँ स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होती हैं।

प्रस्तावना काल

१८६५ से १८९७ ई०—इस काल खंड में इनकी शिक्षा, अध्यापन, वकालत, दीक्षा तथा वित्तैषणा समाप्त हो चुकी थी और ये आकाश-वृत्ति धारण कर एषणाहीन जीवन व्यतीत करने लगे थे। यह इनके आध्यात्मिक जीवन की भूमिका मात्र थी।

प्रथम स्तर

१८९७ से १९१३ ई०—यह इनकी जीव-सेवा का काल है। हाईकोर्ट की प्रैक्टिस छोड़ने के बाद ये एकांत-सेवन और योग-साधना में निरत हुए थे। किन्तु इनके गुरु का कहना था कि ये सब साधन इनके लिए आवश्यक नहीं हैं—इनका मुख्य कर्तव्य है जगत् में लोक-शिक्षा का कार्य-संचालन, निःस्वार्थ रूप से जन-सेवा ही वे इनके जीवन का लक्ष्य बताते थे। आर्थिक दृष्टि रखकर कोई काम करने का इन्हें निषेध था। गुरु के आदेशानुसार इन सोलह वर्षों में सतीशबाबू ने शिक्षा-विस्तार का बहुत काम किया। 'डॉन सोसाइटी', 'भागवत चतुष्पाठी' आदि संस्थाओं की स्थापना कर इस बीच इन्होंने बंगदेश में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया।

द्वितीय स्तर

१९१३ से १९३० ई०—यह इनके शास्त्रानुवर्तन का काल है। मेरे साथ इनका परिचय इसी भूमि में हुआ।

तृतीय स्तर

१९३० से १९४८ ई०—यह इनके भगवदाराधन का काल है जिसका आरंभ भगवत्साक्षात्कार के पश्चात् हुआ था। इसकी परिणति इनके तिरोधान के साथ १८ अप्रैल, १९४८ ई० को हुई।

इनके गुरु गोस्वामी विजयकृष्ण का कहना था कि ये पूर्व दो जन्मों से संन्यासी थे और यह इनका अंतिम जन्म है। यह जन्म भी इन्होंने प्रायः वैसे ही बिताया। अंतिम १८ वर्षों में इनके निवास-स्थान में अन्नपाक नहीं हुआ। गुरुदेव की कृपा से अंत में इन्होंने भगवत्प्रेम लाभ किया—इसी को वे परम पुरुषार्थ मानते थे।

सतीशबाबू का अपने समकालीन कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों से बड़ा ही सौहार्द था। इस संबंध में दो-एक संस्मरण नीचे दिये जाते हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी सतीशबाबू के बालबंधु थे। दोनों प्रेसिडेंसी कॉलेज में बहुत दिनों तक साथ पढ़ चुके थे। आशुतोष महाशय कक्षा में गणित में प्रथम थे और सतीशबाबू अंग्रेजी में। दोनों में प्रगाढ़ मैत्री थी। एक दिन जब सतीशबाबू काशीवास कर रहे थे—सर आशुतोष उनसे मिलने आये। दोनों में बहुत देर तक बातें होती रहीं। आशुतोष महाशय इनके विचारों तथा जीवन-पद्धति से बहुत प्रभावित हुए। बिदा होते हुए वे बोले—'सतीश, पढाई और प्रैक्टिस के समय हम दोनों बराबर रहे। परंतु अब देखता हूँ कि तुम जीत गये, मैं हार गया।'

गाँधीजी इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। जहाँ तक मैं जानता हूँ, असहयोग आंदोलन के प्रसंग में जब पहले पहल उनका सतीशबाबू से साक्षात्कार हुआ तब से लेकर जीवनांत तक उनसे इनका संबंध बराबर घनिष्ठ ही बना रहा। दोनों महापुरुषों में पत्र-व्यवहार नियमित रूप से होता था। प्रारंभ में असहयोग आंदोलन चलाने तथा 'यंग इंडिया' के संपादन में सतीशबाबू ने नाना प्रकार से अपनी शक्ति के अनुसार सहायता दी थी। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद (प्रथम राष्ट्रपति) गाँधीजी के परम भक्त थे और इनके अत्यंत प्रिय शिष्य। उनके माध्यम से गाँधीजी के साथ सतीशबाबू का निरंतर भाव-विनिमय होता था।

सतीशबाबू गाँधीजी के नैतिक जीवन के उत्कर्ष, निष्ठा, शुद्धिवृत्ति, सात्विक आचार आदि से बहुत प्रभावित थे, परन्तु एक विषय में दोनों में पर्याप्त मतभेद था। सतीशबाबू परम गुरुभक्त थे। गुरु की कृपा से ही वे पूर्ण साक्षात्कार के अधिकारी हुए थे। उन्होंने सद्‌गुरु लाभ कर और अपने को गुरु के अधीन रखकर ही जीवन में कृतार्थता लाभ किया था। उनका लक्ष्य था गुरु की आज्ञा का पालन करना और उसके लिए पूर्ण रूप से आंतरिक भाव से सचेष्ट रहना। इस क्षेत्र में वे अपने विचार अथवा विवेक का आश्रय लेना ठीक नहीं समझते थे। 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' ही उनके जीवन का मूल मंत्र था। गाँधीजी का विचार इसके विपरीत था। उनका सिद्धांत था शुद्धभाव और आचार से रहते हुए अपने विवेक की वाणी का अनुसरण करना और उसके अनुसार जीवन को संचालित करना। वे यह अवश्य मानते थे कि विवेक की वाणी से कदाचित् भ्रम भी हो सकता है, क्योंकि मनोमय भूमि में स्थिति के कारण, संस्कार का प्रभाव रहता है। इसलिए इस विवेक की वाणी को भी कल्पना से उद्‌भूत समझ कर वे कभी-कभी उसका परित्याग करते थे, परंतु यह भी शोषित विवेक की वाणी के प्रभाव से। अंत में युक्तिपूर्ण विचार ही उनके मत में कर्तव्याकर्तव्य का नियामक था। गुरु का आदेश यदि युक्ति-विरुद्ध मालूम पड़े, अपने विवेक के प्रतिकूल प्रतीत हो, तो उसे मानने के लिए वे तैयार नहीं होते थे। इस प्रत्यक्ष विरोध के बावजूद वस्तुतः दोनों महापुरुषों के दृष्टिकोण में गूढ़ सत्य निहित है। सद्‌गुरु का साक्षात्कार जब तक नहीं होता है, तब तक विवेक अथवा विचार का अवलंन करना ही पड़ता है, अन्यथा कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कैसे होगा ? सद्‌गुरु-प्राप्ति के अनंतर हृदय में विचार-बुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं होता। गाँधीजी ने अनेक स्थलों पर आत्मालोचन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि उनकी चित्तवृत्ति की धारा ही ऐसी है कि उनके लिए तत्काल गुरुप्राप्ति कठिन है। अतः लौकिक दृष्टिकोण से गाँधीजी का विचार ठीक है और तात्विक दृष्टि से सतीशबाबू का।

७. अंधा मास्टर

उन दिनों मैं बनारस संस्कृत कॉलेज के सरस्वती भवन में काम करता था। कभी-कभी लोगों के मुख से एक महात्मा का नाम सुनता था। ये बंगाली टोला में सोनारपुरा के निकट रहते थे और चक्षुहीन होने के कारण 'अंधा-मास्टर' नाम से प्रसिद्ध थे। वास्तव में इनका नाम था वेणीमाधव मुखोपाध्याय। ये बाल्यावस्था में चेचक के प्रभाव से नेत्रहीन हो गये थे। लड़कपन में ही इनकी तीव्र वैराग्य भावना और ज्ञान-पिपासा सर्वत्र प्रसिद्ध हो गयी थी।

मुखोपाध्याय महाशय पश्चिम बंग के निवासी थे। चक्षुहीन होने के कुछ ही वर्षों बाद कोई महानुभाव इनको काशी में लाकर एक प्रतिष्ठित स्थान पर छोड़ गये थे। उस समय ये युवक

थे। थोड़े ही दिनों में इनकी तपस्या, ज्ञान और विभूतियों की ख्याति चारों ओर फैल गयी। ये अच्छी तरह पढ़े-लिखे विद्वान् थे। अतः अपने शरीरपोषण के लिए घर में बैठकर विद्यार्थियों को ट्यूशन पढ़ाने का कार्य करते थे। लड़के निश्चित समय पर इनके पास पढ़ने आते थे। घंटा-डेढ़ घंटा पढ़कर अपने घर जाते थे। प्रत्येक विद्यार्थी से इन्हें कुछ मिलता था। समष्टि रूप में उसी से इनका खर्च चलता था। इस शिक्षक वृत्ति के कारण ही ये मास्टर कहे जाते थे।

मैं विभिन्न समय में जाकर इनका सत्संग करता था और उसका प्रभाव भी अनुभव करता था। ये वास्तव में उत्कृष्ट योगी तथा ज्ञानी थे। अधिकतर लोग इन्हें नहीं जानते थे, किन्तु जो जानते थे उनकी इन पर अगाध श्रद्धा थी। कुछ लोग इनके पास आकर योग-शिक्षा भी ग्रहण करते थे, ऐसा मैंने देखा। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर पृथक् करना, फिर उसी सूक्ष्म शरीर से प्रयोजन के अनुसार भ्रमण करना और आवश्यक ज्ञानसंग्रह करके पुनः स्थूल शरीर में लौट आना, यह शक्ति इनके किसी-किसी शिष्य में देखने में आयी थी। कुछ दिनों के बाद एक महाशय जो गंगा-तटवर्ती एक अन्नसत्र के निरीक्षक थे, इनके भक्त हो गये। वे अपराह्न समय में इन्हें घुमाने के लिए गंगातट पर ले जाते थे, और कुछ समय के बाद वहाँ से लौटाकर इन्हें घर पहुँचा देते थे। यह उनका नित्य कर्म था। हमने सुना था कि जब इनको विश्वरूप दर्शन हुआ था तब उसके तीव्र प्रभाव से लगभग तीन दिन तक इनका शरीर एवं मन प्रभावित रहा। उस समय किसी से बातचीत या अन्य कोई व्यवहार नहीं करते थे।

एक समय की बात है। १९१९-२० ई० के लगभग नागाबाबा करके एक महात्मा काशी में आये थे। ये नंगे रहते थे और असाधारण सिद्धि-संपन्न महापुरुष थे। ये दशाश्वमेध घाट से लेकर दरभंगा घाट के अंदर किसी स्थान में रहते थे। कुछ भोजन नहीं करते थे। सर्वदा प्रसन्न मूर्ति थे। किसी से कुछ ग्रहण भी नहीं करते थे—न रुपया-पैसा, न भोजन सामग्री ही। मैं इनके पास नित्य जाकर सत्संग करता था। ये सिद्ध पुरुष थे और बहुत प्रकार के अलौकिक ज्ञान भंडार थे। एक दिन हम लोग दरभंगा घाट पर इनके समीप बैठे बातचीत कर रहे थे। उसी समय अंधामास्टर के नित्य सेवक महाशय प्रतिदिन की भाँति उन्हें लेकर गंगातट पर आये। हम लोग दरभंगा घाट के जिस बुर्ज पर बैठे थे, अंधामास्टर महाशय आकर उसी बुर्ज के दूसरे प्रांत में बैठ गये। नागाबाबा उन्हें देखते ही खड़े हो गये और जब तक वे नहीं बैठे तब तक खड़े रहे। मास्टर महाशय के बैठ जाने पर मैंने नागाबाबा से पूछा,'आप इनको देखकर क्यों खड़े हो गये? आपने तो इनको कभी देखा नहीं, जानते भी नहीं हैं।' नागाबाबा ने कहा, 'ये अंधा महाशय जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। इनको देखते ही मुझे इसका पता लग गया।' मैंने कहा : 'हमने भी सुना है कि ये विशिष्ट कोटि के संत हैं।' नागाबाबा बोले,'हाँ, विशिष्ट कोटि के तो हैं ही, जीवन्मुक्त भी हैं। किन्तु एक त्रुटि है। जीवन-मुक्त होने पर भी इनका मातृऋण-शोध नहीं हुआ। इसीलिए जीवन्मुक्ति प्राप्त करते हुए भी कभी न कभी इनको भूलोक में आना पड़ेगा।' मैंने पूछा :'मातृऋण-शोध होने का तात्पर्य क्या है?' नागाबाबा ने इसकी विस्तार से व्याख्या की जिससे इसका रहस्य मेरी समझ में आ गया। उनके अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि चिदात्मक पुरुष, प्रकृति के राज्य में आकर प्रकृति की ही सहयोगिता से प्रकृति से मुक्त होकर, चित् स्वरूप में प्रवेश करते हैं, इस स्थिति में दो प्रकार की अवस्थाएँ हो सकती हैं। एक तो प्रकृति से अपने को मुक्त कर प्रकृति से अलग हो

जाना और दूसरी प्रकृति को चिन्मय बनाकर अपना साथी बना लेना और अपने से अभिन्न कर लेना। प्रकृति माता है। किसी भी प्रकार से क्यों न हो, पुरुष की मुक्ति प्रकृति की ही कृपा से होती है। मुक्त होने पर पुरुष अलग हो जाते हैं परन्तु प्रकृति का आकर्षण उनके ऊपर रह जाता है। अत: कभी न कभी उसी आकर्षण से साधक का प्रकृति के राज्य में फिर आना संभव है। यद्यपि वह ज्ञानी है, एक प्रकार से मुक्त भी है, फिर भी प्रकृति के आकर्षण के कारण उसका आना असंभव नहीं है। अवश्य यह आना बद्ध जीवन-कोटि की भाँति नहीं होगा, यह सत्य है। प्रकृति का यह आकर्षण उस स्थिति में काम नहीं कर सकता जब पुरुष प्रकृति का त्याग न कर उसको अपना साथी बना लेता है। परंतु साधारणतया यह संभव नहीं है क्योंकि पुरुष चित् है, प्रकृति अचित् है। इसीलिए पुरुष को चाहिए कि यदि हो सके तो प्रकृति को भी चिन्मय बनाकर अपने साथ ले चले। उस समय पुरुष चिद्रूप है, प्रकृति भी चिन्मयी है। दोनों नित्य संगी हैं अत: अभिन्न हैं। कौन किसका आकर्षण करेगा? प्रकृति माता की संतान होकर ही पुरुष जगत् में आया था। जगत् से अलग हो जाने के समय प्रकृति को छोड़ने पर भी उसका आकर्षण रह जाता है। इसलिए प्रकृति का त्याग नहीं करना चाहिए। पुरुष-प्रकृति का नित्य मिलन आवश्यक है। उस स्थिति में प्रकृति अलग न रहने और पुरुष के साथ नित्य अभिन्न रूपेण विद्यमान रहने के कारण पुरुष को किसी प्रकार की आशंका नहीं रहती। इसी का नाम मातृ-ऋण-शोध है। इसे किये बिना पूर्णत्व लाभ नहीं होता, सिद्धावस्था अवश्य आ जाती है।

इसके बाद कई वर्षों तक मुझे अंधामास्टर महाशय का सत्संग मिलता रहा। इन्होंने काशी में ही शरीर छोड़ा। इनके कई एक भक्त थे। उन सज्जनों ने इनका एक संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रकाशित कराया था।

८. नवीनानंद

गुरुदेव से संबंध होने के पहले ही काशी में कुरुक्षेत्र नामक स्थान में निवास करने वाले स्वामी नवीनानंद का दर्शन करने मैं एकाधिक बार गया था। मेरे मित्र और परवर्ती समय में गुरुभ्राता भूषणचंद्रदास वसु, जो मलदहिया नीलकोठी में रहते थे, कभी-कभी इन स्वामी के पास जाते थे। उनके साथ मैं भी जाया करता था। ये उस समय के एक प्रसिद्ध योगी थे। इनकी योग-प्रणाली और परिभाषा सभी विलक्षण थी।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ये पहले पूर्वबंग के निवासी थे। इनका कहना था कि योग-प्रक्रिया यज्ञक्रिया का ही नामांतर है। इस समय जो यज्ञ का व्यापार है और जिसका अनुशासन वैदिक कर्मकांड में नाना प्रकार से दिया हुआ है, वह यज्ञ का बहिरंग है, उसका अंतरंग है योग। इनके मत में यथार्थ योग उस प्रक्रिया का नाम है, जिसके द्वारा जीव परिपूर्ण आत्मसत्ता को प्राप्त हो सकता है। जैसे असीम-अनंत परिच्छिन्न होकर सीमाबद्ध हो गया है, उसी प्रकार सीमाबद्ध परिच्छिन्न को भी फिर असीम अनन्त होना पड़ेगा। जिस प्रक्रिया से यह होता है उसी का नाम योग है, वही यज्ञ है। ये चार प्रकार के यज्ञ बताते थे। सबसे पहले अपनी सत्ता के भीतर प्रवेश करना पड़ता है। उसके लिए क्रमश: विभिन्न प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान आवश्यक है। इनमें प्रथम है कुंडलिनी शक्ति को जागृत करना। इसका नाम है गोमेध

यज्ञ। उसके अनंतर नाभि में प्रवेश करना पड़ता है। इसका नाम है अश्वमेध यज्ञ। फिर हृदय में प्रवेश करना पड़ता है। इसका नाम है श्येन अथवा वाजपेय यज्ञ। इसके बाद कूटस्थ सहस्त्रदल में प्रवेश करना पड़ता। है इसका नाम है सोम यज्ञ। यही सर्वानंद योग का स्थान है। इस स्थान में आने पर अहंता लुप्त हो जाती है। योग या यज्ञ की व्याख्या के प्रसंग में ये नाना प्रकार की रहस्यमय क्रियाओं का विवरण देते थे। इनके अनुसार दक्षिणांत क्रिया का अर्थ है आत्मसमर्पण। शवसाधन की प्रक्रिया भी इन्होंने अलौकिक ढंग से बतायी थी।

इनके पास विभिन्न स्थानों से लोग शिक्षा के लिए आते थे। एक बार की घटना है, एक नवीन युवक इनके चरण का आश्रय करके बैठे थे। वे स्वामीजी से योगशिक्षा ग्रहण कर रहे थे। किस मार्ग से आत्म-स्थान से बाहर होना पड़ता है इसको अच्छी तरह से समझाते हुए स्वामीजी ने देहाश्रित नाड़ी मार्गों का विवरण बताया। योगी के लिए नाड़ियों अथवा संचार-मार्गों का परिचय रहना आवश्यक है, नहीं तो कभी-कभी बड़ी विपत्ति में पड़ना पड़ता है। ये शिष्य स्वामीजी से शिक्षा प्राप्त कर घर चले गये। कुछ दिनों के बाद नारायणगंज (ढाका, पूर्व बंगाल) से स्वामीजी के पास एक तार आया कि आपका अमुक शिष्य पागल हो गया है, शीघ्र आकर उसका प्रबंध कीजिए। तार का आशय यह था कि शिष्य विशिष्ट योगक्रिया करते-करते विकृत मस्तिष्क हो गया था। चिकित्सक के लिए उसको प्रकृतिस्थ कर पाना कठिन था। अत: तार पाते ही स्वामीजी नारायणगंज चले गये। वहाँ जाकर शिष्य को देखा। इनको तत्काल पता चल गया कि उसे कोई रोग नहीं हुआ है। ये मार्गभ्रष्ट होने के कारण विपत्ति में पड़ गये हैं। स्वामीजी ने शीघ्र ही उनका मस्तिष्क-विकार दूर कर दिया। इसके बाद वे काशी लौट आये।

मैंने स्वामी जी से एक दिन प्रसंगवश पूछा कि उक्त शिष्य में किस प्रकार की विकृति हुई थी। स्वामीजी बोले, 'विकृति कुछ नहीं, फिर भी बहुत कुछ। उनको केंद्र से बाहर आने के लिए जो मार्ग हमने दिखा दिया था उसी मार्ग से उन्हें निर्गम तथा प्रवेश करना आवश्यक था। उन्होंने प्रवेश किया था ठीक मार्ग से। समाधि भी ठीक-ठाक हो गयी थी किन्तु लौटने के समय मार्ग-भ्रष्ट हो गये। जिस मार्ग अर्थात् नाड़ी से उन्हें बाहर आना था भ्रम से उसको छोड़कर उन्होंने दूसरी नाड़ी का आश्रय ले लिया। इस नाड़ी से बहुत दूर तक चलने पर भी वे बाह्य जगत् में आ नहीं पाये। रास्ता भूल गये। इसी से पागल हो गये। उनकी ऐसी स्थिति हो गयी कि आदमियों को पहचान भी नहीं सकते थे और न स्थान को ही। मैं विकृति का रहस्य समझ गया। मैंने अपने योगबल से उनके बहिर्मुख स्रोत को अंतर्मुख करके केंद्र में पहुँचा दिया। फिर उसे केन्द्र से उसकी अपनी धारा में चला दिया। उस धारा से बहिर्मुख होते ही वे प्रकृतिस्थ हो गये।' इनकी योगप्रणाली 'राजाधिराज योग' के नाम से प्रसिद्ध थी।

इस परिचय के कुछ ही वर्षों बाद स्वामीजी का देहावसान हो गया।

९. टीला बाबा (रासबिहारी साधु)

ये महात्मा बहुत विलक्षण थे। इनसे मेरा परिचय अपने मित्र भूषण बाबू द्वारा ही हुआ था। भूषण बाबू इंगलिशिया लाइन की नीलकोठी के स्वत्वाधिकारी कलकत्ता निवासी प्रद्योतकुमार ठाकुर के संबंधी थे और उन्हीं के मैनेजर के रूप में उक्त स्थान पर रहते थे। ये टीला बाबा के पास बराबर आया-जाया करते थे। बाबाजी का वास्तविक नाम था रासबिहारी

साधु किन्तु टीले पर रहने के कारण लोग इन्हें इसी नाम से जानने लगे थे। यह टीला जगतगंज से स्टेशन को जाने वाली सड़क पर बाईं ओर इंडियन-प्रेस के पास है। इसके ऊपर बाबाजी कुटी बनाकर रहते थे। भूषण बाबू टीला बाबा के पत्र लिखते और उनके पास आने वाले पत्रों को पढ़कर सुनाया करते थे। बाबाजी पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए भूषण बाबू यह सेवा बड़े मनोयोग से करते थे।

टीला बाबा बड़े ही दीर्घायु थे। कहते हैं १८५७ ई० की क्रांति में ये सम्मिलित हुए थे। एक बंगाली महाशय ने, जो डिप्टी कलक्टर थे, इनको डिब्रूगढ़ (आसाम) के किसी पहाड़ी स्थान में प्राप्त किया था। वे ही अपने साथ इन्हें काशी ले आये थे और अपनी ओर से इनकी सेवा-पूजा का प्रबंध कर दिया था। इनके मासकि व्यय के लिए डिप्टी साहब नियमित रूप से कुछ भेजा करते थे। पीछे दर्शनार्थ उपस्थित होने वाले धर्मप्राण लोग कुछ न कुछ अर्पित करने लगे थे।

ये अत्यंत ज्ञानी महापुरुष थे। ये प्राय: कहा करते थे कि लोग माया से मुक्त होने के लिए माया की ही उपासना करते हैं। ईश्वर की उपासना या किसी न किसी रूप में देवी-देवताओं की उपासना को ये उतनी अच्छी नहीं समझते थे जितनी आत्मदेव की आराधना को। इनका कहना था कि मूर्ख मनुष्य निकट का रत्न छोड़कर उसे दूर में ढूँढते रहते हैं। आत्मा ही रत्न है जो हर एक के पास विद्यमान है। उसको जानने के लिए न मंदिर में जाना पड़ता है, न किसी प्रकार के ईश्वर को मानना ही आवश्यक है। केवल चित्त को अंतर्मुख करके उसकी ओर लक्ष्य करना पड़ता है। मनुष्य समुद्र में तरंग देखकर मोहित हो जाते हैं, परन्तु जानते नहीं कि तरंग विभूति मात्र है, वह आती है और जाती है, नित्य वस्तु है जल। यह जल ही आत्मा है और तरंग-विशिष्ट-समुद्र ईश्वर है। इसीलिए आत्मा निकट है और परमसत्य वस्तु है, शेष सब उसकी अनंत विभूतियों का खेल है। लोग अपने मोह से आत्मा की ओर ध्यान नहीं देते, विभूतियों से आकृष्ट हो जाते हैं।

यह महात्मा बंगला या हिन्दी अच्छी नहीं जानते थे, दोनों मिलाकर बोलते थे। इनके पास लौकिक नियमों की कोई परिपाटी नहीं थी। ये न किसी का आवाहन करते थे, न विसर्जन। जब कोई जाता था तो उसे बैठने को भी नहीं कहते थे और न किसी दीर्घकाल तक बैठने वाले को चले जाने का ही आदेश देते थे। इनके नेत्रों में बड़ा प्रकाश था। पलकें बहुत कम गिरती थीं। नेत्र बड़े ही उज्ज्वल थे। मुझे एक घटना का स्मरण है। एक बार महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण इनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। बाबाजी ने उनसे कहा :'बेटा, तुम किताब के पंडित हो। बिना ज्ञान के पंडित नहीं होते और वही ज्ञान ज्ञान है जिससे आत्मा का शुद्ध परिचय मिलता है। बाकी जो कुछ है, माया का खेल है।'

एक समय हमारे देश के एक प्रसिद्ध वयोवृद्ध वसंतकुमार भट्टाचार्य कविरंजन उनके दर्शन को आये थे। ये आयुर्वेद में निष्णात् ब्राह्मण और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। महात्मा जी से मिलकर उपदेश देने की प्रार्थना करते हुए कहा : 'आप तो कल्पतरु हैं। हम लोग आपके चरण तक आये हैं। आप से कुछ मिलने की आशा है।' महात्मा जी बोले : 'क्या मैं कल्पतरु हूँ और तुम कुछ नहीं? यह बात ठीक नहीं। तुम भी कल्पतरु हो। अपनी आत्मा की तरफ ख्याल रखो। वहीं से सब कुछ आशा पूर्ण हो जायगी।'

यह महात्मा बहुत दिनों तक उसी टीले पर रहे। इसके बाद भक्त लोगों ने मिलकर मलदहिया में इनका एक छोटा सा आश्रम बना दिया था। तब से बाबाजी टीला छोड़कर वहीं रहने लगे थे।

१०. परमहंस विशुद्धानंद

स्वामीजी का परिचय मुझे १९१७ ई० के अंतिम चरण में एक आकस्मिक कारण के प्रभाव से प्राप्त हुआ। इसके पूर्व यद्यपि मैं शिवराम किंकर, योगत्रयानंद महाशय के घनिष्ठ संपर्क में आ गया था फिर भी वहाँ दीक्षा-ग्रहण होने नहीं पाया। सात वर्ष तक उनका सानिध्य-लाभ हुआ और आध्यात्मिक विषय में मैंने इससे बहुत सहायता-लाभ किया। वे योगी थे, ज्ञानी थे और भक्त भी थे। प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनों में उनकी अद्‌भुत गति थी। विज्ञान, गणित, ज्योतिष, तंत्र प्रभृति में अभिज्ञ थे। गृहस्थ होने पर भी कितने परमहंस अध्यात्म संपत् लाभ करने के उद्देश्य से उनके निकट जाते थे। चिकित्सा की विविध प्रणालियों में निष्णात होने के अतिरिक्त वे कभी-कभी वैदिक मंत्रशक्ति से भी रोग-निवृत्ति कर देते थे। प्रथम दर्शन के बाद ही इस शरीर पर उनका स्नेह इतना अधिक हो गया कि जाते ही तुरंत दर्शन मिल जाता था। वह सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त था। इतना होने पर भी भगवदिच्छा से मेरी दीक्षा उनसे नहीं हुई।

परमहंस जी से मिलने के पहले दिन ही मुझे आशीर्वाद मिल गया। मेरी ओर से प्रार्थना किये बिना ही अपनी ओर से इंगित द्वारा उन्होंने प्रकाश किया कि उनसे मुझे दीक्षा मिलेगी। इनके विषय में मैंने सुना था कि ये महायोगी हैं और बहुत वर्षों तक तिब्बत में रहकर योग विद्या और विभिन्न प्रकार का आर्षविज्ञान प्राप्त किया है, जिनमें सूर्य-विज्ञान प्रधान है। यह सुनकर कुतूहल हुआ कि इनका दर्शन करें और इस रहस्य का पता लगायें। पहले दिन की भेंट से ही मुझे इनके व्यवहार से ऐसा मालूम पड़ा कि जैसे ये हमसे चिरपरिचित हैं। प्रणाम करते ही पूछा : 'बेटा, तुम्हारे हृदय की अवस्था इस समय कैसी है ?' १९११ ई० में एम० ए० (अंतिम वर्ष) में पढ़ने के समय मेरे हृदय में कुछ कष्ट हो गया था, जिसके लिए मुझे एक वर्ष तक अध्ययन स्थगित करना पड़ा और १९१२ ई० की परीक्षा में उपस्थित नहीं हो सका। उस समय विशिष्ट चिकित्सकों की सहायता प्राप्त करने के बाद मुझे स्वास्थ्य-लाभ के उद्देश्य से वायु-परिवर्तन के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में जाना पड़ा था। ये बातें और किसी को ज्ञात नहीं थीं। स्वामीजी के एतद्विषयक आकस्मिक प्रश्न से मैं चकित हो गया। उनके कहने से मुझे पता लगने लगा कि जागतिक परिचय न रहने पर भी उस समय से ही वे मुझे जानते थे। दीक्षा के पहले प्राय: प्रतिदिन अपराह्न में इनसे सत्संग करने जाता था। उस समय इनका घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने का मुझे अवसर मिला।

स्वामीजी प्रत्यक्षवादी थे। उनका कहना था कि जब तक कोई तत्व प्रत्यक्ष न किया जाय और उसे दूसरे को प्रत्यक्ष न कराया जा सके तब तक उसमें पूर्ण विश्वास नहीं हो सकता। प्रसंगत: एक दिन मैंने पूछा, ''योग शास्त्र में लिखा है,'सर्वं सर्वात्मकं'—इसका रहस्य क्या है ?'' पातंजल योगशास्त्र के इस वचन पर मैंने बहुत दिनों तक योत्रगयानंदजी का व्याख्यान सुना था। उससे बुद्धि को संतोष हो गया परंतु हृदय का संशय निवृत्त नहीं हुआ। 'इससे आपात दृष्टि से यह लगता है कि अच्छा-बुरा, सत-असत् सभी एक हैं। जगत् की हर

एक वस्तु दूसरी वस्तु से यदि अभिन्न है तो दृश्यमान वैषम्य का हेतु क्या है? बुद्धि का समाधान प्राप्त होने पर भी चित्त में यह सिद्धांत बैठता नहीं।' स्वामीजी ने कहा—'पतंजलि का यह सिद्धांत पूर्णतया सत्य है। वास्तव में सब में सब कुछ है। परन्तु सब रहते हुए भी जिसकी अधिकता होती है नामकरण उसी के आधार पर होता है और उसी नाम से उस वस्तु का जगत् में परिचय मिलता है। इतना ही नहीं, वस्तु की गुणक्रिया भी प्राधान्य के अनुसार ही होती है।'

मैंने पूछा : 'क्या इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है?' उन्होंने कहा, 'क्यों नहीं ? सर्वत्र, सर्वदा, सर्वप्रकार से अनुभव हो सकता है।' यह कहकर वे बोले, 'देखो, अभी दिखा देते हैं।' उस समय उनकी मेज पर गंधफूल (मेरी गोल्ड) की एक माला रखी हुई थी। उसमें से एक फूल लेकर उन्होंने कहा, 'देखो यह कौन फूल है? यह गंधफूल है। इसमें सब प्रकार के फूल ही नहीं, और भी वस्तुएँ विद्यमान हैं। अभी इसे गुलाब में परिणत किये देता हूँ।' यह कहते हुए वे उस फूल को हाथ में लेकर धीरे-धीरे हिलाने लगे, थोड़ी देर के बाद बोले : 'इसमें गुलाब के परमाणु आ रहे हैं।' हम लोगों के देखते ही देखते वह गुलाब में परिणत हो गया। फिर थोड़ी ही देर में बाबा ने उसे जवापुष्प बना दिया। उसके बाद वे बोले : 'इस प्रकार सभी वस्तुओं में सबकी सत्ता है परन्तु जिस वस्तु का अंश अधिक रहता है उसी की गुणक्रिया अभिव्यक्त होती है और फिर उसी रूप में उसका प्रकाश होता है। इसी प्रकार असत् में भी सत् का अस्तित्व रहता है और शुद्ध वस्तु में अशुद्ध तत्व विद्यमान रहते हैं। अत: असाधु व्यक्ति भी कालांतर में साधु हो सकता है और साधु के भी पतन की संभावना रहती है।' मैंने पूछा :'आपने जो परिवर्तन किया है क्या वह योगबल से हुआ है?' उन्होंने कहा : 'नहीं, यह योग नहीं, सूर्य विज्ञान की क्रिया है।'

इसी प्रकार मैं प्रतिदिन मध्याह्न में उनके पास जाता था और योग तथा विज्ञान की चर्चा सुनता था। इससे जो कुछ मैं समझ सका उसके अनुसार इनके सूर्य-विज्ञान का सिद्धांत संक्षेप में इस प्रकार है : 'सूर्य शक्ति का परिज्ञान होने पर इन रश्मियों के विशिष्ट प्रक्रियामूलक संघटन से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु रश्मियों का पहचानना अत्यंत कठिन है। रश्मियाँ विभिन्न रंग की हैं, सबसे पहले एक श्वेत प्रकाश लाया जाता है, जिसको शास्त्र में विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। इस शुभ्र सत्ता के ऊपर प्रयोजन के अनुरूप विभिन्न रश्मियों का उद्भावन और संयोजन किया जाता है उससे वस्तु का आविर्भाव होता है। सामान्यतया प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का अंतर्भाव है परन्तु गुणप्रधान भाव है अर्थात् कुछ अंश प्रबल, कुछ दुर्बल रहता है।' मैंने प्रश्न किया, 'यदि गुणप्रधान भाव न रहे, सब बराबर रहे, तब क्या होगा?' वे बोले, 'गुण-प्रधान भाव न रहने से साम्यावस्था हो जायगी। तब वस्तु का लय हो जायेगा। सृष्टि और संहार परम सूक्ष्म अणुओं का खेल है। सूर्य रश्मि के द्वारा इन अणुओं का परिचय मिलता है। रश्मि है व्यंजक, अणु व्यंग्य। व्यंजक के आकर्षण से व्यंग्य का आविर्भाव होता है। वस्तु में विभिन्न उपादानों का संघात है। प्रत्येक वस्तु का पृथक्-पृथक् संघात है। तदनुसार व्यंजक वर्णों के भी क्रम के पृथक्-पृथक् सूत्र (फार्मूले) हैं। विज्ञानविद् को इन्हें जानना पड़ता है। यहाँ ज्ञान का उपयोग होता है और क्रिया के द्वारा इसी क्रम से उपादान का आकर्षण करना पड़ता है। यह क्रिया-विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। विज्ञानविद् प्रत्येक वस्तु का

विश्लेषण करना जानता है, तदनुसार क्रम का ज्ञान भी उसे होता है। इस क्रम का अनुसरण करते हुए व्यंजक रश्मियों का आकर्षण करना पड़ता है। इसमें एक रहस्य यह है कि जब तक क्रमांतर्गत सभी रश्मियों का क्रमशः आकर्षण करने पर भी अंतिम रश्मि का आकर्षण नहीं होता तब तक बाह्य दृष्टि से उस वस्तु का कुछ भी पता नहीं चलता। अंतिम रश्मि के आविर्भाव के साथ ही साथ रश्मि-व्यंग्य उपादान का आविर्भाव हो जाता है और उसी के साथ वस्तु का भी स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। यह एक अपूर्व व्यापार है। अंतिम रश्मि को छोड़कर शेष रश्मियों का आहरण करके दीर्घकाल तक रखा जा सकता है, फिर प्रयोजन के समय एक रश्मि के आहरण से ही वस्तु का उदय हो जाता है। यह वस्तु कल्पित नहीं, शुद्ध वस्तु है और जागतिक वस्तु से कहीं अधिक निर्मल और स्थायी होती है।

स्वामीजी ने इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा, 'एक प्रश्न यह है कि रश्मि का संयोजन या मिलाप कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि रश्मि क्षणिक होती है, प्रकट होने के साथ ही लीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में एक रश्मि के साथ दूसरी रश्मि का संयोजन किस प्रकार संभव है ? यह तभी हो सकता है जब दोनों रश्मियाँ समकाल-स्थायी हों। इस अत्यन्त निगूढ़ विषय का समाधान इस प्रकार है। इन सभी रश्मियों के अंतराल में एक विशुद्ध शुभ्र किरण रहती है। उसमें तीव्र आकर्षण शक्ति होती है। सृष्टि में उस शुभ्र किरण का स्फुरण नहीं रहता। यह समग्र सृष्टि की पृष्ठभूमि में रहती है। परन्तु विज्ञानविद् खंडरूपेण उसे प्रकट कर सकते हैं और तत्काल स्थायी बना करके रख भी सकते हैं। इस रश्मि का किसी से विरोध नहीं है क्योंकि यह स्वच्छ है। इस शुभ्र-रश्मि के ऊपर किसी रश्मि का आहरण किया जाता है तब इससे आकृष्ट होकर वह आहृत रश्मि इसमें संलग्न रहती है अर्थात् उसका तिरोधान नहीं होता। ऐसी स्थिति में क्रमानुरूप द्वितीय रश्मि आकृष्ट होकर उसके साथ युक्त हो जाती है। इस प्रकार दो रश्मियों का संयोग संभव है। तृतीय, चतुर्थ, पंचमादि रश्मियों का संयोजन भी इसी भाँति किया जाता है। रश्मि संयोग का तात्पर्य है उसके अभिव्यंग्य उपादान का संयोग। जब अंतिम उपादान का संयोग होता है तब द्रव्य का आविर्भाव होता है। यही सृष्टि का रहस्य है। अनुलोम-विलोम दोनों प्रकार से रश्मियों का क्रम जानना चाहिए।'

बाबा कहा करते थे कि सूर्य विज्ञान सृष्टि का मूल विज्ञान है। सूर्य का नाम 'सविता' इसी कारण से पड़ा है। इसी प्रकार उन्हें चंद्र-विज्ञान, वायु-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, शब्द-विज्ञान, क्षण-विज्ञान प्रभृति का भी सविशेष ज्ञान था। ये सब विज्ञान उन्होंने तिब्बत में रहने के समय योग-शिक्षा के साथ आयत्त किये थे। उसका विशेष विवरण मेरे लिखे हुए दो ग्रंथों—विशुद्धानंद प्रसंग (बंगला-पाँच खंड) और विशुद्ध वाणी (बंगला-नव खंड) तथा श्री अक्षयकुमार दत्त गुप्त विरचित 'योगिराजाधिराज विशुद्धानंद (बंगला)' नामक ग्रंथ में मिलेगा।

दीक्षा के बाद प्रायः बीस वर्षों तक मुझे बाबा का घनिष्ठ संपर्क प्राप्त हुआ। इस बीच उनकी असंख्य अलौकिक विभूतियों एवं शक्ति का परिचय मिला, साथ ही उनकी अपार करुणा तथा प्रेम का भी अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ। वे तिब्बत में स्थित ज्ञानगंज नामक सिद्धभूमि में चौदह वर्ष की अवस्था में ही गये थे और वहाँ रहकर ब्रह्मचारी, दंडी तथा
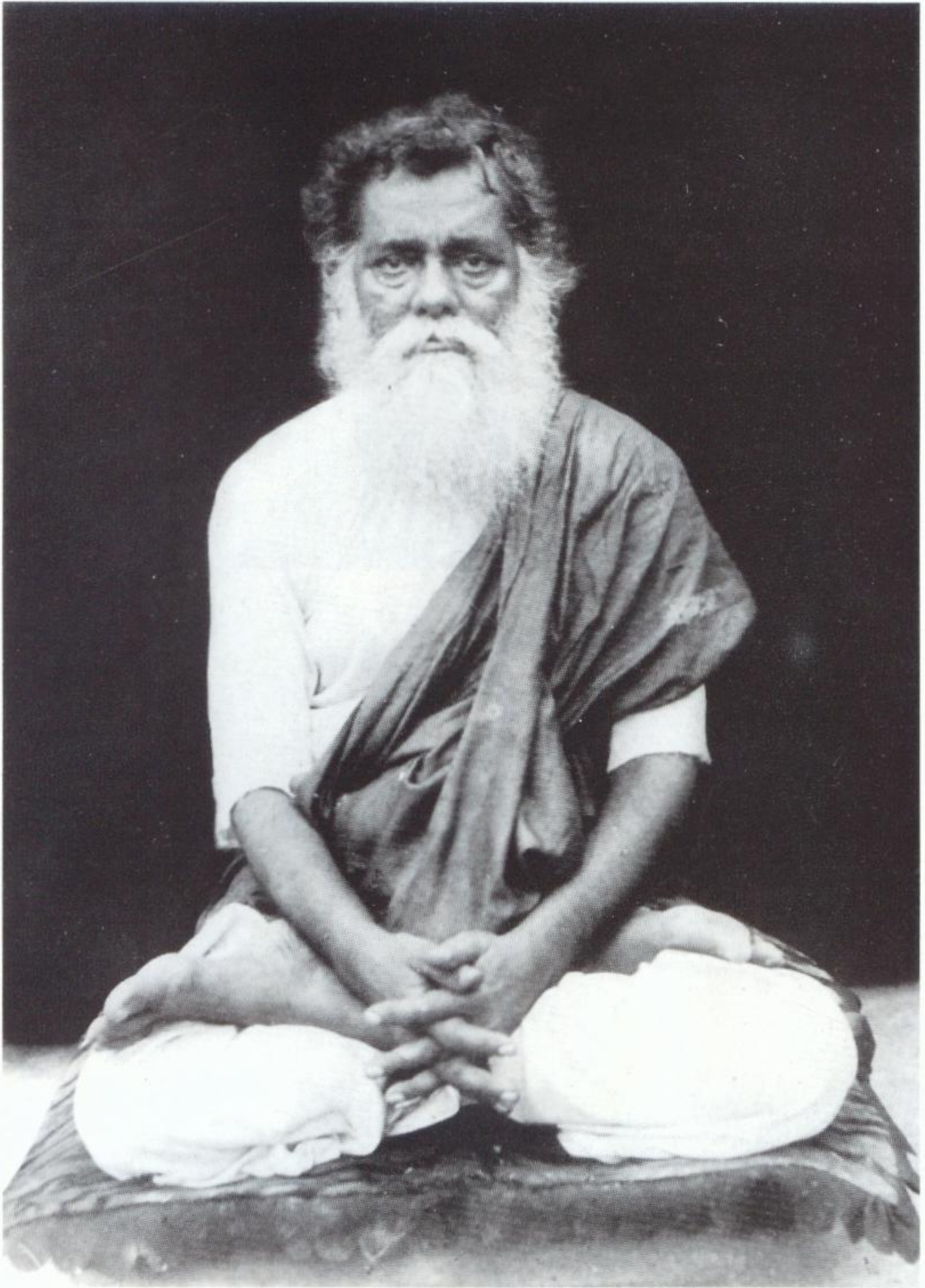
परमहंस विशुद्धानन्द (कविराजजी के गुरुदेव) १९१२ ई०

पागल बाबा

रामठाकुर

मैसूर में चन्द्रशेखर स्वामी के मठ में

महाराजा कॉलेज, जयपुर के उपाचार्य मेघनाद भट्टाचार्य

डॉ० ए० वेनिस
कविराजजी के अनन्य स्नेही, पथप्रदर्शक तथा विद्यागुरु

म. म. डॉ० गंगानाथ झा, १९२३ ई०, गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस के प्रथम भारतीय प्रिंसिपल तथा कविराजजी के पूर्वाधिकारी

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
प्रिंसिपल पद से अवकाश-ग्रहण के समय, १९३७ ई०
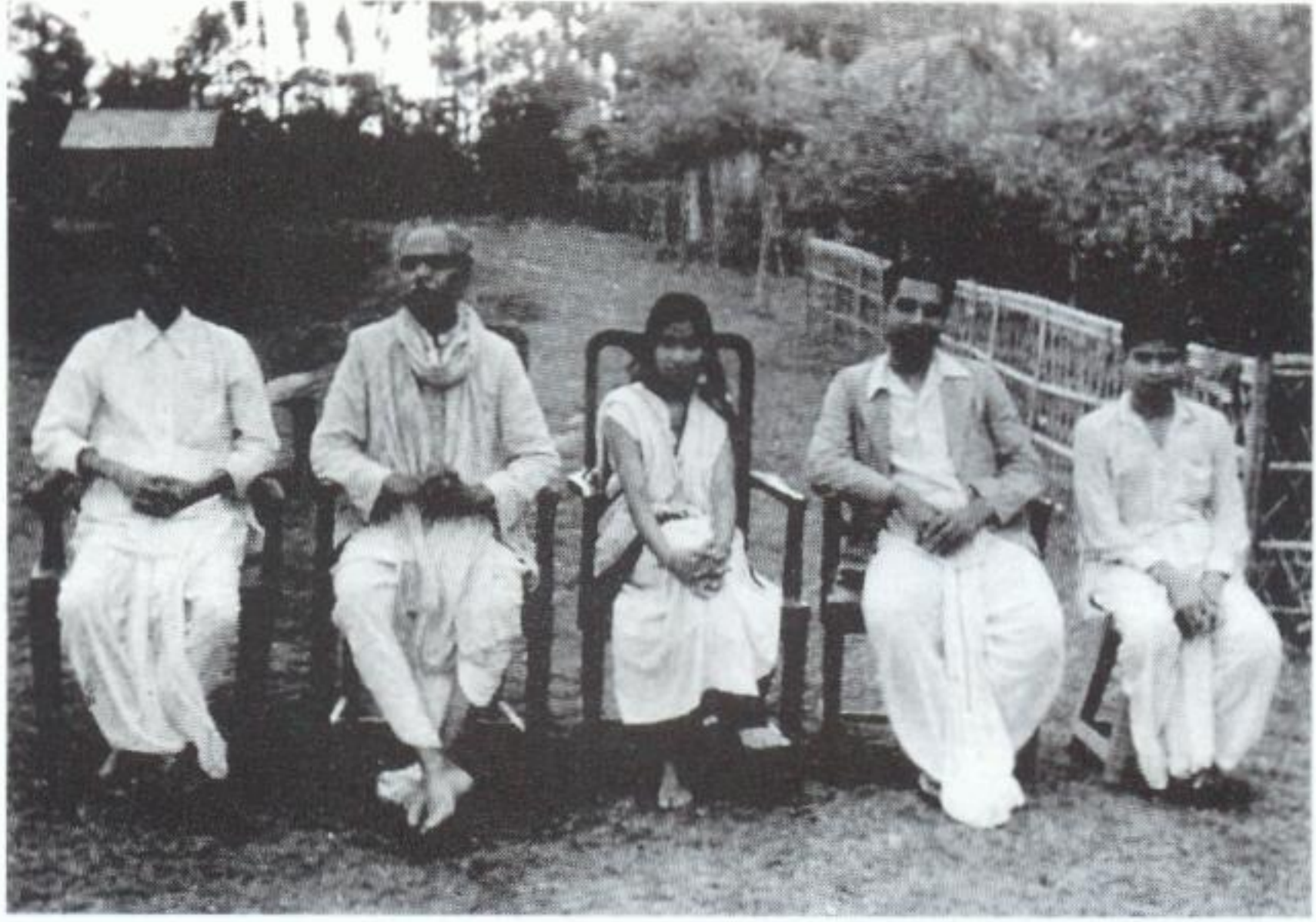
कविराजजी ब्रह्मज्ञ बालिका शोभा के साथ, उसके गाँव में (१९३८ ई०)
(बाएँ से) सुकुमार राहा (शोभा के पिता), कविराज जी, शोभा,
जितेशचन्द्र चक्रवर्ती, सीताराम पाण्डे

पं० गोपीनाथ कविराज, गुरुदेव परमहंस विशुद्धानन्द तथा
गुरुभ्राता केदारनाथ भौमिक के साथ १९३० ई०

कविराजजी की माता सुखदा सुन्दरी देवी
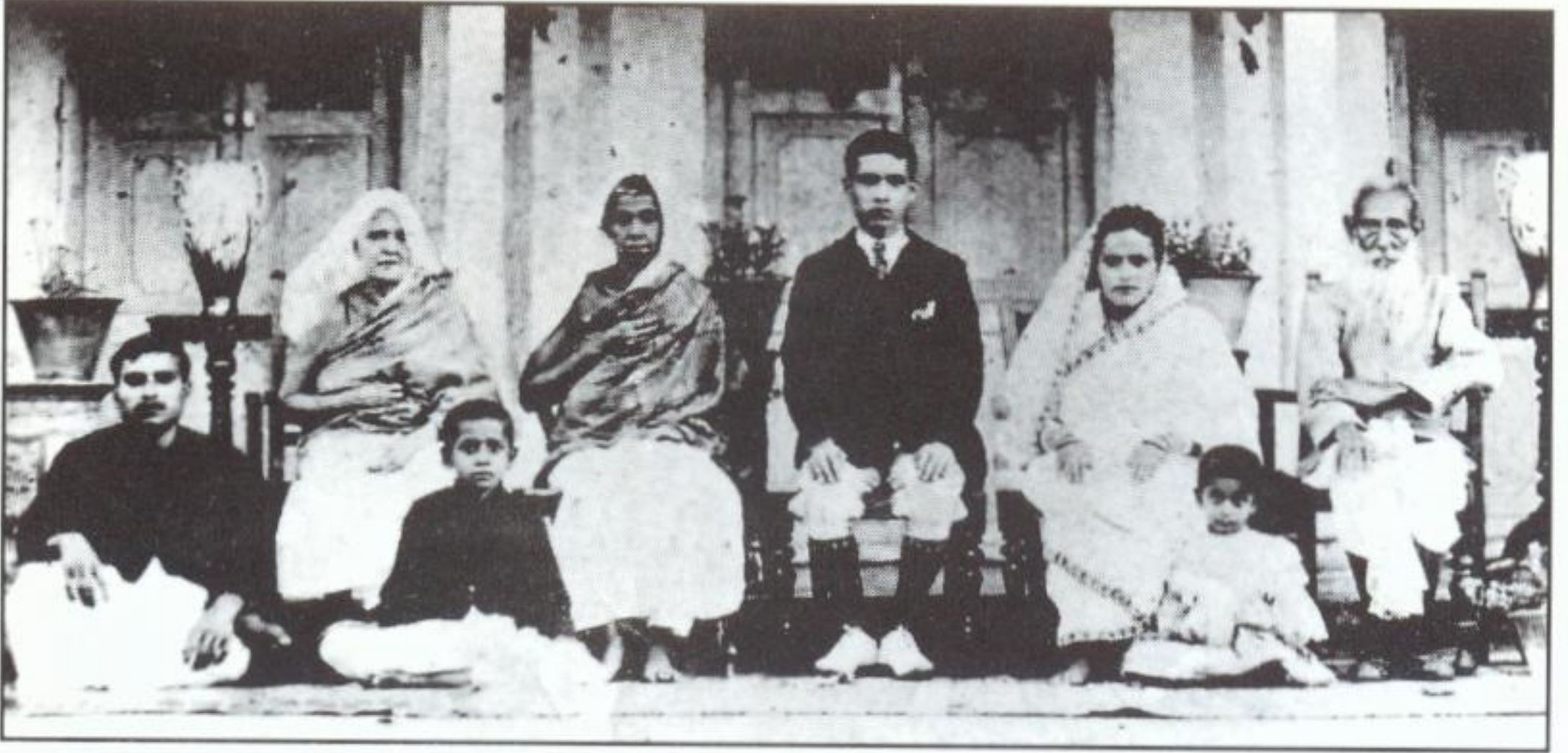
कविराजजी का परिवार—निवास स्थान : पिशाचमोचन, काशी १९१६ ई०

प्रथम पंक्ति कुर्सी पर :

श्रीमती वामा सुन्दरी *(सास)*, सुखदा सुन्दरी देवी *(माता)*,
जितेन्द्रनाथ मुखर्जी *(विद्यार्थी)*, श्रीमती कुसुम कामिनी देवी *(पत्नी)*,
कैलाशचन्द्र नियोगी *(मौसा)*

द्वितीय पंक्ति :

चन्द्रकुमार पति *(रसोइया)*, जितेन्द्रनाथ कविराज *(पुत्र)*, सुधारानी *(पुत्री)*

पत्नी और पुत्रवधू

श्रीमती कुसुम कामिनी देवी तथा वीणापाणि देवी, १९३४ ई०

संन्यासी—इन तीनों अवस्थाओं का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया था। ब्रह्मचारी अवस्था में १२ वर्ष तक तथा दंडी और संन्यासी की स्थिति में क्रमश: चार-चार वर्ष तक रहे थे। इस प्रकार लगभग २० वर्ष का समय उन्होंने गुरु आश्रम में बिताया था। यह सिद्धाश्रम साधारण लौकिक आश्रमों की भाँति नहीं है। सामान्य जन के लिए अगोचर है। तिब्बत प्रदेश में होते हुए भी परिव्राजकों तथा पर्यटकों की दृष्टि में यह नहीं आता; इसीलिए किसी भ्रमणकारी भारतीय संन्यासी अथवा विदेशी पर्यटक ने इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में नहीं किया है। स्थूल होने पर भी यह भौतिक स्थान नहीं है। वस्तुत: यह स्थूल नहीं है सूक्ष्म भी नहीं है, एकाधार में स्थूल भी है, सूक्ष्म भी है। ठीक जैसे सिद्ध पुरुषों का देह दर्शन-स्पर्शन योग्य होने पर भी क्षण मात्र में अदृश्य हो जाता है वैसी ही सिद्धाश्रमों की भी स्थिति है—स्थूल दृष्टि से वह स्थूल और सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म है। दोनों समन्वय युक्त हैं। बहुत लोग स्थूल भाव से इसके अन्वेषण के लिए व्यर्थ भ्रमण करके लौट आये हैं। आश्रम के अधिष्ठातृवर्ग की विशेष अनुज्ञा के बिना इसकी प्राप्ति तो दूर की बात है, दर्शन भी नहीं हो सकता। मैंने स्वामी जी के मुख से सुना है कि वहाँ बहुत से योगी, विज्ञानविद् भैरव-भैरवी, शिक्षार्थी तथा आचार्य विद्यमान हैं। केवल इतना ही नहीं, इस आश्रम से संबंध होने पर लौकिक जगत् से भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव मिलता है, यहाँ तक कि उस स्थान को यहाँ से क्षण भर में वस्तुएँ भेजी और वहाँ से आकर्षित करके मँगायी जा सकती हैं। यह क्रिया मैंने अपनी आँखों से बाबाजी के सान्निध्य में अनेक बार देखी है।

स्वामीजी के गुरुदेव ज्ञानगंज आश्रम के मनोहर तीर्थ नामक स्थान तथा राजराजेश्वरीमठ में विराजते हैं—ऐसा मैंने सुना है। उन्हें इस आश्रम में पहुँचने का सुयोग किस अलौकिक भाव से प्राप्त हुआ, इसकी अपनी कहानी है। उनके अनुग्रह से अनेक अलौकिक रहस्य मेरे देखने में आये।

नाभि-कमल-दर्शन

एक बार बाबा काशी के पुरातन आश्रम में विराजमान थे। प्राय: ८ बजे के लगभग सत्संग में उपस्थित चार-पाँच व्यक्तियों में—जिनमें से एक मैं भी था—पौराणिक विषय लेकर वार्तालाप चल रहा था। एक ने कहा : 'पुराणों में बहुत सी अलौकिक तथा अविश्वनीय बातें भरी पड़ी हैं। दृष्टांत-स्वरूप विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति जैसे प्रसंग लिये जा सकते हैं। यह सब कल्पना अथवा रूपक मात्र है।' यह सुनकर बाबा बोले : 'जो वस्तु तुम्हारी बुद्धि के बाहर है उसी को तुम लोग अस्वीकार करते हो। विश्वास नहीं कर सकते। परन्तु सत्य वस्तु सत्य ही रहती है। नाभि में कमल है, क्या तुम यह मान सकते हो?' उस व्यक्ति ने कहा : 'मेरा तो यह अनुभव है ही नहीं, किन्तु कोई विज्ञानविद् डॉक्टर भी इसे नहीं मानेगा।' बाबा ने कहा :'तुम्हारे डॉक्टर कितना जानते हैं? देह तत्त्व अत्यंत गंभीर है। क्या प्रत्यक्ष देखना चाहते हो?' वह बोला : 'बाबा! प्रत्यक्ष देखने का अवसर कहाँ? इसीलिए विश्वास होता नहीं।' बाबा बोले : 'देखो न!' यह कहकर जिस पलंग पर वे बैठे हुए थे उसमें तकिया की टेक लगाकर अपना नाभि प्रदेश खोल दिया और उसे हाथ से हिलाने लगे। पहले उस स्थान पर एक गहरा खोखला हो गया—फिर उसने रक्तिम वर्ण आधरण कर लिया।

तदनंतर शनैः शनैः उस स्थान से एक डेढ़ फीट लंबा कमलनाल निकला जिसके ऊपर अत्यंत सुंदर कमल पुष्प था। उसकी गंध से पूरा कमरा सुवासित हो गया। हम सभी यह देखकर मंत्र-मुग्ध से बैठे रहे। बाबा बोले : 'इस समय सूर्य का तेज अधिक नहीं है, नहीं तो यह कमल छत तक पहुँच जाता।' थोड़ी देर बाद वह कमल, नाल सहित धीरे-धीरे संकुचित होकर नाभि में प्रवेश कर गया। अंत में बाबा ने हाथ से पेट दबाकर नाभि को पूर्वावस्था में कर दिया और कहा : 'देखो! इसी प्रकार नाभि में रक्त, श्वेत तथा नील वर्ण के असंख्य कमल विद्यमान हैं। योग की अत्यंत उच्चकोटि में प्रविष्ट न होने पर यह अनुभव नहीं मिलता। इसीलिए ऋषियों के वाक्य में विश्वास रखना चाहिए। योग्यता लाभ करने पर समय से इन विषयों का अनुभव स्वतः हो जाता है।'

प्राण-रक्षा

एक दूसरे दिन की घटना है। मेरे गुरुभाई भूषणचंद्र वसु काशी में बाबाजी के आश्रम के निकट पृथक् मकान लेकर रहते थे। ये वृद्ध शरीर थे। कुछ दिन पहले पत्नी का देहांत हो गया। घर पर इनकी देखभाल करने वाला कोई व्यक्ति न था। बाबा जब तक काशी में निवास करते थे, ये उनकी सेवा में निरंतर उपस्थित रहते थे। एक रात ये अपने घर में सो रहे थे। चारपाई ऊँची थी। उसके निकट योगक्रिया में प्रयुक्त होने वाला उनका योगदंड रखा हुआ था। वह त्रिशूल की भाँति नुकीला था। रात में दो बजे के करीब करवट लेते हुए ये खाट से गिर पड़े। सामान्य स्थिति में इन्हें उसी योगदंड के ऊपर गिरना चाहिए था किन्तु गिरने के बाद नींद खुल जाने पर इन्होंने देखा कि ये उससे डेढ़ हाथ दूर गिरे थे। कमरे में चारों ओर कमल की गंध पाकर इनकी समझ में आया कि गुरुदेव आये थे। बाबा जब किसी कारणवश शिष्यों को प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देना चाहते थे, अपनी उपस्थिति की सूचना कमल की दिव्य देह-गंध से देते थे। वसु महाशय यह देखकर चकित हो गये कि अज्ञानावस्था में वे चारपाई के पास गिरे होते तो अवश्य ही वह त्रिशूल उनके पेट में घुस जाता। इस प्रकार गुरुकृपा का अनुभव कर वे गद्गद हो गये। उस समय बाबा काशी में ही थे। दूसरे दिन जब भूषण बाबू ने बाबाजी से रात्रि की घटना निवेदित की तो वे हँसने लगे और कहा : 'हाँ! तुम लोग आराम से सो जाते हो। हमको तुम्हारा पहरा देना पड़ता है।' मैं भी वहाँ उपस्थित था। बाबा से पूछा : 'इस घटना का रहस्य समझ में नहीं आ रहा है। शिष्य के आकर्षण से आप आकृष्ट होकर वहाँ जा सकते हैं, यह समझ में आता है। रक्षा भी कर सकते हैं, यह भी आश्चर्यजनक नहीं। किन्तु जहाँ शिष्य निद्रा में डूबा हुआ है, उसने तो आपका, रक्षा के लिए, चिंतन किया नहीं, आप भी उस समय योगासन में समाधिमग्न थे। उस स्थिति में आपको इनकी भावी आपत्ति का अनुभव कैसे हुआ और किस प्रकार वहाँ उपस्थित होकर रक्षा की?' बाबा ने इसके उत्तर में कहा : 'योगी जब युक्त अवस्था में रहता है तब समस्त विश्व में ही उसकी सत्ता प्रकट रहती है। केवल परिमित देह मात्र में नहीं। जो भक्त हैं उनके लिए रक्षा की आकांक्षा पहले से ही रहने के कारण विपत्ति के क्षणों में वे उसी स्थान में प्रकट हो जाते हैं, चाहे निराकार रूप में हों या साकार रूप में। यहाँ तक कि स्थूल रूप में भी प्रकट होकर वे उसकी रक्षा करते

हैं। इससे योगासन में युक्त योगी का योगभंग नहीं होता। अखंड निष्क्रिय रहने पर भी परमात्मा क्या प्रत्येक क्षण में क्रियाशील नहीं है ?'

श्रीकृष्ण देहगंध

गुरुदेव पुरी के तिनतल्ले बँगले वाले आश्रम में ठहरे हुए थे। बँगले में बरामदा था। एक दिन वहीं आराम कुर्सी पर बैठे हुए थे। प्रसंगवश सत्संग वार्ता में मैंने कहा : 'बाबा, जैसे आपके शरीर से निरंतर गंध निकलती है वैसे श्रीकृष्ण, बुद्धदेव तथा चैतन्य महाप्रभु की भी देह से अनवरत गंध प्रसरित होते रहने का वर्णन शास्त्रों तथा भक्तचरितों में मिलता है। भगवान् बुद्ध के निवास स्थान का इसी कारण से गंधकुटी नाम ही पड़ गया था जिसका मर्म न समझ सकने से यूरोपीय विद्वानों ने उसे उन्हें अर्पित किये गये पुष्पादि की गंध का प्रभाव माना है। चैतन्य देव के शरीर से पद्मगंध निकलती थी। कहा जाता है कि एक बार अपने शिष्य गोविंददास के साथ पर्यटन करते हुए वे दक्षिण देश में गये। वहाँ एक पहाड़ पर वे किसी गृहस्थ के घर ठहरे। उस परिवार के कर्ता तथा उसकी धर्मपत्नी की महाप्रभु में प्रगाढ़ भक्ति हो गयी। पत्नी नित्य पूजन तथा कीर्तन से इनकी अभ्यर्चना करने लगी। एक दिन वह बोली : 'प्रभु! आप तो भगवान् हैं, मेरा उद्धार करियेगा।' महाप्रभु बोले : 'भोली! मैं भगवान् कैसे हो गया ? यह तेरा भ्रम-मात्र है।' उसने कहा : 'भगवन् ! अपने को छिपा नहीं सकते। आपके शरीर से निरंतर विद्युत् शक्ति प्रवाहित होती रहती है, पद्मगंध निकलती रहती है। इसी से मैं पहचान गयी।' महाप्रभु ने निरुत्तर होकर उसकी अभिलाषा पूरी करने का आश्वासन दिया। प्रसिद्ध है कि महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण के शरीर से निकली हुई गंध से उनकी दिव्य उपस्थिति का आभास पाकर प्रियतम को खोजते-खोजते उन्मत्त हो जाते थे।

इस प्रसंग में मैंने गुरुदेव से निवेदन किया कि चैतन्य चरितामृत (मध्यलीला) में इस गंध के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है :

हेन श्रीकृष्ण अंग गंध
जे न पाय से संबंध
तार नासा भस्त्रादि समान।

यह सुनकर बाबा बोले :'क्या इस सुगंध के प्रकार का भी कुछ विवरण तुम्हें मिला है ?' मैंने कहा, 'हाँ! नीलकमल, तुलसी-मंजरी, मृगमद, श्वेत चंदनादि छः द्रव्यों के संमिश्रण से जो सुगंध उत्पन्न होगी वह श्रीकृष्ण के देह से निकलने वाली गंध का आभास-मात्र है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है।' हम लोगों के देखते-देखते बाबा ने शून्य में झटका देकर एक-एक करके उपयुक्त छः पदार्थ एकत्र कर लिए, फिर उनके मिश्रण से शास्त्रोक्त अपूर्व गंध तैयार कर दी। मैंने निवेदन किया—'बाबा! हमारी इच्छा है कि इस गंध को हम अपने पास कुछ समय तक रखें, ऐसी व्यवस्था कर दीजिए।' बाबा ने एक शीशी लाने को कहा, मैं एक होमियोपैथिक दवा वाली छोटी शीशी ले आया। बाबा ने अपनी लोकोत्तर सृष्टि प्रक्रिया से उस गंध को तैल में परिवर्तित करके उस शीशी में भर दिया। वह मेरे पास बहुत दिनों तक रही। म० म० पंडित प्रमथनाथ तर्कभूषण उस गंध को सूँघकर भाव-विभोर हो गये थे।

सृष्टि-प्रक्रिया

बाबा बड़े ही मर्यादावादी थे। पमरहंस वृत्ति धारण करते हुए भी वे अपने कुलगुरु को कौटुंबिक परंपरानुसार निरंतर बंधान के रूप में कुछ न कुछ द्रव्य; वस्त्रादि दिया करते थे।

एक बार कुलगुरु के पुत्र उनका दर्शन करने काशी आये। बाबा ने कई दिन तक अपने आश्रम में ठहरा कर उनका स्वागत-सत्कार किया। विदा होते समय जब बाबा उन्हें रुपये देने लगे तो वे बोले : 'बाबा, रुपया-पैसा तो हम सभी जगह पाते हैं। आप हमें ऐसी वस्तु दें जिससे आपकी स्मृति सदा बनी रहे। मेरी इच्छा है कि आप सोने की एक ऐसी अँगूठी मँगा दें जिसके ऊपर देवी की मूर्ति बनी हो, नीचे हमारा नाम लिखा हो।' बाबा ने कहा : 'अच्छा बैठ जाओ, मिल जायेगी।' इसके बाद उन्होंने हम लोगों के सामने ही प्रकृति से आकृष्ट करके ठीक उसी प्रकार की अँगूठी कुलगुरु के पुत्र को दे दी। वे उसे देखकर स्तंभित रह गये। हम लोगों के भी आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बाबा ने इसका समाधान करते हुये कहा : 'प्रकृति पूर्ण है। सृष्टि-प्रक्रिया के द्वारा उससे अभीप्सित वस्तु प्राप्त की जा सकती है।'

विपत्ति निवारण

घटना मेरे दीक्षा काल (१९१८ ई०) के कुछ महीने पूर्व की है। कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील सतीशचंद्र मुखर्जी बाबा के परमभक्त थे। उन्होंने इनके निवास के लिए हनुमान घाट पर एक मकान खरीद कर अर्पित किया था। इसके पूर्व उनकी दो स्त्रियाँ मर चुकी थीं इसलिए भावी पत्नी की मृत्यु की आशंका से न वे स्वयं विवाह करने को राजी होते थे, न उस इलाके का कोई संभ्रांत व्यक्ति उन्हें लड़की देने का साहस करता था। सतीशबाबू के पिता इससे निरंतर चिंतित रहा करते थे। उन्होंने काशी आकर बाबा से सारी व्यवस्था कह सुनायी और इस समस्या को सुलझाने की प्रार्थना की। बाबा ने सतीश को बुलाकर समझाया, 'तुम निश्शंक होकर विवाह करो। अबकी बार स्त्री मरेगी नहीं, मेरी जिम्मेदारी है। मरेगी तो नूतन सृष्टि कर दूँगा।' दैवयोग से इसके पश्चात् शीघ्र ही उमेशचंद्र बनर्जी नामक एक बड़े धनीमानी व्यक्ति ने अपनी कन्या कालिदासी से इनका विवाह करने का प्रस्ताव किया। सतीश बाबू बाबा के आदेशानुसार उद्यत हो गये। विवाह बड़े धूमधाम से संपन्न हो गया।

इसके कुछ दिनों बाद बाबा केदारघाट का किराये का मकान छोड़कर हनुमान् घाट के मकान में चले आये। सतीशबाबू उनकी सेवा में थे। एक दिन सहसा कलकत्ता से उनके ससुर का तार आया : 'कालिदासी बहुत बीमार है। डॉक्टर चिंतित हैं। हो सके तो चले जाओ।' सतीशबाबू यह समाचार पाकर प्रत्याशित विपत्ति की आशंका से घबरा गये। दौड़े हुए बाबा के पास गये, तार दिखाया और अपने जाने के विषय में उनकी अनुमति माँगी। बाबा ने कहा : 'जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।' गुरु आदेश शिरोधार्य कर वे पूर्ववत् सेवा में लग गये। दूसरे दिन फिर एक तार आया : 'स्थिति अत्यंत शोचनीय है, शीघ्र चले आओ।' उन्होंने वह तार बाबा के सामने रखा। बाबा बोले: 'जाना हो तो जाओ। मेरा विचार नहीं है।' सतीश बाबू कुछ कह न सके। तीसरे दिन के तार का विषय था : 'बचने की आशा नहीं है। डॉक्टर हताश हो गये हैं।' सतीशबाबू के हाथों इसे पाकर बाबा बोले :

'उत्तर में लिख दो कि गुरुदेव कहते हैं कि काली इस रात में रोगमुक्त हो जायेगी। निराश होने की आवश्यकता नहीं है।' इसके बाद बाबा ने ऋषि नामक अपने रसोइयेदार को बुलाकर कहा : 'आज रात में कुछ खायेंगे नहीं। १० बजे के करीब मुझे भयंकर बुखार होगा। चिंता न करना।' ऋषि व्यग्र होकर समय की प्रतीक्षा करने लगा। रात में ठीक दस बजे बाबा ज्वरग्रस्त हुए। ऋषि से चादर माँगी और उसे ओढ़कर लेट गये। थर्मामीटर घर में नहीं था। बाबा ने उसे सृष्टि प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न कर दिया। देखा गया तापमान १०५ डिग्री तक पहुँच गया है। रात में कई घंटे तक भयंकर कष्ट हुआ किन्तु प्रात: होते-होते बुखार उतर गया। बाबा स्वस्थ हो गये। प्रात: कलकत्ता से तार आया : 'काली रोगमुक्त हो गयी। बुखार नहीं है।'

सिद्धाश्रम से प्रत्यक्ष सम्पर्क

बाबा कहा करते थे कि ज्ञानगंज के साथ स्वशिष्यों का, चाहे वे कहीं भी हों, निरंतर संबंध रहता है। वे स्वयं सूर्य-विज्ञान का लेंस, ओषधियाँ तथा कुछ अन्य वैज्ञानिक यन्त्र वहाँ से बराबर मँगाया करते थे और यहाँ से भी ज्ञानगंज आश्रमवासी कुमारियों तथा माताओं की सेवा के लिए वस्त्राभूषणादि भेजा करते थे। यह व्यापार उनके घनिष्ठ संपर्क में आने वाले सभी लोग जानते थे किन्तु इसका रहस्य नहीं समझ पाते थे। एक दिन मेरे सामने ही एक घटना हुई। एक गुरुभाई सुरेंद्रनाथ मुखर्जी ने ज्ञानगंज की कुमारियों के लिए ५० के लगभग रंग-बिरंगी छोटी-बड़ी साड़ियाँ लाकर बाबा को दीं। उन दिनों बाबा हनुमान घाट वाले आश्रम में तिनतल्ले पर विराजते थे। हम लोग भी उपस्थित थे। बाबा के आदेशानुसार साड़ियों का पार्सल बनाकर पूजाघर में रख दिया गया। मैंने पूछा : 'ये सब साड़ियाँ ज्ञानगंज को भेजी जायेंगी न?' बाबा ने कहा :'हाँ भेजी जायेंगी।' मैंने कुतूहलवश जिज्ञासा की : 'कैसे भेजी जायेंगी?' वे बोले :'ऐसे ही भेजी जायेंगी।' इसके बाद उन्होंने कहा : 'तुम लोग बाहर बैठो। संध्या करने के पश्चात् बातें करेंगे।' हम लोग कमरे से बाहर आकर छत पर बैठ गये। बाबाजी ने दरवाजा बंद कर लिया। आधे घंटे बाद दरवाजा खुला। हम लोग संकेत पाकर भीतर गये। बाबा बोले : 'कपड़े का पार्सल भेज दिया।' हम लोगों ने जाकर देखा, पूजा-घर में पार्सल का बंडल नहीं था।

एक दिन की बात है, मलदहिया में नवनिर्मित आश्रम के उपलक्ष में आयोजित उत्सव में समागत शिष्यों को बाबा लेन्स की सहायता से सूर्य-विज्ञान की शिक्षा विज्ञान-मंदिर के दो तल्ले में दे रहे थे। मेरे एक कलकत्ता-निवासी मित्र श्री अक्षयकुमारदत्त की बड़ी इच्छा थी कि सूर्य विज्ञान सीखने के लिए उन्हें लेन्स प्राप्त हो जाय। उन्होंने इस संबंध में बाबा से प्रार्थना की। बाबा ने कहा : 'ज्ञानगंज को कहूँगा। कुछ समय में लेंस मिल जायगा। क्या तुम्हें बहुत जल्दी है? यदि ऐसा हो तो अभी मँगा दें।' दत्त महाशय बोले : 'बड़ी कृपा होगी, यदि इसी समय मिल जाय।' बाबा जी चुप हो गये। हम लोग उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखने लगे। थोड़ी देर के बाद बाबा ने हाथ उठाकर एक झटका दिया। उनके हाथ में छोटा सा पार्सल आ गया। हम लोगों ने देखा, उस पर तिब्बती अक्षरों में पता लिखा था। सबके सामने पार्सल खोला गया। उसके भीतर एक लेंस रखा था। बाबा ने उसे उठाकर दत्त बाबू को देते हुए कहा : 'यही चाहते थे न?'

१९३१ के आसपास की एक दूसरी घटना है। उन दिनों मलदहिया आश्रम में नवमुंडी आसन की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। नवमुंडी गुहा के ऊपर बैठने के लिए एक छोटा सा कमरा बनवाया गया था। उद्देश्य यह था कि उसमें बाबाजी क्रियावान् शिष्यों के साथ बैठा करेंगे। तदनुसार विशेष आसन भी बनाया गया था। इसकी सज्जा के लिए प्रत्येक शिष्य पर एक वस्तु अर्पित करने का भार डाला गया। फर्श के ऊपर बिछाने के लिए सिल्क की बड़ी चादर का व्यय मेरे जिम्मे आया। मेरे गुरुभाई डॉ० शोभाराम प्रबंधक बनाये गये। उन्होंने कहा : 'चादर में ८० रु० लगेगा। इसे आप देंगे।' दूसरे दिन डॉ० शोभाराम को देने के लिए दस-दस रुपये के आठ नोट एक लिफाफे में रखकर मैं आश्रम गया। अपराह्न काल था। गुरुदेव विज्ञान-भवन के पूरब दोतल्ले के बरामदे में एक आराम कुर्सी पर बैठे हुए थे। उनके निकट अन्य कई गुरुभाई बैठे थे। डॉ० शोभाराम भी उपस्थित थे। मेरी इच्छा हुई कि नोट का लिफाफा बाबाजी के हाथों में दे दूँ, फिर वे उसे स्वयं डॉ० साहब को दे देंगे। यह सोचकर लिफाफा आगे बढ़ा दिया।

डॉ० शोभाराम मेरी दाहिनी ओर बैठे थे। मैंने कहा : 'बाबा, यह मेरा योगदान है। नवमुंडी के ऊपर के कमरे की फर्श की चादर इसी से खरीदी जाय।' गुरुदेव ने कहा : 'एक चादर का दाम है ८० रुपया! इतना!, फिर वे डॉ० शोभाराम की ओर मुड़े : 'इतना रुपया क्या होगा?' डॉ० शोभाराम ने कहा : 'बीस रुपये के हिसाब से चार रेशमी चादरों का प्रबंध किया गया है। उसमें इतना ही लगेगा।' बाबा ने कहा : 'दामी चादर है। इतनी चादरों से क्या होगा? एक काफी है।' यह कहकर लिफ़ाफे में से दो नोट निकाल कर उन्होंने डॉ० शोभाराम को दे दिया, शेष ६ मुझे लौटाते हुए कहा : 'व्यर्थ रुपया नष्ट करना उचित नहीं।' मैंने निवेदन किया : 'यह रुपया एक अच्छे काम के लिए लाया गया था। मैं वापस नहीं लूँगा।' बाबा बोले : 'तब क्या करोगे?' मैंने कहा : 'ले लीजिए किसी धर्मकार्य में लगा दीजियेगा।' बाबा ने कहा :'यह नहीं होगा। ज्ञानगंज से इसका प्रतिवाद हो जायगा। ऐसा मैं कर नहीं सकता।' मैंने कहा :'न इसे आप लेंगे न मैं ही लूँगा,तब यह रुपया क्या होगा?' बाबा बोले, 'बात तो ठीक है। अच्छा ठहरो। हम अभी पूछ कर आते हैं।' यह कहकर बाबा भीतर गये। फिर छोड़ी देर बाद लौटकर कहने लगे :'ठीक है। यह रुपया उमा भैरवी माँ ज्ञानगंज के लिए ले जायेंगी।' तब मैंने कहा :'आप दे दीजियेगा।' 'नहीं, भैरवी माँ स्वयं तुम्हारे हाथ ले जायेंगी।' उनका उत्तर था।

मैंने लिफाफे को गोंद से बंद कर दिया। जाड़े के दिन थे। मैं रैपर ओढ़े हुए था। बाबा के आदेशानुसार मैंने लिफाफे को अपनी मुट्ठी में कसकर बंद कर लिया। हाथ रैपर के नीचे छिपा लिया और बड़ी सावधानी तथा उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद गुरुदेव से पूछा : 'वे कब तक ले जायेंगी?' बाबा बोले, 'अभी।' इसके बाद उन्होंने आराम कुर्सी के हत्थे पर हाथ पटक कर मुझसे पूछा : 'कुछ अनुभव किया?' मैंने कहा :'स्पंदन के अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं हुआ।' वे बोले : 'लिफाफा खोलकर देखो।' मैंने रैपर हटाकर लिफाफा बाहर निकाला। वह जैसा का तैसा बंद था किन्तु उसके भीतर रुपया नहीं था। लिफाफे पर हाथ की रेखाओं के चिह्न दिखायी दे रहे थे और कमल जैसी भीनी सुगंध आ रही थी। यह लिफाफा मैं बहुत दिनों तक यत्न के साथ अपने पास रक्खे रहा।

लोकदृष्टि से तिरोहित होने पर भी अभी तक बाबा का मेरे साथ व्यवहार पहले जैसा ही है। वे शिष्य और अशिष्य में भेद नहीं रखते। भक्त भी उनके अनुग्रह पात्र हैं। गुजरात के एक विशिष्ट भक्त जिन्होंने जीवन काल में बाबा को कभी देखा भी नहीं था अब तक उनका दर्शन पाते हैं। उनके घर में कभी-कभी बाबा का आविर्भाव होता है। उनका एक छोटा लड़का है, जो बाबा के आशीर्वाद से उत्पन्न हुआ था। वह भी स्थूल शरीर में बाबा का दर्शन लाभ करता है। बाब का उस परिवार से बड़ा स्नेह है। इस प्रकार की घटनाएँ अन्य अनेक स्थानों पर हुई हैं। आज तक एकांत भक्ति से पुकारने पर वे प्रकट होते हुए देखे जाते हैं। मैंने गुरुदेव के लीला-माधुर्य का वर्णन विशुद्ध वाणी के आठ खंडों में किया है, फिर भी वह संपूर्ण नहीं है। उनका वैभव अनंत है।

पंचीकरण (मैटेरियलाइजेशन)

एक दिन की घटना है। उस समय बाबाजी अपने पुरी वाले आश्रम में विराजमान थे। एक दिन कामाख्या बनर्जी नामक उनके एक पुराने शिष्य समुद्र में स्नान करने के लिए गये थे। असावधानता के कारण लहर की चपेट में आ जाने से उन्हें काफी चोट आ गयी। दर्द महीनों तक बना रहा। धीरे-धीरे वह वात में परिणत हो गया। इस प्रकार व्याधिग्रस्त रहते हुए भी कामाख्या बाबू बाबाजी के सत्संग में निरंतर उपस्थित होते थे। सत्संग में उस कटक से आये हुए एक आई० एम० एस० महाशय भी बैठे थे। बाबाजी ने कामाख्या बाबू के रोग का विवरण बताते हुए उक्त डॉक्टर महाशय से पूछा—'इस दर्द की कोई ओषधि है ?' डॉक्टर बोले, 'थोड़े ही दिन हुए जर्मनी से एक तैलात्मक ओषधि निकली है, उससे इस प्रकार के रोग का उपरचार होता है। मैंने स्वयं आजमाया है, परन्तु वह यहाँ नहीं, कलकत्ता में मिल सकती है। बाबा ने कहा, 'क्या उस ओषधि के उपादन (इनग्रीडियन्ट्स) आपको ज्ञात हैं।' डॉक्टर महाशय ने कहा : 'नहीं'। बाबाजी ने पुन: प्रश्न किया : 'क्या तुमने स्वयं उसका व्यवहार किया है ?' डॉक्टर महाशय ने कहा 'हाँ'।

बाबाजी ने तत्काल पत्थर की एक कूँड़ी मँगवायी। वह लायी गयी। वे आराम कुर्सी पर बैठे थे, बोले : 'कटोरे को मेरे सामने नीचे रखो।' कटोरा उनके निर्देशानुसार सामने के एक स्टूल पर रखा गया। बाबाजी ने अपना हाथ उसमें लटकाया। हाथ लटकाते ही उससे बूँद-बूँद करके तेल की भाँति कोई पदार्थ कटोरे में गिरने लगा। देखते ही देखते उसका तीन-चौथाई भाग उससे भर गया। बाबाजी ने डॉक्टर महाशय की ओर संकेत करते हुए कहा : 'तुम्हारी दवा यही है न।' डॉक्टर ने कहा : 'हाँ, महाराज!' बाबाजी इस रहस्य की व्याख्या करते हुए बोले : 'तुम्हारे नित्त में संस्कराररूपेण ओषधि के प्रत्यक्ष दर्शन के कारण जो वस्तु विद्यमान थी उसी को मैंने भौतिक रूपेण उत्पन्न कर दिया। यह पंजीकरण का व्यापार है।'

कामाख्या बनर्जी ने उस तैल का सेवन किया। थोड़े ही दिनों में व्यधिमुक्त हो गये।

रोगशांति

१९२९-३० की बात है। उस समय बाबा भवानीपुर (कलकत्ता) में थे। मैं गोदौलिया के निकट सर्वमंगला लेन के एक मकान में रहता था। मेरी स्त्री की तबीयत बहुत खराब थी। कई डॉक्टरों की दवा की गयी किन्तु कोई लाभ नहीं होता था। उनका शरीर जर्जर हो गया

था। निरंतर धड़कन (स्पैज्म) होती थी, और भी बहुत प्रकार के रोगों का सन्निवेश था। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद दौरा आता था। एक दिन उनकी स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गयी। मेरे मित्र सुप्रसिद्ध डॉ० शोभाराम ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु किसी प्रकार का प्रतिकार संभव न हो सका। अन्य कई बड़े-बड़े डॉक्टरों को बुलाया गया किन्तु कोई दौरा रोकने में सफल नहीं हो सका। संध्या होते-होते सभी घबड़ा गये। किसी-किसी ने मुझे सलाह दी कि गुरुदेव को तार देकर सूचित किया जाये। परन्तु शरीर के लिए बाबाजी को कष्ट देना मैंने उचित नहीं समझा। तार देने का विचार स्थगित कर दिया गया। किन्तु तार न भेजने से क्या हुआ? जो मर्मज्ञ है उसके ज्ञान का मार्ग कभी अवरुद्ध नहीं होता। उसी रात को ११-१२ बजे के लगभग देखा गया कि रोगी के कमरे से पद्मगंध आ रही है। उसी समय से मेरी धर्मपत्नी की स्थिति सुधरने लगी। दौरे बंद हो गये। अकस्मात् आविर्भूत गुरुदेव के स्वरूप को प्रणाम करते ही उनका रोग उपशम हो गया। तार देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। संकट से उद्धार हो गया। हम लोग निश्चिंत हो गये।

दूसरे दिन प्रातः साढ़े-आठ बजे मैं नीचे अपने कमरे में बैठा था। नौकर ने आकर मुझसे कहा : 'ऊपर माँ जी आपको बुला रही हैं। मैं ऊपर चला गया। वहीं स्त्री का वासस्थान था। मैंने पूछा, 'आवश्यकता क्या है?' वे बोलीं : 'अभी गुरुदेव आये थे।' मैंने कहा : 'कल रात में गुरुदेव आये थे।' उनके आने के बाद तुम्हारे रोग की निवृत्ति भी हो गयी थी, यह मैं जानता हूँ। किन्तु वे इस वक्त कब आये?' उन्होंने कहा : 'अभी आये थे। पाँच मिनट भी नहीं हुआ। मैं अपने सोने के कमरे से बाथरूम में जा रही थी। आँगन को पार करते हुए आधे रास्ते में ही अत्यंत कमजोरी के कारण गिरने लगी। उसी समय गुरुदेव ने स्थूल शरीर से प्रकट हो मुझे पकड़ लिया। मैं गिरने नहीं पायी। उनकी दाढ़ी हमारे शरीर में लग गयी थी। बाबा ने मेरे हाथ में दवा की आठ-दस गोलियाँ दीं। उनके सेवन की विधि बतायी और अंतर्धान हो गये।' मैंने उस दावा को देखा फिर पूछा, 'इसके सेवन के क्या नियम हैं?' वे बोलीं : 'सो तो मैं भूल गयी।' मैने कहा : 'जब यथानियम सेवन की विधि ही नहीं मालूम है, तब व्यवहार कैसे करेंगी?' इसके बाद उस दवा को मैंने अपने पास रख लिया और बाबाजी के पास इस घटना का उल्लेख करते हुए पत्र लिखा। इसके उत्तर में बाबाजी ने यथेष्ट निर्देश दिया। गोलियों का सेवन हुआ। धर्मपत्नी पूर्णरूप से स्वस्थ हो गयीं।

इसके बाद ग्रीष्मावकाश में जब मैं बाबाजी के पास कलकत्ता आश्रम में गया तो एक दिन एकांत में उनसे इस घटना को लेकर कुछ प्रश्न किये। मैंने पूछा : 'बाबाजी! कलकत्ता रहते हुए आपने काशी में उपस्थित होकर मेरी स्त्री की प्राणरक्षा कैसे की? एक साथ ही आपका इन दोनों स्थानों पर वर्तमान होना कैसे संभव हुआ?' यह सुनकर वे हँसते हुए बोले : 'जिस समय बहू माँ गिर रही थीं, मैं भी अपने बाथरूम में कुल्ला करने गया था। मैंने देखा कि वे गिर रही हैं। मैंने उन्हें पकड़ लिया। मैंने कहा : 'भवानीपुर से काशी लगभग ५०० मील दूर है। न उसने आपको पुकारा, न मैंने ही इस संबंध में पहले कोई सूचना आपको दी थी, फिर आपको कैसे पता चला कि वे रुग्ण हैं।' बाबा ने कहा : 'तुम योगी का क्या अर्थ समझते हो? योगी का अर्थ है, अखंड सत्ता से नित्यमुक्त होना। वह देशकाल से अवरुद्ध नहीं होता। मैं इसी शरीर से सर्वत्र, सर्वकाल वर्तमान रहता हूँ। फिर मेरे काशी पहुँचने की बात ही क्या?'

योगविभूति और इच्छाशक्ति

मैंने एक दिन बाबा से पूछा, 'योगी के लिए अपनी शक्तियों अथवा विभूतियों का बाहर प्रकाश करना उचित है या नहीं?' उन्होंने कहा,'जो शिक्षार्थी हैं और अभी मार्ग में प्रविष्ट हुए हैं, उनके लिए योग की विभूतियों का प्रदर्शन करना अनुचित एवं हानिकारक है। क्योंकि इससे अहंकार अथवा आसक्ति की वृद्धि हो सकती है। उन्हें इन सब शक्तियों को इस प्रकार गुप्त रखना चाहिए कि निकटतम संपर्क में रहने वाले व्यक्ति को भी इसका पता न लगे। किन्तु जो सिद्धयोगी अधिकारी बन गये हैं, उनके लिए यह नियम नहीं है। उनको अहंकार है नहीं, होने की संभावना भी नहीं है। अपनी दृष्टि से उनके लिए इन शक्तियों का कोई प्रयोजन नहीं है—इन पर वे पूरी तरह से जय प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु प्रथम-प्रविष्ट जिज्ञासु के लिए प्रजोयन के अनुसार इनका प्रदर्शन आवश्यक होता है। दिखाये बिना और क्रमरहस्य समझाये बिना उनके लिए सूक्ष्मतत्व में प्रवेश करना कठिन है। प्रथम प्रवेशार्थी का विश्वास दृढ़ रखने के लिए यह आवश्यक होता है। साधारणतया लोग जिसको असंभव समझते हैं वह असंभव नहीं रहता। सिद्धयोगी के लिए कोई वस्तु असंभव करके होती ही नहीं, क्योंकि शक्ति के अधीन सब कुछ है। अतः शक्ति आयत्त होने पर सब कुछ हो सकता है। अघटन का घटन महाशक्ति के ही अधीन है।'

मैंने शंका की : 'योगमार्ग में शक्ति का विकास आवश्यक है या सरल विश्वास?' उनका उत्तर था : 'दोनों सिद्धांत ठीक हैं। पहली अवस्था में जब चित्त चंचल रहता है तब निष्ठा और विश्वास कहाँ से आयेगा? प्रत्यक्ष देखे बिना एक बार नहीं पुनः पुनः विभिन्न अवस्थाओं में अपरोक्षानुभव प्राप्त किये बिना, मनुष्य का मन प्रायः शांत नहीं होता। ऊपर के राज्य में विश्वास ही प्रधान है। परन्तु आरंभ में प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए जिससे विश्वास का आविर्भाव हो सके।'

मैंने पूछा :'विभूतियों में श्रेष्ठ कौन सी विभूति है?' इन्होंने कहा :'इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति, यही त्रिक्रम सर्वश्रेष्ठ है। इनमें भी इच्छा शक्ति सबसे ऊपर है। ज्ञानशक्ति प्राप्त करने से अशेष विशेष लाभ ज्ञान-लाभ होता है अर्थात् सर्वगत का गत हो सकता है, इसमें बिल्कुल संदेह नहीं। क्रियाशक्ति आयत्त करने पर सर्वकर्तृत्व आ जाता है।'

हमने कहा :'यही तो योगशास्त्र में विशोकासिद्धि कही जाती है, जिसका स्वरूप है सर्वज्ञातृत्व और सर्वभावाधिष्ठातृत्व।'

बाबाजी बोले :'ठीक है, परन्तु इसके ऊपर में है इच्छाशक्ति। यह तुम्हारे विशोकासिद्धि के भी ऊपर की वस्तु है। इच्छाशक्ति प्राप्त होने पर उसी से ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का भी कार्य हो जाता है। इच्छा से ही सर्वज्ञान होता है। इच्छा से ही सर्वक्रिया भी हो सकती है। इच्छाशक्ति प्राप्त होने पर प्राकृतिक उपादान लेकर ज्ञान तथा क्रियाशक्ति काम कर सकती है। यही विज्ञान है। विज्ञान के अनंत प्रकार हैं—सूर्य विज्ञान, चंद्र विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, समय विज्ञान आदि। परन्तु इच्छाशक्ति विज्ञान नहीं है।'

मैंने एक प्रश्न पूछा : 'बाबा! इच्छाशक्ति और इच्छा में भेद है न?' उन्होंने कहा : 'अवश्य, अज्ञानावस्था में इच्छा रहती है, परन्तु ज्ञानपूर्ण होने पर ही इच्छा, इच्छाशक्ति का रूप धारण कर लेती है।'

मैंने जिज्ञासा की : 'क्या इच्छा स्वभावत: शक्ति नहीं है ?'

बाबा का उत्तर था : 'शक्ति का अर्थ है, चैतन्य। जब तक आत्मा अचेतन रहती है अर्थात् ज्ञान को प्राप्त नहीं करती तब तक उसकी इच्छा, इच्छामात्र है, इच्छाशक्ति नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने के माने ही है आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार।'

मैंने पूछा; 'क्या इस साक्षात्कार के बाद भी इच्छा रहती है ?'

बाबा ने कहा : 'अवश्य रहती है किन्तु महा इच्छा के रूप में। यह न रहे तो परमेश्वर का ईश्वरत्व ही कहाँ से होगा ?'

मैंने कहा : 'शास्त्रों में भी कहा है' 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' (मांडूक्योपनिषद् गौड़पाद कारिका) इसलिए यह बात समझ में आ गयी।'

इसी प्रसंग में और एक दिन बाबा ने कहा : 'देखो, इच्छाशक्ति के विषय में मैं तुमको एक तमाशा दिखाता हूँ।' उस समय मेरे साथ दो अन्य गुरुभाई भी उपस्थित थे। बााब ने कहा : 'तुम तीनों अपने हाथ की मुट्ठी बाँधकर उसमें रखने लायक जिस किसी भी वस्तु की इच्छा करो।'

हम तीनों मुट्ठी बाँधकर बाबा के निर्देशानुसार मनचाही वस्तु की इच्छा करने लगे।

बाबा ने कहा : 'देखो, तुम्हारे इच्छानुसार मुट्ठी में वस्तु आ गयी या नहीं ?'

हम लोगों ने कहा : 'नहीं'। हाथ खोलकर देखने पर पहले जैसा ही खाली मिला।

बाबा ने फिर कहा : 'एक बार और मुट्ठी बाँधो। जो वस्तु सोचते थे, पुनः उसी का चिंतन करने लगो। पहली बार तुम लोगों ने यह देख लिया कि मात्र इच्छा से कुछ नहीं होता। अब मैं यहाँ से शक्ति संचार करता हूँ।'

बाबा ऊपर आसन पर बैठे हुए थे। यह कहकर वे अपने हाथ से तकिया को थपथपाते हुए बोले : 'देखो मैं तुम्हारी इच्छा में शक्ति का संचार कर रहा हूँ।'

इसके बाद हम लोगों ने मुट्ठी खोलकर देखा। तीनों की मुट्ठी में इच्छित वस्तु रखी हुई थी।

इस घटना की व्याख्या करते हुए बाबा ने बताया : 'तुम्हारी इच्छा और मेरी शक्ति दोनों मिलकर इच्छाशक्ति में परिणत हो गयीं और इसके परिणाम-स्वरूप जो वस्तु प्राप्त हुई वह इच्छाशक्ति का फल है। जब तुम्हारा महाज्ञान उदय हो जायगा, उस समय इस शक्ति-संचार की आवश्यकता न रहेगी।

हमने प्रश्न किया : 'इच्छा शक्ति ही तो चरम शक्ति है। उसकी प्राप्ति से योगी में ईश्वरत्व आ जाता है। क्या यही चरम सिद्धि है ?'

बाबा बोले, 'नहीं बहिर्मुखी शक्तियों में इच्छा शक्ति प्रधान है। सृष्टि-राज्य की दृष्टि से यह सर्वप्रथम शक्ति है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह भी चरम नहीं है। अंत में योगी अंतर्मुख होकर इच्छाशक्ति को भी श्री भगवान् के चरणों में अर्पित कर देते हैं। इच्छा शक्ति के अर्पण के साथ ही साथ आह्लादिनी अथवा परमानंद-रूपा शक्ति का आविर्भाव होता है। जब तक इच्छा की निवृत्ति न हो तब तक आनंद का उदय कहाँ से होगा ? इच्छानिवृत्ति के साथ ही योगी महाशक्ति के पूर्णानंदमय अंक में प्रवेशलाभ करते हैं। इसके बाद अनुकूल तथा

प्रतिकूल भाव बराबर हो जाने पर आनंद का भी भेदन हो जाता है। तभी चैतन्य राज्य में प्रवेश होता है। अंत में शिव-भक्ति का अभेद ज्ञान होने पर उसी के साथ अपने स्वरूप का भी तादात्म्य हो जाने पर योगी में स्वातंत्र्य का उन्मेष होता है। यही पूर्णता है।'

अंत में उन्होंने कहा : 'विभूति तुच्छ अवश्य है किन्तु उसका विकास होना चाहिए और विकास होने के अनंतर उसकी निवृत्ति भी होनी आवश्यक है।'

११. मायानंद चैतन्य

मायानंद जी एक महाराष्ट्रीय संत थे। ये १९१८ ई० के कुंभ स्नान से लौटते हुए काशी आये थे और दशाश्वमेध घाट पर ठहरे थे। इनका वैशिष्ट्य यह था कि प्रचंड धूप में भी ये किसी प्रकार के आवरण, छाता इत्यादि का व्यवहार नहीं करते थे। जेठ-वैशाख में घाट के तपते हुए पत्थरों पर खुली धूप में बिना कोई आसन बिछाये बैठे रहते थे। इनकी साधना भूमि महाराष्ट्र प्रदेश में नर्मदा तट पर ओंकारेश्वर के समीप थी। इन्होंने संत ज्ञानेश्वर की गीताटीका का हिन्दी में अनुवाद किया था।

एक दिन अपने मित्र सतीशचंद्र दे के साथ मैं इनके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। उस समय ये विश्वरूपदर्शन पर व्याख्यान दे रहे थे। चारों ओर श्रोताओं की अपार भीड़ थी। व्याख्यान का मूल था गीता का एकादश अध्याय। ये कह रहे थे : 'विश्व-रूप-दर्शन का विवरण सभी पढ़ते हैं, किन्तु यह दर्शन किसी को नहीं होता, क्योंकि सामान्यतया लोगों की उस पर श्रद्धा नहीं होती। मैं तुम लोगों को विश्व-रूप-दर्शन कराऊँगा। इसके पहले जान लो कि भगवान् का विश्वरूप क्या है? विश्वरूप का तात्पर्य यही है कि भगवान् निगुर्ण, निराकार और निष्फल होते हुए भी सर्वाकार संपन्न है। इसलिए हम जो कुछ जगत् में देखते हैं वे सभी आकार विश्वरूप के ही अंतर्गत हैं अथात् चारों ओर इन्हीं का आकार है, यह समझना चाहिए, न कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि। इसी का नाम विश्वरूप-दर्शन है। भगवान् ने भी कहा है :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अर्थात् सभी वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना। इसके माने यह नहीं कि एक समय में कोटि-कोटि सूर्य चंद्र देखना। यह विज्ञान इन्हें गुरुकृपा से मिला है, ऐसा इन्होंने बताया। इनके गुरु थे सर्वत्र सुप्रसिद्ध महात्मा विशुद्धानंद सरस्वती जो काशी में अहिल्या घाट पर बहुत दिनों तक विराजमान थे। उन्होंने ही इन्हें विश्वरूप दर्शन का यह रहस्य बताकर सिखाया था। इनका कहना था कि यदि मृत्यु के समय किसी में यह भाव रहे तो उसकी अधोगति नहीं हो सकती। क्योंकि उस समय दृष्टि के सामने जो कुछ हो वह ईश्वर का ही रूप होगा। इससे जगत् का परमकल्याण होता है। लोग मृत्यु-काल में देवतादि के चित्र या मूर्ति सामने रखते हैं, उससे यह कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की उपाधि नहीं है, किसी प्रकार की कृति-साध्यता भी नहीं है, चेष्टा भी नहीं। सभी उनकी मूर्ति हैं। यह भाव रहने पर परागति हो जायगी इसके लिए भावशुद्धि मात्र अपेक्षित है। सद्गति अपने आप हो जायगी।

१२. दयाल ब्रह्मचारी

इनका बंगदेशीय शरीर था। बहुत दिनों तक इन्होंने तिब्बत में वास किया था। उसके बाद वृद्धावस्था में काशी में आकर बैठ गये थे। मुझसे इनका परिचय तभी हुआ। हम लोग कभी-कभी इनके पास जाकर तिब्बत में इनकी साधना का इतिहास सुनते थे। उससे यह ज्ञात हुआ कि ये महान् पुरुष थे परन्तु थे साधक कोटि में ही। कुछ दिनों बाद काशी में ही इनका देहांत हो गया। ये बहुत सदाशय दयालु प्रकृति के साधक थे।

१३. नागा बाबा

नागा बाबा महाराष्ट्रीय संत थे। ये भी कुंभ से लौटे हुए महात्माओं में थे। इनसे मेरा परिचय दशाश्वमेध घाट पर हुआ था। ये कई महीने तक काशी में रहे। मैं इनके सत्संग में प्राय: नित्य उपस्थित होता था। ये विलक्षण संत थे। बिल्कुल नग्न रहते थे। योग्य अधिकारियों के समक्ष ये साधना के रहस्य प्रसंगत: खोल देते थे। जाड़ा हो, गर्मी या बरसात, ये सर्वदा घाट पर नंगे बैठे रहते थे। इनका आसन प्राय: अहिल्याबाई घाट पर रहता था। इनका अनुभव तथा सिद्धान्त लोकोत्तर था। मुझे इनसे अनेक विषयों में ज्ञान का रहस्य प्राप्त हुआ था।

इनका कहना था कि जब तक देह-सिद्धि न हो तब तक यथार्थ ब्रह्म-साक्षात्कार हो नहीं सकता। एक दिन की बात है। उस समय काशी में एक और उच्चकोटि के महात्मा रहते थे। उनका नाम था वेणीमाधव। वे प्रज्ञाचक्षु थे, इसलिए लोग उन्हें 'अंधा मास्टर' कहकर पुकारते थे। मास्टर इसलिए कहलाते थे कि ये जब काशी में आये तभी से अपने उदरपोषण के लिए किसी से सहायता न लेकर छात्रों को ट्यूशन पढ़ाकर निर्वाह करते थे। यह वृत्ति इनकी बहुत दिनों तक चलती रही। ये गृहस्थ थे किन्तु अद्‌भुत ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष थे। इनको सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन होता था। हम लोग कभी-कभी इनका सत्संग करते थे। ये सोनारपुरा में रहते थे। उस दिन संध्या समय जब हम लोग दरभंगा घाट पर बैठकर नागा बाबा से बात कर रहे थे, तो बंगाली टोला की ओर से एक सहायक भक्त के साथ वहाँ आ गये। दूर से उनको देखते ही नागा बाबा कहने लगे, 'जीवन्मुक्त पुरुष हैं। परन्तु इनका मातृ-ऋण-शोध नहीं हुआ।' मैंने पूछा, 'जीवन्मुक्त होने पर भी मातृऋण-शोध न हो, यह कैसे हो सकता है?' उन्होंने कहा, 'हाँ जीवन्मुक्ति होने पर अगर मातृऋण शोध नहीं हुआ तो देहांत में ऊर्ध्व गति तो हो जाती है परन्तु अध: आकर्षण रह जाता है। माता पृथ्वी है उसका ऋण शोध जब तक न हो तब तक पृथ्वी का आकर्षण बना रहेगा, इसमें संशय नहीं। ऋणशोध का अर्थ यही है कि पृथ्वी या भौतिक सत्ता से आत्मा ने जिस उपादान को ग्रहण किया है उसको शुद्ध करना चाहिए। जीवन्मुक्ति होने पर भी उपादान शुद्धि हो, ऐसी कोई बात नहीं। इस उपादान की शुद्धि न होने के कारण जीवन्मुक्ति सार्थक नहीं होती। क्योंकि उसमें अविद्यालेश रह जाता है। उपादान की पूर्ण शुद्धि होने पर वह भी चिन्मय हो जाता है। तब आत्मसत्ता अखंड हो जाती है, उसमें शुद्ध चिन्मय और दैहिक—दो भाग नहीं रह जाते। भौतिक सत्ता शुद्ध अथवा चिन्मय हो जाने से आत्मा स्वाधीन हो जाती है। इसी का नाम देहसिद्धि है। सिद्ध लोग इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। इसी का नाम मातृ-ऋण शोध है।

इसके पश्चात् अध: आकर्षण समाप्त हो जाता है अन्यथा कभी न कभी निम्राकर्षण के प्रभाव से नीचे आना अवश्यभावी है। ये महात्मा जीवन्मुक्त तो हैं, क्योंकि साक्षात्कार कर लिया है, किन्तु देह-सिद्धि प्राप्त नहीं की है, यह देखने से मालूम होता है।

एक दिन हमारे साथ कुछ और लोग नाना बाबा के पास बैठे हुए अध्यात्म चर्चा कर रहे थे। बाबा जी कहने लगे : 'संसार में यह जो वैचित्र्य-दर्शन होता है, उसका कारण है दक्षिण और वाम नेत्र की शक्ति का बराबर न होना। वस्तु दर्शन के समय दक्षिण और वाम दोनों चक्षुओं का परस्पर संयोग रहता है परन्तु साधारणत: साम्य नहीं होता। यह चक्षु और इंद्रियों के उपलक्षण हैं। जब दक्षिण और वाम चक्षु की शक्ति मिलकर अभिन्न हो जायगी तब यह विचित्र जगत् दर्शन में नहीं आयेगा। दृष्टि के सामने शून्य का प्रकाश हो जायगा, फिर उसका भेदन करना पड़ेगा। तब चिन्मय राज्य का पता चलेगा। शून्य का आविर्भाव भी होना चाहिए उल्लंघन भी।'

इन महापुरुष ने देह-सिद्धि की ऐसी बहुत सी प्रक्रियाएँ बतायी थीं जो प्रचलित ग्रंथों में कहीं भी देखने में नहीं आयीं। उनके रहस्यों को प्रकट करना अनावश्यक है। इनको किसी ने कभी भोजन करते नहीं देखा। ये प्राय: एक स्थान में रहा करते थे। कभी-कभी गंगा में उतर कर नेती-धोती आदि योग क्रियाएँ करते देखे जाते थे। मैंने इनके साथ बहुत से अंतरंग विषयों का आलोचन किया था। कुछ दिनों बाद ये अकस्मात् अदृश्य हो गये। तब से फिर कभी देखने में नहीं आये।

१४. स्वामी ब्रह्मानंद

इनका गृहस्थ जीवन का नाम मोतीलाल गांगुली था। ब्रह्मानंद, गुरुप्रदत्त नाम था। ये काशी में बहुत दिनों तक वास करते रहे और उच्च कोटि के सिद्ध रूप में विख्यात थे। प्रत्यक्ष रूप में गृहस्थाश्रमी होते हुए भी ये स्वरूपत: संन्यासी थे। उस समय के काशीवासी अनेक प्रसिद्ध संन्यासी इनके पास आकर उपदेश ग्रहण करते थे। हमने देखा कि ये ज्ञान में निष्णात थे और रसायन-प्रक्रिया में भी असाधारण अधिकार रखते थे। इनके पुत्र अतुल गांगुली मेरे पास बराबर आते-जाते थे। इसलिए इनके साथ मेरा संबंध कुछ अंतरंग हो गया था।

मेरी दीक्षा १९१८ ई० के शीतकाल में हुई थी। उस वर्ष प्रयाग में महाकुंभ लगा था। कुंभ पर्व की समाप्ति के बाद बहुत से साधु लोग प्रयाग से काशी आये थे और दशाश्वमेध के आस-पास तथा गंगाजी के उस पार रेती में ठहरे थे। ये लोग प्राय: शिवरात्रि तक काशी में रहे थे। उस समय मैंने देखा कि बहुत से अच्छे-अच्छे महात्मा गांगुली महाशय के सत्संग में उपस्थित होते थे।

एक दिन ये गंगातट पर बैठे थे। मैं भी वहीं घूम रहा था। मुझको देखते ही इन्होंने कहा : 'आपकी आँखों से पता चलता है कि दीक्षा हो गयी है। मैं अपने अधिकार के अनुसार एक वस्तु आपको देना चाहता हूँ। आप योग्य हैं इसलिए उसे देने की मेरी इच्छा है। किसी दिन ८ से १० बजे के बीच मुझसे घर पर मिलिये।' स्वामीजी के कहने के अनुसार कुछ दिनों बाद मैं घर पर गया। उस समय वहाँ बाहर का कोई व्यक्ति नहीं था। उन्होंने पहले कुंडलिनी तथा क्रियाशक्ति के बारे में उपदेश दिया, फिर श्वास-प्रश्वास के

रहस्य के विषय में कुछ उपयोगी बातें बतायीं। इस संबंध में उनकी अपनी अनुभूति क्या है ? यह पूछने पर वे मुझे अपने घर की छत पर ले गये और वहाँ कुछ अनुभव कराया, जिससे ज्ञात हुआ कि वह वस्तु अखंड मंडलाकार सूर्य के सदृश्य है और है प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में। इससे कुंडलिनी का विशेष संबंध है। उसी के ऊपर भावना का अभ्यास रखना उचित है। उन्होंने कहा : 'साधक किसी भी साधना मार्ग से क्यों न चले, यह सबके लिए आवश्यक है। इस ज्ञान की बड़ी महिमा है, किन्तु इसकी सिद्धि अभ्यास पर निर्भर है। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी इन महापुरुष से मुझे कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

स्वामीजी ने मुझे बताया कि इस गुप्त तत्व का ज्ञान मुझे अपने पूर्व कर्मस्थल मेरठ में नागा बाबा द्वारा मिला था।

१५. वसंत साधु

ये १९१८ ई० में प्रयाग के कुंभ स्नान से विश्वनाथ दर्शन के लिए काशी आये हुए एक युवक साधु थे। बंगीय शरीर था। आयु लगभग ४९ वर्ष की थी। ये दशाश्वमेध घाट पर थे। मैं नित्य गंगातट पर साधुसंग के लिए जाता था। एक दिन अपराह्न में इनसे भेंट हो गयी। बहुत देर तक बातें हुईं। इनकी साधना में कोई ऐसी बात नहीं मिली जो मुझे पहले ज्ञात नहीं थी।

इनका कहना था कि हृदय और सहस्त्रार के बीच में एक गुप्त नाड़ी है, जिसे संप्रदाय में 'गुह्यिनी नाड़ी' कहते हैं। उसके द्वारा ही ऊर्ध्वतम और अंतरतम का समन्वय होता है। बहुत से साधक मार्ग में ऊर्ध्वगति प्राप्त करके सहस्त्रारचक्र तक पहुँच जाते हैं, कोई-कोई सीधे सहस्त्रार में न जाकर हृदय में जाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सीधे हृदय में प्रवेश करना कठिन है। षट्चक्र-प्रक्रिया से जो जाते हैं वे हृदय के ठीक केन्द्र में नहीं पहुँच सकते। षट्चक्र-प्रक्रिया या दूसरे उपाय से से ही ऊर्ध्वगति द्वारा सहस्त्रार में जाकर स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु वह विश्रांति का स्थान नहीं है। वह ऐश्वर्य का स्थान है। इसलिए ऊर्ध्व-भूमि में जाकर भी गुप्त मार्ग से विश्राम स्थान में जाना पड़ता है। यह विश्राम लीला या आनंदस्थल हृदय है। सहस्त्रार से गुप्तमार्गी गुह्यिनी-नाड़ी का अवलंबन करके उसमें प्रवेश होता है। यह साधारण योगी के लिए संभव नहीं है। चैतन्य महाप्रभु ने संप्रदाय में जो कीर्तन परंपरा प्रवर्तित की थी उसमें विशेष करके मृदंग का व्यवहार देखा जाता है। इसे बंगाल में खोल कहते हैं। मृदंग के दोनों ओर दो प्रकार की ध्वनि उठती है। इन दोनों के समन्वय से हृदय में जाने का मार्ग शीघ्र खुल जाता है—इन दोनों ध्वनियों में एक बारीक है, दूसरी गंभीर है। इनके प्रभाव से मार्गनिरोध समाप्त हो जाता है। मुझे इन महापुरुष से इस विषय में कुछ विशिष्ट रहस्य-तत्व मिले थे, जो गोपनीय हैं।

१६. कालिका अवधूत

ये एक महात्मा थे जिनसे मेरा परिचय और घनिष्ठ संबंध १९१८ ई० में पूर्ण कुंभ मेला के समय, प्रयाग घाट में हुआ था। इनका शरीर बंगदेशीय था। इनकी जन्मभूमि पूर्वबंग के

पवना जिले में थी। ये आद्याशक्ति काली के उपासक थे और सिद्धि प्राप्त थे—ऐसी प्रसिद्धि है। इनके दर्शन के पूर्व मेरी दीक्षा हो चुकी थी।

ये काशी में खालिसपुरा मुहल्ले में निवास करते थे। छोटी-छोटी सिद्धियों का प्रकाश रहने के कारण स्वार्थ सिद्धि के लिए बहुत संसारी लोग इनके पास आया करते थे। नखदर्पण ऐसी अनेक सिद्धियों से आकृष्ट साधारण लोगों का इनके यहाँ जमघट लगा रहता था। ये बहुत दिन देह में नहीं रहे। अंत में एक योग्य शिष्य को अपने स्थान का भार देकर इन्होंने महाप्रयाण किया। इनकी तपस्या का विस्तृत विवरण कुछ दिन पूर्व शिष्यों द्वारा प्रकाशित जीवनवृत्त में दिया गया है।

इनका स्वभाव अत्यंत सरल तथा व्यवहार नीति बहुत ही सुंदर थी। मेरे साथ इनका बड़ा सौहार्द था।

१७. हरिहर बाबा

बाबाजी काशी के प्रसिद्ध त्यागी संन्यासी थे। ये प्रज्ञाचक्षु थे। मैं जब सबसे पहले बनारस आया तभी से इनका नाम सुनता था और जब ये तुलसी घाट पर या और भी थोड़ा आगे रामनगर के सामने नौका में रहते थे तो प्रायः इनके दर्शन के लिए जाया करता था। जब मैंने सर्वप्रथम इनका दर्शन किया तो उस समय ये गंगा तट पर नौका में नहीं रहते थे। नौकावास बाद में प्रारंभ हुआ।

ये दिगंबर महापुरुष थे। मेरे गुरुदेव (स्वामी विशुद्धानंद) भी कभी-कभी इनका दर्शन करने जाते थे, उनके साथ मैं भी जाता था। योगत्रयानंद महाशय (शिवराम किंकर) इनमें बड़ी श्रद्धा रखते थे। ये सर्वत्यागी महापुरुष थे। मुख से सदा 'शिव शिव राम राम' कहते रहते थे। काशी और गंगा में इनकी अटल निष्ठा थी—इतनी अधिक कि ये नित्यकर्म से निवृत्त होने के लिए प्रातः सायं नियमित रूप से रामनगर की ओर गंगा पार करके जाया करते थे। इनका यह नियम अंतिम समय तक चला। प्राचीन समय में जैसे तैलंग स्वामी आदि महापुरुष काशी में रहकर लोगों का चित्ताकर्षण करते थे, इस शताब्दी में हरिहर बाबा का वही स्थान था।

अंतिम वर्षों में योगवाशिष्ठ पर इनका बड़ा आकर्षण था। कीर्तन और योगवाशिष्ठ का पाठ इनके निकट बराबर होता रहता था। इनका देहांत १९४९ के आसपास हुआ।

१८. वृद्ध महाशय

इन महापुरुष का नाम मुझे ज्ञात नहीं है। जिस समय इनका साक्षात्कार हुआ, ये वृद्ध शरीर थे। उसी के आधार पर इनका यह नाम दिया गया है।

१९१८ ई० के आसपास जब मैं नियम से संध्या समय गंगा दर्शन के निमित्त दशाश्वमेध घाट पर जाया करता था उसी समय एक दिन ग्रीष्म ऋतु में अपने मित्र के साथ मैं टहलते-टहलते अहिल्या घाट पहुँच गया। वहाँ एक स्थान पर बैठकर गंगा के वक्षस्थल पर खेलती हुई तरंगों का दृश्य देखने लगा। हम लोगों के पास ही पड़ी चौकी पर सौम्य तथा शांत मूर्ति वृद्ध बैठे थे। देखते ही जान पड़ा कि ये कोई अंतर्दर्शी, अनुभूति-संपन्न, तेजस्वी महापुरुष हैं। परिचय के बाद अल्प समय में ही उनसे घनिष्ठता हो गयी।

सत्संग वार्ता के क्रम में अपना दृष्टिकोण बताते हुये इन्होंने कहा : 'आजकल लोग जिस प्रकार तत्त्व की व्याख्या करते हैं, उससे कोई विशेष फल नहीं होता क्योंकि श्रोता अंग्रेजी पढ़-लिखे नये संस्कारों से युक्त होते हैं। बिना कुछ नये ढंग से समझाये उनसे सहानुभूति पाने की आशा नहीं है। अतएव समय के प्रभाव से सभी विषयों को समझाने के लिए प्रणाली में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। मैं भी बहुधा यही करता हूँ, परन्तु इससे तत्व का स्वरूप नहीं बदलता।'

ये महाशय गृहस्थ थे और सफेद पोशाक पहनते थे। अत: सर्वत्र साधु रूप में परिचित नहीं थे, परन्तु थे महाज्ञानी। मेरे मित्र के प्रश्न करने पर तथा साधन-तत्व के संबंध में इन्होंने जो बातें बतायीं वे मुझे इतनी अच्छी लगीं कि कुछ दिनों बाद उनका विवरण काशी से प्रकाशित 'उत्तरा' पत्रिका में तथा सुप्रसिद्ध 'कल्याण' मासिक पत्र (गोरखपुर) में निकाल दिया था। उसका सारांश इस प्रकार है :

१—'संसार में जितने धार्मिक संप्रदाय हैं सबके मूल प्रवर्तक एक ही हैं। देश, काल तथा अधिकारी भेद से विभिन्न मार्ग प्रवृत्त हुए हैं, यह ध्यान रक्खो। ईसाई धर्म के अक्षय स्वर्ग तथा अक्षय नरक बिल्कुल ही बौद्धधर्म से मिलते हैं परन्तु उसमें एक विशेषता है। बुद्धदेव जन्मांतर मानते थे तथा इसका रहस्य वे समझा भी गये हैं। जिन देशों में उनके धर्म का प्रचार हुआ, वे देश जन्मांतर के तत्व को ग्रहण करने के अधिकारी थे। परन्तु महात्मा ईसा ने जिन देशों में प्रचार किया, वे इस तत्त्व को समझने में समर्थ नहीं थे। इसलिए उनको उपदेश देने के समय उन्हें इस विलक्षणता की रक्षा करनी पड़ी है। परन्तु विचार करने पर शाश्वत स्वर्ग और नरक (परपीचुअल हीवेन ऐंड हेल) बौद्धधर्म के ही सिद्धांत हैं। इसे कुछ स्पष्ट करता हूँ।

बौद्धधर्म में कहा गया है कि मानव-जन्म की प्राप्ति ही स्वर्ग स्वरूप है तथा तिर्यक् योनि की प्राप्ति नरक स्वरूप। मानव जन्म अत्यंत दुर्लभ है। एक बार इसके प्राप्त होने पर पुन: प्राप्त होने की आशा नहीं रहती। जो एक बार मनुष्य का जन्म पा गया, उसने अनंत स्वर्ग की प्राप्ति कर ली, यह कहा जा सकता है। मृत्यु के पश्चात् यदि कर्मवश किसी का मानव योनि में पुनरागमन न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि वह नरक में चला गया और क्योंकि अतिदीर्घ काल तक मनुष्येतर योनियों में भ्रमण करना पड़ता है इसलिए वह काल दीर्घ नरक-भोगावस्था कहा जाता है।

लिखा है कि एक बार बुद्धदेव ने किसी भिक्षु को उपदेश देते समय कहा था कि उछलती हुई तरंगों से उद्वेलित किसी समुद्र में एक कछुआ और एक छेद वाला चक्र बहा जा रहा था। वे दोनों एक के बाद दूसरी तरंग में प्रवाहित होते थे। कछुए का सिर जल के नीचे था। वह सौ वर्षों में केवल एक बार क्षण भर के लिए सिर ऊपर उठाता था। वह अनंत समुद्र में विचरण करता था और चक्र भी उसके साथ ही घूमता था। यदि पूछा जाय कि क्या ऐसा भी योग कभी आ सकता है कि कछुए का सिर चक्र के छिद्र से निकल कर ऊपर उठ जाय? कछुआ तो सौ वर्षों में एक ही बार क्षण भर के लिए सिर ऊँचा करता है। इस प्रकार का योग करोड़ों वर्षों में भी कभी आयेगा या नहीं, इसमें संदेह ही है। वैसे ही यहाँ मनुष्य होना भी अत्यंत कठिन है।

२—सृष्टितत्त्व के मूल में रहती है—वासना, कामना और इच्छा। प्रलयावस्था में केवल एक तत्त्व अपने स्वरूप में रहता है—वह है ब्रह्म, जो परम अणुस्वरूप है। वह कौन सी अवस्था है? यह कहा नहीं जा सकता और चिंतन भी नहीं किया जा सकता। मनु कहते हैं :

'प्रसुप्तमिव सर्वतः।'

यहाँ एक 'इव' शब्द से उन्होंने काम चला लिया है। उसका केवल आभासमात्र दिखाने की चेष्टा की है। उसे ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता परन्तु शास्त्रानुसार कहा जाता है कि उस समय एक ही था। वह बिंदु-स्वरूप था। फिर वासना के ताप से यही बिंदु फटकर दो खंडवाला हो गया—एक बिंदु और दूसरा नाद। बिन्दु स्फुलिंग के समान है और नाद मानो ईंधन है। उसी एक स्फुलिंग से हजारों स्फुलिंग की उत्पत्ति होती है। एक ही बहु होता है। नाद ही प्रकृति है। यह नाद क्रमशः शून्य में आक्रमण करके बढ़ता रहता है। यही सृष्टि अथवा बहु होना (मल्टीप्लीकेशन) है। यह जो मूल बिन्दु है उसमें नाद (शक्ति) सृष्टि के पूर्व अव्यक्त (अस्फुट) अवस्था में रहता है। उस समय शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं रहता।

सृष्टि के मूल में है इच्छा। एक दृष्टांत लो। कुम्हार ने घटादि बनाने के लिए कुलाल चक्र को घुमा दिया। थोड़ी सी मिट्टी का पिंड है और उस पर उसने हाथ लगा रखा है। कैसा आश्चर्य है! हाथ हिलता नहीं और कुम्हार की इच्छा के अनुसार कभी घड़ा, कभी सकोरा और कभी हाँड़ी तैयार हो जाती है। इच्छा से ही सब होता है। उपादान तो नित्य ही है सत् अथवा सत्ता, कालचक्र घूम ही रहा है, अब केवल इच्छा ही उत्पत्ति का नियामक है।

यह बात याद रखनी चाहिए कि इच्छा ही बीज है। जो इच्छा करोगे वही होगा, निष्चय ही होगा। आज नहीं तो कल। इच्छा का नाश नहीं होता। एक बार जो इच्छा की गयी, तत्काल वह अनंत में चित्रित हो गयी। समय आने पर फूटकर बाहर निकल आयेगी। मान लो तुम्हें आज घास खाने की इच्छा हुई अतएव तुम्हें एक ऐसा शरीर धारण करना पड़ेगा जिससे घास खाने की इच्छा पूर्ण हो सकती है। ऐसा शरीर धारण किये बिना वह इच्छा अतृप्त रह जायगी। जिस प्रकार की इच्छा होती है शरीर भी उसी प्रकार का धारण करना पड़ता है, चाहे वह देव शरीर हो, मानव शरीर हो या तिर्यक् शरीर। शरीर धारण किये बिना काम नहीं चल सकता। एक कथा है—

एक बार बुद्धदेव का एक अंत्यज भक्त अत्यंत भक्तपूर्वक गुरुदेव के लिए सूअर का मांस तैयार करके उनके आगमन की प्रतीक्षा में बैठा था। सारा दिन बीत गया, संध्या हो गयी परन्तु गुरुदेव नहीं आये। संध्या के समय एक कुत्ते ने आकर उस मांस में जो भगवान् के लिए यत्नपूर्वक रखा गया था, मुँह डाल दिया तथा उसमें से कुछ खा भी लिया। भक्त ने देखते ही कुत्ते को भगा दिया। परन्तु उस दिन बुद्धदेव नहीं पधारे। दूसरे दिन उसने जाकर बुद्धदेव से सब वृत्तांत कहा और यह भी प्रकट किया कि आपके न पधारने से मेरे हृदय में बड़ा ही दुःख हुआ था। बुद्धदेव ने कहा, 'मैं तो कल गया था और मैंने तुम्हारे भोग को ग्रहण भी किया था। तुम मुझे पहचान नहीं सके। कल क्या तुमने एक कुत्ता नहीं देखा, मैं ही कुत्ते का शरीर धारण करके गया था। तुमने मेरे लिए जिस प्रकार का भोग रखा था, उसके

अनुरूप देह धारण करके ही मैं गया था।' अतएव समझना चाहिए कि सब शरीरों में सब प्रकार के भोग नहीं हो सकते।

इच्छा की तृप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं होती। जब तक एक भी वासना अतृप्त रहेगी, तब तक मुक्ति असंभव है। प्राचीन इतिहास में मानसरोवर के निकट रहने वाले एक सिद्धावस्था के समीप पहुँचे हुए योगी के पुनः राजा होने का विवरण तुम्हें ज्ञात है क्या? अतः शास्त्रकार सर्वत्र यही उपदेश देते हैं कि 'काम का त्याग करो, इच्छा छोड़ो। वासना दूर करो, तभी मुक्ति प्राप्त करोगे और सृष्टिचक्र से बाहर जा सकागे।'

इच्छा की तृप्ति किस प्रकार होती है? तंत्र मार्ग कहता है कि तृप्ति भोग में है। उपदेश सुनते ही वासना का त्याग हो जाना कलियुग में अत्यन्त कठिन है। इस युग में तो भोग करके ही काम का नाश करना होगा। परन्तु इसमें सिद्धगुरु की आवश्यकता है। नहीं तो भोग करते-करते प्राणी बंधन में जकड़ता जायगा अर्थात् यदि चाभी हाथ में हो तो प्रवृत्ति के द्वारा ही प्रवृत्ति की निवृत्ति की जा सकती है। वह चाभी है सद्गुरु। वैदिक मार्ग में भी यही भाव है—पहले कर्म, फिर त्याग और ज्ञान। कर्म-काण्ड में तो कामना का अंत ही नहीं होता। परन्तु उसमें भी इस प्रकार के उपाय रखे गये हैं, जिनसे कामना की निवृत्ति हो जाती है। ऐसी आहुति भी तो है, 'ॐ भूः स्वाहा, ॐ भूवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा।' भू आदि त्रिलोक, जिनमें काम्य फलों का भोग होता है, सब भस्म हो जायें। क्या यह ज्ञानी की बात नहीं है? कर्म के साथ-साथ कर्म-त्याग का भी संकेत दिया गया है। किन्तु आजकल न वैसे कर्म ही होते हैं, न वैसे गुरु ही हैं।

इसके बाद वृद्ध महाशय ने प्रणव और व्याहृति की व्याख्या की। प्रणव के तीन व्यक्त अवयव हैं—अ, उ और म। इनमें से 'अकार' को छोड़ दो, क्योंकि वह तो सभी वर्णों की आद्या प्रकृति है। शेष 'उ' और 'म' बिन्दु और नादवाचक हैं। भू प्रभृति सात व्याहृतियाँ नाद से प्रकट हुए प्रसिद्ध सप्तलोक हैं। बिन्दु और नाद की भी लोकों में गणना करने से कुल नौ लोक होते हैं। नवम लोक सत्य लोक है, वह अक्षय है, अव्यय है। बिन्दु, नाद और सत्यलोक—इनका नाश नहीं होता। शेष छः नश्वर हैं। भूलोक की सृष्टि सर्वप्रथम होती है। यह ब्रह्मांड की नाभि है। यही कर्मभूमि है। भुवलोक में सूर्य और ग्रहादि स्थित हैं। स्वर्लोक में नक्षत्रादि की स्थिति है। भूर्लोक कहने से केवल इसी पृथ्वी का बोध नहीं होता। इस प्रकार की असंख्य पृथिवियाँ इस ब्रह्मांड में हैं। सबका समावेश भूर्लोक अथवा भूमंडल में है। महर्लोक पितामह, मातामह प्रभृति का वासस्थान है। जनलोक में गोत्रप्रवर्तक निवास करते हैं। तपोलोक में तपस्वियों का निवास है। यह अत्यंत उष्ण स्थान है। यहाँ एक अत्यंत विशाल सूर्य है। उसी का ताप और तेज भुवर्लोक के समस्त सूर्यों को प्राप्त होता है। ये उसी ताप और प्रकाश से तप्त तथा प्रकाशमान होते हैं। परन्तु जिस प्रकार एक सूर्य-रश्मि के पृथ्वी पर आने पर लू उत्पन्न हो जाती है तथा वही चंद्रमा पर पड़कर स्निग्ध चाँदनी के रूप में चमकने लगती है, उसी प्रकार तपोलोक के सूर्य भुवर्लोक में ताप उत्पन्न करते हैं। किन्तु सत्यलोक में अत्यन्त स्निग्ध और स्वच्छ ज्योत्स्ना के रूप में किरण प्रदान करते हैं। यह अत्यंत आश्चर्य की बात है।

अंग्रेजी में जिसे 'सोलर सिस्टम' कहते हैं उसे कुछ अंश में सम्मिलित 'भू:' और 'भुवर्लोक' के रूप में माना जा सकता है :

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

समय के प्रभाव से अब हम ऐसी बातें नहीं मानते। बाह्य जगत् का आत्मा जिस प्रकार सूर्य है उसी प्रकार इस शरीर रूपी जगत् का आत्मा भी देखने में ठीक सूर्य के समान ही है। परन्तु विचार करके देखो—जहाँ यह शरीर जगत्-स्वरूप है, वहाँ इसका आत्मा किस प्रकार सूर्य हो सकता है। बाहर देखकर भीतर ताकने पर वैसा ही देखने में आता है।

अंत में इन महापुरुष ने प्राण-प्रतिष्ठा के संबंध में कहा, "वस्तुतः हृदय से देवता को बाहर निकाल कर बाह्य मूर्ति में स्थापित किया जाता है। इसी का नाम प्राण-प्रतिष्ठा है। पश्चात् मस्तक में अपने साथ अभेद प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। बड़ा ही गंभीर तत्त्व है। भूतशुद्धि अत्यंत कठिन कार्य है। जिसकी भूतशुद्धि हो गयी, उसके लिए समाधि में फिर बाकी ही क्या रहा?"

१९. निश्चलानंद

इनसे मेरा परिचय १९१८ ई० में होने वाले कुंभ मेले के बाद हुआ। ये भगवती काली जी के भक्त थे और अच्छे साधक थे। इनके साधक जीवन का इतिहास एक शिष्य ने संग्रह करके प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में इनकी जीवनव्यापी कठोर साधना का वृत्त वर्णित है। इनका शरीर पूर्वबंग का था परन्तु सिद्धावस्था प्राप्ति के बाद इन्होंने समग्र जीवन काशी में ही बिताया। इनका प्रतिष्ठित मठ भी काशी में ही बंगाली टोला में स्थित है। ये नखदर्पणादि खंड विभूति में निष्णात थे, जिसके द्वारा नख में ही भूत-भविष्य का प्रतिबिंब दिखाकर ये जिज्ञासुओं को आश्चर्यचकित कर देते थे।

२०. तरणीकांत ठाकुर

१९१८ ई० के आसपास एक अलौकिक शक्ति संपन्न तरणीकांत ठाकुर नामक महात्मा काशी में रहते थे। इन्हें दिव्य शक्तियों का साक्षात्कार हुआ था। इनका पूर्व निवास ढाका में था। वहाँ ये एक महान् गुप्त-तत्त्ववेत्ता के रूप में विख्यात थे। इनकी अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन से प्रभावित होकर अनेक राजों-महाराजों तथा गवर्नरों ने प्रशंसा-पत्र दिये थे। हमसे इनका प्रगाढ़ परिचय था।

एक दिन प्रसंगतः इन्होंने कहा, 'चलिए आपको कुछ चमत्कार दिखायें।' ये उस समय विश्वनाथ गली में ढुंढिराज गणेश के निकट लक्ष्मी-नारायण-मंदिर के दोतल्ले में रहते थे। इनके अनुरोध से हम वहाँ गये। ये बोले, 'आप अपनी जेब से कुछ कागज निकाल कर चार टुकड़े कर लें फिर उन पर जो चाहें लिख दें। इसके बाद उन टुकड़ों को मुट्ठी में रखकर मेरे पास आइये।' मैंने ऐसा ही किया। दोपहर का समय था। हम दोनों के अतिरिक्त वहाँ और कोई नहीं था। मैंने अलग जाकर उनके निर्देशानुसार कागज के चार टुकड़ों पर लिखा, फिर उनको गोलियाँ बनाकर मुट्ठी में बंद किये हुए उनके पास गया। चारों टुकड़ों में चार बातें

लिखी थीं। उन टुकड़ों को देखकर उन्होंने कहा, 'इन्हें उलट-पुलट कर दीजिये।' इसके अनंतर उन्होंने प्रत्येक कागज में क्या लिखा हुआ था, उसका विवरण बिना देखे या स्पर्श किये ही बता दिया। मैंने गोलियाँ इस प्रकार बनायी थीं कि उनमें लिखी हुई बातें लौकिक दृष्टि से गोचर नहीं हो सकती थीं। इसी प्रकार महात्मा ने और भी कई आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखायीं।

मैंने गुरुजी से उक्त महात्मा की इन अलौकिक शक्तियों का वर्णन किया। उन्होंने सब सुनकर कहा, 'इसमें विशेष तत्त्व नहीं है। गुरुदेव के ऐसा कहने पर मेरा चित्त कुछ खिन्न हो गया, क्योंकि ये अलौकिक चमत्कार मेरे स्वयं देखे हुए थे। मुझे उदास देखकर बाबा बोले, 'अपनी नोटबुक के किसी पन्ने में जो चाहो लिख लो फिर उसे फाड़कर दियासलाई से जला दो।' मैंने वैसा ही किया और उस भस्म को हाथ से मलकर उड़ा दिया फिर गुरुजी के पास आया। उन्होंने कहा, 'जलाकर भस्म किया या नहीं?' मैंने कहा, 'भस्म हो गया'। बाबा ने अपनी तकिया के नीचे से मेरा लिखा हुआ वही कागज का टुकड़ा निकाला। उसके ऊपर अलक्तक से लिखा हुआ उत्तर भी था। उसे किसने लिखा—यह ज्ञात नहीं, क्योंकि हम दोनों के अतिरिक्त उस समय वहाँ और कोई न था।

बाबाजी बोले, 'यह तुम्हें चमत्कार मालूम पड़ता है किन्तु है कुछ नहीं। क्योंकि जगत् में किसी वस्तु का नाश नहीं होता। तुम्हारी दृष्टि से कागज जलकर नष्ट हो गया किन्तु वास्तव में वह नष्ट नहीं हुआ। उसे पचीसों बार पुनः प्राप्त किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह किसी न किसी स्तर की प्राकृतिक सत्ता है। स्थूल रूप से नष्ट कर देने पर वह अव्यक्त रूप में ऊपर के स्तर में लीन रहेगा। जिनमें सामर्थ्य है वे उसे खींचकर पुनः व्यक्त कर सकते हैं। अतः तात्त्विक दृष्टि से जगत् में न किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, न नाश। यह सांख्य के सत्कार्यवाद का ही अभिनय है, प्रदर्शन है।'

२१. संतदास बाबाजी

संतदास जी काठिया बाबा के शिष्य थे और अपने समय में वृंदावन के अतिप्रसिद्ध संत थे। गृहस्थाश्रम में ये ताराकिशोर चौधरी नाम से जाने जाते थे। जब ये कलकत्ता हाईकोर्ट में वकील थे, तभी से काठिया बाबा के शिष्य होकर आध्यात्मिक जीवन में अग्र गति लाभ करते रहे। असाधारण प्रतिभा तथा कार्यकुशलता के कारण इनकी हाईकोर्ट में प्रसिद्धि करीब-करीब रासबिहारी घोष के ही बराबर हो गयी थी किन्तु इन्होंने लौकिक विषय का आकर्षण त्याग कर पारमार्थिक मार्ग का अवलंबन किया। उसी समय से मेरी इच्छा इनका दर्शन करने की थी, परन्तु अवसर नहीं मिलता था। जब ये संतदास के रूप में गुरु स्थान में प्रतिष्ठित हुए उस समय इनके साक्षात्कार का सुयोग मिला।

१९२१-२२ ई० की बात है, उन दिनों मैं पुरी में काठिया बाबा के समाधि-मंदिर का दर्शन करने गया था। मैंने सुना था कि संतदास जी आये हुए हैं, और जटिया बाबा के समाधि-मंदिर में ठहरे हैं। मैंने वहाँ जाकर इनका दर्शन किया। किन्तु अत्यंत भीड़ होने के कारण बातचीत का मौका न मिल सका। इनकी धर्मपत्नी काशी में रहती थीं। एक बार यहाँ भी बाबाजी का आगमन हुआ, परन्तु उस समय मुझे इनके दर्शन की सुविधा नहीं हुई।

१९२६ ई० में मैं वृंदावन गया। मेरे साथ एक मित्र भी थे। उस समय बाबाजी अपने आश्रम में उपस्थित थे। मैं विशेष प्रबंध करके अपने एक साथी को लेकर उनके आश्रम में गया। बाबाजी कुछ अस्वस्थ थे, फिर भी उन्होंने हमारा बहुत सत्कार किया और आश्रम में प्रसाद ग्रहण करने के लिए प्रबंध कर दिया। अध्यात्म चर्चा के लिए भी उन्होंने मुझे कुछ समय दिया, जिसमें थोड़ी-बहुत बातचीत हुई। मैंने पूछा—''महाराज! जीवन्मुक्ति का क्या लक्षण है? शास्त्र में बहुत-कुछ लिखा है किन्तु मैं इस विषय में आपके अनुभव का विवरण जानना चाहता हूँ।'' बाबाजी ने कहा, ''बाहर का व्यवहार देखकर किसी की सामर्थ्य नहीं है कि जीवन्मुक्त को पहचाने। जीवन्मुक्त वस्तुतः जीवन्मुक्त है कि नहीं, यह अनुभव करने के लिए एक सरल उपाय है। वह यह है कि साधारणतः मनुष्य दूसरे का विचार करते हुए उसके दोष या गुण देखकर उसी के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन करता है। जो गुणी है, उसकी प्रशंसा और दोषयुक्त की निंदा करता है। परन्तु इस विचार के मूल में है अज्ञान। जब तक अपने में कर्तृत्वाभिमान रहता है तब तक जगत् में सर्वत्र कर्तृत्वाभिमान देख पड़ता है। कोई अगर अच्छा काम करे या बुरा तो उसको उस कर्म का कर्ता मानकर अच्छा या बुरा कहा जाता है। किन्तु अपना कर्तृत्वाभिमान छूट जाने पर आगे चलकर उसको अनुभव होता है कि समस्त संसार अभिमान से बँधा हुआ है। इसीलिए कोई अपने को अच्छे कर्मों का कर्ता समझते हैं, कोई बुरे कर्मों का। वस्तुतः आत्माभिमान के कराण से ही ऐसा बोध होता है और लौकिक दृष्टि से यह ठीक भी है। परन्तु अभिमान छूट जाने पर देख पड़ेगा कि कोई किसी कर्म का कर्ता नहीं है। कर्ता एक परम पुरुष, एक परमा शक्ति है। वह जिस आधार से जिस प्रकार का कर्म कराता है, वह वैसा ही कर्म करने में प्रवृत्त होता है। इसमें कर्ता को स्वातंत्र्य नहीं है। दुनिया इस आधार को कर्ता समझ कर दोषी या गुणी ठहराती है। जागतिक दृष्टि से यह ठीक भी है।

जीवन्मुक्त पुरुष की दृष्टि इस प्रकार की नहीं होती। वह स्पष्ट देखता है कि सब कर्मों का वास्तविक कर्तृव्य एकमात्र महाशक्ति में है, जीव में नहीं । इसलिए जीवकृत किसी कर्म के लिए वस्तुतः जीव उत्तरदायी नहीं है। उसका अभिमान रहने के कारण ही जीव उत्तरदायी माना जाता है, परन्तु यह लौकिक दृष्टि है। वास्तव में पुत्तलिका यदि अच्छी तरह से नाचे, तो इसमें उसका महत्त्व नहीं है। अगर महत्त्व माना जाय, तो है नचानेवाले का । इस प्रकार की दृष्टि मुक्त पुरुष को छोड़कर इस लोक में किसी अन्य की हो नहीं सकती। अगर किसी में यह दृष्टि खुल गयी तो उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिए। जीवन्मुक्त पुरुष एकमात्र महाशक्ति का ही कर्तृत्व देखते हैं। यही जीवन्मुक्ति का स्वरूप लक्षण है।

संतदास बाबाजी बहुत ही उदारचित्त महापुरुष थे। वृंदावन में इनके सत्संग से हम धन्य हो गये।

२२. योगप्रकाश ब्रह्मचारी

इनसे मेरा परिचय १९२०-२१ के आसपास हुआ। उस समय ब्रह्मचारी जी प्रौढ़-वयस्क थे। इन्होंने 'सचित्र-साधन-विज्ञान' नामक एक पुस्तक बारह भागों में प्रकाशित की थी। इसमें योग की विशिष्ट आनुषंगिक प्रक्रियाओं के विवरण दिये गये थे। इसमें षट्चक्रों

और उपास्यदेवी-मूर्ति के ध्यान की सुविधा के लिए पृथक् चित्रों का अंकन किया गया था। ये चित्र बाजार में बिकते भी थे। उनमें संकेत था कि वे 'सचित्र-साधन-विज्ञान' के अंतर्गत हैं। इनका नाम सबसे पहले मुझे इसी सूत्र से ज्ञात हुआ था। भेंट होने पर अपने साधन-जीवन का अलौकिक वृत्तांत इनके मुख से सुनने में आया। इन्होंने बताया कि सद्गुरु के अन्वेषण में बहुत दिनों तक ये नाना तीर्थों का पर्यटन करते रहे। अंत में आबू पर्वत पर एक महापुरुष का दर्शन मिला, जिनके अनुग्रह से इनका जीवन कृतार्थ हो गया। इस सिलसिले में इन्होंने कहा था कि घूमते-घूमते एक दिन आबू में एक गुहा के निकट एक साधु को समाधि अवस्था में बैठे हुए देखा। उन्हें देखते ही इनके चित्त में श्रद्धा का उदय हुआ किन्तु समाधिस्थ होने के कारण महापुरुष से बातचीत करने का अवसर नहीं मिल सका। ये घंटों समाधिभंग होने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहे, परन्तु समाधि टूटी नहीं। निराश हो लौट आये। दूसरे दिन फिर उस स्थान पर पहुँचे। देखा, महात्मा उसी स्थिति में हैं। थोड़ी देर बाद उन्होंने आँखें खोल दीं। यह देखकर इनके हर्ष का ठिकाना न रहा। समीप जाकर साष्टांग किया और उपदेश माँगा। महात्मा जी ने कहा : 'जाओ निकट के झरने में स्नान करके अभी आओ।' ये आदेशानुसार निकटस्थ झरने में स्नान करके तुरंत आ गये। देखा महात्मा जी की फिर समाधि लग गयी है। दिन भर बैठे रहे समाधि भंग नहीं हुई। निराश हो लौट गये। दूसरे दिन जब आये तो थोड़ी ही देर की प्रतीक्षा के बाद महात्मा जी की समाधि टूट गयी। समाधि भंग होते ही इनको देखकर महात्मा जी ने पूछा, 'स्नान करके आया?' इन्होंने कहा : 'मैं तभी आ गया था।' महात्मा जी को समय का पता नहीं था। इसके बाद इनको कुछ योगक्रिया का उपदेश दिया और बोले : 'इसका अभ्यास करना। इसी से सब कुछ हो जायगा।'

महात्मा द्वारा उपदिष्ट योगप्रक्रिया कुछ विशिष्ट थी। वायु प्रक्रिया होने पर भी वह अत्यंत सरल थी। इसके अभ्यास से ब्रह्मचारी जी को कुछ अलौकिक अनुभव हुए। ब्रह्मचारी जी ने बताया कि दूसरी भेंट के समय वे एक सुन्दर पुष्पों की माला गूँथकर पहनाने के लिए ले गये थे। उनकी अनुमति लेकर माला पहना दी गयी, परन्तु दीर्घकाल के बाद जब महात्माजी समाधि से उठे तो देखा कि माला के पुष्प कुम्हालाये नहीं हैं। उनकी ताजगी पूर्ववत् बनी हुई है। इससे इन्हें अनुभव हुआ कि इतने समय तक महात्माजी का काल से संबंध नहीं था। इसी कारण से माला के ऊपर काल का प्रभाव नहीं पड़ा। महात्माजी की योगशक्ति के संबंध में ब्रह्मचारी जी की यह प्रथम विलक्षण अनुभूति थी।

'सचित्र-साधन-विज्ञान' में इन्होंने भक्त महात्माजी द्वारा बतायी गयी योग-प्रक्रिया का शाखा-प्रशाखा सहित विवरण दिया है। जब तक ब्रह्मचारी जी काशी में रहे, मेरे विचार में यह समय-दो वर्ष के लगभग था, ये रामापुरा के एक मकान में बैठते थे। काशीवासी अनेक वृद्ध महाशय प्रतिदिन इनके यहाँ रहने वाले सत्संग में संमिलित होते थे। कुछ नवीन लोगों का भी समावेश होता था। इनके उपदेश का मुख्य विषय था, किसी कौशल से श्वास-प्रश्वास के उपराम की शिक्षा देना। इनकी उपदिष्ट प्रक्रिया इतनी सरल थी कि उसके अभ्यास में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था और थोड़े ही दिनों की साधना से श्वास-प्रश्वास की क्रिया पर पूर्ण अधिकार हो जाता था। तब साधक इच्छानुसार उसे बंद कर सकता था। इसमें अपार आनंद का अनुभव होता था, ऐसा आनंद जो जीवन में कभी नहीं हुआ। ब्रह्मचारी जी

का कहना था कि श्वास-प्रश्वास के साथ ही संसार में दुःख का आविर्भाव है। ये प्रातः सायं समुपस्थित साधकों को योगक्रिया का उपदेश देते थे। इनके पूर्वोक्त ग्रंथ से भी योगविज्ञान में इनके विशेष अनुभव का पता चलता है। कुछ दिनों बाद ये काशी छोड़कर चले गए। कहाँ गये ? किसी को इसका पता नहीं था।

लगभग पाँच वर्ष के अनंतर एक दिन अकस्मात् काशी की एक गली में इनसे मेरी भेंट हो गयी। इनका सहसा दर्शन पाकर चित्त प्रसन्न हुआ। ये भी हमें देखकर आनंदित हुए। इनके साथ मैं अपने गुरुभाई सतीशचंद्र दे के घर गया। दे महाशय बंगाली टोला हाई स्कूल के पश्चिम, तिलभांडेश्वर में रहते थे। उनके घर से संलग्न एक बगीचा था। उसी में हम लोग एक वेदी पर कुर्सी रखकर बैठे। उस समय वहाँ तीन ही व्यक्ति थे—मैं, ब्रह्मचारी जी और सतीश बाबू। संध्या का समय था। ब्रह्मचारी जी से बातें होने लगीं। हमने देखा कि इतने दिनों तक प्रत्यक्ष संबंध सूत्र के विच्छिन्न रहने पर भी हम लोगों में बहुत घनिष्ठरूप में बातचीत होने लगी।

ब्रह्मचारीजी ने कहा—'मेरे जीवन में परिवर्तन हो गया।' मैंने पूछा : 'आप आबू के महापुरुष के निर्देशानुसार अब भी चल रहे हैं न ?' वे बोले : ''वह जीवन अब बीत गया। वह था योगी का जीवन, जिसमे योगाभ्यास की प्रधानता थी परन्तु इस समय मुझे जिस तत्व की प्राप्ति हुई है वह बहुत ऊपर की वस्तु है। वस्तुतः यह सहज जीवन है, जिसे पहले नहीं जानते थे। इसका रहस्य बहुत कम लोग जानते हैं, या समझ सकते हैं। योगाभ्यास करते-करते मेरा चित्त अभिमान से भर गया था। परन्तु वह योगप्रक्रिया इस सहज मार्ग से अत्यंत दूरवर्ती है।'' मैंने पूछा : 'इस सहज-जीवन का स्वरूप क्या है ?' ब्रह्मचारी जी बोले : 'यह जीवन गुरु की विशेष कृपा छोड़कर मिल नहीं सकता। इसमें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। इसका अनुष्ठान किसी प्रक्रिया से नहीं होता। यह स्वभावसिद्ध है।' मैंने पूछा : 'क्या इस विषय में कुछ इंगित आप दे सकते हैं ?' इसके उत्तर में उन्होंने बहुत-कुछ कहा जिसका मुख्य तत्व मैं संक्षेप में नीचे वर्णन करता हूँ :

''मनुष्य जीवन की परिपूर्ण सार्थकता रस के आस्वादन में है। परन्तु वर्तमान मनुष्य इस आस्वादन से वंचित है। वह उसका कौशल भी नहीं जानता, रहस्य भी नहीं समझता। ऊर्ध्वरेता हुए बिना यह हो नहीं सकता। अखंड ब्रह्मचर्य से इसकी प्राप्ति नहीं होती, न धर्मप्राण गृहस्थ जीवन से ही मनुष्य में जो वीर्य अथवा शुक्र धातु है उसी के ऊपर रस साधना निर्भर है। इड़ा तथा पिंगला नाड़ी का स्वरूप तथा उनकी क्रिया पहले जानना पड़ता है। इसके बाद भाव का उदय होने पर नाड़ी की क्रिया आवश्यक होती है। इड़ा नाड़ी से जो क्रिया होती है उससे लक्षण क्रिया पिंगला नाड़ी से होती है। बिंदु अथवा शुक्रात्मक-वीर्य मूल में देजोमय है, परन्तु शुक्रवहा नाड़ी तरल अवस्थापन्न बिंदु को बाहर निकाल देती है। इसी का नाम स्खलन है, यही मृत्यु का द्वार है। परन्तु ऐसा भी क्रिया-कौशल है जिससे बिन्दु या वीर्य (शुक्र) धारण करने के पहले ही तेजोमय तथा वायवीय बनाया जाता है। इसलिए उनके पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। इस तेजोमय बिंदु को अपनी शुष्क नाड़ियों के द्वारा ऊर्ध्वमुख में आकर्षण किया जाता है। इसका शोषण पिंगला से होता है और इड़ा नाड़ी से अमृतरक्षण होता है। वस्तुतः बिन्दु सोमबिन्दु ही है। यह स्वभावतः स्वच्छ तथा निर्मल है। जब

अमृतबिन्दुरूप में उसका परिणाम होता है तब वह ऊर्ध्वमुख होकर सोमचक्र में स्थित होता है। उस समय वीर्य की अधोगति निरुद्ध हो जाती है और बिन्दु या वीर्य शोषित होकर वायवीय तथा आकाशीय रूप से ऊर्ध्व में संचरण करता है। ऊपर से सोमधारा का स्राव होता होता है, उससे अमृत प्लावन होता है। कौशल अभ्यस्त हो जाने पर बिन्दु की अधोगति नहीं होती। इसके बाद प्रकृति अथवा शक्ति के योग से उस बिन्दु का ऊर्ध्वमार्ग से ही संचार होता रहता है। स्खलन कदापि नहीं होता। भक्ति रस तथा शृंगार रस का आस्वादन इसी प्रकार से होता है।

यह ऊर्ध्वरेतावस्था दिव्यावस्था है। बिन्दु की सिद्धि—साधक तथा सिद्ध—इन दो अवस्थाओं में होती है। भावावस्था में बिन्दु क्षुब्ध होकर खेलने लगता है। यही रसास्वादन की स्थिति है। इसमें प्रकृति की आवश्यकता होती है, यह प्रकृति चाहे स्वकीया हो या परकीया। बंगाल के बाउल तथा सहजिया संप्रदाय में इस रहस्य का ज्ञान है। मैंने वैद्यनाथ के निकट एक गृहस्थ महाशय के निकट इस तत्व को प्राप्त किया था। उसमें बहुत कुछ रहस्य है। कुछ आभास रूप में आपको बताया।'

मालूम पड़ता है कि प्राचीन समय में चंडीदास, विद्यापति आदि इस साधना में सिद्ध हुए थे। इसमें भाव का ही खेल है। आत्मा को पुरुषकार के द्वारा कुछ करना नहीं पड़ता। यह योगमार्ग नहीं है, उससे विलक्षण है। भाव-साधना तथा प्रेम साधना का गंभीर रहस्य इसी मार्ग से मिल सकता है। मैं समझता हूँ, प्राचीन वैष्णव लोग इस साधना में अभिज्ञ थे। प्रतीत होता है कि यह कुलाचार की ही एक प्रक्रिया है।

इसके कुछ दिनों बाद ब्रह्मचारी जी पुनः काशी से चले गये। तब से उनका कोई समाचार नहीं मिला।

२३. श्री किशोरी भगवान्

इनसे हमारा परिचय १९२० ई० में हुआ। लोगों से मैंने सुना था कि काशी में भगवान् का अवतार हो गया है। विचार हुआ कि इसका पता लगाया जाय। मैंने बहुत प्रयत्न किया किन्तु सफलता नहीं मिली।

एक दिन कुछ मित्रों के साथ दशाश्वमेध घाट के दक्षिण दरभंगाघाट पर बैठा हुआ था। संध्या का समय था। हम तीन आदमी थे। बाद में दो-चार बाहरी लोग भी आ गये। किन्तु वे अलग ही बैठे। वे आपस में बातें करने लगे। एक ने कहा, 'भाई भगवान् का अवतार हो गया। तुमने सुना नहीं ? ये भगवान् स्वामी प्रणवानंद के आश्रम में रहते हैं।' इस विषय में मेरी जिज्ञासा पहले से ही थी। इसलिए उनकी बातों को मैं ध्यान से सुनता रहा। इस वार्तालाप से मुझे बहुत-कुछ सुविधा हो गयी। सोचा, स्वामी प्रणवानंद के आश्रम से भगवान् का पता लगायेंगे। कुछ संधान मिल तो गया। दूसरे दिन उन्हीं दोनों मित्रों के साथ मैं स्वामी प्रणवानंद के आश्रम पर गया। यह आश्रम हमारा परिचित था। क्योंकि कुछ दिन पहले योगपक्ष में गीता की व्याख्या प्राप्त करने के लिए मैं गीता की एक प्रति वहाँ से लाया था। इस सिलसिले से इस आश्रम की मुझे पूरी जानकारी थी। इसलिए ढूँढ़ने में परिश्रम नहीं करना पड़ा। आश्रम में पहुँचने पर पहले एक प्रौढ़ महिला से भेंट हुई। उनसे कहा : 'हम लोगों को ऐसा ज्ञात

हुआ है कि काशी में भगवान् का अवतार हो गया है। क्या इसका पता यहाँ से मिल सकेगा? इस विषय में हम लोग जानना चाहते है।' महिला ने उत्तर दिया : 'मैं आपका अभिप्राय समझ गयी हूँ। भगवान् यहीं हैं। उनसे मिलने का प्रबंध किये देती हूँ।' यह कहकर एक महिला को बुलाकर उन्होंने कहा : 'देखो, ये लोग आये हैं। सामने भगवान् का मकान है, इन्हें वहाँ पहुँचा दो।'

मैं उस महिला के साथ थोड़ी दूरी पर स्थित एक छोटे से मकान में गया। सामने एक कमरा था। उसमें नीचे फर्श बिछा था। बगल में चारपाई थी किन्तु वहाँ कोई व्यक्ति नहीं था। महिला उसी कमरे में हम लोगों को बैठा कर ऊपर गयी। हम लोग प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर के बाद ऊपर से एक महाशय उतरे। हम लोगों का स्वागत किया और आकर निकट ही बैठ गये। ये महानुभाव लगभग ५० वर्ष के मालूम पड़ते थे—सौम्यमूर्ति, श्यामवर्ण, प्रसन्न दृष्टि। मुझसे पूछा : 'आप लोग क्या चाहते हैं?' मैंने कहा : 'सुना है कि काशी में भगवान् का अवतार हुआ है। लोगों ने बताया, इसका पता प्रणवाश्रम में चलेगा। यह सुनकर हम लोग प्रणवाश्रम में गये। वहाँ से आपके पास आ गये।'

महाशय ने कहा : 'भगवान् का कोई अवतार नहीं हुआ है। भक्त लोग इस शरीर को ही 'भगवान्' कहके पुकारते हैं। यह समय भगवान् का जीवों पर विशेष अनुग्रह प्रकाश होने का है, और वह हो भी रहा है।' मैंने पूछा : 'इसमें नयी बात क्या है? यह तो भारत में निरंतर होता ही रहा है।' उन्होंने कहा : 'नूतन कोई बात नहीं है, जो सत्य बात है वही मैं कहता हूँ। वर्तमान समय में जीव अत्यंत दुर्बल हैं, चंचल प्रकृति हैं और द्रव्य-शक्ति भी नहीं है। उनमें योगाभ्यास करने की शक्ति नहीं है। इस कारण से भक्ति ही एकमात्र उपजीव्य है। यह समय भक्ति के लिए बहुत उपयोगी है।' मैंने पूछा : 'आपकी भक्त-मंडली में किसी को कोई विशेष अनुभव हुआ या नहीं?' उन्होंने उत्तर दिया : 'हुआ है और कुछ लोगों को हो भी रहा है।' मैंने कहा : 'प्रक्रिया क्या है?' वे बोले : 'प्रक्रिया कुछ नहीं। हृदय में भक्ति रहनी चाहिए मैं अपना फोटो देता हूँ और अपना नाम बता देता हूँ। उस फोटो को सामने रखकर नाम चिंतन करते-करते समय पर नाम में चैतन्य आ जाता है। दर्शन भी हो जाता है।' इसके बाद उन्होंने इस प्रकार की साधना करने वाले कई व्यक्तियों का नाम बताया और कहा : 'उन लोगों से आप मिल सकते हैं। अनुसंधान करके पता लगा सकते हैं कि उन्हें क्या अनुभव प्राप्त हुआ।' यह कहने के पष्चात् प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए वे बोले, 'इस विषय में प्रक्रिया यह है कि विश्वास और भक्ति के प्रभाव से मेरे उपदेश के अनंतर ये लोग अभ्यास करते हैं जिससे किसी न किसी अंश में भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इनके बाद भक्त को प्रयोजन के अनुसार दर्शन होता रहता है। दर्शन के पश्चात् उसको आविर्भूत स्वरूप से योग तथा ज्ञान का उपदेश भी मिलता रहता है।' सत्संग समाप्त होने पर हम लोग बिदा हुए।

दूसरे दिन हम लोग प्रणवाश्रम में उसी वृद्धा महिला के पास गये, जिसने हमें भगवान् के पास भेजा था। महिला ने बहुत समादर से बैठाया। फिर बहुत बातें हुईं। वे अपना इतिहास बताने लगीं, 'मैं योग मार्ग से चलती थी। योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी के शिष्य स्वामी प्रणवानंद मेरे गुरु थे। कुछ दिनों पूर्व गुरुदेव का देहांत हो गया। उसके बाद मेरे चित्त में बहुत घबड़ाहट हुई। मुझे चिंता हुई कि गुरु का देहांत हो गया अब मेरा उद्धार कौन

कौन करेगा? चित्त निराश हो गया। मैं अत्यंत खिन्न रहने लगी। इसी बीच मेरा परिचय इन महाशय से हुआ, जिनसे आप कल मिले थे। ये यहाँ किसी स्कूल में प्रधानाचार्य थे। अपने एक मित्र से मुझे ज्ञात हुआ कि धर्म विषय में ये बहुत उन्नत हैं। मैंने विचार किया कि अपने आश्रम में गुरुदेव के बैठने की जो वेदी है, उसी पर प्रतिदिन अपराह्न काल में थोड़ी देर बैठने के लिए इनसे अनुरोध करूँ। ये राजी हो गये। प्रतिदिन स्कूल से लौटने के बाद ये आश्रम में आकर बैठते थे। हम लोग इन्हें घेरकर बैठते थे और प्रश्न करते थे। ये क्रमश: सभी प्रश्नों का उत्तर देते थे। एक दिन मेरा चित्त बड़ा खिन्न था। मैंने इनसे एकांत में अध्यात्म-विषयक वार्ता करते हुए निवेदन किया, 'मेरे गुरु की मृत्यु हो गयी। अब मैं परमार्थ-मार्ग में कैसे चलूँ?' महाशय ने कहा : 'माँ, गुरु की मृत्यु कभी नहीं होती। गुरु स्वयं भगवान् हैं, जो मृत्यु से उद्धार करने वाला है। मनुष्य कभी गुरु नहीं होता।' मैंने कहा : 'मनुष्य को छोड़कर आगे कैसे चलेंगे?' वे बोले : 'माँ! तुमने अभी तक गुरु प्राप्त नहीं किया। सचमुच यदि गुरु की प्राप्ति हो जाती तो तुम्हारे मुख से इस प्रकार के शब्द नहीं निकलते। यह तो एक व्यावहारिक गुरु की बात तुम कह रही हो। वास्तव में एक बार गुरु की प्राप्ति होने पर क्या ऐसा हो सकता है कि फिर वह कभी न रहे?' मैंने पूछा : 'फिर गुरु-प्राप्ति का उपाय क्या है?' उन्होंने कहा, 'गुरु-प्राप्ति का उपाय है, शिष्य बनना, चेला बनना। जो शिष्य बन सकता है, उसके लिए गुरु-प्राप्ति सुलभ है।' मुझे कुछ आश्चर्य मालूम हुआ : 'आप कहते हैं पहले शिष्य तब गुरु।' वे बोले : 'ऐसी ही बात है, पहले शिष्य बनो। उसकी योग्यता लाभ करो। फिर गुरु के प्राप्त करने में देर नहीं लगेगी। शिष्य होना कठिन है। गुरुलाभ करना कठिन नहीं है।' मैंने पूछा : 'किस प्रकार से ठीक शिष्य हो सकते हैं?' उनका उत्तर था : 'गुरु में पूर्ण विश्वास कर गुरु आदेश का जो बिना विचारे पालन कर सकता है, वही शिष्य है।' मैंने कहा : 'क्या हम लोग गुरु आदेश नहीं पालन करते थे?' वे बोले : 'उस प्रकार का आदेश पालन यथार्थ आदेश पालन नहीं कहलाता। मान लो तुम मकान की छत पर हो। नीचे विशाल अग्निकुण्ड सजा है। उसमें गुरु के आदेश से बिना विचार किये क्या तुम कूद सकती हो?' मैंने कहा; 'गुरु ऐसा क्यों कहेंगे?' वे बोले : 'क्यों का विचार करना तुम्हारा काम नहीं है। तुम्हारे विचार का विषय यह है कि तुम उसे पालन कर सकोगी या नहीं?' मैंने कहा, 'यदि गुरु इस प्रकार का आदेश दें तो कैसे पालन कर सकूँगी?' वे बोले, 'ठीक कहा। गुरु का आदेश पालन साधारण बात नहीं। क्योंकि उसमें विचार नहीं उठना चाहिए और अपने भविष्य की चिंता नहीं करनी चाहिए। केवल आदेश पालन के प्रति ही लक्ष्य रहना चाहिए।' मैंने कहा : 'इस प्रकार का आदेशपालन मैं समझती हूँ कि मेरे लिए संभव नहीं है।' वे बोले : 'फिर गुरु-प्राप्ति भी संभव नहीं है।'

उन्होंने आगे कहा, 'तुम यह क्यों समझती हो कि तुम्हारे लिये यह संभव नहीं है? समय आने पर असंभव भी संभव हो सकता है।'

यह सुनकर मैं हताश हो गयी, क्योंकि इस प्रकार की योग्यता मुझमें नहीं थी, न आगे होने की आशा ही थी।

इसके बाद उन्होंने कहा, 'जो उपदेश मैं तुमको देता हूँ उसको मानकर चलो और देखो क्या होता है।'

महाशय ने मुझे भ्रूमध्य में अपने रूप-चिंतन और अपने नाम से बने हुए मंत्रजप का आदेश दिया। उनके कहने के अनुसार मैं प्रति रात नियमपूर्वक बैठने लगी। उन्होंने यह उपदेश दिया था कि भगवान् के दर्शन की प्रतीक्षा करती रहना। मैं प्रतिदिन पूजा घर में बैठकर तदनुकूल साधना करने लगी। किसी प्रकार का विक्षेप नहीं होता था। जितनी देर तक हो सके आसन पर बैठती थी। महाशय ने कहा था कि कदापि आसन छोड़कर न उठना। मैं नित्य ध्यान, जपादि करके विश्राम करती थी। योग्यता प्राप्ति की आशा न रखने पर भी मैं इस प्रकार नियमपूर्वक साधना करती रही।

एक दिन की बात है। मैं आसन पर बैठी हुई थी। मध्य रात्रि थी। आँखें बंद थीं। घर में अँधेरा था। सहसा मुझे अनुभव होने लगा कि किसी के शरीर से अंगस्पर्श हो रहा है। महाशय ने आँख खोलने का निषेध किया था, आसन छोड़ने का भी, अतः न आँखें खोली न आसन छोड़ा, फिर भी स्पर्शानुभव के कारण कौतूहल बहुत था। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कोई बालक आकर मेरी गोद में बैठ गया हो। उस दिन की लीला यहीं समाप्त हो गयी। दूसरे दिन मैंने बगीचे से फूल तोड़कर आभूषण बनाया, एक सुंदर-सी माला तैयार की, दो नूपुर बनाये। रात में फिर नियमानुसार आसन पर बैठी। मध्य रात्रि में फिर उसी प्रकार का अनुभव होने लगा। अँधेरी कोठरी में मुझे जान पड़ा जैसे कोई शिशु मेरी गोदी में आकर बैठ गया हो। मैंने आँखें नहीं खोलीं फिर भी ऐसा मालूम पड़ा कि सारा घर आलोकित है। आँखें बंद रहने पर भी वह प्रकाश दिखायी देता था। अब मुझसे नहीं रहा गया। आँखें खुल गयीं। देखा, गोदी में अपूर्व लावण्यमय 'गोपाल' विराजमान हैं। मेरे हृदय में वात्सल्य रस छलकने लगा। बाल भगवान् गोदी को छोड़कर सामने खड़े हो गये। मैंने उन्हें फूल के आभूषण पहनाये। वे उन आभूषणों को धारण करते ही आनंदातिरेक से नाचने लगे। मेरे हर्ष की सीमा न रही। बालक ने कहा : 'माँ, मुझको गोदी में लेकर के बैठो।' मैंने वैसा ही किया। कुछ ही क्षणों में समाधि लग गयी। वह स्थिति सूर्योदय तक रही। जागने पर देखा कि कहीं कुछ नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि मुझे पहले दिन भाव आया था कि कदाचित् यह मन की कल्पना है। यही संशय दूर करने के लिए मैंने पुष्पाभूषण बनाये थे। अब दूसरे दिन वही दृश्य पुनः उपस्थित हुआ। मैंने गोपाल को आभूषण पहनाये। उनकी लीला का दर्शन किया। समाधि टूटने पर देखा कि सब घर बंद रहते हुए भी वहाँ बालक और पुष्पाभूषण सभी तिरोहित हो गये थे। अब मेरी समझ में आया कि पूर्वोक्त दोनों रातों में मैंने जो कुछ देखा था वह व्यावहारिक था, प्रतिभास मात्र नहीं। मेरी साधना इसी क्रम से चलती रही।'

महिला ने मुझसे भगवान् के विश्वरूप-दर्शन का भी वृतांत बताया। उसका विशद इतिहास है, जो प्रकाश योग्य नहीं है।

इसी प्रकार श्री किशोरी भगवान् के कृपापात्र पुरुषों एवं महिलाओं में से दो-चार का आध्यात्मिक प्रगति-विषयक अनुसंधान हम लोगों ने किया। ये महानुभाव कुछ समय तक काशी में रहे। यहीं इनका देहांत हुआ। मैंने इनके मुख से सुना था कि वृंदावन के प्रसिद्ध महात्मा बाबा संतदास, जिनका गृहस्थाश्रम का नाम ताराकिशोर चौधरी था, को इन्होंने 'योगभाष्य' पढ़ाया था।

इनका विशेष उपदेश यह था कि अध्यात्म साधना के पथिक को गुरु का बाह्य संसार में अन्वेषण न करके भक्ति द्वारा हृदय में भगवान् का ध्यान करना चाहिए। कालांतर में वे ही गुरु रूप में भक्त के लिए उपयुक्त योग, ज्ञान, भक्ति सब कुछ प्रदान कर देते हैं। यही प्राचीन भारतीय पद्धति है।

२४. महानंद गिरि

महात्मा महानंद गिरि अथवा 'पिताजी' का नाम हमने हरद्वार में सुना था परन्तु उस समय इनसे मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। प्रसिद्धि थी कि ये महापुरुष भगवती तारा के उपासक हैं और बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं। कुछ वर्षों के बाद जब ये काशी में आये थे और अवस्थान किया था तब इनका घनिष्ठ परिचय मुझे मिला था। काशीवास के समय इनसे मेरा दीर्घ काल तक संबंध रहा। इस बीच इनके ज्ञान और सिद्धि के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का संधान मिला। मेरे एक अंतरंग मित्र इनके प्रिय शिष्य थे। उन्हीं के माध्यम से इनके विषय में विशिष्ट ज्ञान और घनिष्ठता प्राप्त हुई थी।

२५. राम ठाकुर

इस महापुरुष के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे ९ फरवरी, १९२३ ई० को काशी में प्राप्त हुआ। इसके पूर्व अपने एक मित्र महिम बाबू से इनके विषय में कुछ सुना था। फिर भवदेव बाबू नाम के एक वृद्ध महाशय से दशाश्वमेध घाट (काशी) में प्रतिदिन संध्या समय होने वाली गोष्ठी में इनकी उच्चकोटि की साधना और असाधारण सिद्धि की अनेक कथाएँ सुनने में आयीं। इस प्रकार इनका आरंभिक परिचय पाने के अनंतर कलकत्ता विश्वविद्यालय के डॉक्टर प्रभातचंद्र चक्रवर्ती के साथ मेरा संपर्क हुआ। धीरे-धीरे उनसे घनिष्ठता हो गयी। वे मुझे बड़े भाई की भाँति मानते थे। डॉ० चक्रवर्ती राम ठाकुर महाशय के शिष्य थे। उनसे इनके संबंध में बहुत से व्यापार, जो लोगों की दृष्टि में अलौकिक थे, ज्ञात हुए।

इस प्रसंग में एक बात कहनी है। १९११-१२ ई० में जब मैं क्वींस कॉलेज में एम० ए० में पढ़ाता था और बंगाली टोला में रहता था, उस समय 'बंग साहित्य समाज' नामक पुस्तकालय में कभी-कभी जाया करता था। यह कहने को तो बंगीय साहित्य परिषद की एक प्राचीन शाखा थी, किन्तु वास्तव में उससे भी प्राचीन थी। इस पुस्तकालय में 'पलासी-युद्ध' के ख्यातनामा लेखक नवीनचंद्र सेन का 'आमार जीवन' नामक आत्मचरित पढ़ने को मिला। बहुत ही सुंदर ग्रंथ था। उसके चतुर्थ खंड में प्रसंगतः अपने पूर्व जीवन के इतिहास के भीतर सेन महोदय ने राम ठाकुर का विवरण दिया था। 'प्रचारक ना प्रवंचक' शीर्षक एक स्वतंत्र अध्याय ही इनके विषय में लिखा गया था। राम ठाकुर उस समय स्थान विशेष में पाचक ब्राह्मण का कार्य करते थे। बंगला में पाचक ब्राह्मण को ही 'ठाकुर' कहा जाता है। यह पदवी इनके वास्तविक नाम 'रामचन्द्र चक्रवर्ती' के साथ जुड़ गयी थी। डॉ० सेन ने इनकी कई अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया था। उनमें से एक थी, एक बार स्मरण के साथ ही साथ इनका अकस्मात् स्थूल रूप में प्रकट हो जाना, दूसरी थी आसन में बैठने पर शरीर का शून्य में उठ जाना। अपने व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध एक घटना की उक्त ग्रंथ में चर्चा

करते हुए नवीन बाबू ने लिखा था कि जब वे डिप्टी मजिस्ट्रेट थे, एक दिन सबेरे हाथ-मुँह धोकर बरामदे की ओर मुँह किये हुए कमरे में सोफा पर बैठे थे। सहसा उनके देखने में आया कि ठाकुर महाशय मस्तक नीचा किये हुए सामने खड़े हैं। मालूम पड़ा जैसे सीधे आकाश से उतरे हैं, कहीं से आये नहीं हैं, वरना अवश्य आते हुए दिखायी देते। कमरे में आने का कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। सामने वे आते दिखायी नहीं पड़े। नवीन बाबू ने उनसे तत्काल तो इस विषय में कोई बात नहीं की किन्तु पीछे एक बार उनके समक्ष ही किसी के यह पूछने पर कि क्या कोई मनुष्य शून्य मार्ग से यात्रा कर सकता है? ठाकुर महाशय ने कहा था : 'हाँ, जिस मार्ग से विद्युत् चल सकती है, मनुष्य उसी मार्ग से सभी वस्तुएँ साथ लेकर उसी प्रकार जा सकता है, इतना ही नहीं, एक समय विभिन्न स्थानों में उपस्थित भी हो सकता है।' नवीन बाबू ने इस प्रकार की और बहुत सी चमत्कारपूर्ण बातें बतायी थीं। प्रथम दर्शन के बाद से १९४० ई० तक के ठाकुर महाशय से अपने दीर्घ संपर्क काल में ऐसी अनेक घटनाएँ मेरे देखने में कई बार आयीं।

मुझे इनका दर्शन प्रायः काशी में ही होता था। अनेक स्थानों में घूमते हुए ये काशी आते थे और कभी नारद घाट में, कभी मानसरोवर में, कभी चिंतामणि गणेश के निकट, कभी हरसुंदरी धर्मशाला आदि नाना स्थानों में अपने सुविधानुसार ठहरते थे। एक बार मेरे विशेष अनुरोध से ये मेरे घर पर आये थे। उस समय ये प्रायः कुछ खाते नहीं थे। अन्नभोग तो होता ही नहीं था, फलादि का सेवन भी नाममात्र को ही करते थे।

ठाकुर महाशय की प्रकृति अत्यंत नम्र और विनयशील थी। गले में तुलसी की माला, हरिनामी ऊर्ध्व वस्त्र तथा प्रसन्नता एवं कारुण्य से मंडित मुख-मंडल, दर्शकों के हृदय में आध्यात्मिक ज्योति विकीर्ण करता था। ये विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे—अक्षर ज्ञान अत्यंत साधारण था। किसी प्रकार सामान्य बंगला पुस्तकें पढ़ लेते थे और चिट्ठी-पत्री लिख सकते थे। ये इतने विनीत थे कि आंगतुक के हाथ उठाने से पूर्व ही उसे प्रणाम कर लेते थे। उसे अभिवादन का अवसर ही नहीं देते थे। इतने विनम्र और कम पढ़े-लिखे होने पर भी इनका ज्ञान अपरिसीम था और साधन मार्ग में प्राप्त वैशिष्ट्य अनन्यसाधारण। इनके काशीवास के समय मैं बराबर मिलने जाया करता था। कभी-कभी ये अकस्मात् घर से लुप्त हो जाया करते थे। पता लगाने पर निकटवर्ती सेवक बताते थे कि गुरु के आदेश से सहसा बाहर गये हैं।

ठाकुर महाशय के गुरुदेव एक दिव्य अलौकिक पुरुष थे। उनकी अवस्था के विषय में कोई कुछ बता नहीं सकता था। अंतरंग शिष्यों के अनुसार उनका नाम 'अनंगदेव' था। अपनी भक्तमंडली के साथ वे आकाश मंडल में संचरण करते थे। यदाकदा वे इनके पास भी किसी विशेष प्रयोजन-वश मंडली सहित आते थे। यह विशेष प्रयोजन, जहाँ तक मैंने सुना है, किसी साधक को दीक्षा देना होता था। इनकी गुरु परम्परा में 'दीक्षा' शब्द का कुछ विलक्षण तात्पर्य था। सामान्यतया साधन मार्ग में चलने के लिए इनके यहाँ 'नाम' का ही उपदेश होता था, 'दीक्षा' बिरलों को ही मिलती थी। सहस्त्र-सहस्त्र शिष्यों के भीतर दो-चार से अधिक दीक्षा प्राप्त नहीं होते थे। मैंने सुना था कि इनके यहाँ दीक्षा-प्राप्ति के साथ ही देह का परिवर्तन हो जाता था। केवल इतना ही नहीं, शिष्य इस अभिनव देह को लेकर गुरु की मुक्त-मंडली में सम्मिलित हो जाता था। अनंगदेव जी स्वयं दीक्षा नहीं देते थे, उनके आदेश

से ठाकुर महाशय को अपने भक्त-मंडल से तिरोहित होना पड़ता था। किन्तु इनका जाना और लौट आना किसी के देखने में नहीं आता था।

ठाकुर महाशय का व्यक्तिगत जीवन-दर्शन बहुत अद्‌भुत था। ये कहते थे कि परमार्थ राज्य में स्थूल दृष्टि से तीन ही स्तर हैं, एक है अद्वैत, दूसरा है चैतन्य और तीसरा है नित्यानंद। वस्तुत: ये तीनों चैतन्य संप्रदाय के तीन आदि पुरुषों के नाम हैं। इनमें चैतन्य महाप्रभु मध्य में हैं, उनकी एक ओर अग्रज तुल्य अद्वैताचार्य अद्वैत हैं तथा दूसरी ओर उनके परम भक्त प्रभुपाद नित्यानंद हैं। ठाकुर महाशय का इससे तात्पर्य यह था कि परमार्थ जगत् में जाने के लिए सबसे पहले अद्वैतभाव में प्रवेश आवश्यक है। वैष्णव तीर्थों में इसका सूचक है जगन्नाथपुरी। यहाँ महाप्रसाद ग्रहण करने में वर्णभेद या जातिभेद नहीं रहता। यही अद्वैत भाव का निदर्शन है। इसके अनंतर चैतन्य अथवा विशुद्ध-चैतन्य का विकास होता है। इसका प्रतीक है काशीधाम। यह महाश्मशान आनंदपुरी है। इसमें वास करने से देह अनंत काल के लिए भस्म हो जाता है। आत्मा चैतन्य-स्वरूप में विराजमान होता है। यही मोक्ष स्थान है। इसके बाद है नित्यानंद अर्थात् वृदावन-धाम। यह नित्य लीला का स्थान है। बद्धजीव का इसमें प्रवेश नहीं होता। काशी में मोक्ष प्राप्त होने के बाद अप्राकृत नित्यदेह लेकर इस लीला में प्रवेश होता है। यह है आनंद राज्य। जगन्नाथपुरी अद्वैत धाम है, यह है सत्, काशी मोक्षधाम है, यह है चित् और श्री वृंदावन भगवान् की नित्यलीला भूमि है, यह है आनंद-धाम।

ठाकुर महाशय का अपना जीवन बड़ा अपूर्व था। इसका उल्लेख इनके भक्तों ने कतिपय ग्रंथों में किया है। इनके व्यक्तित्व में विलक्षणता बहुत छोटी आयु में ही लक्षित होने लगी थी। इनका आविर्भाव, पूर्णत्व प्राप्ति तथा तिरोभाव तीनों की तिथि एक ही-अक्षय तृतीया है। बारह वर्ष की अवस्था में ये गुरुसाक्षात्कार करके अनित्यरूपेण तिरोहित हो गये। फिर उन्हीं के साथ जगत्-दृष्टि से अगोचर भाव में बहुत दिनों तक अंतर्हित रहे। यह काल १८७२ ई० से लेकर १९०७ ई० तक लगभग ३५ वर्ष तक रहा। इनकी ख्याति इसके पश्चात् ही हुई। तिरोहितावस्था में भी कदाचित् किसी स्थान में किसी-किसी को इनका दर्शन लाभ होता था, किन्तु लोकालय में अवस्थान के समय तक नहीं।

एक बार इनके एक भक्त से, जो शिष्य भी था, मेरी भेंट पुरी में हुई थी। उसने मुझे ठाकुर महाशय के विषय में एक विवरण सुनाया था। उन दिनों वह भक्त वहीं रहता था किन्तु इसके पूर्व अपने कार्यकाल में राँची में रहा करता था। कथा इस प्रकार थी :

उस समय राँची में एक साधु बाबाजी आये थे जिनका बहुत नाम तथा आडंबर था। वे कहा करते थे कि मैं स्पर्शमात्र से कुंडलिनी को जगा देता हूँ। इनके संपर्क में जो लोग आये, वे बहुत प्रभावित हुए थे। इन्हीं में से एक उस व्यक्ति के परिचित भी थे, जिसने कहा था कि उक्त महात्मा के स्पर्श मात्र से उनकी कुंडलिनी जग गयी थी और नाना प्रकार के देव, देवी, ग्रह-नक्षत्र-मंडल के दर्शन भी हुए थे। उसे विराट् ज्योति का समुद्र जैसा दिखायी पड़ा था। इससे उसको अपने गुरु की अलौकिक शक्ति पर अभिमान हुआ। मेरे परिचित ठाकुर महाशय के उक्त शिष्य इस अपूर्व उपलब्धि का वृत्तांत सुनकर चिंतित हुए कि मेरे गुरु ने तो मुझे ऐसा

कुछ भी नहीं दिया। उन दिनों ठाकुर महाशय नोआखाली (पूर्व बंग) में थे। ये तत्काल गुरु को सूचना दिये बिना ही नोआखाली के लिए रवाना हो गये। उनके पहुँचने पर गुरु ने कुशल-समाचर पूछने के अनंतर स्नान करने का आदेश दिया। ये बोले : 'स्नान नहीं करूँगा। एक प्रश्न को लेकर आया हूँ। आपने मंत्रोपदेश दिया, मार्ग बताया किन्तु उससे मुझे मिला कुछ भी नहीं। राँची में एक महात्मा स्पर्श मात्र से कुंडलिनी जगा देते हैं किन्तु इतने समय से श्रीचरणों का संपर्क प्राप्त करते हुए भी मैं इस प्रकार के अनुभव से शून्य ही रह गया। आपने मुझे कुछ नहीं दिया।' यह सुनकर ठाकुर महाशय बोले, 'वह सब भूतों का खेल है। उसकी ओर ख्याल न करो।' किंतु भक्त आश्वस्त नहीं हुए। बहुत कहने पर भी स्नान-भोजन नहीं किया। ठाकुर महाशय उनकी उद्विग्नता को बढ़ती हुई देखकर बोले : 'मेरे सामने आसन पर बैठो।' भक्त ने आज्ञापालन किया। उसके सामने ठाकुर महाशय स्वयं भी आसन लगाकर बैठे और उसे अपने सम्मुख देखने को कहा, फिर शिष्य को स्पर्श किया। उसके शरीर में बिजली सी दौड़ गयी। डेढ़ घंटे तक अचेतावस्था में पड़ा रहा। गुरुदेव ने देखा, कच्चा शरीर है, ज्योति सहन नहीं कर सकता, अत: अपना तेज खींच लिया। शिष्य ने आँखें खोल दीं और बोला : 'नये प्रकार की ज्योति देखी।' ठाकुर महाशय बोले : 'मुझमें देने की शक्ति है, किन्तु तुम ग्रहण नहीं कर सकते। यह भीतर की वस्तु है। इसका अनुभव अपनी सत्ता से होगा, जब होगा तब अनंत काल के लिये होगा, अपने समय से होगा। उससे पूर्व अनुभव की आकांक्षा करके भूत की कला में मत पड़ो।'

ठाकुर महाशय को सिद्धमंत्र का लाभ बाल्यावस्था में ही हो गया था। जब ये बारह वर्ष के हुए तो कामाख्या में गुरु अनंगदेव से भेंट हुई। गुरुदेव विदेही थे, रक्त मांस का शरीर नहीं था। उसी समय ये उनके साथ अंतर्धान हो गये। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह दशा निरंतर ३५ वर्ष तक रही। इस काल का व्यापार बाहरी लोगों को कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस बीच में प्राय: गुरुदेव और गुरुभ्राताओं के साथ बहुत दिनों तक ये हिमालय में घूमते रहे।

कौशिक आश्रम की यात्रा इन्होंने गुरुदेव की मंडली के साथ इन्हीं दिनों की। यह 'ज्ञानगंज' की भाँति हिमालय में अध्यात्म-साधना का एक महान् केंद्र है। यहाँ ठाकुर महाशय ने एक विराट्काय महापुरुष का दर्शन किया। उनकी सेवा में ये तीन महीने रहे। इसके बाद वशिष्ठाश्रम गये। मार्ग में बालक-बालिका के रूप में इन्हें हरगौरी के दर्शन हुए। रात उन्हीं की गुहा में बितायी। इसके बाद गुरुदेव तथा गुरुभाइयों से इनका विच्छेद हो गया। अब ये बिल्कुल अकेले हो गये। गुरु ने यह लीला जानबूझ कर इनकी परीक्षा लेने के लिए की थी। दूसरे दिन प्रात:काल लालचंदन लगाये तथा जवाकुसुम की माला पहने एक वृद्ध से इनकी भेंट हुई। उसी ने मार्ग बताया जिससे मुर्हूत मात्र में ये वशिष्ठाश्रम पहुँच गये। वहाँ गुरुवर्ग को पाकर ये अत्यंत प्रसन्न हुए।

एक दिन जब ये हिमालय में गुरुदेव की मंडली के साथ घूम रहे थे, स्वामी अनंगदेव ने प्रश्न किया : 'राम अब तुम क्या करोगे?' ठाकुर महाशय ने उत्तर दिया : 'हम कुछ नहीं जानते। आपकी जो इच्छा होगी, वही होगा।' गुरुदेव बोले : 'मुझको छूकर के बैठे रहो।' ठाकुर महाशय ने ऐसा ही किया। गुरु का स्पर्श करते ही पहले इन्हें तंद्रा की भाँति अवस्था का अनुभव हुआ, फिर कुछ ही क्षण में ये समाधिस्थ हो गये। इस स्थिति में कितने समय तक

रहे, कहा नहीं जा सकता। गुरुदेव ने चलते समय कहा था : 'इस वन में आसन पर तब तक बैठे रहना जब तक मैं लौटकर आ न जाऊँ।' ठाकुर महाशय का, आसन पर बैठते ही, बाहर का ज्ञान लुप्त हो गया। बहुत दिनों के बाद गुरु ने वहाँ आकर पुकारा : 'राम उठो।' इन्होंने आँखें खोलीं। समाधि भंग होने पर देखा कि वह देश भी नहीं है, काल भी नहीं है। एक गंभीर वन में ये अकेले बैठे हैं। देह नग्न है, सिर पर बड़ी-बड़ी जटायें हो गयी हैं, नख बढ़ गये हैं, दाढ़ी लम्बी हो गयी है। पता नहीं कि किस राज्य में हैं और कितना काल बीत गया। अपने अस्तित्व का भी आभास नहीं था।

इस दीर्घ हिमालय-प्रवास के समय ठाकुर महाशय ने उस प्रदेश में स्थित अनेक सिद्धाश्रमों तथा दुर्गम तीर्थों का भ्रमण किया था। प्रश्न करने पर उन्होंने मुझे दो आश्रमों के विषय में कुछ विवरण बताये थे—ये हैं योगेश्वर स्थान और कौशिकाश्रम।

सिद्धाश्रम दर्शन

योगेश्वर स्थान नीची भूमि पर स्थित है। यह न तो बर्फ से ढका रहता है, न वृक्षों से ही। यहाँ की भूमि स्फटिक ज्योतिर्लिंग सी शुभ्रवर्ण की है। कोई मंदिर नहीं है। विस्तृत मैदान है। ठाकुर महाशय ने देखा वहाँ चारों कोनों में खंभों पर पत्थर रखा हुआ है। उससे थोड़ा ऊपर एक आसन था, जिस पर एक ध्यानस्थ मुनि बैठे थे—उज्ज्वल शांतमूर्ति-उनकी ओर अनिमेष रूप में एक देवी मूर्ति देख रही थी। मुनि का मुख-मंडल जटा से घिरा हुआ था। अपूर्व सौंदर्य था। कुमारी साक्षात् गौरी थीं। ठाकुर महाशय ने वहाँ पाँच दिन बिताये। आश्रम से थोड़ी दूर नीचे एक पहाड़ी सोता था। वहीं से जल लाते थे। आश्रम में प्रतिदिन पुष्पाभूषणयुक्त एक द्वादश वर्षीया बालिका आकर नृत्यगान करती हुई शिवगौरी को एक पुष्पमाला पहनाती थी। उस दिव्य कुमारी का ये नित्य दर्शन करते थे। संध्या बीत जाने पर वह गान करते-करते लौट जाती थी। उसके गाने की भाषा पहाड़ी थी, इसलिए इनकी समझ में नहीं आती थी। ठाकुर महाशय का कहना था कि इस आश्रम जैसा रमणीक वातावरण लोकलय में कहीं देखने में नहीं आया।

यहाँ से आगे बढ़ने पर चार व्यक्तियों के साथ एक सुदीर्घ एवं अंधकारपूर्ण पहाड़ी सुरंग पार करके कई दिनों तक यात्रा करते हुए ये एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ न दिन मालूम पड़ता था न रात, गोधूलि के समान एक मृदु आलोक निरंतर छाया रहता था। कुछ समय तक वहाँ ठहरने के बाद इन्हें अनुभव हुआ कि वह प्रकाश कहीं बाहर से नहीं आ रहा था—कुछ आगे बढ़ने पर इन्होंने एक घोर अंधकारपूर्ण स्थान में एक दीर्घकाय महापुरुष को बैठे हुए देखा। वह मंद प्रकाश उन्हीं के शरीर से विकीर्ण हो रहा था। वस्तुत: उस प्रकाश के अतिरिक्त वह स्थान पूर्णतया अंधकाराच्छन्न था। उस खोह से बाहर निकलने पर इन्हें सूर्य का प्रकाश मिल गया। इनका अनुमान था कि उक्त सुरंग दक्षिण से पर्वत भेदकर उत्तर की ओर गयी थी। सुरंग पार करके इन्होंने एक ऊँचे श्रृंग पर आरोहण किया जिसके नीचे कौशिकी पर्वतमाला थी। अंत:प्रेरणा से उतर कर उस प्रदेश में प्रविष्ट हुए।

कौशिकी पर्वत पर इन्हें कौशिक आश्रम नाम से प्रसिद्ध एक अत्यंत रमणीय स्थान दिखायी पड़ा। यह कमल के आकार का था और आधी मील तक विस्तृत था। इसके चारों

ओर बर्फ ही बर्फ दिखलायी पड़ती थी। किन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि आश्रम के भीतर बर्फ नहीं थी। वहाँ की भूमि शिलामय थी। उसके नीचे एक नदी बड़े वेग से बह रही थी जिसका नाम था मंदाकिनी। इसे पार करना बहुत कठिन था। शिलाखंड पर पैर रखकर बड़े सावधानी से उतरना पड़ता था। आश्रम में नाना प्रकार के फूलों और फलों के वृक्ष थे, जैसे भारतवर्ष में नहीं मिलते। इस आश्रम में तेरह आसन लगे हुए थे। इन तेरह आसनों में से दस आसन इस प्रकार विन्यस्त थे कि व्यवधान के कारण उन पर बैठे व्यक्ति परस्पर देख नहीं सकते थे। शेष तीन आसन उनके सम्मुख थे और ऐसे नियोजित थे कि दसों आसनों में बैठे व्यक्ति इन पर विराजमान व्यक्तियों को देख सकते थे। ठाकुर महाशय ने पहले दस आसनों पर दस महापुरुषों को उपविष्ट देखा। वे सभी मनसा अचल स्पंदशून्य पत्थर की मूर्ति की भाँति निश्चेष्ट एवं प्रशांत मुद्रा में थे। उनके दोनों हाथ नीचे थे। उनकी त्वचा पत्थर की भाँति कर्कश और कहीं-कहीं फटी थी। किसी-किसी की जटा खुलकर कंधे पर लटक रही थी। वे लोग इतने दीर्घकाय थे कि उनके उपविष्ट होते हुये भी ठाकुर महाशय को माला पहनाने के लिए पत्थर रखकर खड़ा होना पड़ा था। उनकी आँखें पलकों के लटकते हुए चमड़े से ढकी थीं। नेत्रगोलक के भीतर छ: इंच से अधिक की गहराई में पुतलियाँ चमकती हुई दिखलायी देती थीं। उनके मुख-मंडल में लाली थी। वे कितने युगयुगांतर से इस स्थान में बैठे थे, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। मैंने ठाकुर महाशय से प्रश्न किया : 'क्या इन महापुरुषों ने कायाकल्प किया था?' वे बोले : 'नहीं, कायाकल्प करने से शरीर नवीन हो सकता है-स्थायी नहीं। तपस्या के प्रभाव से इनका शरीर ही चिन्मय हो गया था।'

शेष तीन आसन खाली थे। वे महापुरुष प्रजोजन के अनुरोध से जगत् कल्याण के लिए निम्रभूमि में चले गये थे। इस आश्रम में राम ठाकुर पंद्रह दिन रहे। नियमित रूप से उन महात्माओं की फलमूल, नैवेद्य आदि से सेवा करते थे। संध्या को फलाहार रख जाते थे। दूसरे दिन प्रात: सेवा में उपस्थित होने पर इन्हें छिलके पड़े मिलते। सोलहवें दिन प्रत्येक महापुरुष को साष्टांग दण्डवत् करते हुए इन्होंने विदा ली। प्रणाम करने पर उन प्रस्तरवत् तपस्वियों ने हाथ उठाकर उभय मुद्रा प्रदर्शित कर आशीर्वाद किया। ठाकुर महाशय को अपने इस पंद्रह दिवस के सम्पर्क काल में इन महापुरुषों के शरीर में यही एकमात्र स्पंदन दिखायी पड़ा। इस आश्रम की स्थिति के विषय में उन्होंने कहा था कि यहाँ से मानसरोवर बहुत दूर उत्तर में स्थित है। मैंने जिज्ञासा की : 'संसार के अनेक प्रसिद्ध यात्रियों ने मानसरोवर के आसपास का सारा प्रदेश छान डाला किन्तु उनमें से किसी ने भी अपने यात्रा-विवरण में आपके द्वारा निर्दिष्ट इन दोनों आश्रमों तथा उनमें रहने वाले तपस्वियों का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण क्या हो सकता है?' ठाकुर महाशय का समाधान था : 'ये दिव्य आश्रम सहज गोचर नहीं हैं। योगसिद्ध देहधारी ही इनका संधान पा सकते हैं।'

इस अलौकिक महापुरुष के संबध में और बातें हैं, जो प्रकाश्य नहीं हैं। इनकी आध्यात्मिक स्थिति के बारे में कुछ भी कहना कठिन है। देखने में अतिजीर्ण, क्षुद्र-काय और सभी प्रकार से आडंबरहीन किन्तु भीतर अनंतशक्ति और अखंड प्रकाश।

१९४९ ई० के अप्रैल महीने में इनका लोकांतरण हुआ।

२६. तत्संगी महात्मा

इनके साथ मेरा परिचय १९२४ ई० में काशी में ही हुआ था। इनका आश्रम डायमंड हार्बर में था, ऐसा मैंने सुना था। ये वृद्ध शरीर ब्रह्मविद् महापुरुष थे। इनका कहना था कि लोग समझते हैं कि साधना करके मुक्ति-लाभ करना ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। कारण कि मुक्तिलाभ मनुष्य के अपने हाथ में नहीं है, परमेश्वर या सद्गुरु के हाथ में है। साधना का लक्ष्य है सिद्धि लाभ, परन्तु साधना में प्रवृत्त होने के पहले मुक्ति-लाभ करना आवश्यक है। जो बद्ध है, उससे साधना नहीं होती, सिद्धि कहाँ से होगी ? पहले किसी प्रकार से मुक्ति का लाभ हो जाना चाहिए। इसका नामांतर है संदेह-भंजन। सद्गुरु कृपा करके शिष्य को पहले मुक्त कर देता है—अपने बल से। उसके बाद शिष्य गुरुशक्ति के सहारे से चलने लगता है और लक्ष्य तक पहुँच जाता है, यही सिद्धि है। कोई नौका यदि अपने घाट पर रस्सी से बँधी रहे तो वह चल कैसे सकती है ? मुक्ति के समय में गुरुकृपा से जिस स्थिति का प्रकाश हो जाता है, सिद्धि अवस्था में अपने साधन बल से उसी स्थिति का स्थायित्व होता है।

महाराज जी कहा करते थे कि मनुष्य का लक्ष्य नित्य वर्तमान में रहना चाहिए परन्तु काल की अवधि न होने के कारण अतीत तथा अनागत भी उस पर प्रभाव डालते हैं। पूर्व संस्कार अतीत की देन है और फलाकांक्षा भविष्य की। इन दोनों से प्रभावित होकर मनुष्य शुद्ध वर्तमान को पा नहीं सकता। पूर्व संस्कार तथा फलाकांक्षा वर्जित वर्तमान में स्थित तथा योगस्थ होकर जो कर्म किया जाता है, वही यथार्थ कर्म है।

ये कुछ महीनों तक काशी में रहे। इस बीच इनका सत्संग प्राय: नित्य होता था। कभी-कभी ये हमारे घर पर भी आया करते थे। इनके जितने उपदेश हैं सभी हमने लिपिबद्ध कर लिये थे। यहाँ उन्हीं में से कुछ प्रकाशित किया है। काशी से जाने के बाद फिर कभी इनका दर्शन नहीं हुआ।

२७. सोऽहं सिद्ध बाबा

१९२३ ई० के अंत में काशी में एक महात्मा से मेरा संबंध हो गया था। ये 'सोऽहं सिद्ध' नाम से अपना परिचय देते थे। ये जटाधारी थे। इनकी दाढ़ी तक में जटा हो गयी थी। पहले देवधर (वैद्यनाथ) में रहते थे। बाबाजी शैव थे। इनके इष्ट थे रावणेश्वर शिव, जो वैद्यनाथ धाम के अधिष्ठाता रूप में प्रसिद्ध हैं। इनको देव-देवियों का दर्शन निरंतर होता रहता था, इन्हें कुछ अलौकिक शक्तियाँ भी प्राप्त थीं।

इनका वास्तविक नाम था वैद्यनाथ स्वामी। कदाचित् वैद्यनाथ धाम में दीर्घ काल तक निवास करने के कारण ही यह नाम पड़ गया था। इनसे विभिन्न तात्विक विषयों में हमारा आलोचन चलता था जिसका संक्षिप्त विवरण हमने 'साधु दर्शन व सत्प्रसंग' (प्रथम खंड) में दिया है।

इनकी साधना प्रणाली का कुछ वैशिष्ट्य था। इनमें यह सामर्थ्य थी कि योग्य शिष्य को साधनाक्रम में प्रत्यक्ष अनुभव करा दें। परन्तु यह अनुभव स्थायी नहीं होता था—उसे साधना

द्वारा स्थायी बनाना पड़ता था। कारण कि खंड कृपा का फल स्थायी नहीं होता। इन्होंने ब्रह्मतत्व के ऊपर एक पुस्तक भी लिखी थी। इनसे मेरा संबंध प्रायः तीन वर्षों तक रहा।

२८. ज्योति जी

इनका वास्तविक नाम था, क्षीरोदरंजन दत्त राय। इनसे मेरा संसर्ग बहुत दिनों लगभग २० वर्ष तक रहा। कुछ दिन लगातार, फिर बीच-बीच में। ये बहुत विलक्षण पुरुष थे। गृहस्थ आश्रम में रहते थे—सभी प्रकार के आडंबरों से शून्य। थोड़ी आयु में ही इन्हें किसी महापुरुष की कृपा प्राप्त हो गयी थी। उनकी सहायता से इन्हें स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीर से विश्व-भ्रमण की सामर्थ्य मिल गयी थी। इसी अवस्था में इन्होंने लोकांतर में जाकर बहुत ज्ञान-विज्ञान प्राप्त किया था।

ये विचित्र प्रकृति के महात्मा थे। इनका विश्वास था कि पूर्ण वस्तु का साक्षात्कार अभी तक जगत् में किसी को नहीं हुआ। सिद्धावस्था तथा महासिद्धावस्था व्यक्तिगत अवस्थाएँ हैं। पूर्ण वस्तु का साक्षात्कार हो जाने पर व्यष्टि-समष्टि का प्रश्न नहीं रहता। जगत का स्वरूप ही बदल जाता है। एक व्यक्ति की प्राप्ति से सब की प्राप्ति का द्वार खुल जाता है। इन्होंने ध्रुवलोक में जाकर भक्त ध्रुव से बहुत-कुछ प्राप्त किया था। इसी प्रकार कई अन्य लोकों से भी इन्होंने नाना प्रकार ज्ञानोपार्जन किया था। इनकी अपनी शक्ति भी असाधारण थी और अनुभव अत्यंत व्यापक। ये कहा करते थे कि भगवद् दर्शन के संबंध में लोगों में बहुत भ्रांत धारणाएँ फैली हुई हैं। किसी देव, देवी, ज्योति या शून्य का दर्शन भगवद् दर्शन नहीं है।

एक दिन प्रसंगवश इन्होंने बताया कि जिस महापुरुष की कृपा इन्हें प्राप्त हुई थी उन्होंने इनको भगवद् दर्शन का कुछ आभास प्रत्यक्ष दिखाया था। उस समय ये बालक थे। आसाम में सिलहट जिले के मौलवी बाजार में इनका ननिहाल था। वहाँ काली का एक मंदिर था, जिसका दर्शन करने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। वहाँ एक महापुरुष आये। उनकी भजन-कीर्तन में बड़ी निष्ठा थी। धीरे-धीरे वे इतने प्रसिद्ध हो गये कि दर्शनार्थियों की भीड़ लगने लगी। एक दिन ये भी गये। समागत महापुरुष अत्यंत अलौकिक शक्तिसम्पन्न थे। साधारण लोग उनको पहचान नहीं सकते थे। उन्हें संगीत से प्रेम था। एक दिन संध्या के बाद कीर्तन-गान समाप्त हो जाने पर जब सब अपने-अपने घर चले गये तब बाबाजी ने इन्हें ठहरने को कहा। उस समय ज्योति जी ने उनसे पूछा : 'महाराज, मेरी इच्छा भगवद् दर्शन की है। वह हो सकता है या नहीं?' महात्मा ने कहा : 'भगवद् दर्शन का स्वरूप-ज्ञान तुम्हें नहीं है। तुम समझते हो नारायण, शंकर आदि के दर्शन से भगवद् दर्शन होता है। ऐसी बात नहीं है। भगवद् दर्शन का लक्षण यही है कि जब सचमुच व्यक्ति को भगवद् दर्शन होता है तो उसके साथ ही सर्व जगत् को होने लगता है।' यह कहकर महात्मा ने मंदिर के आँगन में एक स्थान पर स्वयं बैठकर ज्योति जी को अपने सामने बैठाया और कहा कि तुम शांत होकर चुप रह जाओ फिर देखो क्या होता है? ये सामने आसन पर बैठ गये। कुछ समय बाद देखा कि विद्युत् की भाँति एक अद्भुत तेजपूर्ण स्निग्ध शक्ति प्रकट होकर इनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। इसके साथ ही इस बालक की दृष्टि में विशाल परिवर्तन संघटित हुआ। ये अनुभव करने लगे

कि मैं ही सर्वत्र हूँ। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, मनुष्य जहाँ जो कुछ है, दृष्टि सब पर पड़ती थी किन्तु अनुभव होता था कि वह सब मैं ही हूँ। इसी को शास्त्र में सर्वात्मभाव कहते हैं। थोड़ी देर के बाद इन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि ये उसे सहन नहीं कर सकते । महात्मा ने शक्ति खींच ली और कहा : 'इसके परिपुष्ट होने पर समग्र विश्व में स्वयं को ही सर्वत्र देखने लगोगे। अपने को ही सभी जगह व्याप्त पाओगे।' इसके बाद ज्योति जी लौकिक शक्ति से समन्वित होकर हिमालय की कंदरा में सूक्ष्म शरीर से गये और अपने आश्रमादि देख आये। ये कहा करते थे कि समग्र विश्व ब्रह्मांड घूमना कोई बड़ी बात नहीं है। समाधि में मग्न होकर डूब जाना बड़ी बात नहीं है। मन का निरोध कर उसको फिर उत्थित न होने देना भी कोई बड़ी बात नहीं है। क्योंकि इन सबसे पूर्ण सत्य का साक्षात्कार होता नहीं। उनका सिद्धान्त था कि मन को नाश या निरोध करना ठीक नहीं। उसे अपने अधीन करके रखना श्रेयस्कर होता है।

ज्योति जी अपने काशीवास की प्रारंभिक अवस्था में कुछ महीने तक हमारे साथ रहे थे। नाना विषयों में उनसे अंतरंग संबंध इसी से संभव हुआ। इन्होंने मुझसे अपने एक और जन्मधारण करने की बात कही थी। कहाँ होगा ? कब होगा ? यह भी बताया था।

२९. हरिप्रसाद जी

ये एक गृहस्थ साधु थे। काशी में १९२४-२५ ई० में इनका साक्षात्कार हुआ था। सुना था कि ये पहले सरकारी नौकरी में डाक विभाग में थे। अवकाश ग्रहण करने के बाद काशी आये थे। ये बंगाली टोला में अगस्त्यकुंड के पास एक किराये का मकान लेकर रहते थे। बहुत दिनों तक इनके साथ मेरा संबंध रहा। दर्शनार्थियों की इनके यहाँ निरंतर भीड़ लगी रहती थी। इनकी अलौकिक शक्तियों का परिचय पाकर लोग आश्चर्यचकित हो जाते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कॉलेज के प्राध्यापक स्वर्गीय भीमचंद्र चट्टोपाध्याय इनके परम भक्त थे।

अपने कमरे में एक तख्ते पर ये एकांत भाव से योगासन में बैठे रहते थे। जब मैं सबसे पहले इनके दर्शनार्थ गया तो मुझे एक अद्‌भुत अनुभव हुआ था। वह अनुभव मैं जब-जब जाता था पुनरावृत्त होता था। जिस कमरे में ये रहते थे, मालूम पड़ता था, तेज से भरा हुआ है। कमरे में प्रवेश करते ही सहस्त्रदल कमल में एक विराट् आकर्षण का अनुभव होता था। कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहने पर प्रगाढ़ ध्यान अपने आप लग जाता था। इनके शरीर की विद्युत् प्रेरणाशक्ति के प्रभाव से अनेक लोगों को विचित्र अनुभव भी होते थे। प्रसिद्धि थी कि ये काली-सिद्ध हैं।

प्रतिदिन संध्या समय इनके घर में नाना प्रकार के देवताओं का आवेश होता था। उनका दर्शन भी लोग करते थे। काली इनकी इष्टदेवी थीं, किन्तु इनका विशेष संबंध उनकी अष्ट सेविकाओं अथवा नायिकाओं से मालूम पड़ता था। इनके संबंध में बहुत से अनुभव हैं। उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

ये महात्मा परोपकारी थे। आंगतुक भक्तों को साधना का उपदेश भी देते थे। कई महीनों के घनिष्ठ संपर्क से मुझे विश्वास होने लगा था कि ये चरम सिद्धि तक नहीं पहुँचे हैं क्योंकि अनेक अवसरों पर इनके वचन मिथ्या सिद्ध होते देखे गये थे। अपने साधन के विषय में ये

मुझसे मुक्तभाव से बातचीत करते थे। इससे मैं समझ पाया था कि इनका अप्राकृत दिव्यतत्व तक प्रवेश नहीं हुआ है क्योंकि विशुद्ध-सत्व का प्रकाश होने पर वाक्‌सिद्धि स्वतः हो जाती है। पूर्णसिद्धि न होने पर भी ये विशिष्ट कोटि के थे, इसमें कोई संदेह नहीं।

३०. केशवानंद जी

केशवानंद जी अपने समय के एक प्रसिद्ध महात्मा थे। १९२७ ई० में जब मैं पुरी तथा भुवनेश्वर दर्शन करने गया था, इनसे भेंट हुई थी। ये संन्यासी होने पर भी उच्चकोटि के शक्ति साधक थे और दुर्गा जी के उपासक थे। इनके साथ ब्रह्मचर्य के विषय में मेरी कुछ बातें हुई थीं। एक बार ये कहने लगे : 'ब्रह्मचर्याश्रम तो बहुत हुये हैं और अब भी चारों तरफ स्थापित किये जा रहे हैं। किन्तु उनमें से सच्चे ब्रह्मचारी कम निकलते हैं। इसका कारण क्या है?' इसका उत्तर स्वयं देते हुये ये बोले : 'ब्रह्मचारी के लिए जैसे आचार का पालन करना चाहिए, भोजन, व्यवहारादि में जैसा संयम रखना चाहिए, शास्त्रीय विधानानुसार उसका आश्रम में प्रबंध किया जाता है। यह अच्छा है। परन्तु मात्र उससे कोई बालक ब्रह्मचारी बन नहीं सकता। बाल्यावस्था में सत्संग के प्रभाव से शुद्ध ब्रह्मचारी भाव में ये लोग रहते हैं इससे कोई संदेह नहीं, परन्तु जब ब्रह्मचर्याश्रम छोड़कर लोकालय में जाते हैं तब इनमें से बहुत से ब्रह्मचारी अपने उच्च आदर्शों से स्खलित हो जाते हैं और साधारण लोगों की भाँति व्यवहार करने लगते हैं। उनकी ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा कहाँ हुई?' मैंने जिज्ञासा की : 'किस वस्तु का अभाव रहता है जिससे ये लोग शुद्धाचारी होने पर भी ब्रह्मचर्य से स्खलित हो जाते हैं?' इनका उत्तर था : 'ब्रह्मचारी को न केवल बिन्दु धारण करना सीखना पड़ता है परन्तु बिन्दु शुद्ध करके उसे ऊर्ध्वगामी करने की प्रक्रिया जानना भी आवश्यक है।' हमने कहा : 'बिन्दु तरल जलीय पदार्थ है। क्या यह ऊर्ध्वगामी हो सकता है?' ये बोले : 'जलीय होने पर भी विलक्षण होने के प्रभाव से वह वाष्प रूप हो जाता है और तब ऊर्ध्वगामी होता है। जैसे जल से वाष्प होता है, वैसे बिन्दु भी तेजोमय होकर ऊर्ध्वगामी होता है। इस विषय में बहुत रहस्य है। उसकी शिक्षा दिये बिना ब्रह्मचर्य गठन नहीं हो सकता। शास्त्रीय नियम पालन तो उसी के अनुकूल है, किन्तु यथार्थ ऊर्ध्वगति की शिक्षा बिना केवल बाहरी नियम से कुछ नहीं होता।' इन महापुरुष के साथ हम कुछ दिन भुवनेश्वर में रहे। उस समय अनेक विषयों पर घनिष्ठ रूप में वार्तालाप हुआ जिसका यहाँ विवरण देना अनावश्यक है। उनका कहना था 'बिना ब्रह्मचर्य के शक्ति धारण असंभव है और बिना शक्तिधारण के आत्मसाक्षात्कार कैसे होगा?'

३१. जगदीश मुखोपाध्याय

ये एक नवीन युवक थे। इनसे भेंट १९२६ ई० में अकस्मात् हो गयी थी। दशाश्वमेध के गंगातट पर घूमने गया था। ये भी वहीं उपस्थित थे। परिचय हो गया। ये थे तो युवक परन्तु अलौकिक सामर्थ्य-संपन्न थे।

मैंने सुना था कि ये काशी के प्रसिद्ध विद्वान् गोविंद वेदाध्यायी से विशिष्ट रूपेण संबंधित थे। इनके ससुर महाशय भी काशीवास करते थे। वे कलकत्ता के किसी यूरोपीय संस्थान (फर्म) में बड़े बाबू के पद से सेवानिवृत्त होकर यहीं रहते थे। बड़े ही धर्मप्राण व्यक्ति थे।

उनका वासस्थान था तिलभांडेश्वर के निकटवर्ती हाई स्कूल के पास। जगदीश जी उन्हीं के साथ रहते थे। मैंने इनके घर जाकर कई दिन वार्तालाप किया। ये भी मेरे स्थान में कभी-कभी आया करते थे।

इनका कहना था कि 'गुरु का महत्त्व क्या है, इसको समझने के लिए शिष्य को गुरु का संग करना चाहिए।' मैंने इनके ससुर महाशय से सुना था कि इनमें ऐसी सामर्थ्य है कि कुछ देर शांत होकर इनके पास बैठने से भीतर में शांति आ जाती है और नाना प्रकार का दिव्य दर्शन होता है। इसके लिए न किसी जप की आवश्यकता थी, न ध्यानादि की।

इन दिनों वसंतकुमार भट्टाचार्य नाम के एक पूर्वबंगीय वैद्य काशी में रहते थे। वे मेरे परिचित थे। बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने भी इनकी सिद्धियों के विषय में बहुत-कुछ सुन रखा था। एक दिन इनके पास बैठने की उन्होंने इच्छा व्यक्त की। उनके अनुरोध से मैं उन्हें लेकर संध्या के उपरांत मुखोपाध्याय महाशय के घर पर गया। जगदीश बाबू संत प्रकृति के व्यक्ति थे, बोले : 'मैं बैठा रहूँगा। आप लोग भी बैठे रहिये। चेष्टा करिये, 'चिंताशून्य होने के लिए? फिर देखिए क्या होता है।' वैद्यजी ने ऐसा ही किया। कुछ देर तक वे चुपचाप बैठे रहे। उसके बाद उन्हें अद्‌भुत दर्शन और अनुभव हुए। यह उन्होंने ध्यान भंग होने के अनंतर मुझे बताया साथ ही यह भी कहा कि थोड़ी देर में ही मेरा चित्त शांत हो गया। चारों तरफ धीमा-धीमा प्रकाश खेलने लगा। इसके बाद अकस्मात् मेरे इष्टमंत्र का आविर्भाव हुआ। केवल इतना ही नहीं, उस समय वृक्षादि जो कुछ भी दृष्टि पथ में आते थे मालूम होता था उसके पत्ते-पत्ते में इष्टमंत्र अंकित है। इस स्थिति में लगभग ४५ मिनट रहा। इसके बाद कुछ आश्चर्य बोध होने लगा। चित्त अपेक्षित रूप से शांत तो हो गया था किन्तु मेरे इष्टमंत्र का पता तो किसी को भी न था। उसका प्राकट्य कैसे हुआ, यह आश्चर्यजनक है। इस घटना से जगदीश बाबू के अलौकिक सामर्थ्य में वैद्य जी को कोई संदेह नहीं रह गया।

वैद्य जी के इस अनुभव से उत्साहित होकर मैंने उनसे दूसरे दिन पुनः जगदीश बाबू के पास चलने का प्रस्ताव किया। किंतु इस बार वे जाने को सहमत नहीं हुए। उन्होंने कहा : 'मैं नहीं जाऊँगा, मैं जगदीश बाबू द्वारा नियोजित शक्ति का प्रभाव श्रेयस्कर नहीं समझता, क्योंकि उससे मेरे भीतर अनेक प्रतिकूल भावों का उदय हो रहा है। उसे हटाने में कई दिन लग जायँगे।' बहुत से अन्य लोगों के ऊपर भी जगदीश बाबू का इस प्रकार का प्रभाव अनुभव में आया था किन्तु कोई भी स्थायी रूप से उनका अनुरागी न बन सका। इससे मालूम होता है कि शक्ति का कुछ विकास उनके भीतर था किन्तु आधार के अनुसार अनुकूल-प्रतिकूल विचार करने की सामर्थ्य कदाचित् उनमें नहीं थी।

ये कई बरस तक काशी में रहे। कुछ दिन बाद हरद्वार में भी इनसे भेंट हुई थी। फिर पता नहीं कहाँ चले गये।

३२. विश्वरंजन ब्रह्मचारी

इन ब्रह्मचारी जी का प्रथम दर्शन मुझे १२ सितंबर १९२८ ई० को मिला था। ये बंगदेश के प्रसिद्ध महात्मा स्वामी सत्यदेव के छोटे भाई थे। मैं जब इनसे मिलने गया था तो मेरे साथ मेरे गुरुभाई तथा मित्र स्वर्गीय सतीशचंद्र दे भी थे।

ये काशी में गोदौलिया के निकट अगस्त्यकुंड मुहल्ले में एक छोटे से मकान में रहते थे। इनके दर्शन और बातचीत से मेरा मन बहुत प्रभावित हुआ था। विभिन्न विषयों में इनके साथ मेरा वार्तालाप होता था। इनका दृष्टिकोण जैसा तर्कशील था वैसा ही अंतर्मुख भी। स्वामी विवेकानंद पूर्वजीवन में जैसे रहे इनका स्वरूप करीब-करीब वैसे ही प्रतीत होता था। दैवयोग से ये दीर्घजीवन लाभ न कर सके। १९३७ ई० में इनका देहांत हुआ।

इन्होंने तिलभांडेश्वर (काशी) के समीप एक आश्रमस्थान प्रतिष्ठित किया था। इनके भक्त तथा सेवक-साधक-वृंद उसमें रहकर यथानियम साधन में व्रती रहते थे। इनकी अंतर्दृष्टि बहुत सूक्ष्म थी, ऐसा मुझे अनुभव हुआ था। असमय मृत्यु के कारण इनका जीवनादर्श कालराज्य में प्रकाशित न हो सका। इनको मैं सदैव श्रद्धा के साथ स्मरण करता हूँ।

३३. माँ आनंदमयी

माताजी के साथ मेरा प्रथम परिचय १९२८ ई० में हुआ था। उस समय ये अपने पतिदेव महाशय भोलानाथ तथा भक्तों के साथ काशी आयी थीं और रामापुरा में कुंजमोहन मुखर्जी के मकान में ठहरी हुई थीं। इनके दर्शन के लिए चारों ओर से लोग निरंतर आते थे। किन्तु मुझे इसका कोई पता नहीं था। माताजी के आगमन की जानकारी मुझे एक विशेष सूत्र से प्राप्त हुई।

उन दिनों गौहाटी (आसाम) के अवकाश-प्राप्त विद्वान् महामहोपाध्याय पं० पद्मनाथ विद्याविनोद काशीवास कर रहे थे। ये हमारे पास बराबर आया करते थे। विद्याविनोद जी प्राध्यापक तो अंग्रेजी के थे किन्तु इनकी गवेषणा तथा आलोचना का विषय भारतीय इतिहास था, विशेष करके शिलालेखादि। इनका 'कामरूप शासनावली' (इंसक्रिप्शंस ऑव आसाम) बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। ये हिन्दू धर्म के प्राचीन आदर्शों के कट्टर विश्वासी थे। उत्कर्ष का मानदंड इनकी दृष्टि में इतना ऊँचा था कि प्राय: कोई मनुष्य इनकी हार्दिक प्रशंसा के योग्य नहीं होता था। इन्होंने एक दिन अपराह्न में आकर मुझसे कहा : 'काशी में एक माता जी आयी हैं। कुंजबाबू के मकान में रामापुरा में टिकी हुई हैं। वह प्राय: समाधि में रहती हैं। बहुत उच्चकोटि की महिला प्रतीत होती हैं। आप जाकर दर्शन करियेगा।' विद्याविनोद महाशय कदाचित् ही किसी की प्रशंसा करते थे। इसलिए मताजी के संबंध में उनके इन शब्दों का बहुत महत्व था। उनके द्वारा बताये गये पते पर मैं उसी दिन रामापुरा गया। जाने पर ज्ञात हुआ कि माताजी समाधि में हैं। यह सुनकर लौट आया।

दूसरे दिन फिर गया। तब भी सुना कि समाधि में हैं। मैं प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद ही उनका समाधि से उत्थान हुआ। माताजी का दर्शन किया। विशेष आनंद हुआ।

उस समय वहाँ प्रतिदिन बहुत लोग दर्शनार्थ आते थे। एक दिन मेरी उपस्थिति में भारतधर्ममहामंडल के स्वामी दयानंद आये थे। उनका विश्वास था कि माँ आनंदमयी के रूप में संसार के कार्य के लिए साक्षात् देवी अवतीर्ण हुई हैं।

एक दिन इन स्वामीजी का अन्य कई महाशयों की उपस्थिति में माताजी के साथ विशेष वार्तालाप हुआ। उस समय मैं भी उपस्थित था। स्वामीजी ने पूछा, 'माँ ! आप कौन हैं ?' माँ बोलीं, 'मैं क्या कहूँ ? आप जो समझते हैं वही हूँ।' फिर स्वामी जी ने पूछा :'माँ जब तक

समाधि में रहती हो, क्या वह सविकल्प समाधि है, या निर्विकल्प?' माँ ने कहा : 'इसका विचार मैं क्या करूँ। मैं समाधि में रहती हूँ, यह तुम्हारी वाणी है। यह समाधि है या नहीं है, यह भी तुम्हारे विचार का विषय है। मैं क्या कहूँ? मैं तो पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि मैं सदैव एक ही अवस्था में रहती हूँ। समाधि होना और समाधि छूटना यह तुम लोगों की बात है। मेरे लिये दोनों बराबर हैं। इस स्थिति का क्या नाम है, तुम लोग बताना।' समुपस्थित लोगों में से किसी ने कहा : 'क्या यह स्थितप्रज्ञावस्था तो नहीं है?' माता जी ने कहा : 'इसका विचार तुम्हीं लोग करना।'

इसी प्रकार माताजी जब तक काशी में रहीं नाना स्थान से नाना लोग आते थे, नाना प्रकार विचार करते थे। किसी का स्थिर निश्चय नहीं हुआ कि माताजी की स्थिति कैसी है? प्रत्येक विचारक अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनके विषय में विचार करता था। कोई कहता था, 'यह काली की अवतार हैं।' ढाका में इस प्रकार की प्रसिद्धि भी थी। कोई कहता था कि ये देवी की दशमहाविद्या से संबंध रखती हैं। किसी-किसी को इनके शरीर में विभिन्न महाविद्याओं का साक्षात्कार भी हुआ था। कोई शुकदेव का अवतार बताता था। एक प्रकार से यह स्वतः सिद्ध थीं क्योंकि बाह्य जगत् में इनका कोई गुरु नहीं था। सुनने में आया कि मातृगर्भ से निकलने के समय से ही इनका पूर्णज्ञान खुला हुआ है।

एक दिन एक वृद्धा महिला ने रात्रि के समय आकर माताजी से कहा : 'माँ ! जब मैं आसन पर बैठती हूँ, मालूम पड़ता है कि मेरा साक्षिभाव खुल गया। मेरी सर्वदा इच्छा होती है कि तुम्हारे पास आऊँ परन्तु सब समय आ नहीं सकती। इसलिए चित्त में दुःख उत्पन्न होता है और जब यहाँ आती हूँ तब आनन्द होता है। तुम्हारे सान्निध्य में ही सुख पाती हूँ।' माताजी ये सब बातें सुनकर हँसने लगीं और बोलीं : 'तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। तुमने बताया कि हमारा साक्षिभाव खुल गया। साक्षी माने द्रष्टा है न? यह बहुत प्रसन्नता की बात है। परन्तु तुम कहती हो कि तुम जब यहाँ आती हो तब आनंद होता है। न आने पर दुःख-सुख का अनुभव होता है। इससे मालूम होता है कि तुम्हें दुःख-सुख का बोध रहता है। परन्तु दुःख-सुख का भोग तो भोग के अंतर्गत है। साक्षी का भोग कैसा?' कहकर वे फिर हँसने लगीं। माता जी से यही मेरा प्रथम परिचय था।

इसके बाद बीच-बीच में माताजी का जब काशी आगमन होता था तब-तब मैं उनसे मिलता था। पहले माताजी यहाँ आने पर धर्मशाला में ठहरती थीं, किसी गृहस्थ के मकान में नहीं रहती थीं। कभी-कभी नौका में भी वास करती थीं। आगे चलकर जब यहाँ भदैनी पर आश्रम बन गया तब से वहीं आकर रहने लगीं।

धीरे-धीरे माताजी से घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया। एक बार इन्होंने मेरे साथ अपने पिता, श्री विपिनबिहारी को जगन्नाथपुरी की रथयात्रा देखने के लिए भेजा था। हम उन्हें पुरी ले गये। वहाँ अपने गुरुदेव (स्वामी विशुद्धानंद) के आश्रम में ठहरे। रथयात्रा में उत्सव का दर्शन हुआ, जगन्नाथ जी के विग्रह का भी। पुरी के अन्य विशिष्ट स्थानों का भी दर्शन किया गया। गुरुदेव उस समय वहीं थे। उनका दर्शन कर बिपिन बाबू अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न महापुरुष मैंने पहले कभी देखा न था। इनकी बड़ी इच्छा हुई कि मैं किसी न किसी समय विशेष प्रयत्न करके माँ को बाबा से मिलाऊँ। क्योंकि

दोनों ही लोकोत्तर हैं। मिलने से बहुत आनंद होगा। उन्होंने अनुरोध किया कि मैं ऐसी व्यवस्था यथावसर करूँ। मैंने उनके इस अनुरोध की रक्षा की। उसे पूरा करने में पाँच-छः वर्ष का समय लग गया।

१९३५ ई० के दिसम्बर में जब बाबाजी काशी में विद्यमान थे और माताजी भी आकर गोदौलिया के पांडे-धर्मशाला में टिकी हुई थीं, उस समय विशेष प्रयत्न करके मैं माताजी को गुरुदेव के आश्रम में ले गया। गुरुदेव ने बड़े प्रेम के साथ माताजी का सत्कार किया। उस समय की एक घटना बहुत रोचक है।

माताजी को मैं एक बस में धर्मशाला से मलदहिया स्थित 'श्री विशुद्धानन्द कानन' में ले आया था। उनके साथ पंद्रह लोग थे। उनमें माताजी के पतिदेव श्री भोलानाथ तथा उनके परम भक्त 'भाईजी' (ज्योतिषचंद्र बसु) भी थे। माँ के भक्तवृंदों में काश्मीर तथा अन्य स्थानों के कई लोग थे। उनमें पुरुष भी थे, महिलाएँ भी। मैंने पहले ही उतर कर बाबा को माताजी के आने की सूचना दे दी। बाबा ने इन लोगों की अभ्यर्थना के लिए दोतल्ले पर विज्ञान मंदिर के पूरबवाले बरामदे में प्रबंध किया था। बरामदे में कंबल बिछाया गया था। माताजी तथा विशिष्ट व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् आसन थे। कोने में आराम कुर्सी पर बाबा स्वयं बैठे थे। आश्रम के भक्त लोग पश्चिम की ओर बैठे थे। मैंने विचार किया था कि माताजी के समाज सहित ऊपर जाने से पूर्व मैं बाबा को उनके पधारने का संवाद दे दूँ परन्तु माताजी मेरे साथ-साथ आकर पहले ही दो तल्ले पर पहुँच गयीं। मैं उनके पीछे साथ-साथ गया। निकट पहुँच कर वे बोलीं :'बाबा! तुम्हारी यह छोटी लड़की उपस्थित है। अब कन्या पिता के पास आ गयी है।' यह कहकर वे बरामदे में गुरुदेव की ओर चलने लगीं। गुरुदेव आराम कुर्सी पर थे। खड़े होकर माताजी की अभ्यर्थना की और कहा :'हाँ बेटी! घर में चली आ।' माताजी के बैठने के लिये आसन बिछा हुआ था किन्तु बाबा के सामने वे आसन पर न बैठकर भूमि पर ही बैठ गयीं। भोलानाथ जी आसन पर बैठे। साथ में आये हुए अन्य लोग कंबल पर बैठ गये। बरामदा प्रायः लोगों से भर गया।

कुछ समय के बाद काश्मीरी लोगों पर दृष्टि पड़ने पर बाबा ने पूछा : 'बेटी, ये लोग कहाँ से आये हैं? कौन देश के हैं? बंगीय नहीं मालूम पड़ते।' माताजी बोलीं : 'बाबा, यह क्या पूछ रहे हो? ये कहाँ से आये? इससे आपका क्या तात्पर्य है? ये सब एक ही जगह से आये, जहाँ से सब आते हैं।' बाबा समझ गये कि ये परिहास कर रही हैं। उन्होंने कहा : 'हाँ बेटी! सब एक ही जगह से आते हैं किन्तु बाहर आते ही नाना हो जाते हैं।' माँ बोलीं : 'हाँ बाबा! नाना हैं किन्तु एक के भीतर ही नाना।'

इसके बाद माँ ने भाई जी से कहा :'ज्योतीश! तुम बहुत दिनों से बाबा के विषय में जानना चाहते थे, विशेषतः सूर्य-विज्ञान के संबंध में। अब यहाँ आ गये। बाबा के सामने हो। हृदय की आकांक्षा प्रकाश कर अनुरोध करो। बाबा दिखायेंगे।' यह कहकर मातजी ने हमारी तरफ देखा। मैंने उनका आशय समझ कर बाबा से कहा : 'बाबा, आपका जीवन चरित पढ़कर ज्योतीश बाबू की सूर्य विज्ञान के विषय में यह जानने की इच्छा हुई है कि वह क्या है? कैसे होता है।' बाबा ने कहा : 'सूर्य-विज्ञान योग की विभूति नहीं है। जो समझते नहीं हैं, उनका विश्वास है कि यह भी एक प्रकार की योगविभूति है किन्तु वास्तव में सूर्य-विज्ञान से योग

का कोई संबंध नहीं है। सूर्यविज्ञान से सृष्टि होती है। योग और इच्छा शक्ति से भी सृष्टि होती है अर्थात् बाह्यजगत् का कोई भी पदार्थ दोनों प्रकार से बन सकता है। फिर भी दोनों में बहुत भेद है। सूर्य विज्ञान में सूर्य की रश्मि पहचान कर विभिन्न रश्मियों का संघटन करके सृष्टि करनी होती है। सूर्य का नाम ही है—सविता अर्थात् प्रसव करने वाला। समस्त जगत् का आविर्भाव सूर्य से ही हुआ है। इसी से सृष्टि, पालन, संहार सब कुछ होता है। सूर्य-विज्ञान-विद् उस रहस्य को आयत्त कर लेते हैं और रश्मियों का स्वरूप पहचान कर, उनके परस्पर मेल की प्रणाली सीखकर इच्छानुरूप वस्तुसृष्टि कर सकते हैं। नाना प्राकर की क्रिया भी कर सकते हैं। इससे योगी की आत्मिक शक्ति के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु इच्छा शक्ति से यदि सृष्टि करना पड़े, तब उपादान बाहर से लिया नहीं जाता, आत्मस्वरूप से ही लिया जाता है। सूर्य-विज्ञान में सूर्य रश्मि से उपादान लिया जाता है। इसी प्रकार चंद्र-विज्ञान में चंद्र से, वायु विज्ञान में वायु से और शब्द विज्ञान में शब्द से लिया जाता है परन्तु इच्छाशक्ति से जो सृष्टि होती है, उसमें उपादान नहीं लिया जाता, वहाँ आत्मा ही निमित्त है, आत्मा ही उपादान है। इसीलिए योग अर्थात् इच्छा शक्ति से सृष्टि करना विशेष रूप से निषिद्ध है, क्योंकि उससे आत्मिक हानि होती है। यद्यपि उसकी क्षतिपूर्ति (कपेन्मेशन) हो सकती है फिर भी यह योगी की इष्टसिद्धि में बाधक होता है। परन्तु सूर्य विज्ञान के द्वारा की गयी सृष्टि में किसी प्रकार के आत्मिक अपकर्ष की संभावना नहीं रहती।

इतना कहकर बाबा अपने पुरातन शिष्य दुर्गाकांतराय से बोले : 'भीतर से लेंस ले आओ।' दुर्गाकांत बाबू अवकाश-प्राप्त सबजज थे। पेंशन लेने के बाद निरंतर बाबा के साथ रहा करते थे। बाबा के आदेशानुसार नित्य प्रयोग में आनेवाला ज्ञानगंज का एक छोटा सा लेंस ले आये। यह बराबर उनके पाकेट में रखा रहता था। बाबा उसके द्वारा रश्मि निर्गम करके विभिन्न प्रकार का दृश्य दिखाने लगे। पहले नाना प्रकार की गंध दिखायी, विभिन्न प्रकार की पुष्प-रचना दिखायी, उससे कपूर, केसर उत्पन्न करके दिखाया। ज्योतीश बाबू सूर्य रश्मि से भौतिक सत्ता-संपन्न स्थूल वस्तु की उत्पत्ति देखकर चकित रह गये। माताजी ने कहा : 'बाबा, यह तो प्रकृति शक्ति का खेल है। अत: यह भी एक प्रकार की माया का ही चमत्कार है।' बाबा बोले : 'हाँ, माया है, समग्र विश्व सृष्टि ही तो मायावी का माया है। इसमें क्या संदेह है?' माँ ने कहा : 'एक माया के धक्के से तो ये सभी लोग मोहित होकर पड़े हुए हैं। फिर माया के ऊपर माया क्यों दिखाते हो। माया हटा दो।' हम खड़े थे। माताजी ने हमारी ओर देखकर कहा : 'बाबाजी को पकड़ो। इनके पास परम वस्तु रखी हुई है। ये ढकने के ऊपर ढकना देकर आवरण करते हैं।' फिर बाबा को संबोधित करती हुई बोलीं : 'और आवरण मत करो बाबा। सब आवरण हटा दो। परम वस्तु खोलकर दे दो।' बाबा ने कहा : 'बेटी, मैं तो देने के लिए आया हूँ। देने को उन्मुख हूँ। हाथ भी बढ़ाये हूँ, किन्तु लेता कौन है?' यह कहकर हँसने लगे। फिर बहुत बातें हुईं।

इसके पश्चात् बाबा ने कहा : 'इन सबको जलपान कराओ।' प्रबंध पहले से था। माता जी से कहा : 'बेटी, पिता के घर आयी हो। कुछ खाना पड़ेगा।' माँ ने कहा : 'ये लोग हमको खिला करके लाये हैं।' यह सुनकर बाबा ने सोचा कि इनकी खाने की इच्छा नहीं है, फिर बोले : 'बेटी, तब तुम नहीं खाओगी?' माँ बोलीं : 'क्यों नहीं खायेंगी। छोटी बच्ची तो बार-

बार खाती है। परन्तु इस लड़की की एक आदत है। यह अपने हाथ से नहीं खाती। खिलाना पड़ेगा।' इसके बाद एक प्लेट में कुछ फल लेकर बाबा कुर्सी के सामने खड़े हो गये। माता जी भी खड़ी हुईं। बाबा की इच्छा थी कि मिठाई लेकर वे माँ के मुख में दें, माँ ने उसे पहले ही बाबा के मुख में दे दिया। किसने पहले दिया, पता नहीं चला। कोई आगे-पीछे नहीं, दोनों ने साथ ही साथ खाया। यह देखकर सब लोग हँसने लगे। जब सब जलपान कर चुके तो माताजी ने कहा : 'बाबा, अब लड़की जा रही है।' बाबा ने बड़े भावपूर्ण शब्दों में कहा : 'बेटी जाती हो मगर अपने इस बूढ़े पिता को भूलना नहीं।'

माताजी से हमारा प्रगाढ़ संबंध तभी से बना है। मैं उन्हें जगदंबा-स्वरूप मानता हूँ। वे नाना प्रकार से हमारा कल्याण करती हैं। इस शरीर पर उनका अगाध स्नेह है। १९६१ में जब मैं कैंसर ऐसे भीषण रोग से पीड़ित हुआ—दिल्ली में रोग-परीक्षा तथा बंबई ले जाकर विश्वप्रसिद्ध कैंसर-विशेषज्ञ—डॉ० बर्जेश द्वारा शल्यचिकित्सा आदि का सारा प्रबंध उन्होंने ही किया था।[1]

३४. पागल बाबा

इन महापुरुष से मेरा परिचय दिसंबर, १९३० ई० में हुआ। इसका एक इतिहास है। उस समय हरिप्रसाद विद्यांत नामक एक महाशय काशीवास करते थे। वे पहले संयुक्त प्रांतीय अब उत्तर प्रदेश शासन के सार्वजनिक निर्माण विभाग में उच्च पदस्थ इंजीनियर थे। अवकाश-प्राप्ति के अनंतर काशी चले आये थे। कभी-कभी वे हमारे साथ गुरुदेव के आश्रम में जाया करते थे। वे गुरुदेव के सूर्य-विज्ञान तथा कुछ अन्य अलौकिक व्यापार का प्रदर्शन देखकर चकित हो गये और प्रसंगतः कहने लगे : 'सामान्यतया साधु समाज में विज्ञान की चर्चा कहीं सुनायी नहीं पड़ती। यहाँ आये हुए एक अन्य महात्मा के मुख से भी मैंने सुना है कि प्राचीन भारत में विज्ञान बहुत उन्नत था।' यह सुनकर मुझे कुतूहल हुआ कि विज्ञान में रुचि रखने वाले उस विशिष्ट महात्मा का दर्शन करें, क्योंकि साधारण साधु-मंडल इससे प्रायः उदासीन रहता है। मैंने विद्यांत महाशय से उनके साथ चलकर उक्त महात्मा का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। वे हमको अपने साथ एक ऐसे स्थान पर ले गये जहाँ मोटर की मरम्मत होती थी। यह स्थान छोटी गैबी के निकट था। वहाँ पहुँच कर अपने आने की सूचना देने के बाद मैं भीतर गया। साथ में कुछ और भी लोग थे। हमारे मन में आया कि यह तो कोई साधु-आश्रम नहीं है, फिर यहाँ महात्मा कैसे होंगे ? कुछ देर तक प्रतीक्षा की, फिर एक प्रौढ़ पुरुष कारखाने से बाहर आये। वे श्याम वर्ण के थे, मस्तक पर केश इस प्रकार बिखरे हुए थे जैसे उनका कभी तैलादि से संपर्क हुआ ही न हो। तपःक्लिष्ट उग्रमूर्ति, घुटनों तक वस्त्र पहने हुए। वे आकर हम लोगों के सामने बैठ गये। पता लगा कि ये वही महात्मा हैं, जिनके विषय में विद्यांत महाशय ने चर्चा की थी।

हमने पूछा : 'क्या आप प्राचीन भारत में विज्ञानचर्चा के संबंध में कुछ जानते हैं ?' उन्होंने कहा : 'प्राचीन भारत में नाना प्रकार के विज्ञान का प्रचार था। इस विषय में कोई-कोई

१. यह संयोग की ही बात है कि कविराजजी की अंतिम दिनों में सँभाल माँ के ही कर-कमलों द्वारा हुई और आनंदमयी आश्रम भदैनी (वाराणसी) में ही उनकी जीवन लीला का पटाक्षेप हुआ।

विशिष्ट अभिज्ञ पुरुष भी थे। रावण का विज्ञान, वशिष्ठ का विज्ञान आदि अनेक प्रकार के विज्ञान प्रसिद्ध रहे। इसका सविशेष परिचय भी मुझे मिला है।' यह सुनकर मेरे मन में आश्चर्य हुआ कि ये कैसी-कैसी अलौकिक बातें कह रहे हैं। मैंने पूछा : 'आपको इसका ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ?' 'अपनी गर्भधारिणी माता से।' इसके बाद उन्होंने अपनी माता का लोकोत्तर चरित और उनके प्रभाव से अपनी नाना प्रकार की अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का वृत्तांत बताया। उन्होंने कहा कि थोड़ी ही आयु में उनकी माता ने भावराज्य दर्शन का रहस्य उन्हें बतला दिया था। यह योग का अति गंभीर रहस्य है। भाव जगत् में प्रविष्ट होने पर भौतिक जगत् में जो कुछ लुप्त हो गया है, उसका भी परिचय मिलता है। इस जगत् में जिन विद्याओं का लोप हो गया है, भाव जगत् में वे सब मौजूद हैं। प्राचीन काल में योग्य गुरुवर्ग अधिकारी शिष्यों को भाव जगत् में प्रवेश करने का रहस्य सिखलाते थे। मैंने पूछा : 'इस विषय का कोई प्रत्यक्षज्ञान आपने प्राप्त किया था क्या?' उन्होंने कहा : 'मैंने बहुत कुछ संग्रह किया और उसे लिपिबद्ध भी किया है। विभिन्न विद्वानों का विश्लेषणमूलक तत्त्व उसमें हमने दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के उल्लेख से हमारे पास बहुत सी कापियाँ भरी पड़ी हैं।' यह कहकर उन्होंने घर से कुछ कापियाँ मँगाकर दिखायीं। प्रत्येक कापी में नाना प्रकार के चित्र देख पड़े। उनके साथ कुछ विवरण भी था—यह अलक्तक से लिखा गया था। यह सब देखकर बाबाजी पर मेरी बहुत श्रद्धा हो गयी। वे देखने में साधारण वेश में थे किन्तु ज्ञान असाधारण मालूम पड़ा।

मैंने बाबाजी से पूछा : 'आपने भगवत्साक्षात्कार किया है या नहीं?' यह सुनकर उन्हें रोमांच हो आया। बोले : 'भगवद्दर्शन! नहीं, नहीं। मैंने भावजगत् का दर्शन किया है। विश्व जगत् का रहस्य भी भेद किया। उसके बाद महाशून्य के प्रांत में आकर बैठा हूँ। महाशून्य भेद किये बिना भगवद्दर्शन संभव नहीं।' पहले दिन इतनी बातचीत करके हम लोग निवृत्त हुए। इस प्रथम परिचय में ही घनिष्ठता स्थापित हो गयी।

इसके बाद मैं समय-समय पर इन महापुरुष का संसर्ग करता था। ये उस समय अगस्त्यकुंड के पास एक स्थान में रहते थे। लोगों से इनके जीवन के विषय में विचित्र कथाएँ सुनीं। कहा जाता है, शैशव में इनकी संर्पदंश से मृत्यु हो गयी थी। सर्पदंश के कारण कुटुंबियों ने प्रचलित परंपरानुसार, इनकी देह को अग्नि में भस्म न करके मिट्टी में गाड़ दिया था। इस घटना के दूसरे दिन एक अलौकिक संन्यासी महापुरुष आये। उन्होंने मिट्टी हटाकर इनका शव बाहर निकलवाया और अपनी अलौकिक शक्ति से योगप्रक्रिया का द्वारा इन्हें पुनरुज्जीवित कर स्वच्छदेहविशिष्ट बना दिया। कुछ वर्षों के बाद इनका पुनः कायापरिवर्तन हुआ था—ऐसा सुनने में आया था—इनके साधन विषय में बहुत अलौकिक व्यापार हैं, जो प्रकाश योग्य नहीं हैं।

इनका विज्ञान एक प्रकार से अलौकिक था, इसमें संदेह नहीं। इनसे बहुत गूढ़ विषयों में हमारा वार्तालाप होता था। कुछ दिनों काशी में रहकर ये बाहर चले गये थे। इसके अनंतर एक बार ये पुनः काशी आये। ये महापुरुष अब तक जीवित थे, अवस्था ९४ वर्ष के लगभग थी। राँची में महाश्मशान में रहते थे। दर्शन तथा श्रवण दोनों शक्तियाँ समाप्त हो गयी थीं। कृत्रिम यंत्र की सहायता से सुनते थे। ज्ञान के भंडार थे। कुछ ही दिनों पूर्व इनका देहावसान हो गया।

३५. सिद्धि माता

इस परम सिद्ध महिला से मेरा परिचय १९३० ई० के आसपास हुआ था। वीरेश्वर चट्टोपाध्याय नामक एक युवक मेरे मित्र थे, जो निरंतर साधु संग करते थे और विशिष्ट आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों की खबर रखते थे। उन्होंने एक दिन इस साधिका के विषय में हमसे चर्चा करते हुए बताया : 'एक विधवा महिला बहुत दिनों से एकांत स्थान में रहकर इस आसन में बैठी हुई साधन भजन करती हैं। बहुत उच्चकोटि की साधिका प्रतीत होती हैं। घर से कहीं बाहर नहीं जातीं और किसी से विशेष बातचीत भी नहीं करतीं। अधिकांश समय में अपने आसन पर बैठी हुई रहती हैं। देखने में श्रद्धायोग्य मालूम पड़ती हैं।'

ये बंगाली टोला के खालिसपुरा मुहल्ले में एक छोटे से मकान में रहती थीं। वीरेश्वर बाबू, स्वामी शंकरानंद नामक एक महात्मा के साथ, इनका दर्शन करने बराबर जाया करते थे। उनके साथ एक दिन मैं भी श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। हमने देखा कि माताजी इतनी संकोचशील हैं कि उनका मुख सदैव घूँघट से ढका रहता है। प्रथम दिन के दर्शन से ही इनके ऊपर हमारी श्रद्धा हो गयी। फिर तो बराबर दर्शनार्थ उपस्थित होता रहा। बीच-बीच में इनकी अनेक दिव्य शक्तियों का अनुभव हुआ। हमने देखा कि धीरे-धीरे ये साधन-जगत् में इतनी ऊँची कोटि में आरूढ़ हो गयी थीं कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

मैं १९३० ई० से लेकर इनके देहावसान काल (२६ अप्रैल, १९४३ ई०) तक निरंतर संपर्क में आता रहा। इस दीर्घ काल में इनकी आध्यात्मिक उन्नति के प्रत्यक्ष अनुभव का हमें सुयोग मिलता रहा। साधना की मध्यावस्था में जब ब्रह्म-साक्षात्कार के पूर्व देहभेद करके चिदाकाश में तथा परव्योम में इनका अवस्थान हुआ था उस समय इनके शरीर में अलौकिक परिवर्तन हो गया था। समस्त देह भगवल्लीला का एक क्षेत्र बन चुका था। विद्युत सदृश ज्योति के द्वारा इनके शरीर में नाना प्रकार के मंत्र, उपदेश तथा देव-देवियों के रूप प्रकट होते थे। उपस्थित भक्तमंडली उसका दर्शन भी करती थी, यह सारी लीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती थी। नाना प्रकार की वाणियाँ प्रकट होती थीं, इन्हें 'काया भेदी वाणी' कहा जाता है। यह व्यापार ब्रह्मसाक्षात्कार के पूर्व कई वर्षों तक चलता रहा। इनके एक शिष्य प्रभातकुमार बनर्जी ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कर लिया था। इस कायाभेदी वाणी में साधनरहस्य पूर्णरूपेण व्यक्त कर दिया गया है। माताजी के जीवन चरित में, जो हिन्दी में प्रकाशित है, इन सबका प्रकाशन हो चुका है।

माताजी के साधनक्रम के विषय में उन्हीं के मुख से विवरण सुनने में आता था। उसका किंचित् अंश उनके जीवन चरित की भूमिका में मैंने प्रकाश भी किया है। माताजी प्रचलित ब्रह्मसाक्षात्कार को चरम-स्थिति नहीं समझती थीं। पहले नित्य लीला अर्थात् वैकुंठ अथवा गोलोक लीला में प्रगति के समय जब ये क्रमश: ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर हुई थीं तो ब्रह्मसाक्षात्कार को ही अंतिम भूमि समझती थीं। किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर इनेहोंने कहा था : 'यह पूर्णसत्ता प्राप्ति का आभास मात्र है।' परमावस्था में परब्रह्म अथवा पूर्णब्रह्म के साक्षात्कार के अनंतर महाशून्य भेद करना पड़ा। उस समय इन्होंने कहा : 'जन्म-जन्मांतर का सब प्रकार का कर्मबीज दर्शन में आ गया, यह सब उसके बाद ही ब्रह्माग्नि में दग्ध हो गया।' फिर जब परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ठीक-ठीक आत्मा की प्रतिष्ठा हुई तब इनको बोध

हुआ कि यह भी प्रारंभिक अवस्था ही है। इस समय में महाशक्ति की महाकृपा का अवतरण और परमपद का दर्शन हुआ। इस परमपद-प्राप्ति को ही माताजी मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य समझती थीं। इनका कथन था कि देहावस्था में इस परमपद का दर्शन होने पर भी उसमें स्थिति नहीं होती। देह के अंत में ही इस दशा की प्राप्ति होती है। इनका कहना था कि इस परमपद में इन्होंने एकमात्र शुकदेव को स्थित देखा, अन्य किसी को नहीं।

परमपद के दर्शन के बाद इनके जीवन में अद्‌भुत परिवर्तन हो गया था। इनकी दृष्टि के सामने सदैव परमज्योति विद्यमान रहती थी जिसके प्रभाव से जागतिक लौकिक पदार्थ देखने में नहीं आते थे। व्यवहार-समय में चक्षु खोलकर बातचीत करती थीं परन्तु वक्रदृष्टि किये बिना इन्हें संसारी वस्तुएँ दिखायी नहीं पड़ती थीं। स्वाभाविक दृष्टि में सर्वत्र सर्वथा वक्रज्योति का ही दर्शन होता था।

ये करीब १९१० ई० से काशी में रहती थीं किन्तु इस दीर्घ काशीवास काल में न इन्होंने कभी किसी महात्मा का सत्संग किया, न किसी साधु के दर्शनार्थ ही कहीं गयीं। इन्होंने साधारण लौकिक दीक्षा अपनी जन्मभूमि (बंगाल) में ली थी, परन्तु काशी आने के बाद गंगास्नान तथा देव-देवी दर्शन छोड़कर इन्हें किसी प्रकार के साधु-संग का अवसर नहीं मिला।

साधना की उन्नतावस्था में इनके भीतर श्रीकृष्ण भगवान् का स्फुरण हुआ। तब से ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यंत स्वयं कृष्ण ही साकार रूप में प्रकट हो इनका पथ-प्रदर्शन करते थे। माताजी साधना में भक्तिमार्ग को ही प्रधान समझती थीं। ये कहा करती थीं कि इन्होंने अपने जीवन में गुरु की चार अवस्थाएँ प्रत्यक्ष कीं—पहला गुरु, जो कुंडलिनी जगाकर षट्‌चक्र भेद कसकर देहातीत चैतन्य में प्रवेश करने में सहायक होता है, पिंड के ब्रह्मांड में प्रवेश करने के विषय में गुरु ही सहायक है। इसके बाद दूसरा स्थान विश्व गुरु का है। इनकी सहायता से विश्वभेद हो जाता है परन्तु तब भी इष्टसिद्धि नहीं होती। विश्वभेद करने के बाद तीसरा स्थान ब्रह्मगुरु का है। ब्रह्मगुरु ब्रह्मसाक्षात्कार कराने में सहायक है। साधक की आत्मा ब्रह्मसाक्षात्कार करने पर भी अपने को कृतकृत्य नहीं समझती। ये कहा करती थीं कि ब्रह्मसाक्षात्कार करने पर भी आत्मा की परम इष्टसिद्धि नहीं होती। इसकी पूर्ति सद्‌गुरु से होती है। गुरुतत्त्व की यह चौथी तथा अंतिम चरम विकसित अवस्था है। सद्‌गुरु की कृपा से यह अनुभव होता है कि ब्रह्म कोई अन्य वस्तु नहीं है वह आत्मा स्वयं है। इसी का नाम आत्मसाक्षात्कार है। पहले ब्रह्मभाव प्राप्त किये बिना आत्मसाक्षात्कर हो ही नहीं सकता। आत्मा के लिये साक्षात्कार ही चरम लक्ष्य है।

ज्ञान अथवा महाज्ञान के स्वरूपनिर्णय के सिलसिले में मैं प्रायः माँ के साथ विचार-विनिमय किया करता था। वे कहती थीं कि ज्ञान तब तक पूर्ण रूप से उज्ज्वल नहीं होता, जब तक चैतन्य का विकास नहीं होता। ज्ञान और चैतन्य यद्यपि स्वरूपतः अभिन्न हैं फिर भी दोनों में कुछ अंतर है। चैतन्य अत्यंत गूढ़ वस्तु है। ब्रह्मज्ञान से लेकर महाशून्य के साक्षात्कार के पहले तक जो ज्ञान है उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस समय भी कर्मबीज अथवा मूलअविद्या नष्ट नहीं होती। महाशून्य का भेदन करने के अनंतर परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है, वह बहुत ऊँचे स्तर का ज्ञान है। वह ज्ञान

अग्निस्वरूप होने के कारण मूल अज्ञान को जला देता है। अविद्या विनिवृत्ति के बाद ब्रह्माग्नि के शांत होने पर चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उस समय का ज्ञान ज्ञानाग्नि से भी बढ़कर है। यही उज्जवल महाज्ञान है। चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर ज्ञान का वास्तवकि रूप निखर उठता है और स्वरूपानंद जाग जाता है। यद्यपि ज्ञान और चैतन्य एक ही वस्तु है तथापि पूर्णता के अनुसार माँ कहती थीं 'ज्ञान भी चाहिए और चैतन्य भी चाहिए'। चैतन्यहीन ज्ञान की वे श्रेष्ठज्ञान के रूप में गणना नहीं करती थीं। महाशक्ति के अवतरण के पहले जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह चेतनाहीन ज्ञान है। महाशक्ति के अवतरण के अनंतर चैतन्य का उन्मेष होने से ज्ञान चैतन्य के साथ अभिन्न रूप से उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ब्रह्माग्नि की ज्वाला शेष कर्मों को जलाकर भी शांत नहीं होती, बल्कि और अधिक चमक उठती है। यह जो विशेष चमकना है, यही महाशक्ति के अवतरण का चिह्न है किन्तु इस अवतरण के साथ-साथ जो परिपूर्ण आनंद का विकास होता है, उसमें कोई उल्लास नहीं होता। माँ कहती थीं : 'मैंने सोचा कि इतने विराट् आनंद को कैसे धारण करूँगी ? किन्तु अब देखती हूँ कि उससे भी विचलित भाव प्राप्त नहीं होता आनंद से होनेवाली कोई चंचलता प्राप्त नहीं होती। एक उदासीनता और स्थिरता अक्षुण्य रूप से विद्यमान रहती है।'

वास्तविक निर्वाण परमपद में स्थिति का नामांतर है। इसके बाद निराकार स्थिति है। अनंतर एक विकास की अवस्था है, उसे माँ परामुक्ति कहती थीं। निर्वाण निराकार है, उसकी पूर्वावस्था में भी कुछ साकार रहता है। परन्तु परामुक्ति होने पर ज्ञान होता है कि निराकार और साकार में कोई विरोध नहीं है। जो निराकार है, वही अनंत साकार रूपों में प्रकाशमान है। पूर्वोक्त विकास के हस्तगत होने तक निराकार और साकार अलग-अलग रहते हैं। दोनों की समता प्रतीत नहीं होती । परमपद की स्थिति जब तक नहीं होती तब तक विकास अवस्था प्राप्त नहीं होती और जब तक विकास प्राप्त नहीं होता तब तक परमसाम्य की प्राप्ति नहीं होती।

माँ ने एक दिन कहा था : 'जगत् अब नहीं है, किसी भी ओर मुझे कुछ नहीं दीखता, उस एक के अतिरिक्त। जिधर ही ताकती हूँ देखती हूँ वही है। घर, द्वार व्यक्ति कुछ भी नहीं देखती हूँ। जगत् सचमुच नहीं है—एक के सिवा और कुछ भासता नहीं, किन्तु वक्र दृष्टि करने पर सब कुछ देख पड़ते हैं। असली बात यह है कि सभी हैं—जगत् है, मैं ही जगत् का त्याग कर उठी हूँ, और तुम्हारे साथ बात भी कर रही हूँ। देह रहने पर यह आवश्यक है, इसीलिए होता है। इसीलिए कहना पड़ता है, जगत् से अतीत होकर भी जगत् में रहना।'

माँ ने ब्रह्मावस्था प्राप्ति के पूर्व और महामिलन के अनंतर मिल-मिश्रण अवस्था में लीलादर्शन किया था। ब्रह्मावस्था के अनंतर फिर लीला का आस्वादन उन्हें नहीं हुआ। उस समय एकमात्र ब्रह्मसत्ता के ही गंभीर और गंभीरतर स्तरों में क्रमशः प्रविष्ट हुई थीं। उसे एक प्रकार से लीलांतर्गत अवस्था कहना ही पड़ेगा। किन्तु वैष्णव आचार्य जिस नित्य लीला का वर्णन करते हैं, उससे माँ के द्वारा वर्णित लीला का किसी-किसी अंश में भेद है। लाला स्वरूप-शक्ति का खेल है, उसमें संधिनी, संवित्, ह्लादिनी—इन तीन शक्तियों का ही व्यापार रहता है। ह्लादिनी शक्ति का सारांश ही महा-भाव है। भक्ति आदि उस ह्लादिनी शक्ति की ही विभिन्न वृत्तियों के नाम हैं। भगवत्स्वरूप और उनकी स्वरूप-शक्ति में परस्पर क्रीड़ा चलती

रहती है। उससे शक्ति के आश्रय और विषय दोनों स्थानों में रसास्वादन होता है। स्वरूप शक्ति के, विशेषत: ह्लादिनी शक्ति के, आश्रय भगवान् हैं। यदि वह शक्ति अंश रूप से निक्षिप्त होती है तो उसके द्वारा अनुगृहीत जीव उसका आश्रय होता है। तब उसके विषय होते हैं स्वयं भगवान्। इस प्रकार भक्त और भगवान् अनादि काल से असंख्य प्रकार के रसास्वादनों की क्रीड़ा कर रहे हैं। इस लीला से भगवान् उसका आस्वादन करते हैं एवं भक्तों को कराते हैं और भक्त भी स्वयं आस्वादन करते हैं भगवान् को भी कराते हैं। यह रसास्वादन-प्रवाह अनादि काल से आरंभ होकर अनंत काल तक चलेगा। इसके आरंभ और अन्त का कुछ भी निर्देश नहीं किया जा सकता। इससे ऊपर कोई अवस्था नहीं है जिसे इस लीला का अतिक्रमण कर जीव अपने पुरुषार्थ के रूप में पा सके। नित्य चक्कर काटनेवाली इस लीला का जो मध्यबिन्दु है, वह लीलातीत कहा जा सकता है, किन्तु वास्तव में वह नित्यलीला के ही अंतर्गत है। इस तरह विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि माँ के द्वारा वर्णित मिल-मिश्रण अवस्था इससे बहुत कुछ भिन्न है। मिल-मिश्रण अवस्था के अनंतर कुछ आगे बढ़ने पर ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है। किन्तु वैष्णव-लीला रसिक कहते हैं कि कूटस्थ अक्षर-ब्रह्म लीलामय पुरुषोत्तम का धाममात्र है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मावस्था में—स्वरूप शक्ति-संपन्न भगवदवस्था में—पहुँचे बिना नित्य लीला में प्रवेश नहीं किया जा सकता।

इन माताजी का जीवन बहुत अद्‌भुत था। ये लौकिक व्यवहार से बिल्कुल अनभिज्ञ थीं। वर्तमान युग में इस प्रकार का एकांत-प्रिय मनुष्य अत्यंत विरल है। वे साधना में इतनी तन्मय रहा करती थीं कि बाहरी जगत् की इन्हें कोई सूचना रहती ही नहीं थी। यहाँ तक कि इन्होंने अपने जीवन में मोटर भी नहीं देखी थी। देखतीं भी कैसे? गंगातट से अपने गलीवाले मकान में आते-जाते इन्हें मोटर कभी दिखायी नहीं दी, बाहर ये कभी निकलीं ही नहीं।

३६. मधुसूदन ओझा

१९०६ ई० में जब पढ़ने के उद्देश्य से जयपुर गया और वहाँ जाकर कुछ दिनों में निश्चिंत होकर रहने लगा, तब एक महान् पुरुष की चर्चा चारों ओर मेरे सुनने में आयी। इनका नाम था मधुसूदन ओझा विद्यावाचस्पति। ये महाराजा जयपुर के निजी पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। इस ग्रंथागार में प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध मुद्रित पुस्तकों के अतिरिक्त बहुसंख्यक दुष्प्राप्य हस्तलेख भी सुरक्षित थे। हस्तलिखित ग्रंथों का यह भांडार साधारण लोगों के लिए अगोचर था। इसे देखने की अनुमति प्राप्त करना अत्यंत कठिन व्यापार था। मधुसूदन जी इसे सुव्यवस्थित तथा ग्रंथों का पूर्णरूपेण अध्ययन कर प्रतिष्ठित हो गये थे।

ओझाजी के संबंध में यह प्रसिद्ध था कि इन्हें प्राचीन भारत का बहुत-सा लुप्त विज्ञान मालूम है और उन पर इन्होंने कुछ ग्रंथों की रचना भी की है। किन्तु तब तक वे ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए थे। उस समय तक उनकी एकमात्र पुस्तक 'प्रत्यंत-प्रस्थान-मीमांसा' मुद्रित हुई थी। इसमें हिन्दू धर्म के अनुसार समुद्र पार कर पश्चिमी देशों में जाने के वैधत्व या अवैधत्व पर विचार किया गया था। मधुसूदनजी कुछ दिनों पूर्व जयपुर के महाराज माधव सिंह के साथ इंग्लैण्ड गये थे, इसकी रचना उसी प्रसंग में हुई थी।

जयपुर में मैं प्रधान मंत्री संसारचंद्र सेन के मकान पर रहता था। वहाँ कभी-कभी किसी

व्याख्यान के संबंध में इन महाशय का आगमन होता था। तब मुझे भी इनके दर्शन का सौभाग्य मिलता था। मेरे दो परिचित—पं० आद्यादत्त ठाकुर तथा पं० लक्ष्मणदत्त ओझा, मधुसूदन जी के घनिष्ठ संपर्क में रहते थे। उनके द्वारा इनकी लोकोत्तर विद्वत्ता की कथाएँ सुनने में आती थीं। इनकी लिखी 'इंद्र-विजय' तथा 'सौदामिनी विद्या' नामक पुस्तकें बाद में निकली थीं। उक्त दोनों महानुभावों द्वारा मधुसूदनजी का परंपरा-श्रुति के आधार पर मेरे ऊपर स्नेह था किन्तु अनेक कारणों से उस समय मेरा इनसे घनिष्ठ संबंध स्थापित नहीं हो सका था। परवर्तीकाल में जब मैं काशी आ गया और पं० आद्यादत्त लखनऊ विश्वविद्यालय में कार्य करने लगे तब इन महाशय से संबंध अधिक प्रगाढ़ हुआ।

जहाँ तक मुझे स्मरण है १९२४ ई० की घटना होगी। मधुसूदनजी उस समय काशी आये थे। मेरे गुरुदेव भी उन दिनों यहीं थे। वे प्रतिदिन सूर्य विज्ञान का प्रयोग रश्मि-विश्लेषण प्रणाली के द्वारा दिखलाते थे। किसी ने ओझाजी से जब यह बताया कि बाबाजी सूर्य-रश्मि से वस्तु सृष्टि करते हैं तो वे बोले : 'सूर्य-रश्मियों से संबंद्ध इस सृष्टि-प्रक्रिया के संबंध में अपने 'इंद्र-विजय' नामक ग्रंथ में मैंने इंगित रूप से कुछ लिखा है किन्तु इसका साक्षात् अनुभव मुझे कभी नहीं हुआ। मेरा विश्वास है कि वैदिक युग के ऋषियों को यह विज्ञान सरस्वती नदी के तट पर प्राप्त हुआ था। यह विषय यदि प्रत्यक्ष देखने को मिल जाय तो मैं अपने को भाग्यवान् समझूँगा।' उस व्यक्ति से ओझाजी की इस विषय में जिज्ञासा जानकर मैंने ऐसा प्रबंध कर दिया कि गुरुदेव से अनुमति प्राप्त कर विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रदर्शन के समय मधुसूदनजी को बुलाया जाये और उनके सामने सूर्य-रश्मियों से सृष्टि प्रक्रिया दिखायी जाये। बाबा ने सहर्ष अनुमति दे दी। मधुसूदनजी सादर लाये गये। उस समय सूर्य-रश्मियों का विश्लेषण करके विभिन्न वर्ण निकालने की प्रक्रिया दिखायी जा रही थी और यह बताया जा रहा था कि किन-किन रश्मियों के संयोग से किस प्रकार की सृष्टि होती है। मधुसूदनजी की प्रार्थना पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ जैसे कपूर, जाफरान आदि रश्मि-संयोग से बनाकर दिखाये गये। इसी प्रकार अन्य बहुत-सी वस्तुओं का सृष्टिरहस्य रश्मि-विज्ञान के आधार पर प्रत्यक्ष दिखाया गया। मधुसूदनजी यह सब देखकर चकित हो गये। स्वामीजी को प्रणाम करके निवेदन किया : 'यह विज्ञान मैंने पहली बार देखा है। इस प्रकार की सृष्टि-प्रक्रिया पहले कभी देखने में नहीं आयी। परन्तु प्राचीन वैदिक ग्रंथानुशीलन करते हुए मेरे चित्त में यह भान होता था कि वर्णों के संयोग-वियोग के तारतम्यानुसार वस्तुसृष्टि होती है। जो हृदय में विश्वास रूप में था वह आज नेत्रों के सामने आ गया। मैं कृतार्थ हुआ।' बाबाजी ने ओझाजी की विद्वत्ता की बहुत प्रशंसा की।

इस प्रसंग में बंगदेश के पंडित शशधर तर्कचूड़ामणि का स्मरण होता है। ये रामकृष्ण परमहंसजी के समय में थे। ब्राह्मधर्म के उस उत्कर्ष काल में ये हिन्दू धर्म पर वैज्ञानिक व्याखायन देते थे। इनकी 'धर्म-व्याख्या' नामक पुस्तक अत्यंत लोकप्रिय हो गयी थी। मैंने काशी में इनका दर्शन किया था। उस समय ये बहुत वृद्ध हो चुके थे। इनके शिष्य प्रसिद्ध सुलेखक ज्योतींद्र मोहन सिंह का संस्कृत में लिखा हुआ 'चूड़ामणि-दर्शन' एक विराट् ग्रंथ है। इसको उन्होंने मुझे संशोधित करके प्रकाशन के लिए दिया था। कुछ अंश काशी में मुद्रित भी हुआ था किन्तु थोड़े ही दिनों के अंतर से गुरु-शिष्य दोनों का परलोकवास हो जाने के कारण वह पूर्ण रूप से प्रकाश में न आ सका। इसमें धर्म-तत्त्व की वैज्ञानिक दृष्टि से आलोचना की गयी थी।

इन दोनों महापुरुषों के विचारों का अनुशीलन करने के पश्चात् मुझे ज्ञात हुआ कि उनमें दृष्टि तथा प्रक्रियागत भेद है। मधुसूदनजी विज्ञान की प्राचीन परिभाषा मानते थे और उसी के अनुसार विश्लेषण करते थे परन्तु शशधर महाशय पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार ही विज्ञान की आलोचना करते थे। हिन्दू धर्म की वैज्ञानिकता में अगाध निष्ठा रखते हुए भी दोनों महापुरुषों के दृष्टिकोण में यही मौलिक अंतर था।

मधुसूदनजी के शिष्यों में संस्कृत के अनेक प्रकांड विद्वान् हुए। म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी उन्हीं में से एक थे।

३७. डॉ० भगवानदास

भारतरत्न डॉ० भगवानदास से चाक्षुष परिचय होने के बहुत पहले ही इनका नाम तथा यश मुझे ज्ञात हुआ था। मैं जब जयपुर में पढ़ता था और वहाँ से बी० ए० परीक्षा देने के लिए इलाहाबाद आया था उस समय इनके लिखे हुए 'साइंस ऑव पीस' नामक ग्रंथ का विवरण अपने एक मित्र के द्वारा मुझे प्राप्त हुआ था। इसके बाद उक्त ग्रंथ को पढ़ने का अवसर मिला। यह ग्रंथ आध्यात्मिक दृष्टि से मुझे बहुत उपकारक प्रतीत हुआ। हमारे उस समय के जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था। तभी से मेरी इच्छा थी कि इनका दर्शन करूँ, परन्तु तत्काल इसका सुयोग न प्राप्त हो सका।

जयपुर से काशी आकर क्वींस कॉलेज हॉस्टल में अवस्थान करते हुए जब मैं डॉ० वेनिस के निकट एम० ए० के लिए अध्ययन कर रहा था, उस समय इनके 'प्रणववाद' नामक ग्रंथ की चर्चा मैंने परंपरा से सुनी थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है तब तक इसका प्रकाशन तो नहीं हुआ था किन्तु संकलन आरंभ हो गया था। धनराज नामक एक जन्मांध विद्वान् से इन्होंने भारतीय ऋषियों द्वारा विरचित अनेक लुप्त ग्रंथों का नाम तथा मूलपाठ प्राप्त किया था। सुनने में आया कि इन पंडित जी (धनराज) को कई लुप्तशास्त्रग्रंथ कंठस्थ हैं और प्रयोजन होने पर वे उन्हें लिखा भी देते हैं। प्रणव तत्त्व पर लिखा गया 'प्रणववाद' नामक ग्रंथ उन्हीं में से एक था जिसे डॉ० भगवानदास धनराज जी के कंठ से आवृत्ति लेकर लिखा रहे थे। उन दिनों म्योर कॉलेज के प्राध्यापक डॉ० गंगानाथ झा शीघ्र लेखन के लिए विख्यात थे। वे डॉ० भगवानदास तथा उनके भ्राता बाबू गोविन्ददास के मित्र थे। सुनने में आया कि इस ग्रंथ का अधिकांश श्रुतिलेख के रूप में झा महोदय ने ही लिखा था।[१] मुद्रित न होने से यह ग्रंथ उस समय मुझे देखने के लिए नहीं मिल सका। कुछ दिनों के अनंतर प्रकाशित होने पर मैंने उसे पढ़ा।

इसी प्रकार प्राचीन भारतीय विद्या के अनुशीलन तथा उस विषय में डॉ० भगवानदास के अनुराग का बहुत कुछ परिचय मुझे मिला था। हॉस्टल में रहते समय आचार्य नरेंद्रदेव मेरे साथी थे। उनसे भी इस संबंध में अनेक सूचनाएँ प्राप्त हुई थीं। परन्तु उस समय तक इन महाशय का दर्शन मुझे नहीं मिला था।

१९१७ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इस अवसर पर देशदेशांतर से पंडितवर्ग यहाँ समागत हुए थे। इसमें बंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् म० म० हरप्रसाद

१. बहुत वर्षों के बाद डॉ० गंगानाथ झा राजकीय संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल होकर काशी आये तब उन्होंने एक दिन प्रसंग चलने पर इस तथ्य की पुष्टि की थी।

शास्त्री भी पधारे थे। वे उस समय रॉयल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के उपाध्यक्ष और कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष थे। इन शास्त्रीजी से मेरा पुराना परिचय था। इनके कनिष्ठ भ्राता पं० मेघनाद भट्टाचार्य ही मेरे जयपुर जीवन के प्रथम समय के आश्रयदाता थे। इसी माध्यम से मैं शास्त्रीजी के प्रगाढ़ संपर्क में आ गया था। मैं कई बार इनके नईहाटी तथा कलकत्ता स्थित आवास-स्थान पर गया था। शास्त्री जी जब काशी आते तो मुझसे सरस्वती भवन में आकर मिला करते थे। पता लगने पर मैं भी उनके निवास-स्थान पर जाकर मिल लिया करता था।

अबकी बार शास्त्री जी चिनसुरा (पश्चिमी बंग) के भूदेव मुखोपाध्याय के पौत्र बटुकदेव जी के मकान पर औरंगाबाद मुहल्ले में ठहरे थे। जब मैं इनसे मिलने गया तो देखा कि वहाँ डॉ० भगवानदास पहले से ही उपस्थित हैं। थोड़ी देर में ही हम लोगों में घनिष्ठ परिचय स्थापित हो गया। इसके बाद बहुत दिनों तक इनसे किसी प्रकार का ब्राह्यसंबंध होने का अवसर नहीं आया।

१९३६ ई० में मैंने इनके घर के सन्निकट ही सिगरा में मकान बनवाने के लिए भूमि खरीदी। घर बन जाने पर जब मैं उसमें आकर रहने लगा तब डॉ० भगवानदास से निरंतर साक्षात्कार होता था। ये महान् पुरुष थे, सबसे पहले ये ही मेरे मकान में आये थे। एक दिन पांतजलयोगभाष्य के विषय में ये कुछ चर्चा करने लगे। उस समय ये 'कंकॉर्डेंस टु व्यासभाष्य ऑन योगसूत्र' नाम से एक ग्रंथ का संकलन कर रहे थे। उसी विषय में विचारविमर्श के निमित्त ये प्रायः प्रतिदिन मेरे मकान पर आते थे। कुमारपाल नामक इनके एक प्रबुद्ध विद्यार्थी थे, कभी-कभी उनके द्वारा भी यह आलोचना चलती थी।

इन्हीं दिनों 'बंदी जीवन' के रचयिता प्रसिद्ध क्रांतिकारी शचींद्रनाथ सान्याल मेरे पास निरंतर आया करते थे। डॉ० भगवानदास उस समय सामाजिक वर्णव्यवस्था के संबंध में चर्चा करते थे। शचींद्र के साथ उनका खंडन-मंडन चलता था। कालांतर में जब डॉ० भगवानदास रुग्ण होकर शय्याशायी हुए तब मैं कभी-कभी इन्हें देखने जाया करता था। उस स्थिति में भी इनकी सदाशयता तथा सौम्य व्यवहार चित्त को मुग्ध कर देता था।

एक दिन की बात है। आचार्य नरेंद्रदेव के अनुरोध पर मैंने उनके बौद्धधर्म विषयक ग्रंथ की भूमिका में 'तांत्रिक बौद्धधर्म' का विवेचन किया था। इसे आचार्य जी डॉ० भगवानदास को सुनाने के लिए ले गये। डॉ० भगवानदास की तांत्रिक बौद्ध-धर्म के विषय में श्रद्धा नहीं थी। इसलिए उक्त भूमिका को सुनने के लिए उन्होंने अनिच्छा प्रकट की, यद्यपि मेरे द्वारा लिखी हुई होने से उनका एतद्विषयक औत्सुक्य भी था। इसके बावजूद आचार्य जी ने धैर्यपूर्वक उन्हें पूरी भूमिका सुनायी। समाप्त होने पर भगवानदास जी ने उनसे कहा, 'आज हमारे जीवन की एक भ्रांत धारणा दूर हो गयी। तांत्रिक बौद्धधर्म में इतना गुरुत्व और गंभीर रहस्य है, यह मुझे ज्ञात नहीं था। किन्तु अब उसके अध्ययन का समय नहीं रहा, 'इट इज टू लेट नाउ'।

इनमें मेरी परम श्रद्धा थी और इनका भी मेर ऊपर सविशेष स्नेह था।

३८. तारकेश्वर माँ

इनके मेरा परिचय १९३२ ई० में हुआ। ये एक बंगीय विधवा महिला थीं। लड़कपन से ही ये तारकेश्वर शिव की परम भक्त थीं। यह प्रसिद्धि थी कि इनको तारकेश्वर भगवान् का

नित्य दर्शन होता है। ये शंकर जी की विशेष कृपापात्र थीं। अत्यंत दयालु प्रकृति की होने के कारण मनुष्यों की शारीरिक रोगनिवृत्ति को ये अपने जीवन का मुख्य ध्येय मानती थीं। ये शरणागत रोगी का नाम लेकर तारकेश्वर को पुष्प अर्पित करती थीं। उनके आशीर्वाद स्वरूप वही पुष्प उनके पास लौट आता था। उस ये रोगी को दे देती थीं, जिसके प्रभाव से रोगी का उत्कट रोग छूट जाता था। मैंने इनकी कृपा से बहुत रोगियों को आरोग्यलाभ करते हुए देखा था।

एक दिन एक रोगी जो पक्षाघात से आक्रांत मालूम पड़ता था, उनके पास आया। थोड़ी ही देर के बाद माताजी की सिद्धि के प्रभाव से वह रोग-मुक्त हो गया और प्रसन्न होकर चला गया। किसी भी रोगी को देखकर ये शांत नहीं रह सकती थीं। आराध्यदेव से ये निरंतर रोगाक्रांत जीवों के स्वास्थ्य की प्रार्थना करती रहती थीं। यथेष्ट फल लाभ भी होता था। ये साधिका तो थीं परन्तु इनका लक्ष्य था जीवों का दैहिक कष्ट दूर करना। शंकरजी की कृपा से ये बहुत दिनों तक काशी में रहीं। अन्त में यहीं शरीर छोड़ा। इनकी स्मृति में भक्तों ने तिलभांडेश्वर के निकट एक स्थान निर्मित कराया है।

३९. पालधी महाशय

इसका गृहस्थाश्रम का नाम हरिनारायण था, 'पालधी' इनकी कौलिक उपाधि थी, किन्तु इनकी प्रसिद्धि इसी नाम से थी। ये बाल ब्रह्मचारी और एक विशिष्ट कोटि के सिद्ध महात्मा थे। इनसे मेरा साक्षात् परिचय १९३३-३४ ई० के लगभग हुआ था। ये काशीस्थ महायोगी श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के दीक्षित शिष्य थे। इनकी दौहित्री वीणापाणि देवी मेरी गुरु भगिनी थीं। उन्होंने बंगाली टोला में 'गुरुधाम' नामक आश्रम की स्थापना की थी। किन्तु मेरा उनसे कोई साक्षात् संबंध नहीं था। इसलिए पालधी महाशय का संपर्क उस माध्यम से नहीं हो सका।

मेरे कई मित्र पालधी महाशय के शिष्य थे। इन्हीं लोगों के साथ मैं एक दिन उनसे जाकर मिला। तब से इनके साथ मेरी घनिष्ठता बढ़ती गयी। फिर तो मैं इनके पास प्राय: जाता और सत्संग का आनंद लेता था। ये अपने पातालेश्वर स्थित मकान में रहते थे। इनके द्वारा ही मुझे ज्ञात हुआ था कि लाहिड़ी महाशय से इन्होंने १८८४ ई० में दीक्षा ली थी और उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ से साधन करके चौबीस वर्ष के अनंतर सिद्धि-लाभ किया था।

एक दिन जब मैं इनके पास बैठा हुआ था, एक व्यक्ति आये। उन्हीं ने अपने साधन जीवन के विषय में अत्यंत दुखी होकर निराशा व्यक्त करते हुए पालधी महाशय से निवेदन किया : 'महाराज, साधन विषय में कोई उन्नति नहीं हो रही है। कुछ अनुभव भी नहीं होता है।' यह निराशा इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि उनके मन में साधन छोड़ देने का संकल्प बार-बार उठ रहा था। पालधी महाशय उनको सांत्वना देते हुए बोले : 'बेटा, घबराओ नहीं। निष्ठा के साथ गुरु-आज्ञा पालन करते रहो। कभी न कभी फल अवश्य मिलेगा। देखो! मैं भी गुरु से साधन लेकर ग्यारह वर्ष तक उनके सान्निध्य में साधन करता रहा। उस समय गुरु के सत्संग का आनंद अवश्य था किन्तु अपनी साधन-लब्ध अनुभूति कुछ भी नहीं थी। १८९५ ई० में जब गुरुदेव का देहांत हुआ तब मैं अभिभूत हो गया था। समझने लगा कि अब मेरा आध्यात्मिक उत्कर्ष असंभव है। जब इतने महान् गुरु के सामने रहकर कुछ भी न प्राप्त कर

सका तो अब आशा ही क्या है ! कभी-कभी मेरे मन में अत्यंत विषाद और अवसाद का संचार होता था। साधन छोड़ देने की इच्छा भी होती थी। इसी समय मन में विवेक की वाणी उठी कि साधना करना न छोड़ो। उसके आधार पर मैं पूर्ववत् साधनरत रहा। सोचा, कुछ फल-लाभ हो, या न हो मैं साधना से विरक्त न हूँगा। इस प्रकार से गुरु के तिरोधान के बाद तेरह वर्ष तक मैंने नियमित रूप से साधना की। उसके बाद एक दिन प्रात:काल मैं नित्यक्रिया के लिए बाथरूम में गया था। अकस्मात् स्नानागार में ही समाधिस्थ हो गया। मेरा देहात्मबोध, बाह्यज्ञान सब कुछ एक क्षण के भीतर मिट गया और एक विराट् सत्ता के प्रकाश का अनुभव होने लगा। मेरे गुरुदेव श्री लाहिड़ी महाशय की चिन्मय मूर्ति प्रत्यक्ष हुई। यह जो प्रकाश हुआ फिर उस पर आवरण कभी नहीं पड़ा। मैं कई घंटे तक इसी अवस्था में पड़ा रहा। घर के लोग मेरी यह स्थिति देखकर चकित हो गये परन्तु मुझे स्पर्श नहीं किया। बहुत देर के बाद मेरा उत्थान हुआ। उसके साथ ही शोक-दु:खादि सर्वदा के लिए अंतर्हित हो गये। इसीलिए मैं कहता हूँ कि किसके लिए कब महाक्षण आयेगा, यह कोई नहीं जानता। अत: साधक को किसी भी स्थिति में निराश होकर अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ना चाहिए।

इन महाशय ने अपने अनुभूत योग के विषय में कई ग्रंथ, हिन्दी तथा बँगला में, लिखे हैं। उनमें से किसी-किसी की भूमिका मैंने लिखी है। इनके उपदेश का सारांश इस प्रकार है :

ये कहते थे कि चित्तरूपी ब्रह्म आभास चैतेन्य है। त्रिगुणातित्मका माया के संबंध से विपरीत ज्ञान होता है, तब उसका नाम है जीव। इसके बाद देहात्मबोध होता है। यही अध्यास है। उस समय जीव अपने को किसी न किसी मनुष्य के रूप में जानता है।

गर्भावस्था और प्रसवावस्था में भेद है। गर्भावस्था में मन माया के साथ एकात्मक होकर निर्गुण प्रणवरूपा चित्शक्ति के पद में सुषुम्ना के भीतर खेलने लगता है। प्रणवात्मिका चित्शक्ति का पद है ध्वन्यात्मक सोऽहं शब्द। यही ब्रह्मसूत्र तथा आज्ञाचक्रस्थ चित्ताकाश है। यह ध्वन्यात्मक शब्द भूतात्मक मायाचक्र तक चलने लगता है अर्थात् उठता है, गिरता है, उत्थान-पतन होता है। मायाचक्र अर्थात् चंद्रमण्डल से मणिपूरचक्र अर्थात् सूर्य मंडल तक 'हं' शब्द से उतरता है और मणिपूरचक्र अर्थात् सूर्यमंडल से मायाचक्र या चंद्र मंडल तक जिसका नाम भूतक्रिया है 'स:' शब्द से उठता है। इस उतरने का नाम है संचार और उठने का नाम है प्रत्याहार। यह क्या है ? यह ॐकार, अ उ म् अर्थात् चित्शक्ति के अध:-ऊर्ध्व की भाँति है। जीव भी उसी के साथ आकाश में विचरण करता है यह हुआ गर्भावस्था का वृत्तांत।

परन्तु भूमिष्ठ होने के बाद जीव का मल के साथ संबंध होता है। अनित्य विषयों में उसकी आसक्ति होती है। इसके प्रभाव से उसकी सुषुम्नागति बंद हो जाती है, इड़ा-पिंगला-मार्ग में गति होती है। यह गति दक्षिणावर्त तथा वामावर्त में है। इसमें अविद्या माया का प्रभाव चलता है। इसका स्वरूप है रज और तम रूप विक्षेप और आवरण शक्ति । 'हंस' और 'सोऽहं' शब्द के साथ मूलाधार से माया तक संसार और प्रत्याहार होता है। यह जो शून्य से बना हुआ 'हंस' शब्दात्मक सर्पाकार कुंडलिनी शक्ति है—यही हंस अर्थात् प्राणवायु है। इसकी गति, जैसा पहले कहा गया है; मायाचक्र से मणिपूरचक्र तक व्याप्त है और भूमिष्ठ होने के बाद मणिपूरचक्र से मूलाधार चक्र तक विस्तृत रहती है। मायाचक्र से मणिपूरचक्र तक 'हंस,' शब्द के साथ प्राणवायु का संचार तथा प्रत्याहार होता है और मूलाधार से मणिपूर तक अपान

वायु 'सोऽहं' शब्द के साथ स्पंदित और निस्पंदित होता है, अर्थात् परस्पर विपरीत शब्दों के साथ विपरीत गति होती है। यही विरुद्धभाव से ऊर्ध्वाध तथा अध:-ऊर्ध्व गति का स्वरूप है। इसी के प्रभाव से मन का प्रवाह उल्टा हो जाता है। गर्भावस्था में मन का मुख ऊर्ध्व अर्थात् मायाचक्र में और पुच्छ निम्नदिशा अर्थात् मणिपूरचक्र में रहता है किन्तु भूमिष्ठ होने के बाद दिधा विभाग अर्थात् 'हंस' और 'सोऽहं' हो जाने के कारण मन का मुख होता है मूलाधार में और पुच्छ होता है मायाचक्र में। गर्भ में मन मायाचक्र से मणिपूरचक्र पर्यंत फैला हुआ था परन्तु भूमिष्ठ होने के साथ-साथ दो अंशों में विभक्त होने के कारण उसका पतन या निम्नगति होती है। इसी के साथ जीव का भी पतन हो जाता है।

ब्रह्मचारी जी कहते थे कि विद्या माया, जो सुषुम्ना में बहती है, तत्त्वगुण है और हंसात्मक शब्द संसार है। यही है त्रिसंसार—स्वर्ग, मृत्यु और पाताल। संकलन रूपेण ध्वन्यात्मक 'सोऽहं' शब्द के साथ गति होने पर जड़ पाँच भौतिक देह में आत्मबोध नहीं रहता। उस समय चित्तरूपी ब्रह्म अर्थात् आभास-चैतन्य अपने को जीव या चेतन शक्ति समझता है। उस समय ईश्वर अर्थात् सत्त्वगुणात्मक चैतन्य को बोध में पाता है और उससे प्रेम करने लगता है। इस आनंदात्मक अनुभव की स्थिति में उसका जड़ शब्द, स्पर्शादि के साथ संबंध छूट जाता है। 'हंस:' शब्द वर्णात्मक है। 'सोऽहं' ध्वनि रूप। 'सोऽहं' शब्द के साथ 'हंस:' शब्द का संयोग था। नादात्मक 'सोऽहं' शब्द के द्वारा आकृष्ट होकर वर्णात्मक 'हंस:' की ऊर्ध्व गति होती है।

आभास चैतन्य या ब्रह्म, माया के संबंध से नामरूप से युक्त होता है। आत्मस्वरूप भूलकर वह अपने को जीवस्वरूप समझने लगता है। उसे भ्रम उत्पन्न होता है और समझता है कि मैं अमुक हूँ परन्तु ऊँकार उच्चारण के प्रभाव से त्रिगुण बह जाता है। माया का संग छूट जाता है। स्वरूप स्थिति होती है और अंत में वह हो जाता है ब्रह्म अवधूत या परब्रह्म। अपनी इच्छा से समावर्तन अर्थात् संन्यास और वानप्रस्थ त्याग करके गार्हस्थ्य ग्रहण होता है। यह बहुत रहस्यमय व्यापार है। कारण-शरीर (ध्वनि 'सोऽहं' शब्द, जो आत्मा से मायाचक्र तक प्रवाहित है) स्थूल शरीर (वर्ण, 'हंस' शब्द जो माया से विशुद्धचक्र तक प्रसरित है) और सूक्ष्म शरीर (ध्वनि 'सोऽहं' शब्द) इसका विस्तार करके स्थूल शरीर का ग्रहण होता है। यह स्थूल शरीर ही वर्ण, हंस शब्द और ऊँकार है।

इनका उपदेश था कि साधन को कर्म, अकर्म और विकर्म—तीनों का ज्ञान होना चाहिए। कर्म है साधन अर्थात् 'हंस:' मंत्र का उच्चारण, अकर्म है भजन अर्थात् 'सोऽहं' मंत्र का उच्चारण और विकर्म है ब्राह्मी स्थिति अथवा परमपद में विश्राम। इसके प्रभाव से शरीरों का त्याग और कैवल्य.-मुक्ति, निर्वाण-मुक्ति आदि का लाभ होता है।

इस प्रकार विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर पालधी महाशय से मेरा तत्त्वालोचन होता था।

४०. कालीनाथ स्वामी

इनका परिचय, जहाँ तक मुझे स्मरण है १९५६ ई० में मिला था। मेरे गुरुभ्राता गिरधारी लाल एक दिन प्रसंगत: कहने लगे : 'काशी में कभी-कभी एक महात्मा आते हैं। उनमें बहुत-सी अलौकिक शक्तियाँ हैं। उनकी गर्भधारणी माँ काशीवास करती हुई रामघाट पर रहती हैं। उनके दर्शनार्थ महात्मा जी यहाँ आते हैं। महात्मा जी के एक भाई भी प्राय: काशी

में ही रहते हैं।' गिरधारीलालजी ने यह बताया कि ये महात्मा शीघ्र ही काशी आनेवाले हैं। मैंने कहा : 'आने पर खबर देना। मैं भी दर्शन करूँ।'

कुछ दिनों बाद सूचना मिली कि महात्मा जी आ गये हैं। गिरधारीलालजी ने दर्शनार्थ चलने को कहा। मैंने कहा : 'दर्शन के लिए जाने के पहले यह प्रबंध हो जाना चाहिए कि जब हम लोग उनसे बात करेंगे तब और कोई आकर विक्षेप न करे, क्योंकि लोग प्राय: लौकिक प्रयोजनसाधन के लिए साधुओं के पास जाते हैं। हमारे मिलने के समय वहाँ कोई न आने पाये।' गिरधारीलाल का महात्मा जी के भाई से परिचय था। अत: हमारे मनोनुकूल प्रबंध हो गया। मिलने का समय भी निश्चित हो गया। उन दिनों मैं ध्रुवेश्वर नामक मुहल्ले में रहता था। निश्चित समय पर गिरधारीलाल के साथ महात्मा जी के रामघाटस्थ निवास पर पहुँचा। प्रात: ८ बजे थे। महात्मा जी के यहाँ आदमियों की भीड़ नहीं होने पायी थी। उनके भाई ने सारा प्रबंध ठीक कर लिया था। हम लोग महात्मा जी के कमरे में पहुँचे। देखा एक मुंडित मस्तक, स्थूलकाय, प्रसन्न बदन, विराट् पुरुष आसन पर बैठे हुए हैं। वे कोपीन धारण किये थे, निकट में कमंडल रखा था। पास ही एक पेंसिल और कुछ कागज के टुकड़े रखे हुए थे। हम लोग संकेत पाकर बैठ गये। भाई भी साथ में थे। कुछ देर तक चुपचाप दर्शन करते रहे। हमारी मन:स्थिति समझ कर महात्माजी ने स्वयं कहा : 'आप लोग कुछ देखना चाहते हैं?' मैंने कहा : 'महाराज, हम लोग आये थे आपके दर्शनार्थ, विभूति-दर्शन के लिए नहीं, वह देख ही रहे हैं।' महात्माजी बोले : 'फिर भी तो कुछ देखने की इच्छा हो सकती है।' मैंने कहा : 'अगर आपकी इच्छा हो तो दिखाइये। सानंद चित्त देखेंगे।'

इसके बाद महात्मा जी ने कागज के कतिपय टुकड़े लेकर उनमें से प्रत्येक में कुछ लिखा, फिर उन्हें उल्टा करके तकिये के नीचे रख दिया। तदनंतर मुझसे पूछा :'आपने कब मैट्रीकुलेशन पास किया था?' मैने कहा : 'बहुत दिन हुए, उस समय मैट्रीकुलेशन नहीं, एंट्रेंस परीक्षा थीं। बाबाजी बोले : 'उस समय परीक्षा के लिए जो कोर्स निर्दिष्ट था, उसमें कुछ कविताएँ थीं? मैंने इसका समर्थन किया। उन्होंने फिर कहा, 'उन कविताओं में से किसी पद की एक लाइन बताइये।' मैंने सोचा कौन बताऊँ। फिर एक कविता स्मरण हो आयी। उसमें से बीच की एक पंक्ति बतायी। महात्माजी ने कहा : 'यह कविता आपकी परिचित है न?' मैंने कहा, 'मेरी पढ़ी हुई है।' इसके बाद जो टुकड़ा तकिये के नीचे रख दिया था, बाबाजी ने उसे निकाला। हम लोगों देखा कि उसमें वही पंक्ति लिखी हुई थी। बाबाजी ने पूछा : 'क्या यह ठीक है?' मैं आश्चर्यचकित रह गया। निवेदन किया : 'महाराज यह पर-चित्त ज्ञान (थॉट रीडिंग) है या विचार स्थानांतरण या (थॉट ट्रांसफरेंस)। उन्होंने कहा : 'दोनों नहीं। उन सबसे विलक्षण है।'

महात्माजी ने फिर पूछा : 'शेक्सपीयर का कोई ड्रामा पढ़ा है? उसका नाम न लीजिए— जो पढ़ा है उसी में से एक पंक्ति लिखिये।' मैंने अपने पढ़े हुए ड्रामों से एक पंक्ति लिख दी। बाबाजी ने तकिये के नीचे से दूसरा पर्चा निकाला। उसे खोलकर देखा गया, वही पंक्ति लिखी थी। बाबाजी की इस, चमत्कार-शक्ति को देखकर मेरे साथी गिरधारीलाल से न रहा गया। बोले : 'महात्माजी ! मैं भी एक प्रश्न करना चाहता हूँ।' बाबाजी ने कहा : 'जो प्रश्न करना

चाहते हो, मैंने लिख रखा है। तुम अपने भाई[१] की आकस्मिक मृत्यु का कारण जानना चाहते हो।' गिरधारीलाल बोले : 'मैं इसका उत्तर जानना चाहता हूँ, प्रश्न नहीं।' बाबाजी ने कहा, 'पुलिस की बात है। इसलिए नहीं बताऊँगा। कभी अकेले मिलना, देखा जायगा।' इसके बाद और भी दो-चार छोटे-मोटे प्रश्न करके हम लोग संतुष्ट हो लौट आये।

इसके कुछ दिन बाद एक घटना हुई। मैं अकेला घर में बैठा था। दस बज रहे थे। इच्छा थी थोड़ी देर में कॉलेज जाऊँगा। उसी समय हमारे मित्र विश्वनाथ झारखंडी आये। इन्होंने दो विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। बड़े साधु पुरुष थे। कालीनाथ स्वामी के कृपापात्र थे। उन्हीं के साथ स्वामीजी अकस्मात् मेरे घर पर आ गये। मैंने उन्हें ऊपर ले जाकर बैठाया। हम दोनों पास में बैठे। स्वामीजी कुछ चमत्कार दिखाने की इच्छा से आये थे। मैंने उनके निकट कागज और पेंसिल रख दिया। उन्होंने कहा : 'कहीं से गणित तथा बीजगणित की कुछ पुस्तकें मँगा लीजिए।' हमारे घर के निकट सनातनधर्म हाई स्कूल था। उसके प्रधानाचार्य मेरे विद्यार्थी रह चुके थे। मैंने एक आदमी भेजा। वह ८-१० पुस्तकें ले आया। स्वामीजी ने पुस्तकों के आने के पूर्व ही कई पर्चों में कुछ लिखकर रख दिया। पुस्तकों के आ जाने पर स्वामीजी ने कहा : 'इनमें से किसी भी पुस्तक का कोई पृष्ठ खोल डालिए। उसमें लिखे हुए प्रश्नों में से किसी एक को लगाइये।' झारखंडी जी गणित में एम० ए० थे। मैंने उन्हीं पर इसका भार सौंपा। उन्होंने प्रश्न करके पुस्तक के अंत में लिखे उत्तर से मिला लिया। इसके बाद स्वामीजी ने अपने लिखे पर्चों में से एक उठाया। हम लोगों ने देखा उसमें उसी प्रश्न का वही उत्तर लिखा हुआ था। हम लोग आश्चर्यचकित रह गये। स्वामीजी से जिज्ञासा भाव से पूछा : 'इसका तत्त्व क्या है?' उन्होंने हँसते हुए कहा : 'यह सब दिखाने का क्या मतलब है? समझे?' मैंने निवेदन किया : 'आप ही बताइये।' उन्होंने कहा : 'मतलब यही है कि जो कुछ आप समझते हैं कि मैंने अपनी इच्छा से किया है अथवा जागतिक कारणों ने अकस्मात् एकत्र होकर इसका उत्पादन किया—ये दोनों ठीक नहीं हैं, क्योंकि यह सब पूर्व-निर्दिष्ट है।' मैंने पूछा : 'आप इसका निर्णय किस उपाय से करते हैं?' वे बोले : 'इसके जाँचने के दो रास्ते हैं। एक है समीकरण (ईक्वेशन) अर्थात् जागतिक शक्तियों के परस्पर संघट्ट का स्वरूप-ज्ञान और दूसरा है दिव्य अथवा तीव्र दृष्टि (डिवाइन विज़न)। प्रथम उपाय से कदाचित् कोई भ्रम हो भी सकता है किन्तु द्वितीय में बिल्कुल नहीं।'

इन महात्मा का बनारस में निवास कुछ ही महीनों के लिए हुआ था। उस बीच मेरा इनके साथ संबंध थोड़ा घनिष्ठ हो गया था। इन्हीं दिनों इनको फोड़ा हो गया। उसकी शल्य चिकित्सा के लिए मैंने इन्हें रामकृष्ण सेवाश्रम चिकित्सालय में भर्ती करा दिया। वे वहाँ कई दिन रहे। उस समय मेरे घर से ही इनको भोजन जाता था। अस्वस्थता की स्थिति में होते हुए भी इन्होंने उक्त अस्पताल में कई लोगों को चमत्कार दिखाया था। एक बार मेरे पुत्र जितेंद्रनाथ से, जो नित्य घर से इनके लिए अस्पताल को भोजन ले जाते थे, स्वामीजी

---

१. गिरधारीलाल काशी के प्रसिद्ध रईस राजा मुन्शी माधोलाल के दौहित्र थे। इनके छोटे भाई कुँवर नंदलाल का अकस्मात् देहावसान हो गया था। उनकी मृत्यु के विषय में लोग विभिन्न प्रकार का संशय करते थे। कुछ लोगों की आशंका थी कि यह कांड शत्रुओं के षड्यंत्र से हुआ है। कुछ लोग इसका कारण अत्यधिक मद्यपान बताते थे। इस संबंध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती थी।

का वार्तालाप हुआ। पहली बार उसे देखते ही स्वामीजी ने पूछा : 'तुम कौन हो?' उसने अपना परिचय बताया। मेरा पुत्र जानकर उन्होंने जितेंद्र को आदर से बैठाया। जितेंद्रनाथ के मन में कुछ प्रश्न पूछने की इच्छा हुई। वह बोला, 'बाबाजी मेरा एक प्रश्न है।' स्वामीजी ने प्रश्न करने नहीं दिया। जितेंद्र को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा :'इस समय तुम्हारी नौकरी नहीं लगेगी। कुछ देर है।' जितेंद्र के मन में एक और प्रश्न उठा; कहा : 'और एक बात पूछनी है।' स्वामीजी बोले : 'पूछने का प्रयोजन नहीं है। इस बार भय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे गुरु की दृष्टि उस पर पड़ रही है।' इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जितेंद्र के एक पुत्र होकर पिछले साल गत हो गया था। इस वर्ष भी एक की संभावना थी, जितेंद्र स्वामीजी से यह पूछना चाहते थे उसमें किसी अनिष्ट की संभावना तो नहीं है। स्वामीजी ने जैसा बताया था, वैसा ही हुआ।

एक घटना और है। सेवाश्रम में एक मद्रासी ब्रह्मचारी इनकी सेवा करते थे। स्वामीजी की अलौकिक शक्ति को देखकर उनकी आंतरिक इच्छा थी कि किसी प्रकार इनकी इस विद्या को सीख लें। उनके बहुत अनुरोध करने पर भी स्वामीजी सिखाने को तैयार नहीं हुए। एक दिन जब ब्रह्मचारी सेवा कर रहे थे, स्वामीजी ने पूछा : 'बेटा, एक बात बताओगे? तुम घर पर माता-पिता को छोड़कर यहाँ क्यों चले आये? मात-पिता से झगड़ा तो नहीं किया?' ब्रह्मचारी जी युवक थे, अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे। स्वामीजी के इस प्रश्न से उन्होंने अपनी मानहानि समझी। नाराज होकर बोले : 'महाराज मेरी घरेलू बातों से आपको क्या मतलब? मेरा काम तो आपकी सेवा करना है, वह कर ही रहा हूँ। घर पर मेरा किससे कैसा संबंध है, यह आपको जानने की आवश्यकता नहीं है।' स्वामीजी ७५-७६ वर्ष के वृद्ध थे। चारपाई से उठ बैठे और ब्रह्मचारी को बड़े ही स्नेहपूर्ण शब्दों में समझाते हुए बोले : 'बेटा, तुम लोग नवीन जगत के आदमी हो। साधारण-सी बात में चिढ़ जाते हो। पिता-माता से अपना संबंध बताने में क्या लज्जा है। यदि तुम नहीं कहना चाहते हो तो तुम्हारे घर का सारा हाल मैं स्वयं कहे देता हूँ।' यह कहकर स्वामीजी ने ब्रह्मचारी की कौटुंबिक स्थिति का सारा वृत्तांत कह सुनाया, फिर बोले : 'और भी कुछ जानना चाहते हो?' ब्रह्मचारी ने लज्जित होकर चरण पकड़ लिया और विनयपूर्वक निवेदन किया : 'महाराज, आप सब कुछ जानते हैं फिर पूछते क्यों हैं?' स्वामीजी बोले : 'यह व्यवहार की बात है। तुम लोग शिष्टाचार नहीं जानते। जिनकी जानने की शक्ति है वे इसी तरह जान लेते हैं।'

स्वामीजी से पता लगा कि पूर्व जीवन में ये मेरे गुरुदेव स्वामी विशुद्धानंद से कुछ सीखने के लिए गुष्करा गये थे। यह बहुत दिन पहले की बात है। पीछे प्रसंगवश गुरुदेव ने भी एक दिन इसकी चर्चा की थी। इस प्रकार कई महीने तक काशीवास करने के पश्चात् स्वामीजी कहीं बाहर चले गये। फिर भेंट नहीं हुई।

४१. बालानंद ब्रह्मचारी

इनका नाम बाल्यावस्था से ही सुनते आये थे। परन्तु विपुल दिन तक इनके दर्शन के लिए अवसर नहीं मिला। १९०५ ई० में जब मैं ढाका से एंट्रेंस परीक्षा देकर आया तब मलेरिया के आक्रमण से बहुत दिनों तक पीड़ित रहना पड़ा। उस समय चिकित्सकों के

परामर्श के अनुसार मैं वायुपरिवर्तन के लिए देवधर गया और वहाँ जाकर कुछ दिन रहा था। ब्रह्मचारीजी भी देवधर में ही निवास कर रहे थे। अत: मेरी बड़ी इच्छा थी कि किसी तरह से उनका दर्शन मिल जाय। इस उद्देश्य से उनके तपोवनादि स्थान का मैंने अच्छी तरह से परिज्ञान प्राप्त कर लिया था किन्तु कोई साथ जानेवाला नहीं मिला, इसलिए दर्शन न हो पाया।

मेरे एक दूर के संबंधी थोड़ी आयु में ही संन्यासी हो गये थे। उन्होंने भारतवर्ष के बहुत साधुओं का दर्शन किया था। उनके मुख से मैंने बालानंदजी का वृत्तांत सुना था। वे इन ब्रह्मचारीजी के बड़े प्रशंसक थे।

जिन दिनों मैं गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज बनारस में काम करता था उसी समय एक बार बालानंदजी के मुख्य शिष्य श्रीमान् प्राणगोपाल मुखोपाध्याय काशी में मुझसे मिलने आये थे। यह एक अद्भुत तपस्वी महापुरुष थे। इनके संपर्क से ब्रह्मचारी जी के दर्शन की आकांक्षा बलवती हो गयी किन्तु अवसर नहीं आया।

१९३५ ई० में मैं 'बेरी-बेरी' से आक्रांत होकर वायु-परिवर्तन के लिए शिमुलतला गया और वहाँ काफी समय तक रहा। इसी बीच शिवरात्रि-उत्सव में शिवपूजन के उद्देश्य से वैद्यनाथ मंदिर गया। वहाँ बाबू प्राणगोपाल मुखोपाध्याय से भेंट हो गयी। गृहस्थ होते हुए भी आंतरिक संन्यासवृत्ति के कारण वे स्थानीय समाज में 'शुक्लसंन्यासी' नाम से प्रसिद्ध थे। प्राण बापू मुझे अपने गुरुदेव ब्रह्मचारीजी के पास ले गये। ब्रह्मचारी जी उस समय कुछ रुग्ण थे। नर्मदा कुण्ड के समीप एकांत स्थान में रहते थे। इस स्थिति में भी उन्होंने हमारा जैसा संमान सत्कार किया वैसा कम ही मिलता है।

बातचीत करने से पहले उन्होंने मुझे और मेरे दो साथियों को अपने सामने बैठाकर नाना प्रकार के फलादि से संतृप्त किया। हम लोग खाते रहे, ब्रह्मचारी जी खिलाने का आनंद लेते रहे। उनके स्नेह-पूर्ण-व्यवहार की अपूर्वता अनुभव में आयी। फलाहार के बाद अनेक विषयों पर वार्तालाप होने लगा। प्रसंगत: मैंने स्वरोदयविज्ञान के संबंध में उनसे कुछ बातें पूछीं। ब्रह्मचारी जी ने उस संबंध में बहुत कुछ कहा। अत में वे बोले, 'कविराजजी! इस विषय में मैं अधिक क्या कहूँ? आपके गुरुदेव उसके विशेषज्ञ हैं। स्वरोदय का ज्ञान जैसा उनको है वैसा बहुत कम साधकों को है।' इसके बाद और भी कई विषयों में चर्चा हुई। प्राणगोपाल जी ने हम लोगों को लेकर के आश्रम के सभी स्थानों को भलीभाँति दिखाया। फिर ब्रह्मचारी जी को प्रणाम करके हम लोग लौट आये। बहुत दिनों की इच्छा इस प्रकार पूरी हुई। यही हमारी ब्रह्मचारी जी से पहली और अंतिम भेंट थी। फिर उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

४२. नौका माँ

इन माता जी के विषय में बाहर का विवरण विशेष रूप से कुछ दे नहीं सकता। इनके वास्तविक नाम का भी मुझे पता नहीं है। ये काशी में दशाश्वमेध घाट के सन्निकट गंगाजी में नौका पर रहती थीं। इसीलिए यहाँ नौका माँ नाम से निर्देश किया गया है। इनसे मेरा परिचय आकस्मिक रूप से हुआ था किन्तु परिचय होने के साथ ही घनिष्ठ संबंध हो गया था। इन्होंने साधना में विशेष स्थान लाभ किया है, ऐसा ज्ञात होता था। ये अत्यंत तीव्र वैराग्य संपन्न थीं। इन्होंने अपनी उपदेश-परम्परा 'गीता' नाम से भक्तों के द्वारा प्रकाशित करायी थी। इस छोटी-

सी सुंदर पुस्तक को मैंने देखा था। जब कभी भी इनसे भेंट होती थी देखने में आता था कि ये तन्मय होकर भाव में डूबी हुई हैं। ये अपने जीवन का रहस्य नहीं प्रकट करती थीं परन्तु इनकी बातों से मालूम होता था कि इन पर भगवत्कृपा आ गयी है। इनका जीवन अत्यंत शांतिमय था।

४३. टोड़ीपार का बाबा

इन महात्मा का नाम मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था परन्तु दर्शन का अवसर नहीं मिला था। १९३६ ई० में एक दिन प्रसंगत: मेरे एक मित्र ने इनका दर्शन करने के लिए चलने का प्रस्ताव किया। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि ये सारनाथ के निकटवर्ती मार्कण्डेय-महादेव से कुछ दूरी पर खेत में कुटी बनाकर रहते हैं। चारों तरफ खेत ही खेत हैं। बीच में थोड़ी सी जमीन में एक छोटा सा आश्रम बना है। वहाँ जाने का रास्ता भी है। केवल साइकिल नहीं, मोटर भी जा सकता है। यह सब पता लगाकर हम लोग रिक्शा से गये। हमारे साथ तीन-चार आदमी थे। वहाँ पहुँच कर हम लोगों ने दोपहर का भोजन आश्रम में किया। फिर सारा दिन बाबाजी के सत्संग में बीता।

इनकी योग-विभूतियों के विषय में हमने बहुत सी कथाएँ सुन रखी थीं। उनमें से कुछ का प्रकाश हम लोगों ने स्वयं देखा। किन्तु वे अनिच्छाकृत विभूतियाँ थीं। इसलिए उनका विवरण देना ठीक नहीं। बाबाजी का आश्रम अत्यंत निर्जन स्थान में था। उनकी प्रकृति भी बहुत शांत थी। हम लोग कई घण्टों तक उनके सत्संग से परमानंद-लाभ करते रहे। सृष्टि के रहस्य के संबंध में उनसे बहुत बातें हुईं। हमने देखा कि पढ़े-लिखे न होने पर भी बाबाजी निगूढ़ज्ञान के पण्डित हैं। कठिन-कठिन आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर वे अत्यंत सरल भाषा में देते रहे। वे वास्तव में महापुरुष थे। हम लोग संध्या को काशी लौट आये। इसके बाद कई बार हमारी इच्छा वहाँ जाने की हुई किन्तु सुयोग न मिल सका। उनके आश्रम का रास्ता बहुत दुर्गम था। बहुत दूर तक खेतों में होकर जाना पड़ता था। इसलिए बिना इस स्थान से परिचित किसी साथी के जाना हो नहीं सकता था। इन महात्मा के पूर्वजीवन के संबंध में भी बहुत कुछ सुनने में आया। उसके प्रकाशन में कोई फल नहीं है।

४४. सच्चा बाबा

इनका नाम मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था। एक समय इनकी अलौकिक कथाओं की चर्चा चारों ओर फैल गयी थी। लोगों का विश्वास था कि ये कायाकल्प करके बहुत प्राचीन समय से ही चले आये हैं। इनकी अवस्था के विषय में कोई कुछ कह नहीं सकता था। मैंने सुना था कि धौलपुर के महाराज इनके शिष्य हैं।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, १९३६ ई० में अर्द्धकुंभ के समय कुछ काल के लिए ये प्रयाग में उपस्थित हुए थे। मैं भी वहाँ था। इनके आने का समाचार पाकर इच्छा थी कि दर्शन करूँ। इनका एक अलग कैम्प लगा था। मैं इनके शिविर में दर्शनार्थ गया था। केवल इनकी आकृति का दर्शन ही उद्देश्य था। विशाल जन-संघट्ट में बातचीत की संभावना थी ही नहीं। देखा, बाबाजी एक ऊँचे मंच पर बैठे हैं, उनके निकट में कई अच्छे प्राचीन साधु आसीन हैं।

बाबाजी ने उस समय जो उपदेश दिया उसका तात्पर्य यही था कि आजकल लोग, विशेष करके त्यागी, संन्यासी तथा साधु ब्रह्मज्ञान के लिए तपस्या करते हैं। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह ठीक नहीं है। जैसा हम लोगों का कच्चा शरीर है उसमें ब्रह्मज्ञान का उदय हो नहीं सकता। जो मच्छर काटने से चंचल हो जाते हैं वे अध्यात्मसाधना का असिधारव्रत कैसे धारण कर सकेंगे। अत: योगियों एव ज्ञानियों का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करके ज्ञान के आधार को तैयार करना अर्थात् देह को सिद्ध करना। साधना का लक्ष्य होना चाहिए देह की शुद्धि अथवा पाक। देह परिपक्व न होने पर ब्रह्मज्ञान का धारण नहीं हो सकता। देहसिद्धि का तात्पर्य यह है कि परिपक्व देह कालाधीन नहीं रहता और जरा-मृत्यु से अतीत हो जाता है। ऐसा करने पर दीर्घकाल तक तपस्या करने की योग्यता आ जाती है और गुरुकृपा से प्राप्त ब्रह्मज्ञान का धारण हो सकता है। इस संबंध में बाबाजी ने और बहुत सी बातें कहीं। उनका मुखमण्डल अत्यंत देदीप्यमान था। लम्बी दाढ़ी, चक्षु में तेज और सौम्य मूर्ति। देखने में ६०-६५ वर्ष से अधिक नहीं लगते थे, किन्तु उनकी अवस्था इससे बहुत अधिक थी, वास्तव में कितनी थी, कोई कह नहीं सकता।

इन महापुरुष से साक्षात् रूप से वार्तालाप का अवसर न मिल सका किन्तु इनके विषय में जो कुछ सुन रखा था, श्रीमुख से नि:सृत उपदेश से उसका समर्थन हुआ।

४५. केदार मालाकर

ये न कोई महात्मा थे, न साधु। पंद्रह-सोलह वर्ष के सामान्य बालक थे और बंगालीटोला हाई स्कूल में पढ़ते थे। इनके माता-पिता बहुत दिनों से काशीवास करते थे। बंगालीटोला में उनका निजी घर था। केदार उन्हीं के साथ रहते थे। इनके जीवन में अकस्मात् अलौकिक परिवर्तन आ गया।

अक्तूबर, १९३७ ई० की बात है। गुरुदेव का तिरोधान हो चुका था। मैं काशी में ही था। एक दिन कुछ सज्जनों से सुना कि काशी में एक अद्‌भुत बालक है जिसे किसी प्रकार के दैव-प्रभाव से स्थूल देह को छोड़कर लोकलोकांतर में गमन करने की शक्ति प्राप्त है। इसका वृत्तांत एक स्थानीय दैनिक-पत्र में प्रकाशित भी हुआ था। उस बालक को देखने के लिए प्रतिदिन बहुत-से लोग उसके घर जाते थे। उसकी अलौकिकता से आकृष्ट होकर एक दिन (१० अक्तूबर, ३७) मैं भी गया। उसे देखकर किसी-किसी विषय में अभिनव तत्वों का व्यापार अनुभव में आया। कुछ लोग इसे उसका मस्तिष्क-विकार समझते थे, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। जिन दिनों की यह घटना है, उसके पिता का देहान्त हो चुका था। यह बालक पैतृक घर में अपनी माता, बड़ी बहन तथा भानजे के साथ रहता था।

मैंने जब पहली बार इनको देखा तो कुछ अप्राकृतिक नहीं मालूम पड़ा। उस समय ये स्वाभाविक अवस्था में थे। किसी प्रकार की विकृति का लक्षण बिल्कुल नहीं था। मैंने पूछा : 'तुम्हें क्या हुआ है? सुनते हैं, तुम स्थूल देह छोड़कर शून्य मार्ग से बाहर जाते हो। क्या यह बात सच है?' उन्होंने कहा : 'हाँ, सत्य है। परन्तु मैं अपनी शक्ति से देह छोड़कर बाहर नहीं जा सकता हूँ। जब बाहर जाना होता है तब ऊर्ध्वलोक से कोई दिव्यपुरुष आकर हमको शरीर से निकाल लेता है। उनके आकर्षण से मैं उनके पीछे बाहर चला जाता हूँ। शरीर यहीं पड़ा

रह जाता है।' मैंने पूछा : 'यह दिव्य पुरुष कौन है?' वे बोले : 'दूत का कार्य करने वाले ऊर्ध्वलोकवासी पुरुष हैं। जब जिस लोक में जाना होता है तब उस लोक का दूत जैसे— विष्णुदूत, शिवदूत आदि आकर मुझे ले जाता है।' मैंने पूछा : 'क्या वे तुम्हारे इच्छानुसार आते हैं?' उन्होंने कहा, 'नहीं, वे अपने आप आते हैं, या अपने लोक के अधिष्ठाता की इच्छा से आते हैं, मेरी इच्छा से नहीं। परन्तु जब आकर मेरे सामने प्रकट हो जाते हैं तो मैं अपने को रोक नहीं सकता। मुझे अपने शरीर से बाहर निकलना ही पड़ता है। प्रतीत होता है यह उनके आकर्षण का फल है। उसके प्रभाव से मैं असमर्थ हो जाता हूँ।' मैंने कहा : 'यह व्यापार कब से और कैसे आरंभ हुआ?' केदार ने उत्तर दिया : 'इसका इतिहास यह है। एक दिन मैं दशाश्वमेध सट्टी में बाजार करने गया था। वहाँ मैंने एक पेड़ पर एक ज्योतिर्मय सत्ता को देखा। उसी क्षण से उसका संपर्क मुझसे हो गया। पहले उसके संबंध के कारण मेरा शरीर गरम हो गया था। दो-एक दिन तीव्र ताप से शरीर बहुत पीड़ित रहा। उसके बाद स्वाभाविक स्थिति आ गयी। प्रतीत हुआ कि हमारे शरीर के साथ उस तेज के युक्त हो जाने के कारण ऐसा हुआ था। कालांतर में शरीर स्वस्थ तो हो गया किन्तु मेरे जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन संघटित हो गया। परिवर्तन यह है कि वही तेजमयी सत्ता कभी-कभी आती है और उसका संबंध होते ही मुझे शरीर से बाहर निकलना पड़ता है।' मैंने पूछा : 'जब तुम शरीर से बाहर निकलते हो तब क्रम से तुमको क्या अनुभव होता है?' इन्होंने कहा : 'सत्ता के आकर्षण से जब मैं बाहर निकलता हूँ तब अचानक मेरा शरीर और उसके साथ यह जगत् एक प्रकार से अदृश्य हो जाता है। एक शून्य-सा अनुभव होने लगता है। मैं उनके आकर्षण से उसी शून्य को भेदकर चलने लगता हूँ। कुछ दूर जाने के बाद एक स्थान में भयंकर तरंग का अनुभव होता है। मैंने उस स्थान का नाम 'झटिका' रखा है। इसके अनन्तर मार्ग का मुझे कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता और यथास्थान पहुँच जाता हूँ। भिन्न-भिन्न देवलोकों में इस प्रकार मुझे जाना पड़ता है। विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं।' मैंने पूछा : 'इस प्रकार से जब तुम बाहर जाते हो तब शरीर की ओर तो तुम्हारा ध्यान नहीं रहता।' उन्होंने कहा : 'ध्यान तो नहीं रहता, परन्तु शरीर का सूक्ष्म आकर्षण रहता है। क्योंकि कोई व्यक्ति विशेषकर कोई अशुद्ध पुरुष, जब उसका स्पर्श करता है तो मुझे भयंकर कष्ट का अनुभव होता है और तुरंत लौटकर आना पड़ता है। इसीलिए जाने के पहले मैं अपनी बहन या भानजे को सतर्क कर देता हूँ कि वह मेरी देह की तरफ दृष्टि रखे। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस प्रकार शून्यदेह में किसी विदेहात्मा के प्रविष्ट होने की संभावना रहती है। इससे बड़ी हानि होती है।'

इस प्रकार केदार के संबंध में प्रारंभिक आलोचना निश्चय हुई। फिर तो मैं प्राय: बीच-बीच में बराबर मिलता और इनकी प्रगति का अनुभव करता रहता था। कई वर्षों तक इनका क्रमविकास देखने के बाद मेरी यह धारणा बनी कि ऊपर के किसी महापुरुष की कृपा इन पर अवश्य हुई है। उसी के अनुसार इनका उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। इस विकास के इतिहास के संबंध में इतना ही वक्तव्य है कि विभिन्न देव तथा पितृ लोकों से इनका संबंध हो गया था। इन सभी स्थानों से इन्हें किसी न किसी अलौकिक विद्या की प्राप्ति होती थी। अधोलोक में भी इनकी गति थी, अवश्य सूक्ष्मशरीर से। स्थूलशरीर बाहर पड़ा रहता था। ये जब किसी देश या पितृलोक में जाते थे तो वहाँ की ही भाषा में बोलते थे। स्थूलदेह में लौटने के बाद भी कभी-कभी इनके द्वारा इसी भाषा का व्यवहार देखने में आता था।

ये नित्य संध्या समय वेदपाठ करते थे परन्तु यह वेदपाठ हमारे परिचित वेद से भिन्न था। पाठ करने के समय उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वर लहरियों का अनुभव होता था किन्तु शब्द सभी अपरिचित होते थे। एक बार मैंने पूछा : 'तुमने देवभाषा सीख ली है क्या ?' वे बोले : 'देवभाषा ! उसे लौकिक भाषा की भाँति पुस्तक पढ़कर अथवा किसी से सुनकर सीखना नहीं पड़ता। जिस लोक में मैं जाता हूँ और जिनसे भेंट करनी पड़ती है, उस अधिष्ठाता देवता के भ्रू-मध्य से निकल कर एक ज्योति की शिखा हमारे भ्रू-मध्य को स्पर्श करती है। उसके बाद मैं अपने भाव प्रकट करता हूँ। परन्तु वह ध्वनिरूप में उसी स्थान के अनुरूप भाषा में प्रकाशित होती है। पहले से स्मरण करके रखना नहीं पड़ता। देव-भाषा मानसभाव की स्वाभाविक स्फूर्ति है। तत्त्व के अनुसार आंतरिक तदाकारिता स्थापित हो जाती है।'

इसी प्रकार विज्ञान की अनेक शाखाओं की भी विभिन्न स्थानों में इनको आलोचना करनी पड़ती थी। कभी-कभी इनकी परीक्षा लेने के लिए मैं अद्‌भुत प्रश्न किया करता था। यहाँ कह देना आवश्यक है कि कुछ काल के अनंतर क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप इन्हें अपने ही बल से शरीर से बाहर निकलने की सामर्थ्य प्राप्त हो गयी थी। मध्यम स्थिति में अधिष्ठाता देवता अपने लोक से जब दृष्टिविक्षेप करते थे, उसी समय इनके शरीर से आत्मा निकल जाता था, किसी दूत को भेजने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। अंतिम अवस्था में न तो प्रारम्भिक अवस्था की भाँति दूत आते थे, न मध्यावस्था की भाँति अधिष्ठाता की दृष्टि विशेष के द्वारा आकर्षित ही होना पड़ता था—ये अपनी इच्छा से स्वयं उस लोक को चले जा सकते थे। यह स्थिति हो गयी तब एक दिन मैंने इनसे कहा : 'तुम अभी किसी लोक में जाकर देख आओ और हमसे वहाँ का वृत्तांत बताओ। विश्व के बाहर जाकर, विश्व की ओर दृष्टि दो, फिर बताओ क्या दिखाई पड़ता है ?' वे बोले : 'थोड़ा ठहरिये। मेरे शरीर की तरफ लक्ष्य रखिये।' यह कहकर वे शरीर से निकल गये। दो-तीन मिनट के बाद पुनः शरीर में चेतना का अनुभव हुआ। वे लौट आये और बोले : 'मैं देख आया। समस्त विश्व ऐसा दिखाई देता है जैसे एक मनुष्य खड़ा है, हाथ फैलाये हुए क्रास की भाँति।' मैंने सोचा, उपनिषदों में निर्दिष्ट यही वैश्वानर विद्या है। जैनाचार्यों का भी ऐसा ही मत है।

इसके अनंतर दूसरे समय में मैंने केदार से कहा :'जाकर देख आओ कि महाशून्य से वैकुंठ का स्वरूप कैसा दिखाई देता है।' वे गये और पहले की भाँति थोड़ी ही देर में लौटकर बताया : 'वैकुंठ दक्षिणावर्त शंख के सदृश, बाहर से दिखाई देता है।' मुझे शास्त्रों में पुरुषोत्तम क्षेत्र के विवरण में यह भी मिल गया।

केदार की यह अवस्था चल रही थी कि १९३८ ई० के लगभग माता आनंदमयी का काशी में आगमन हुआ। वे एक धर्मशाले में ठहरी थीं। उन्हीं दिनों मैंने एक दिन केदार को साथ ले जाकर उनसे परिचय करा दिया। माता जी को मैंने यह भी बता दिया कि उस बालक में इस प्रकार की अवस्था का स्वतः स्फुरण हुआ है। माताजी ने केदार से बहुत बातें पूछीं। केदार ने कहा : 'माँ, मैं तो देह छोड़कर जा सकता हूँ। एक बार आप भी साथ चलें।' माँ ने कहा : 'केदार ! हमको शरीर छोड़कर जाने की जरूरत नहीं है। तुम जहाँ मन चाहे जाना, जा करके मुझे स्मरण करना। वहाँ ही तुम मुझे उपस्थित पाओगे। मैं स्वतः सर्वत्र हूँ। आना-जाना नहीं पड़ता। उस समय जैसी इच्छा होगी, वैसी ही बातें करना।' उसी रात को केदार ने दिव्य

लोकों की यात्रा की। उन्होंने प्रात: बताया कि जिस लोक में गया स्मरण करने पर माँ का दर्शन भी पाया और अपने प्रश्नों का उत्तर भी। यह सुनकर माँ हँसने लगीं।

केदार ने ऊर्ध्वलोक से विभिन्न प्रकार के अलौकिक विज्ञान प्राप्त किये थे। वे कभी-कभी उनका प्रयोग भी करते थे। उस समय सिद्धि माँ करके एक अति सिद्धा महिला काशी में थीं। उनसे हमारा विशेष घनिष्ठ संबंध था। केदार के संबंध में एक दिन मैंने चर्चा की। माताजी ने कहा :'यह जो बाहर लोक-लोकांतर में जाना है, ठीक है, परन्तु बाहर जाने मात्र से पारमार्थिक लाभ कुछ भी नहीं है। समग्र विश्व ब्रह्मांड घूमने पर भी कोई फायदा नहीं। चाहिए अपने देह को भेद करना। बिना कुंडलिनी जगाये मध्य मार्ग की सरल गति प्राप्त नहीं होती और उसको प्राप्त किये बिना देहभेदन हो नहीं सकता। देह और विश्व एक ही है। विश्व भेद करने का एकमात्र उपाय है देहभेदन।' इतना कहकर वे चुप हो गयीं, फिर बोलीं : 'बालक है, धीरे-धीरे हो सकता है।'

इसके अनन्तर एक विचित्र व्यापार हुआ। एक दिन केदार को प्रतीत हुआ कि उनके घर में कोई साधु महात्मा आये हैं। इनसे मिलकर वे बोले :'आपके लिए एक महापुरुष आये हैं। वे चाहते हैं कि आप उनसे मिलें।' केदार ने पूछा : 'वे कहाँ रहते हैं? मैं किस मार्ग से जाकर उन्हें प्राप्त कर सकता हूँ।' आगंतुक ने कहा : 'आप किसी प्रकार बिसेसरगंज तक जाइयेगा। वहाँ जाने पर उनका स्थान दीख पड़ेगा। तब आप स्वयं समझ जायेंगे कि कहाँ जाना है?' यह कहकर महात्मा अदृश्य हो गये।

केदार ने अपने भानजे की साइकिल लेकर अपराह्नकाल में प्रस्थान किया। गोदौलिया, चौक तथा मैदागिन होते हुए बिसेसरगंज पहुँचे। चार बजे का समय था। वहाँ पहुँचते ही इनमें कुछ भावांतर हुआ। इनकी दृष्टि से भौतिक बिसेसगंज, वहाँ भी भीड़-भाड़, शोरगुल आदि तिरोहित हो गया। इन्होंने देखा सामने एक विशाल मैदान है। उसके बीच में थोड़ी ऊँची भूमि है। वहाँ पेड़ लगे हुए हैं और एक आश्रम है। इन्होंने समझा, इसी स्थान में जाना होगा किन्तु वहाँ जाने के लिए कोई रास्ता नहीं है। बीच में खेत हैं, उनकी मेड़ों का अवलंबन करके जाना पड़ेगा। ये साइकिल लेकर मेड़ों पर होते हुए आश्रम तक पहुँच गए। जाते ही एक महात्मा से भेंट हुई। उन्होंने कहा : 'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' केदार वहाँ प्रायः दो घंटे तक रहे। महात्मा से उनकी क्या बातें हुईं यह प्रकाश नहीं किया। संध्या हो जाने पर महात्मा बोले : 'तुम्हारी माँ चिंतित हैं, शीघ्र घर चले जाओ।' केदार ने उनकी बात मान ली। उन्हीं मेड़ों से होते हुए हाथ में साइकिल लिये खेतों को पार किया। जब मेंड़ से बाहर की जमीन में आये तो देखा कि सामने ग्रांडट्रंक रोड है, जो इलाहाबाद को जाती है। यह स्थान बनारस से पश्चिम ओर कबीर की जन्मभूमि लहरतारा के पास था। ये वहाँ से स्टेशन की ओर चले। फिर सड़क मिल गयी। घर लौट आये। इन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि ये गये थे काशी की पूर्व दिशा में किन्तु जब लौटे तो देखा कि पश्चिम दिशा में आ गये हैं। यह रहस्य इनकी समझ में नहीं आया।

इसी प्रकार ये एक दिन फिर उसी महात्मा का दर्शन करने गये। अबकी बार इनकी इच्छा थी कि किसी मित्र को साथ ले जायें। किन्तु महात्मा ने कहा : 'अकेले ही आना साथी होने से यह स्थान प्राप्त नहीं हो सकेगा।' अत: अकेले ही गये—उसी बिसेसरगंजके पास के खेतवाले रास्ते से। वहाँ पहुँच कर केदार ने पूछा : 'महात्मा, आप जिस स्थान में रहते हैं, वह कहाँ है? उसकी स्पष्ट स्थिति क्या है?' महात्मा ने कहा : 'तुम देखना चाहते हो कि मैं कहाँ

हूँ ? अच्छा देखो।' यह कहकर उन्होंने पास में पड़े हुए एक प्रस्तरखंड को उठाया। उठाने पर देख पड़ा कि उसके नीचे एक विराट् अनंत गड्ढा है। चारों ओर अनंत शून्य है जिसमें असंख्य ग्रह-नक्षत्र घूम रहे हैं। केदार यह देखकर आश्चर्य में पड़ गये। उनकी समझ में न आ सका कि भौगोलिक दृष्टि से वह कौन-सा स्थान है। महात्मा ने कहा :'आश्चर्य की कोई बात नहीं। मैं जहाँ हूँ वहाँ से पृथ्वी के सब स्थान निकट में हैं।' यह कहकर वह पत्थर का आवरण यथास्थान रख दिया। फिर बोले : 'केदार, क्या तुम अपना घर देखोगे।' यह कहकर उन्होंने अपना हाथ फेरा। केदार को घर के सभी प्राणी दिखायी पड़े, इतना ही नहीं उनके शब्द भी सुनायी पड़े। फिर महात्मा के पुनः हाथ फेरते ही सब कुछ गायब हो गया। महात्मा ने कहा : 'मैं सबसे निकट में हूँ, फिर भी यह स्थान सबसे दूर है। अब तुम घर लौट जाओ।' केदार उसी मार्ग से लौटे किन्तु अबकी बार जब खेत समाप्त कर मैदान में आये तो उन्होंने अपने को हिन्दूविश्वविद्यालय के सामने लंका पर पाया। यह काशी के दक्षिण भाग में है। यह विचित्र अनुभव इन्हें रहस्यजनक प्रतीत हुआ। आश्रम का स्थान एक ही है। खेत भी वही हैं, किन्तु जब उन्हें पार कर बाहर आते हैं तो अपने को कभी काशी के पश्चिम और कभी दक्षिण में क्यों पाते हैं। लौकिक दृष्टि से इनका समाधान न हो पाया।

इस घटना के दूसरे दिन केदार मुझसे मिलने आये और उक्त रहस्य का तात्पर्य जानने की जिज्ञासा प्रकट की। मैंने कहा : 'इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तत्त्व यह है कि महापुरुष जिस भूमि में रहकर तुम्हारे समक्ष प्रकट हुए वह सिद्धभूमि है। तुम गये थे जागृत अवस्था में, लौटे भी जागृत अवस्था में ही। देह छोड़कर सूक्ष्म शरीर से भी तुम्हारा गमन नहीं हुआ था। इसलिए वह स्थान सूक्ष्म कहा नहीं जा सकता। लौकिक दृष्टि के अनुसार स्थूल भी नहीं कहा जा सकता। इसका नाम है—सिद्धपुर, जो स्थूल भी है सूक्ष्म भी। किसी भौगोलिक स्थान से उसका संबंध नहीं है अथच उसका किसी भौगोलिक स्थान से संबंध हो भी सकता है। उस समय वह स्थूल मालूम पड़ेगा। लौकिक स्थान विशेष प्रतीत होगा। फिर भी साधारण जगत् की जनता उसे देख नहीं सकती। वह सूक्ष्म जगत् का भी अंश नहीं है, जहाँ सूक्ष्म देह से जाना पड़े। सिद्धभूमि में सिद्धदेह से ही जाया जा सकता है।' इस प्रकार मैंने उन्हें समझा दिया। केदार आश्वस्त हो गये। इस समय ये सातवीं कक्षा में पढ़ते थे। कालांतर में इनकी ऐसी स्थिति हो गयी कि घर से थोड़ा बाहर निकलते ही इन्हें वे खेत तथा महात्मा जी का आश्रम दिखायी पड़ने लगता था। इस घटना के बाद ये पाँच-छः वर्ष और जीवित रहे। इक्कीस वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हो गये।

केदार के जीवन में और बहुत-सी अलौकिकताएँ थीं, जिनका वर्णन यहाँ अनपेक्षित है।

४६. भूपेंद्रनाथ सान्याल

सान्याल महाशय का नाम मैं अपने शिक्षाजीवन के अंतिम काल से सुनता आ रहा था। ये काशीवासी महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी के अंतिम शिष्यों में थे। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रतिष्ठित शांतिनिकेतन में भी इन्होंने कुछ समय तक उनके साथ शिक्षणकार्य किया था। इसलिए परंमरा से इनके विषय में अनेक उपयोगी तथ्य मुझे प्राप्त हुए थे। इनकी लिखी कई छोटी-छोटी पुस्तकें भी मुझे पढ़ने को मिली थीं। किन्तु इनके साथ साक्षात् परिचय का सूत्रपात हुआ इनके 'काशी योगाश्रम' में अवस्थान काल से। यह योगाश्रम हिन्दू-धर्म-

प्रचारक स्वामी कृष्णानंद द्वारा संचालित एक प्रतिष्ठान था। इसके साथ सान्याल महाशय का घनिष्ठ संबंध था। वे प्रतिवर्ष काशी में आकर यहीं ठहरते थे। संस्था के साथ मेरा भी गहरा लगाव था, विशेष रूप से स्वर्गीय क्षेत्रमोहन सेन के समय से, जो स्वामी कृष्णानंद के शिष्य और आश्रम के प्रधान सेवक थे।

इनके साथ मेरा परिचय शीघ्र ही एक गंभीर अंतरंग संबंध में परिणत हो गया। जब भी ये काशी आते थे, मुझसे संपर्क स्थापित करते थे। एकाधिक बार ये मेरे घर पधारे थे, मैं तो बराबर मिलने जाया करता था। श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय के साधन-जीवन के विषय में नाना कारणों से मेरे मन में उत्साह था। इस संबंध में इनसे नित्य नयी बातें मालूम होती रहती थीं। इतना ही नहीं, ये अपने तद्विषयक अनुभव भी अत्यंत मुक्तहृदय से मुझसे प्रकाश करते थे। जब मंदार (भागलपुर-बिहार) में इन्होंने गुरुधाम की स्थापना की थी तो इन्होंने मुझे वहाँ ले जाने की उत्कट इच्छा व्यक्त की थी। उसके संचालन अध्यापनादि का व्यवस्था-संबंधी परामर्श ये मुझसे बराबर लेते रहते थे परन्तु खेद है कि चाहते हुए भी मेरा वहाँ जाना न हो सका।

अंतिम समय के कुछ दिन पहले, जब इन्होंने काशी में हरिश्चंद्र घाट के समीप अपने आश्रम की स्थापना की और उसमें रहने लगे, तो इनके दर्शनार्थ मैं नियमितरूप से जाने लगा। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के अपने गुरुरचित भाष्य पर जो व्याख्यान प्रकाशित किया उसकी भूमिका लिखने का भार मेरे ऊपर ही दिया था। मैंने इनके इच्छानुसार उक्त ग्रंथ की भूमिका लिखी थी, जिससे इनका हृदय अत्यंत प्रसन्न हुआ था। यह १९३६-३७ ई० की बात है।

इनके ऊपर मेरी इतनी श्रद्धा थी कि जब भी कोई विशिष्ट व्यक्ति अध्यात्म मार्ग में प्रवेश करने के लिए इच्छा प्रकट करता था, उस समय मैं उसको इन्हीं का नाम निर्देश कर देता था। यूरोप तथा भारत के कई जिज्ञासुओं को इन्होंने मेरे अनुरोध से दीक्षा प्रदान करके योगमार्ग का प्रदर्शन किया था।

सान्याल महाशय गुरुपरंपरागत योगी तो थे ही, साथ ही शास्त्रविहित साधन तथा आचारमार्ग के अनुसरणकर्ता भी थे। इस प्रकार का आदर्शचरित वर्तमान युग में विरल है। इनका जीवन सदाचारनिष्ठ ब्राह्मण पंडित के अनुरूप होते हुए भी ब्रह्मसमाजी रवींद्र बाबू की इन पर कितनी श्रद्धा थी, यह उनके प्रकाशित पत्रों से स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है।

आरोप-साधन के विषय में एक दिन इनके काशी-स्थित आश्रम में बात हुई थी। इस विषय में एक छोटी सी प्राचीन पुस्तक, जिसका प्रकाशन इन्होंने ही बहुत दिन पहले किया था, इन्होंने मुझे पढ़ने को दी थी। उसी के आधार पर मैंने इनके निर्देशानुसार 'आरोप-साधन' पर एक लेख लिखा था।

इन पर मेरी इतनी श्रद्धा थी कि बीच-बीच में इनका साक्षात्कार किये बिना मैं रह नहीं सकता था। मैं जब पुरी में गुरु-स्थान में जाता था और सान्याल महाशय भी वहाँ अपने गुरुधाम में निवास करते होते थे तब मैं नित्य इनका दर्शन किया करता था।

४७. श्यामदास बाबाजी

ये एक विलक्षण महात्मा थे। १९३८ ई० में जब मैं पुरीधाम में निवास करता था, उस समय इनसे मेरा परिचय हुआ था। पुरी में स्वर्गीय श्री विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य माखनलाल

गांगुली रहते थे। वे वहाँ किसी विद्यालय में शिक्षक थे किन्तु मेरे परिचय के समय नौकरी से मुक्त हो चुके थे। माखनबाबू नरेंद्रसरोवर के पास जटिया बाबा के समाधिमंदिर की देखभाल करते थे। हम लोग भी कभी-कभी उनके साथ बाबाजी के पास जाते थे। मेरे साथ सहचर-सेवक सीताराम पांडे भी रहते थे। हम लोगों के पहुँचने पर बाबाजी बड़े समादर के साथ अभ्यर्थना करते थे और पहले से श्रीमंदिर से महाप्रसाद लाकर रखे रहते थे। उनके विशेष अनुरोध से यह प्रसाद पाकर मैं उनके निकट बैठकर तत्वालोचन करता था। विशेष रूप से उनका अनुभव सुनता था।

बाबाजी का जीवन बहुत अपूर्व था। ये कुछ दिन वृंदावन में कुसुम सरोवर के निकट रहे थे। प्रभु जगत्बंधु के ये परम कृपापात्र थे। उनके विषय में ये अपने विलक्षण अनुभव की कथाएँ सुनाते थे। इनका प्राय: काशी में भी अवस्थान होता था। इनसे पता लगा कि इनके ऊपर महात्मा तैलंगस्वामी का विशेष अनुग्रह था। वारदी (पूर्वबंग) के ब्रह्मचारी लोकनाथ जी के शिष्य महात्मा ब्रह्मानंद से भी इनका घनिष्ठ परिचय था।

माता आनंदमयी पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनके संबंध में इन्होंने अपने एक विचित्र अनुभव का विवरण एक बार मुझे सुनाया था। घटना इस प्रकार है :

एक बार जब ये जगन्नाथपुरी में स्वर्गद्वार पर बाबा हरिदास जी के मठ में रहते थे, कुछ अज्ञात कारणों से इनके मन में माता आनंदमयी के दर्शन की इच्छा जाग्रत हुई। उस समय माताजी देहरादून में निवास कर रही थीं। धीरे-धीरे उनकी यह इच्छा इतनी तीव्र हो गयी कि उनका पुरी में ठहरना कठिन हो गया। अंततोगत्वा माताजी से मिलने के लिए दृढ़ संकल्प हो ये देहरादून जाने को तैयार हो गये। ऐसा भाव था कि स्टेशन जाकर अगली ट्रेन से चले जायेंगे। बाहर निकलते ही जो दृश्य देखा उससे ये चकित हो गये। देखा कि माता आनंदमयी एक-दो सेवकों के साथ मठ के द्वार पर उपस्थित हैं। यह उल्लेखनीय है कि इसके पूर्व माताजी से इनका साक्षात् परिचय नहीं था, न लौकिक दृष्टि से वे श्यामदास जी को जानती ही थीं। ऐश्वरिक प्रेरणा से ही वे पुरी आ गयी थीं और वहाँ पहुँचने पर जब वे पहले घूमने निकलीं तो ठीक उसी स्थान पर आकर पहुँच गयीं जहाँ बाबा रहते थे। इससे प्रतीत होता है कि बाबाजी के हार्दिक आकर्षण से ही माता का पुरी आगमन हुआ था, लौकिक कारण कुछ भी रहा हो।

श्यामदास बाबाजी ने एक दिन आध्यात्मिक चर्चा के क्रम में कहा :'अपना व्यक्तित्व छोड़कर आधार विशेष से तादात्म्य प्राप्त होकर जो दर्शन प्राप्त होता है, उससे अभूतपूर्व आनंद का लाभ होता है।' इस संबंध में इन्होंने स्वानुभूति व्यक्त करते हुए बताया :'मैं कभी-कभी अपने स्वरूप से अलग होकर माखन बाबू की सत्ता में प्रविष्ट हो उनसे तादात्म्य प्राप्त करके माखन बाबू की दृष्टि से उनके गुरु स्वर्गीय श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी का दर्शन करता था। इससे मुझे जो आनंद मिलता था उसकी तुलना नहीं हो सकती।' यह उल्लेखनीय है कि बाबाजी स्वयं विजयकृष्ण महाशय को जानते थे और श्रद्धा भी करते थे परन्तु अपनी दृष्टि से विजयकृष्ण का दर्शन करना एक बात है और उनके परमभक्त माखन बाबू की दृष्टि लेकर इनको देखना दूसरी बात। प्रथम स्थिति में अपनी दृष्टि शुद्ध साक्षी की दृष्टिरूप में रहती थी किन्तु दूसरी स्थिति में माखन बाबू की दृष्टि अपनी दृष्टि बन जाती थी।

बाबाजी का हृदय बहुत उदार था। किसी भी संप्रदाय के साधु के प्रति इनके हृदय में अवज्ञा या निंदा का भाव नहीं था। ये कहा करते थे कि संतों को, उनकी दृष्टि को लेकर के ही देखना चाहिए न कि अपनी दृष्टि के अनुसार। तब प्रत्येक माहत्मा का अपना स्वरूप खुल जाता है। उसमें किसी प्रकार का अनुसरण नहीं रहता। इनके अपने विशेष अनुभव का विषय चतुर्थ अध्याय के पत्रसंख्या १,२ तथा ३ में दिया गया है। मैंने वे पत्र अपने मित्र श्री अक्षयकुमार दत्त गुप्त को लिखे थे।

४८. शोभा माँ

१९३८ ई० में जब मैं हरद्वार महाकुंभ में उपस्थित हुआ था, उस समय वहाँ दीर्घकाल तक रहना पड़ा। मैं कुशावर्त घाट पर एक धर्मशाला में प्रायः दो मास रहा। उन दिनों माँ आनंदमयी भी डॉक्टर पंत के स्थान पर गंगातट पर अवस्थान कर रही थीं। उनके पास मैं बराबर जाया करता था। इस अवसर पर संतदास बाबाजी के शिष्य ब्रह्मचारी शिशिर कुमार राहा भी हरद्वार आये थे। ये प्रायः नित्य मुझसे मिलने आते थे। ये परम भक्त एवं धर्मप्राण व्यक्ति थे। एक दिन (२८ मार्च, १९३८ ई०) प्रसंगवश इनसे पता चला कि इनकी एक चचेरी बहन के जीवन में अचानक बहुत परिवर्तन हो गया है। इन्होंने बताया कि १७-१८ वर्ष की आयु में ही उसे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है। इस समय उसकी आयु २० वर्ष के लगभग है। इस बहन ने संतदास बाबाजी से भगवन्नाम प्राप्त किया था, परन्तु दीक्षा नहीं हुई थी। नाम-प्राप्ति के अनंतर शनैः शनैः भीतर से ही उसका आवरण हट गया और साक्षात्कार हुआ। इतनी छोटी आयु में ब्रह्मसाक्षात्कार विश्वास में आना कठिन था, परन्तु ब्रह्मचारी शिशिर के कथन में अविश्वास का हेतु भी नहीं था। उनके पास उक्त बहन के हाथ की लिखी हुई एक डायरी थी, जिसमें उसके अनुभव का विशेष विवरण लिखा हुआ था। उसको पढ़कर मेरे चित्त में कुछ कौतूहल उत्पन्न हुआ।

कुंभ मेला समाप्त होने के बाद मैं काशी लौट आया। इसके बाद ग्रीष्मावकाश में पुरी जाने के विचार से कलकत्ता गया। उस समय अपने मित्र तथा गुरुभाई डॉ० सुरेशचंद्र देव के घर पर मैं कई दिनों तक रहा। एक दिन इस ब्रह्मज्ञ बालिका के विषय में चर्चा हुई। देव बाबू ने प्रस्ताव किया कि अगर आप चलें तो मैं भी आपके साथ उनके दर्शनार्थ चलूँगा। उस समय मेरे साथ सीताराम पांडे भी थे। यह बात चल ही रही थी कि देवहरि नामक एक युवक से सहसा भेंट हुई, जो संतदास बाबाजी के शिष्य थे और शिशिर कुमार राहा तथा उक्त बालिका के परिवार से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने कहा : 'यदि आप लोग चलें तो मैं पहुँचा दूँगा।' हम लोग चार आदमी थे। एक और जितेश चक्रवर्ती सम्मिलित हो गये। ये बाल्यकाल के मेरे पाठ्यकालीन गुरु, हाराणचंद्र चक्रवती, के पुत्र थे। पथप्रदर्शक देवहरि बाबू ने सुझाव दिया कि जाने के पहले यह अच्छा होगा कि मैं पत्र लिखकर उत्तर मँगा लूँ। चिट्ठी बालिका के पिता सुकुमार राहा को लिखी गयी। ये टिपारा (जिला कोमिल्ला, पूर्वबंग) के वरकांता नामक गाँव में रहते थे और स्थानीय हाई स्कूल के प्रधानाचार्य थे। सुकुमार बाबू मेरे आने का समाचार पाकर अत्यंत प्रसन्न हुए। तत्काल पत्र का उत्तर देते हुए लिखा कि हम लोग कोमिल्ला स्टेशन पर पहुँचने के समय की सूचना उन्हें तार द्वारा दे दें, जिससे वे अभ्यर्थना के लिए वहाँ उपस्थित हो सकें। ऐसा ही किया गया। तार का उत्तर भी आ गया।

२० मई, १९३८ ई० को हम लोग रवाना हुए। कलकत्ता के निकटवर्ती सियालह स्टेशन से चलकर गाड़ी ग्वालंद स्टीमर स्टेशन पर पहुँची। वहाँ से स्टीमर द्वारा चाँदपुर गये। चाँदपुर में गाड़ी पकड़ी। कोमिल्ला पहुँचे। यह जिला-नगर है। यहाँ हम लोगों ने देखा कि स्वागत के लिए स्टेशन पर कई महानुभाव उपस्थित हैं। उनमें से एक महाशय का नाम था प्रियनाथ बाबू। ये सुकुमार बाबू के मित्र थे और उनके अनुरोध से हम लोगों का स्वागत करने के उद्देश्य से आये थे। ये उच्च शिक्षा प्राप्त, बड़े ही विनम्र तथा उदार महानुभाव थे। इनका व्यवहार अत्यंत सहृदयतापूर्ण था। वरकांता गाँव कोमिल्ला नगर से आठ-दस मील की दूरी पर है। हम लोगों को प्रियनाथ बाबू बस स्टेशन पर ले गये। वहाँ से हम लोग बस द्वार वरकांता के लिए रवाना हुए। २१ मई को चार बजे सायंकाल गंतव्य स्थान पर पहुँच गये। सुकुमार बाबू ने हम लोगों के ठहरने के लिए पहले से ही एक पृथक् पक्का मकान ठीक कर रखा था, जिसमें शांत परिवेश था और किसी प्रकार का विक्षेप न था। किन्तु हम लोग वहाँ न जाकर पहले सीधे उन्हीं के घर गये, क्योंकि अपना मुख्य उद्देश्य था बालिका का दर्शन करना। हम लोगों ने देखा घर का वातावरण बहुत ही रमणीक था। चारों ओर फूस के परिष्कृत और स्वच्छ मकान थे। वे देखने में बहुत सुंदर लगते थे। सुकुमार बाबू के घर के बीच में आँगन था। कोने में पूजा की कोठरी थी। घर के निकट ही दक्षिण ओर एक विशाल पोखरा था जिसमें जल भरा हुआ था। सुकुमार बाबू का स्कूल भी दूर नहीं था। इस घर के एक बड़े कमरे में हम लोगों के बैठने के लिए प्रबंध किया गया था। उसमें कुर्सियाँ रखी गयी थीं। कई बिछे हुए तख्ते भी थे। कमरे के एक प्रांत में अठारह-उन्नीस वर्ष की एक बालिका बैठी थी—अत्यंत प्रसन्न मूर्ति। हम लोग उसे अभिवादन कर कुर्सियों पर बैठ गये। उसने प्रत्यभिवादन करते हुए कहा : 'आपके आने से हम बहुत प्रसन्न हुए।'

मैंने कहा, 'मेरे यहाँ आने का विषय, देवहरि का पत्र आने के पहले, क्या तुम्हें मालूम था?' बालिका ने उत्तर दिया : 'हाँ था।' मैंने कहा : 'कब मालूम हुआ?' वह बोली : 'जिस दिन मुझे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ। यह दो साल पहले की बात है।' मैंने पूछा : 'क्या ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ छोटे-मोटे सब विषयों का ज्ञान हो जाता है?' उसने कहा : 'हाँ, पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो तो अवश्य होता है, अन्यथा नहीं।' तब हमने कहा : 'इस विषय में मेरा कुछ प्रश्न है।' उसने कहा : 'कहिए।' मैंने जिज्ञासा की : 'तुमने कहा पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो तो अवश्य होता है, तो ब्रह्मज्ञान और पूर्ण ब्रह्मज्ञान में क्या कुछ भेद है?' उसने कहा : 'हाँ भेद है। ब्रह्मज्ञान सामान्यज्ञान है किन्तु पूर्णब्रह्मज्ञान सामान्य के साथ अनंत-विशेष-ज्ञान है।' मैंने पूछा : 'सामान्य ब्रह्मज्ञान होने पर अखंड सत्ता का बोध होता है परन्तु कुछ विशेष का ज्ञान नहीं होता और होने की संभावना भी नहीं रहती। परंतु योगी सामान्य ब्रह्मज्ञान के अनंतर इच्छाशक्ति से विशेष ज्ञान कर लेते हैं।' 'पूर्णब्रह्मज्ञान होने पर उस प्रकार की इच्छाशक्ति की आवश्यका नहीं रहती। क्योंकि उस समय सामान्य एवं विशेष दोनों ही ज्ञान का विषय रहता है।' मेरा प्रश्न था : 'योगी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना इच्छाशक्ति से सब जान सकते हैं या नहीं?' बालिका ने कहा : 'इच्छाशक्ति का उदय होगा कहाँ से? अखंड सत्ता का ज्ञान हुए बिना इच्छाशक्ति हो ही नहीं सकती। इच्छा मात्र हो सकती है।' मैंने अनुभव किया कि यह बिल्कुल ठीक कह रही है। चित्त में बहुत प्रसन्नता हुई।

इसके बाद भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा होने लगी। प्रसंगतः अवतारवाद पर विचार होने लगा। उसने कहा :'मेरी दृष्टि से वास्तव में भगवान् का कोई अवतार होता ही नहीं है। जिसको लोग अवतार समझते हैं, यह वस्तुतः जीव का ही अवतार है, भगवान् का नहीं। मैंने पूछा : 'तब उसको भगवान् का अवतार माना क्यों जाता है ?' वह बोली : 'उसका कारण यही है। जीव भगवान् के साथ सायुज्य लाभ करके उनसे अभिन्न हो जाता है, इसीलिए एक दृष्टि से उसे भगवान् का अवतार कहने में दोष नहीं है। वास्तव में भगवान् की कोई अंशकला होती ही नहीं, यह शक्ति का खेल है। शास्त्र में बहुत सी बातें गुप्त रूप में कही गयी हैं, उनमें से अधिकांश अब तक प्रकाशित भी नहीं हो सकी हैं। जब तक दृष्टि नही खुलती, तब तक वे समझ में नहीं आ सकतीं।' बालिका ने पाण्डवों के महाप्रस्थान, विशेष रूप से युधिष्ठिर के सशरीर स्वर्गगमन के विषय में बहुत सी बातें बतायीं, जिसका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

इसके बाद हम लोग निर्दिष्ट स्थान पर जाकर विश्राम करने लगे। यथासमय भोजन किया। रात में तथा दोपहर को सुकुमार बाबू के घर खाने के लिए जाते थे। उस समय बालिका से अध्यात्मचर्चा होती थी। प्रियनाथ बाबू बराबर साथ में रहते थे। वहाँ एक महाशय और थे जिन्हें बालिका श्री गोस्वामी के अंश से आविर्भूत बताती थी। वरकांता से हम लोगों ने २१ मई, १९३८ को प्रस्थान किया। मार्ग में उस प्रदेश के प्रसिद्ध शैवपीठ, चंद्रनाथ-पर्वत, का दर्शन करके कलकत्ता लौट आये।

इस प्रथम परिचय के बाद १९३८ ई० के दिसम्बर में मुझे पुनः शोभा माँ का दर्शन मिला। इसके अनंतर वे एक बार काशी भी आयीं, तब से घनिष्ठता बढ़ गयी। इनके जीवन का विशेष वृत्तांत बाबू अक्षयकुमारदत्तगुप्त ने अपने ग्रंथ में विस्तार के साथ दिया है। इस यात्रा में दो अन्य अपूर्व लाभ हुए—उनमें से एक था श्री राधागोविन्द नाथ महाशय से परिचय, वे उन दिनों कोमिल्ला में विक्टोरिया कॉलेज के प्रिंसिपल थे और दूसका गोपीचंद की माता मैनावती के टीले का दर्शन। यह स्थान गोरखनाथ संप्रदाय का विशिष्ट केंद्र माना जाता है। मैं इसे शोभा माँ के दर्शन का ही फल मानता हूँ।

४९. प्रेमानंद

ये एक महापुरुष थे। इनका नाम मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था। इनकी जन्मभूमि तो पूर्व बंग थी किन्तु इनके जीवन का अधिकांश उत्तरी एवं पश्चिमोत्तर भारत का पर्यटन करते हुए बीता था। बहुत दिनों तक ये काश्मीर में रहे थे। इनके संबंध में प्रसिद्धि थी कि मुद्रादि स्पर्श नहीं करते, किसी से कुछ माँगते नहीं, फिर भी किसी प्रकार के अभाव का इन्हें सामना नहीं करना पड़ता।

प्रेमानंदजी कृष्णानुरागी थे और इष्टदेव के पुरुषोत्तम का ध्यान करते थे। इस आदर्शरूप की उपासना से इन्हें विश्वजननी महाशक्ति की कृपा प्राप्त हुई थी। बंगदेश में इनके संबंध में अनेक अलौकिक कथाएँ प्रचलित थीं। इस प्रकार की कुछ बातें मेरे भी ज्ञान-गोचर हुई थीं। इन्होंने अपने भक्तों को जो पत्र लिखे थे उनमें से अधिकांश का प्रकाशन हो गया है। इन पत्रों में यह तत्व अच्छी तरह से स्फुट है। कलकत्ता, आगरा, काश्मीर आदि नाना स्थानों में ये समय-समय पर स्वेच्छया विचरण करते थे। प्राच्य-पाश्चात्य, नवीन-प्राचीन सभी देशों और कालों के पुरुषों में ये समरूप में श्रद्धा करते थे।

इनका दर्शन सबसे पहले मुझे कलकत्ता में 'लेक' के समीप हुआ था। उसके बाद जब ये काशी आये तो बहुत अंतरंग रूप में संबंध हुआ। इनके गुरुदेव हिमालयवासी कोई महान् सिद्धपुरुष थे। वे ही इनके जीवन को संचालित करते थे। जब मुझसे कुछ अधिक घनिष्ठ परिचय होने लगा तब ये कभी-कभी काशी में मेरे पास आते थे। मैं भी इनके स्थान पर जाता था। ये लक्ष्मीकुण्ड के उत्तरी तीर पर एक भक्त के यहाँ ठहरते थे। इन महात्मा ने 'पूजा' नाम का एक विशिष्ट ग्रंथ संकलित किया था जिसमें कुछ मेरा भी हाथ था। पीछे इसका प्रकाशन भी मैंने ही कराया था।

१९४४ ई० की बात है। स्वामीजी ने एक दिन प्रसंगत: श्रीकृष्ण तत्व पर कुछ सुनने की इच्छा व्यक्त की। उनके अनुरोध को मैं टाल न सका। तत्त्वालोचन आरंभ हुआ। उसे सुनकर उनका चित्त इतना आकृष्ट हुआ कि उस दिन प्रसंग समाप्त होने पर वे बोले : 'यह एक दिन का विषय नहीं है, मेरे मनन के लिए यह बड़ा सहायक होगा। मुझे एक आवश्यक कार्य से बाहर जाना है। मेरे स्थान पर श्रुतलेख के निमित्त एक सेवक नित्य आपके यहाँ आयेगा। उसे कुछ बोलकर लिखा दीजिएगा।' स्वामीजी के इच्छानुसार लेखन का क्रम चलने लगा। महीनों तक जारी रहा। लगभग ८०० पृष्ठों में 'श्रीकृष्णतत्व' के विभिन्न अंगों का आलोचन, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे—इस दृष्टि से किया गया था। स्वामीजी के यही इष्ट थे। श्रुतलेख लिखनेवाले स्वामीजी के उक्त सेवक ने ग्रंथ की प्रति गुरु को अर्पित की। स्वामीजी ने अपने हाथों से उसकी प्रतिलिपि की। इस स्वलिखित प्रति को वे सदैव अपने साथ रखते थे, किसी को दिखाते नहीं थे। उसका नित्य अध्ययन-मनन करते थे, उस पर नाना प्रकार के नोट लिखते थे, जिससे विषय क्रमश: परिस्फुट हो सके। १९५८ ई० में जब स्वामीजी का लोकांतरण हुआ तो यह पुस्तक उनके झोले में रखी हुई मिली। स्वामीजी की जिस ग्रंथ पर इतनी श्रद्धा थी और जिसे लगातार १४ वर्ष तक एक क्षण के लिए भी उन्होंने अपने से अलग नहीं किया, वह किसी अनधिकारी के हाथ में न पड़े, इस दृष्टि से उनके भक्तों ने उसे मुझे लौटा दिया। अब यह ग्रंथ उन्हीं भक्तों की इच्छा से 'श्रीकृष्णप्रसंग' नाम से बंगला और हिन्दी, दोनों भाषाओं में प्रकाशित हो रहा है।

स्वामीजी में किसी प्रकार की सांप्रदायिकता अथवा संकीर्णता नहीं थी। वे बाहर से जैसे प्रेमानंद थे वैसे उनके भीतर भी प्रेमसागर लहराता रहता था, बहुसंख्यक आश्रित उसके सीकरों से संतृप्त हुए।

इनका सिद्धांत था कि साधन प्रणाली से भगवत्कृपा का सहारा लेकर पुरुष पुरुषोत्तम बन सकता है। माँ के सान्निध्य में जाने का योग्यतालाभ इसी स्थिति में होता है।

५०. पुलिन ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी जी एक उन्नत कोटि के साधक थे। उन्होंने कुछ वर्षों तक काशी में राजघाट के निकट एक गुफा में रहकर उग्र तपस्या की थी। उस गुफा में कई बार ये मुझे ले गये थे। यह स्थान प्रह्लादघाट के निकट था। ये दिन-रात तपश्चर्या में लीन रहते थे। कई सिद्ध महात्माओं से इनका साक्षात् संबंध था। प्रतीत होता है उन्हीं के निर्देशानुसार ये साधना करते थे। कभी-कभी ये मेरे पास आते थे, मैं भी प्राय: इनसे मिलने जाया करता था। ये

कठोर तपस्वी होते हुए भी गंभीर ज्ञान-पिपासु थे। इन्हें विभिन्न प्रकार की दिव्य अनुभूतियाँ होती रहती थीं। कुछ दिन काशी में रहकर तपोविघ्न का अनुभव कर ये बाहर चले गये। इसके बाद फिर इनसे भेंट नहीं हुई। ये सिद्ध न होते हुए भी शुद्ध-भाव-पूर्ण एवं अनुभूति-संपन्न उन्नत साधु थे।

५१. दिगंबर बाबा

इनके दर्शन का प्रथम अवसर मुझे १९५४ ई० में मिला था, यद्यपि इनके नाम से १९३८ ई० से ही, जब मैं कुछ दिनों तक पुरी में रहा था. परिचित था। इनका विशेष विवरण भी श्री विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य माखनलाल गांगुली से वहीं सुना था। ये पुरी में ही रहते थे और नागाबाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। किन्तु पुरी में रहते समय इनके दर्शन का सौभाग्य मुझे नहीं हुआ था। ये काशी में आकर गंगा के पूर्वी किनारे पर उस पार कुछ दिनों तक नौका पर रहे थे। उस समय कई बार मुझे इनके दर्शन का अवसर मिला था।

ये विराट्-काय महापुरुष थे—बलिष्ठ, सर्वांगनग्न, प्रसन्नमूर्ति, मुखमंडल में मूँछ, सिर पर जटा और विशाल स्कंध। बाबाजी वेदांती थे। इनके पास कभी योगवासिष्ठ का पाठ होता था, कभी वेदांत के किसी ग्रंथ का। ये प्रश्न करने पर उत्तर देते थे, अन्यथा प्रायः मौन रहते थे। मैं इनको दिगंबर बाबा कहा करता था। मेरे ऊपर इनका विशेष स्नेह था। जब भी जाता था बड़े प्रेम से कुशल-क्षेम पूछते थे। किसी-किसी प्रामाणिक पुरुष का विश्वास था कि यही स्वामी रामकृष्ण को संन्यासोपदेश देने वाले संन्यासी तोतापुरी थे।

एक दिन की बात है। एक महिला और उनके पति बाबाजी का दर्शन करने आये। दोनों मेरे परिचित थे। दोनों ही उच्च शिक्षित थे। महिला अध्यापन करती थीं और उनके पति अध्ययन समाप्त कर नौकरी में प्रवेश के लिए उद्यत थे। पति बहुत वैराग्यसंपन्न थे। उनकी अधिक वेतन की नौकरी करने की इच्छा नहीं थी। उनका कहना था कि जितनी आवश्यकता हो उससे अधिक वेतन ग्रहण करना पाप है। इसलिए तीन-चार सौ रुपये के वेतन की नौकरी मिलने पर भी वह ग्रहण नहीं करते थे। किन्तु उनकी पत्नी संसार के प्रयोजन की ओर दृष्टि रखते हुए अधिक वेतन ग्रहण करने के पक्ष में थीं। पति निस्पृह थे। इस झगड़े का मामला बाबाजी के सामने पेश हुआ। दोनों ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, इस विचार से कि वे इसका निपटारा कर देंगे। पति को आशा थी कि दिगम्बर बाबा त्यागी होने से, उन्हीं के पक्ष में अपनी राय देंगे। कुछ देर तक बात होती रही। अंत में बाबाजी ने इस विवाद का बहुत सुन्दर समाधान दिया। पति महाशय को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'तुम मिलने पर भी जो अधिक वेतन लेना नहीं चाहते, यह तुम्हारी युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि तुम कर्म करके उसे पारिश्रमिक रूप में लोगे, अतः वह निर्दोष है। तुम्हारा प्रयोजन पचास-साठ रुपये से सिद्ध हो सकता है, यह मैं मानता हूँ, किन्तु उचित यही है कि तुम पूरा वेतन लेकर जितना आवश्यक है उतना रख लो, बाकी रुपया गरीब-दुखियों को दे सकते हो? इसमें दोनों पक्षों का समन्वय हो जायगा।' पति-पत्नी दोनों इस निर्णय से संतुष्ट हो गये।

५२. बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ

ये एक उच्चकोटि के बंगदेशीय महात्मा हैं। इनके नाम से मैं बहुत दिनों से परिचित था। उस समय इनका संप्रदाय 'जयगुरु' के नामं से प्रसिद्ध था। किन्तु इनके साक्षात्-दर्शन का अवसर मुझे १९४८ ई० में पुरी में प्राप्त हुआ। उस समय ये मौन थे। इनकी यह विशेषता है कि शिष्य अथवा भक्तवर्ग इनको घेरे हुए निरंतर हरिनाम कीर्तन किया करते हैं। कहीं जब जाना होता है, उस समय भी कीर्तनकारों का दल साथ रहता है। इनका जीवन अत्यंत आश्चर्यजनक है, जिसका विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। उसका प्रकाशन विभिन्न ग्रंथों में हो चुका है।

बाबाजी का जन्म ६ फाल्गुन, १२९६ (१८८९ ई०) में हुगली जिले में श्री रामहरि चट्टोपाध्याय के पुत्ररूप में हुआ था। इनके जीवन में भगवत्कृपा का निदर्शन बाल्यावस्था से ही मिलने लगा था। उस समय ये संस्कृत की चतुष्पाठी में पढ़ते थे। इनकी दीक्षा १९१२ ई० में हुगली के समीपस्थ एक स्थान पर हुई थी। १९१५ ई० में विवाह हुआ। १९१७ ई० में साक्षात् शिव ने इन्हें दर्शन देकर दीक्षा दी थी। १९३० ई० में स्त्री का देहांत हो गया। तब से गृहस्थी के जंजाल से मुक्त होकर ये एकनिष्ठ भाव से आराधना में लीन रहने लगे। १९३१ ई० में स्वप्न में इन्हें ब्राह्मीदीक्षा प्राप्त हुई। इसके दो वर्ष बाद इन्होंने अखंडमौनव्रत धारण किया और १९३६ में पुरी में स्वयं जगन्नाथ देव से आदेश प्राप्त कर ये सर्वतोभावेन नामप्रचार में लग गये।

ओंकारनाथ जी पहले से ही मुझको विशेष रूप से जानते थे। इनके द्वारा प्रकाशित 'देवयान' पत्र मेरे पास बराबर आता था किन्तु इनके साथ मेरा घनिष्ठ संबंध उस समय स्थापित हुआ जब ये ओंकारेश्वर में मौनावस्था में साधनारत थे। आगे चलकर जब इनका 'नादलीलामृत' नामक ग्रंथ प्रकाशित हो रहा था तो इनकी प्रेरणा से कुछ भक्तों ने मुझसे उसकी भूमिका लिखने का अनुरोध किया। यह १९५६ ई० की बात है। मैंने बाबाजी के आदेशानुसार भूमिका लिखकर भेज दी। उसे देखकर इनका चित्त इतना प्रसन्न हुआ कि इन्होंने तत्काल एक सुदीर्घ पत्र मेरे पास लिखा। उसमें इन्होंने अत्यंत संतोष प्रकाशित किया था और उसी प्रसंग में अपने आध्यात्मिक जीवन की धारा का पूरा विवरण दिया था। अपनी बाल्यावस्था में चिनसुरा के टोल में पढ़ते हुए इन्हें परम-गुरु शंकर का जगदंबा सहित जो साक्षात्कार हुआ था उसका इनके जीवन पर अत्यंत दीर्घव्यापी प्रभाव पड़ा। पीछे साधानामार्ग में जैसी अनुभूति मिली थी—इस सबका पूरा वृत्तांत उक्त पत्र में दिया गया था। यह सब लिखकर बाबाजी ने पत्र के अंत में कुछ प्रश्नों के समाधान के लिए मुझसे अनुरोध किया था। इस क्रम में उन्होंने मेरे पास कई पत्र लिखे। इन पत्रों को मैंने प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखा। इस प्रसंग में हम लोगों के बीच बहुत विषयों का आलोचन होता रहा, जिनका विवरण देना अनावश्यक है।

इसके बाद मैंने अपना लिखा हुआ गुरुदेव श्री स्वामी विशुद्धानंद का जीवन चरित्र (जो पाँच खंडों में पूर्ण हुआ है) तथा आश्रम से प्रकाशित 'विशुद्धवाणी' पत्रिका बाबाजी के पढ़ने के लिए भेजी। उसे पढ़कर इनके हृदय की उत्कंठा इतनी तीव्र हो गयी कि ये मुझसे मिलने के लिए काशी आये। तब से जब-जब इनका काशी आगमन होता है, बराबर

हमें दर्शन देते हैं। कई वर्षों तक तो इन्होंने यह नियम बना रखा था कि स्टेशन पर उतरते ही पहले सीधे श्री विशुद्धानंद कानन जाकर नवमुंडी आसन का दर्शन करते थे फिर मेरे निवास स्थान पर आते थे। इसके बाद यहाँ से अपने बंगालीटोला स्थित आश्रम में पधारते ते। इनके साथ यथानियम विपुल भक्तवर्ग कीर्तन करते हुए आते थे और जाते समय भी यह मंडली उनके साथ कीर्तन करती हुई चलती थी।

बाबाजी ओंकार-साधना में पूर्ण रूप से निष्पात हैं। इस विषय में अनेक स्वलिखित ग्रंथों में इन्होंने अपना मत व्यक्त किया है। इनकी यह विशेषता है कि वैष्णव संप्रदाय के भक्त होने के साथ ही ज्ञानी भी हैं और योगी भी। आचार्य रामदयाल मजूमदार के नाम का उल्लेख पीछे किया गया है। वे इनके परमभक्त हैं और इन्हें गुरुकल्प मानते हैं। महात्मा शिवरामकिंकर-योगत्रयानंद का प्रभाव भी इनके प्राथमिक जीवन पर पड़ा था।

बाबाजी वर्णाश्रम धर्म के एकांत भक्त हैं और शास्त्रों के निर्विचार सेवक हैं। धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रवर्तन किया है, इनमें बंगभाषा में 'देवयान' तथा 'पथेर आलोक', अंग्रेजी में 'मदर', संस्कृत में 'प्रणव-पारिजातम्' प्रभृति पत्रिकाएँ प्रमुख हैं। हिन्दी, उड़िया तथा दक्षिणी भाषाओं में भी इनके कुछ पत्र निकलते हैं। इसके साथ ही भक्तों द्वारा धर्मशास्त्र, पुराणादि ग्रंथों का भी प्रकाशन करके धर्मरक्षणार्थ वितरण करते हैं। इनके व्यक्तिगत सिद्धांत के संबंध में आलोचना अनपेक्षित है, कारण कि वे इनके द्वारा लिखित तथा प्रचलित साहित्य के माध्यम से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इनमें तीव्र तपस्या है, पूर्ण गुरुभक्ति है, गंभीर अनुभव है और निर्मल समाधि में प्रवेश करने का अधिकार है। मेरे प्रति इनका जैसा अकृत्रिम स्नेह है उसका ऋण मैं शोध नहीं कर सकता।

५३. सीतारामदास बाबा

इन बाबाजी का परिचय मुझे अपने एक मित्र द्वारा, जो बाँदा जिले के निवासी थे, प्राप्त हुआ था। उन्हीं के माध्यम से जिज्ञासुभाव से मैंने कुछ पूछा था। उसी आधार पर इनसे भाव-विनिमय हुआ था।

बाबाजी रामायत संप्रदाय के एक विशिष्ट उन्नत भक्त थे। हमने सुना था कि ये बहुत दिनों तक चित्रकूट में मंदाकिनी तट पर और अनसूया प्रभृति स्थानों में कठोर तपस्या करते रहे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है ये भगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त कर चुके थे। बाहर की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत संप्रदाय के अनुयायी होते हुए भी इनकी अनुभूति का क्रम अत्यंत विलक्षण था। इन्होंने कठोर तपश्चर्या द्वारा जो अनुभव प्राप्त किये थे, वे साधन मार्ग की अत्यंत उच्चभूमि से सम्बद्ध थे, निम्नभूमि के साधनक्षेत्र के विषय में ये विशेष कुछ बोलते ही नहीं थे। इनके अनुभव का सारांश नीचे दिया जाता है—

'तत्त्वालोचना की दृष्टि से मनुष्य शरीर में अलग-अलग तीन खंड हैं। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त जो षट्चक्र हैं, यहाँ तक कि ऊर्ध्व में सहस्रारचक्र तक भी, प्रथम खंड के अंतर्गत है। इसके बाद व्यापक शून्य का अनुभव होता है। इस शून्य को भेद कर सकने पर देह के द्वितीयखंड में प्रवेश हो सकता है। इस द्वितीयखंड के प्रवेश के साथ ही साथ अति विशाल तेजपुंज का साक्षात्कार होता है। यह प्रकाश कोटि-कोटि सूर्य की सम्मिलित

प्रभा से भी कहीं अधिक दीप्तिमान है। कोई-कोई साधक सहस्रार भेद करके, यहाँ तक कि तदतीत शून्य को भी भेद करके, इस महातेज के भीतर जाकर लीन हो जाते हैं, अर्थात् इसको भेद नहीं कर पाते।

इस तेज में प्रवेश करने पर पता चलता है कि इसमें तीन पृथक्-पृथक् विभाग हैं। पहले विभाग का नाम 'अक्षर' है। यह भी एक प्रकार शून्य ही है। द्वितीय विभाग का नाम 'निरक्षर' है—इसका स्वरूप महाशून्य है। इस मार्ग में आगे बढ़ने पर 'सहजपथ' मिलता है, तब 'अचिंत्य-परब्रह्मपद' की प्राप्ति होती है। जो लोग 'अक्षर-भूमि' में रहते हैं, उनकी स्थिति शून्य में ही होती है। परन्तु जो भाग्यवान हैं वे 'निरक्षर-भूमि' में जा सकते हैं और 'अचिन्त्य परब्रह्मपद' तक उठते हैं। इसके बाद और कोई मार्ग नहीं है। परंतु 'निरक्षर' से भी अतीतावस्था है। अगर कोई वहाँ तक जा सके तो उसको पहले 'सत्यलोक' मिलता है, उसके बाद 'कुमार लोक' और अंत में 'उमालोक'। यहीं तक ऊर्ध्वगति हो सकती है। इनके अनंतर और कहीं जाने के मार्ग का पता नहीं चलता।'

५४. निर्विकल्पानंद तीर्थ स्वामी

इनसे मेरा परिचय बंगदेश में प्रवास के समय १९५६ ई० के आस-पास हुआ था। मैंने उन दिनों कलकत्ता के निकट एक स्थान पर माँ आनंदमयी के भक्तों द्वारा आयोजित एक उत्सव में सम्मिलित होने के लिए गया था। ये मेरे नाम से पूर्व-परिचित थे, अतः वहाँ मेरे आने का समाचार पाकर मिलने के लिए उपस्थित हुए थे। इनसे मेरा संसर्ग अधिक समय तक न हो सका, किन्तु ये उस अवसर पर अपना अनुभूतिलब्धज्ञान लिखकर लाये थे और उसे मुझको देखने के लिए दिया था। इस विषय में इनसे कुछ चर्चा भी हुई थी। उससे मुझे ज्ञात हुआ कि इनका जीवन अत्यंत विलक्षण था और अनुभव बड़े ही अद्‌भुत।

स्वामीजी ने स्वानुभूति के आधार पर बताया कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान और परमब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के बाद ऊर्ध्व-आम्नाय के ज्ञान का उदय होता है। इसमें क्रम यह है—पहले सत्यज्ञान, उसके बाद परमसत्य-विज्ञान तथा निर्विकल्प-समाधियोग, तदनन्तर ऊर्ध्व-आम्नाय। यह महा-निर्वाण के अतीतक्षेत्र का ज्ञान है। इसके प्राप्त होने के पहले वायु-योग और शून्याशून्य योग प्राप्त होना आवश्यक है। इस प्रक्रिया के पहले मन का लय होता है, इसके बाद क्रमशः प्राण का लय, विज्ञान का लय, चैतन्य का लय, ब्रह्मक्षेत्र या जीवात्मा का लय, ब्रह्मलय या परमात्मक्षेत्र, अंत में महालय। आरंभ में परब्रह्मवस्था—यह परमात्मा का लय है। उसके अनंतर परम महाकारणावस्था की गंभीरतम स्थिति, उसके बाद परम महाकारणावस्था का भी लय। फिर इस लय के उदय से जिस शून्यता का आविर्भाव होता है उसका भी लय। क्रमशः ऊर्ध्वाकर्षण के प्रभाव से इस प्रकार साधना गतिशील होती है। एक-एक भूमि की प्राप्ति में बहुत समय लगता है।

ये सब निर्वाणावस्था से परक्षेत्र की बातें हैं। उस समय न मन रहता है, न चैतन्य। इसीलिए किसी प्रकार की गति भी नहीं रहती। इस प्रकार की उच्चावस्था की असुविधा यह है कि उससे परमचैतन्य का स्फुरण नहीं किया जा सकता। अतः अनुमान से कहा जाता है कि यह सब नहीं है।

समग्र विश्व में असीम गति और शक्तियों का खेल हो रहा है परन्तु यह सब परिस्पंदशून्य उच्चावस्था स्थैर्यरूप है। उसके लिए असाधारण धैर्य चाहिए। महायोग के दो प्रान्त हैं—एक सविकल्प और दूसरा निर्विकल्प। इसके अतिरिक्त और भी दो हैं—एक कारण-कल्प और दूसरा निवृत्ति-कल्प। इन चारों के बाहर में परमसत्ता है। यह कल्प सत्यकल्प है, इसीलिए अखंडमहायोगतत्व समाधिलभ्य है। समाधि इनके मतानुसार पाँच प्रकार की है—सविकल्प, निर्विकल्प, कारणकल्प, निवृत्तिकल्प और सत्यकल्प। सविकल्प समाधि के भी दो भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात। ये कहते थे कि कुछ अवस्थाएँ इसके परे भी हैं किन्तु उनका ज्ञान मुझे नहीं है। इनके अनुसार स्पंदन तथा वृत्ति-त्याग ही मन का लय है। जब संकल्प-विकल्प कुछ नहीं रहता, वह योग का प्रथम सोपान है। प्राणलय है वायु का स्थिरत्व। चैतन्यावस्था अनुभवगम्य है। महाचैतन्य अथवा विराट् मन, चैतन्य त्याग करने पर होता है। यही परम शांत महाज्योतिर्मय परम शिवावस्था है। परात्पर शिवज्योति इसी का नामांतर है। शिवज्योति के अवसान से महालय का आविर्भाव होता है। इसी को ब्रह्मलय कहते हैं।

५५. कालीपद गुह राय

काली बाबू के विषय में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके बाद भी हम बहुत कुछ सुनते रहे थे। ये स्वदेशी-प्रेमी थे, स्वतंत्रता आंदोलन में जेल गये थे और वहाँ बहुत कष्ट सहा था। एक असाधारण महापुरुष की कृपा से कालांतर में इनके जीवन में आकस्मिक परिवर्तन हो गया था।

मुझसे इन महाशय का संपर्क १९५१-५२ के लगभग हुआ। ये उस समय कलकत्ता में रहते थे। 'हिमाद्रि' नामक मासिक पत्रिका (बंगला) इनकी देखरेख में भक्त-मंडली द्वारा संचालित होती थी। इन्हीं के अनुरोध से संत-महात्माओं से अपने साक्षात्कार विषयक मैंने कई लेख उक्त पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए दिये थे। आगे चलकर उन लेखों का संग्रह 'साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग' नामक ग्रंथ के दो भागों में प्रकाशित हुआ।

अलौकिक महापुरुष की कृपा इन पर तीस वर्ष पूर्व हुई थी। उन्होंने स्वत: प्रेरित होकर इन्हें अपना लिया था। वैसे वे अदृश्य रहा करते थे किन्तु कभी-कभी आकस्मिक रूप से प्रकट होकर इन्हें उपदेश और शिक्षा देते थे। ये महापुरुष कौन थे? यह कहना कठिन है। कोई भी हों, ये ईश्वरकल्प महात्मा थे। वे इनके सामने यथेच्छा स्थूल रूप से प्रकट होते थे और कार्य समाप्ति के पश्चात् तत्काल की अंतर्हित हो जाते थे। कहीं से न आते थे, न कहीं जाते थे। जहाँ रहते थे उसी स्थान पर अदृश्य हो जाते थे। वे महात्मा कितने दिन के थे, कोई कह नहीं सकता। सुना जाता है कि वे दाराशिकोह (शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र) के भी उपदेष्टा थे। इनके पूर्व वे काश्मीरी देह-युक्त प्रकट होते थे। उनका ठीक-ठीक परिचय साधारण मनुष्य के लिए प्राप्त होना असंभव है। चिन्मय शरीर था—स्थूल, सूक्ष्म कारण से परे। अत्यंत स्नेह एवं वात्सल्यपूर्ण पुरुष थे।

उन्हीं कृपा से 'काली दा' ने योगमार्ग में इतना प्रकर्ष लाभ किया था और नाना प्रकार की विभूतियों के अधिकारी हो गये थे। इनके भक्त भारत के कोने-कोने में (पांडेचेरी तक में) फैले हुए हैं। ये अत्यंत गोपनीय भाव में रहते थे। घर से बाहर कौन कहे, कमरे के बाहर भी कम जाते थे। इसलिए लौकिक आचार-व्यवहार से कोई इनका वास्तविक परिचय

पा नहीं सकता था। स्पंद-विज्ञान तथा निस्पंद विज्ञान प्रभृति विषयों में इनका अनुभवात्मक ज्ञान था। यों काश्मीरी शैव-दर्शन के कुछ ग्रंथों में स्पंद-विज्ञान का विवरण मिलता है किन्तु काली दा के एतद्विषयक अनुभवों से उसके अतिविशाल रूप का पता चलता है।

अपने उपदेष्टा को ये 'बंधु' कहकर पुकारते थे। वस्तुत: उक्त महापुरुष इनसे समवयस्क की भाँति व्यवहार करते थे। गुरु का गौरव प्रकट नहीं होने देते थे। उनका सिद्धदेह था। ऐसी भी घटना सुनने में आयी है कि एक बार इनके शरीर के ऊपर से सवारियों से भरा हुआ बस चला गया परन्तु न तो बसवालों को उनका शरीर देखने में आया, न उन्हें ही बस का स्पर्शानुभव हुआ। यह घटना सर्वप्रसिद्ध है, इसीलिए इसकी यहाँ चर्चा कर दी गयी। उनके अनेक चमत्कार हैं, जिन्हें स्वयं काली दा गुप्त रखते थे। इसलिए हमारे द्वारा भी वे प्रकाश्य नहीं हैं।

काली दा के केदारघाट (काशी) स्थित आवास में विभिन्न स्थानों से आकर उनके भक्त बाल-बच्चों सहित रहते थे--एक परिवार की तरह घुल-मिलकर। आजकल या वैशिष्ट्य कहीं अन्यत्र देखने में नहीं आता। वृत्ति का कोई प्रत्यक्ष साधन न होते हुए भी भगवत्कृपा से इन्हें कभी किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता था।

अदृष्ट की विडंबना देखिये कि अपनी जिस वृद्धा माता के काशी में प्राण-त्याग को लक्ष्य करके ये कलकत्ता से वाराणसी आये थे, वे ९० वर्ष की परिपक्व अवस्था में जीवन की शेष साँसें पूरी कर ही रही थीं कि उनके सामने ही कुछ वर्ष पूर्व पुत्र-वधू (काली दा की धर्मपत्नी) और फिर गत १४ अक्तूबर '६६ को स्वयं काली दा का तिरोधान हो गया। ये महासत्त्व परम-स्थान में चले गये। इस समय इनके संबंध में अधिक कहना मेरे लिए न संभव है, न उचित ही।

छ: वर्ष पहले आंतरिक प्रेरणा से लिखी गयी काली दा की एक बंगला कविता उनके देहांतरित होने के बाद मिली है। यह नीचे दी जाती है—

आमाय घेरी एई जे एदेर एत आनागोना,
एतो-दिनेर एतो-खनेर एई जे जानाशोना।
कीबा पेल की पेलना किछुइ नाहीं जानी,
तबू ओदेर भालोबा साय आबाक मानी आमी॥
देह जाखन शेष होये जाय थाके शुधु नाम,
महाकालेर महास्त्रोते कि बा ताहार दाम।
कामना शब शेष कोरेछी कि बा आमार चावा,
ओपार हते गाये लागे बिदाय बेलार हावा।
कामना की शेष करेछी हयतो किछु बाकि।
ताईतो ओदर भालोबासा देह मने माखि।
एकटी तृष्णा थाकुक आमार छाड़ते नाहिं चाई,
युगे युगे फिरे फिरे ओदेर येन पाई।
आमाय घेरी आमाय धरि पेल यारा सुख,
परम क्षने परम धने भरुक तादेर बुक॥

२४-११-६० दादा

मानसरोवर

इसमें यह भाव स्फुट है कि जो महानुभाव मेरे संपर्क में आये और जिन लोगों ने स्नेह-प्रेम से हमें कृतकृत्य किया, उनको प्रतिदान देने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है। अत: हम प्रार्थना करते हैं कि महाक्षण में जब परमवस्तु का साक्षात्कार हो तब उसी पूर्ण आनंद से उन लोगों का हृदय आप्लावित हो जाय।

५६. मेहेर बाबा

मैं इनके नाम से बहुत दिनों से परिचित हूँ। पाल ब्रंटन के 'सर्च इन सीक्रेट इंडिया' नामक ग्रंथ में मैंने सबसे पहले इनका विवरण देखा था। इसके बाद उपासनी बाबा और प्राचीन साईं बाबा के प्रसंग में भी मेहेर बाबा का नाम मैंने सुना था। इनके कई भक्तों से भी मेरा परिचय था। इनके आश्रम से प्रकाशित 'जर्नल' भी मैं कई वर्षों से नियमित रूप से पढ़ता था। सूफी संतों के संबंध में जानने का मुझे औत्सुक्य था और इस प्रसंग में बहुसंख्यक सूफी साधकों का तत्वविचार और जीनव-चरित हमने देखा था। इस सिलसिले में भी मैं इनके नाम से परिचित हुआ था। इसके अतिरिक्त, इनके स्वरचित तथा इनके विषय में अन्य लोगों द्वारा लिखे गये बहुत से ग्रंथ मुझे पढ़ने को मिले थे। अंतिम पुस्तक जो मैंने देखी थी वह 'गॉड स्पीक्स' नाम से प्रसिद्ध है। इसे पढ़ने के बाद बाबा को देखने की इच्छा हृदय में अत्यंत बलवती हो गयी थी। परन्तु इनके दर्शन का कोई अवसर मुझे तब तक नहीं प्राप्त हुआ जब तक मैं पूना नहीं गया।

माता आनंदमयी के आह्वान से १९६० ई० के जून महीने में मैं पूना गया था। वहाँ पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि मेहेर बाबा उन दिनों वहीं विराजमान हैं। यह सुनकर मेरे हृदय में अत्यंत तीव्र इच्छा हुई कि हो सके तो इनका दर्शन करूँ। मुझे दर्शन का अवसर मिल सकेगा या नहीं, यह जानने के लिए एक सहयोगी मित्र को बाबाजी के पास भेजा। उस दिन संभवत: रविवार था। उस समय मैं सोमवार तथा बृहस्पतिवार को मौनावलंबन करता था। मेरे सहचार सेवक सीताराम बाबाजी के निकट गये, दर्शन किया और उनके कर्म-सचिव से मेरा नाम बताकर प्रार्थना की कि मैं बाबाजी का दर्शन करना चाहता हूँ। मेहेर बाबा मेरा नाम सुनकर अत्यंत आनंदित हुए और कहा : 'बिल्कुल ठीक है, मैं तैयार हूँ। कल प्रात: ८ बजे दर्शन दूँगा।' सीताराम ने निवेदन किया कि दूसरे दिन मेरा मौन है। मंगलवार को समय दे सकें तो अच्छा हो। बाबा ने कहा : 'इसमें हर्ज क्या है? मैं भी तो मौनी हूँ।' उन्होंने विशेष रूप से सोमवार को मेरे आने का अनुरोध किया। मैं उनके इच्छानुसार सोमवार को यथासमय गया परन्तु उनके मौन रहने से किसी प्रकार का प्रश्न नहीं कर सका। न एकांत में बात करने का अवसर ही मिला। बाबा ने अनुरोध किया कि मैं मंगल को भी प्रात: आठ बजे आऊँ जिससे अच्छी तरह बात हो सके। तदनुसार मैं मंगल को उक्त सहचर के साथ बाबाजी से मिलने प्रात: ८ बजे गया। जाकर देखा कि बाबाजी मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मिलते ही उन्होंने पहले मुझे आलिंगन किया, फिर मस्तक में चुंबन किया। स्वयं खड़े हो गये और मेरे कंधे पर हाथ रखकर अपने साथ एक विशिष्ट कमरे में ले गये। वह कमरा खाली था और एकांत में था। वहाँ बाबाजी अपने स्थान पर बैठे। मैं भी निकट ही एक अलग आसन पर बैठ गया। उस समय वहाँ बाबा के दुभाषिये को छोड़कर और कोई नहीं था। उसने हम लोगों के बैठ जाने पर दरवाजा बंद कर लिया, जिससे बाहर से विक्षेप न हो।

बाबा की मौनवार्ता आरंभ हुई। हाथ की उँगलियों से विभिन्न प्रकार के संचालन द्वारा इंगित करते हुए वे अपने भाव व्यक्त करते थे। उनका अर्थ मैं नहीं समझ सकता था—दुभाषिया अंग्रेजी में मुझे तात्पर्य समझाते रहे। मैं भी उसका उत्तर अंग्रेजी में ही देता रहा। प्रत्युत्तररूपेण बाबा पुन: पूर्वोक्त पद्धति से अपने विचार व्यक्त करते रहे। दुभाषिया अंग्रेजी में अनुवाद करके मुझे सुनाता था। इसी प्रकार वार्तालाप चलने लगा। कभी-कभी देख पड़ता कि अंगुली-संचालन का जो मंतव्य दुभाषिया ने व्यक्त किया, उसमें कुछ भ्रम था, जिसका बाबा ने तुरंत संशोधन कर दिया, फिर संशोधित रूप में उत्तर सुनने में आया। इस प्रकार एक घंटे तक बाबाजी से बड़ी गूढ़ वार्ता हुई।

इस अल्पकालीन सत्संग से समझ में आया कि बाबाजी अंतर्दर्शी हैं और सूक्ष्म मार्गों के परिज्ञाता हैं। जगत् का भविष्य, उनके जीवन का लक्ष्य, मनुष्य मात्र के कर्तव्य आदि विषयों पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। मैंने पूछा : 'मेरे विषय में आप क्या समझते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया : 'आपके विषय में मेरा कुछ कहना नहीं है। आप महानिशा में जो करते हैं, उसी को करते रहिये।' यह सुनकर हमें आश्यर्य हुआ। महानिशा में मैं क्या करता हूँ यह किसी को मालूम नहीं था। बाबाजी ने इसे कैसे जान लिया! इसके बाद इसी प्रसंग में कुछ अंतरग विषयों का भी विवरण दिया, जिससे इनके अंतर्यामित्व के विषय में मेरा चित्त नि:संशय हो गया। चलते समय इन्होंने 'गॉड स्पीक्स' नामक अपने ग्रंथ की एक प्रति तथा सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक कुछ चित्र मुझे देकर निर्देश किया : 'तुम्हारे साथ मेरा अंतरंग संबंध है, जो धीरे-धीरे मालूम होगा।'

इसके बाद फिर बाबाजी के दर्शन का सौभाग्य नहीं हुआ। परन्तु उस समय से इनके साथ मेरा आंतरिक संबंध बराबर बना हुआ है। भीतर से तो है ही, बाहर से पत्रादि द्वारा भी यह संबंध निरंतर चल रहा है। कभी-कभी अप्रार्थित रूप से भी इनका अंतरंग संदेश मिलता रहता है।

५७. उपवासी बाबा

इन महात्मा से मेरा परिचय आकस्मिक रूप से हुआ था। इनका शरीर मैसूर प्रांत का है। उसी प्रदेश के मेरे एक विद्यार्थी के घर में इनका काशी में शुभागमन हुआ था। उस विद्यार्थी के साथ इनका व्यक्तिगत परिचय तो नहीं था किन्तु उसके आध्यात्मिक क्रम के साथ इनका घनिष्ठ संबंध था। उसी सूत्र से मेरा इनसे परिचय हुआ था।

ये सिद्धरूप से सर्वत्र प्रख्यात थे। इनका सिद्धिक्षेत्र था—श्रीशैल, जहाँ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागार्जुन ने सिद्धिलाभ किया था। पूर्वोक्त विद्यार्थी के घर में मेरा तथा मेरे गुरुदेव का चित्र विलम्बित था। इन चित्रों से बाबाजी को बहुत आकर्षण हुआ। मेरा चित्र देखकर उन्होंने उस विद्यार्थी से कहा : 'मैं इनसे मिलना चाहता हूँ।' मेरा विशेष परिचय इन्हें ज्ञात नहीं था किन्तु उसी विद्यार्थी के साथ ये आकर मुझसे मिले। यही परिचय का प्रथम सूत्रपात था।

महात्मा जी मूलत: शैव थे और सिद्ध-रासायनिक भी थे। रसायन की बहुत सी गुप्त प्रक्रियाएँ इन्हें मालूम थीं। सुना था कि इन्होंने बहुत दिनों तक कुछ भी भोजन नहीं किया था इसीलिए इनका नाम उपवासी बाबा पड़ा था। अवश्य मुझसे जब परिचय हुआ तब वह स्थिति नहीं थी। देखने में ये बलिष्ठ युवक की भाँति प्रतीत होते थे किन्तु वास्तव में

उस समय इनकी अवस्था ९६ वर्ष की थी। मुझे पता चला था कि इनके पूर्वाश्रम के पुत्र की आयु ६० वर्ष से ऊपर है। इन्होंने भारत के विभिन्न प्रांतों का पर्यटन किया था। अनेक विशिष्ट सिद्धों से इनका परिचय भी था।

एक दिन ये मेरे गुरुदेव के आश्रम 'श्री विशुद्धानंद-कानन' में दर्शनार्थी रूप से उपस्थित हुए। वहाँ घूमकर सब देखा। आश्रम में श्री श्री माता नवमुंडी का आसन प्रतिष्ठित है। यह अत्यंत गुप्त और शक्तिशाली आसन है। जगत् पंचमुंडी आसन तक से ही परिचित है, नवमुंडी आसन का रहस्य प्राय: किसी को ज्ञात नहीं है। यह एक आश्चर्य की बात है कि उस स्थान में आते ही इन महापुरुष के समक्ष उसका रहस्य खुल गया। इनके मुँह से सहसा ये शब्द निकल पड़े : 'ऐसा जागृत स्थान मैंने भारत में कहीं नहीं देखा मानो महाशक्ति को पकड़ कर यहाँ बाँध दिया गया है। यहाँ शक्ति नित्य जागृत है।' इनकी जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए मैंने इस आसन की प्रतिष्ठा का इतिहास सुनाया और यह बताया कि गुरुदेव ने चालीस वर्ष के अनवरत प्रयत्न से इसकी स्थापना की थी।

कुछ दिन काशीवास कर ये पुन: पर्यटन पर चले गये। सत्संगकाल में इन्होंने मुझे अपने साधन-जीवन का चमत्कारपूर्ण इतिहास सुनाया था। जहाँ तक मैं जानता हूँ ये अभी तक शरीर धारण किये हुए हैं।

५८. सत्तसाईंबाबा

इनका नाम हमने बहुत दिन से सुन रखा था किन्तु दर्शन का अवसर नहीं मिला था। १९६६ ई० के मार्च के बंबई प्रवास के समय दो दिनों तक इनके सत्संग का लाभ सौभाग्य से प्राप्त हुआ। इसके पूर्व १९६५ ई० में जब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में 'तांत्रिक-संमेलन' का आयोजन हुआ था, इनको भी उसमें भाग लेने के लिए निमंत्रण दिया गया, परन्तु शिवरात्रि के कारण ये आ नहीं सके। सुनने में आता है कि ये प्राचीन सुप्रसद्धि साईं बाबा के अवतार हैं, परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है।

इनका वैशिष्ट्य यह है कि बाल्यावस्था से ही ये अलौकिक शक्ति-संपन्न हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है चौदह वर्ष की अवस्था में ही इनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी थी। आजकल इनकी अवस्था ४१ वर्ष के आसपास होगी। इन महापुरुष में बहुत सी अलौकिक शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों का दर्शन बहुत लोगों को हुआ है। इनकी एक विशेषता यह है कि प्रणाम करते ही ये आशीर्वाद देते हैं और आशीर्वाद देने के साथ ही सुगंधिभस्म आविर्भूत होता है। यहाँ तक देखा गया है कि बंबई में जिस स्थान विशेष में इनका चित्रपट रखा गया है वहाँ भी निरंतर भस्म गिरता रहता है। नीचे शुद्धवस्त्र रखा जाता है जिसमें भस्म का संग्रह होता है। केवल भस्म ही नहीं, ये हाथ हिलाकर नाना प्रकार की वस्तुएँ भी प्रकट करते हैं। भक्ति-ज्ञान दोनों में इनकी रुचि है। ये अमायिक हैं और भक्तों से बहुत सद्व्यवहार करते हैं। कहते हैं कि ऋषिकेश में इन्होंने स्वामी शिवानंद को, जप की माला, हाथ के फेर से आकर्षण करके दी थी। इस प्रकार की कई अन्य अलौकिक घटनाएँ भी सुनने में आती हैं। मैंने १९६६ ई० के मार्च में बंबई में दो दिन इनका शुभ-दर्शन-लाभ किया था।

५९. कमरू बाबा

ये सूफी भाव से भावित एक सिद्ध साधक हैं। यद्यपि जाति के मुसलमान हैं फिर भी किसी प्रकार का जातिभाव नहीं रखते। ये शिरडी के प्रसिद्ध संत साईं बाबा से पूर्वजीवन में प्रभावित हुए थे। इनसे मेरी भेंट, बंबई में, १९६५ ई० में हुई थी।

कमरू बाबा साक्षात् प्रेममूर्ति हैं। बंबई में नगर के बाहर इनका आश्रम है। इनका जीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी जैसा संयमपूर्ण है। देखने से मालूम पड़ता है कि ये सर्वदा जप में लीन रहते हैं क्योंकि ओठ निरंतर स्पंदित रहते हैं। मैंने बंबई प्रवास के समय इनका दर्शन दो-तीन बार किया था और इनके ज्ञान तथा प्रेम भाव से प्रभावित हुआ था। सुना जाता है कि ये विशेष ऐश्वर्य-संपन्न हैं। कई लोग इनके द्वारा जीवन में उपकृत हुए हैं। इनकी दृष्टि अपरिच्छिन्न है और जैसा मेरा अनुभव हुआ था, यह हृदय की अंतस्तल दृष्टि है।

६०. कोठारी बाबा

ये एक सिद्ध महात्मा हैं और बंबई नगर के एक प्रांत में एकांतवास कर रहे हैं। ये पहले उच्चपदस्थ राजकीय कर्मचारी थे, फिर संसार त्याग कर विरक्त हो गये। कालांतर में दीर्घ तपस्या के फल से ये ज्ञान तथा सिद्धि दोनों के अधिकारी हुए। इनके आश्रम में जाकर दर्शनमात्र करने से मेरा चित्त प्रसन्न हो गया था। गाँधीजी ने जिन दिनों अहिंसा आन्दोलन आरंभ किया था, उस समय इन्होंने उनके साथ अहिंसा तत्व के विषय में बहुत शास्त्रार्थ किया था। इनका कहना था कि साधारण अवस्था में कोई मनुष्य अहिंसा में प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकता। देहात्मबोध से मुक्त हुए बिना अहिंसा मार्ग में प्रवेश-लाभ नहीं होता। चित्त जब तक विकल्पशून्य न हो तब तक किसी न किसी रूप में हिंसा होती रहती है। इन बाबाजी ने एतद्विषयक कई प्रचार-पत्र तथा पुस्तकें मुझे दी थीं। इनसे मेरी भेंट १९६५ ई० में एक ही बार हो सकी। फिर मिलने का अवसर नहीं आया।

६१. माधव पागला

इन महात्मा को मैंने सबसे पहले श्री नरेंन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय[1] के यहाँ १९३६-३७ ई० के लगभग देखा था। वंद्योपाध्यायजी उन दिनों बाँसफाटक पर निताई मल्लिक के मकान में रहते थे। वे बड़े शांत महापुरुष थे। नित्य प्रातः सायं उनके पास अनेक जिज्ञासु शास्त्राध्ययन तथा तत्वज्ञान-संबंधी अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए एकत्र होते थे। एक दिन सबेरे गंगास्नान करके मैं दशाश्वमेध घाट से सीधे उनसे मिलने गया। उस समय ये भी वहाँ बैठे थे। वंद्योपाध्यायजी ने इनसे मेरा परिचय कराया। उन दिनों इनका स्वाध्याय चल रहा था। उस संबंध में ये वंद्योपाध्याय महाशय से नियमित रूप से पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिए उपस्थित होते थे। मैं इनकी सरलता तथा तत्व-ज्ञानस्पृही प्रवृत्ति से बहुत प्रभावित हुआ।

दूसरी बार इनका दर्शन माता आनंदमयी के आश्रम, भदैनी, में आयोजित एक संतसभा में हुआ। उसमें म० म० फणिभूषण भट्टाचार्य, स्वामी शंकरानंद, स्वामी अखंडानंद, स्वामी

---

१. ये वंद्योपाध्याय महाशय महात्मा राम ठाकुर के शिष्य थे। योगिराज अरविंद ने उन्हें १९४० ई० में अपने पास पांडेचेरी बुला लिया था। तब से ये वहीं रहते हैं।

मुक्तानंद, सर पन्नालाल, देवशंकर मित्र, सतीश महाराज, प्रभातचंद्र वंद्योपाध्याय, रवि बोस प्रभृति महानुभाव उपस्थित थे। माधव पागला ने खड़े होकर गीता का निम्नांकित श्लोक पढ़ा—

''बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥''
(गीता)

और कहा, 'कौन सी शक्ति प्रकट होने से सर्वत्र वासुदेव का दर्शन होता है, 'वासुदेवः सर्वमिति' का भान होता है। आप महानुभाव इसे स्पष्ट करने की कृपा करें।' हम लोगों को यह आभास हुआ कि इन महातमा ने इस विषय पर कुछ चिंतन किया है। अतः सबने एक स्वर से उसकी व्याख्या करने का अनुरोध किया। माताजी ने इसका अनुमोदन किया और माधव पागला से एतद्विषयक अपने अनुभव अभिव्यक्त करने को कहा।

पागल महाशय ने व्याख्या आरंभ की, 'भक्ति की तीन शक्तियाँ होती हैं—संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। इनके स्वरूप से आप महानुभाव परिचित हैं। अतः उनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं। मेरे विचार से इनमें से संवित् शक्ति के प्रभाव से 'वासुदेवः सर्वमिति' का बोध होता है। महाप्रभु ने अपने शब्दों में इसे स्पष्ट करते हुए बताया है—

''स्थावर जंगम नाहीं देखे देखे कृष्ण मूर्ति।
जहाँ-जहाँ नेत्र परे होवे इष्ट स्फूर्ति ।''
(चैतन्य चरितामृत)

इसके बाद से इनसे हमारा घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया। इन्होंने मेरे पास अपने गुरुदेव, रामठाकुर महाशय, के द्वारा प्राप्त साधना का क्रम लिखित रूप में भेजा। उसे पढ़कर मुझे बहुत आनंद हुआ। तीन-चार दिन के बाद मैं स्वयं इनके यहाँ गया। इनकी साधनाप्रणाली के संबंध में बहुत देर तक बातें होती रहीं। उसी सिलसिले में मैंने इनसे चतुर्थक्रम की व्याख्या करने को कहा जिसमें इष्ट और साधक तादात्म्य प्राप्त होकर तत्वतः एक हो जाते हैं। ये बोले, 'जब साधक के चित्त में अहंकार का कण मात्र भी नहीं रहता, यह स्थिति तभी आती है। इसकी मूल प्रेरकशक्ति है प्रेमाभक्ति। अन्य किसी प्रकार से यह संभव नहीं हो सकता।'

तंत्र तथा योग साधना में इनकी पर्याप्त गति देखकर मैंने इनसे 'शांभवी मुद्रा' के स्वरूप तथा साधनाप्रक्रिया की विवेचना करने की प्रार्थना की। इन्होंने पहले तंत्र के ये दो श्लोक सुनाये—

अन्तर्लक्ष्या बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा एव शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता॥
वेदशास्त्रपुराणादि सामान्या गणिका इव।
या एव शांभवी मुद्रा गुप्ता कूलवधूरिव।

फिर बोले, साधारण लोगों की एक दृष्टि रहती है किन्तु साधक की दो दृष्टियाँ होती हैं— एक बाहर, एक भीतर। असली दृष्टि भीतर होती है, यह ज्ञान दृष्टि है, बाहरवाली व्यवहार दृष्टि है। इन दोनों दृष्टियों से संपन्न साधक की पलकें नहीं गिरतीं। जिसके ये दोनों दृष्टियाँ नहीं होतीं, वह

वेदशास्त्रों का गुह्यार्थ समझ ही नहीं सकता। सांसारिक लोग उसके ऊपरी अर्थ से संतुष्ट हो जाते हैं। वह गणिका की भाँति सर्वसुलभ है किन्तु उसके निहिततत्व को शांभवी-मुद्रा-सिद्ध योगी ही हृदयंगम कर सकते हैं। शांभवी-मुद्रा की व्याख्या हो नहीं सकती। इस विषय में कोई उपदेश करना बेकार है। इसका रहस्य साधना से ही जाना जा सकता है।' मैंने पूछा : 'अंतर्लक्ष्य होने पर बहिर्दृष्टि कहाँ रहती है?' ये बोले : 'दहराकाश में। हृदय में जो द्वादश अंगुल आयत का शून्य स्थान है वही दहराकाश है।' मैंने कहा : 'बाबा! आपने तो इसे जान लिया है। दूसरे लोग इसे किस प्रक्रिया से प्राप्त कर सकते हैं?' इनका उत्तर था : ''इस विद्या का प्रत्यक्ष उपदेश नहीं होता। 'इट पासेज फ्राम माइंड टु माइंड' (एक के मस्तिष्क से दूसरे के मस्तिष्क में इसका सीधा संक्रमण होता है)। गुरु के मन से शिष्य के मन में यह तत्व प्रत्यक्षतया प्रेषित होता है। शांभवी-मुद्रा में किया हुआ जप ही अजपा जप है।''

दूसरे दिन मैं फिर इनके पास गया। सत्संग आरंभ हुआ। मैंने जिज्ञासा की, 'आपकी स्थिति अवधूत जैसी प्रतीत होती है। इसके बारे में आपको अपने गुरुदेव से कुछ आदेश मिला था या स्वतः ही इसे वरण किया है? आपने संन्यास तो लिया नहीं।' इन्होंने उत्तर दिया : 'एक दिन ११ बजे मैं गंगाजी नें नहा रहा था। देखता हूँ, अचानक चिन्मय-देह में गुरुजी गंगाजी के ऊपर खड़े हैं और हाथ फैलाकर कह रहे हैं कि अपनी जनेऊ मुझको दे दो। मैंने विवश होकर जनेऊ निकाला और उसे उनकी ओर फेंक दिया। इसके बाद वे लुप्त हो गये। जनेऊ गंगाजी में डूब गया। स्नान के बाद घर लौटने पर मुझे पश्चात्ताप हुआ कि ब्राह्मण होकर मैंने जनेऊ उन्माद की स्थिति में तो नहीं फेंक दिया। फिर विचार आया कि जब हमने अपना शरीर ही बाबा के चरणों में अर्पित कर दिया, तब उस पर जनेऊ रहेगा कि नहीं यह हमारे सोचने की बात नहीं है। शास्त्र के विधि-निषेध-पालन का कर्तव्य अब हमारा नहीं रहा—हम सबसे मुक्त हैं। पीछे हमने भागवत में देखा कि 'दिगंबर-संन्यास के अंतर्गत यज्ञोपवीत किसी पवित्र स्थान में फेंक दिया जाता है।' बाबाजी ने मुझसे भी इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करने को अनुरोध किया । मैंने कहा : 'तत्वदृष्टि के अनुसार आप खाकी अवधूत हैं क्योंकि गुरुदेव ने जनेऊ माँगकर आपके वर्णाश्रम धर्म के विधिनिषेध से एकदम मुक्त कर दिया है। अब आपकी रागानुगा भक्ति का मार्ग खुल गया—विधि-निषेध-पालन की आवश्यकता नहीं है।'

एक बार जब मैं देहरादून में था पागला जी ने एक व्यक्ति के हाथ पत्र भेजकर पूछा था :'भजन करते-करते हमारा देहांत हो जायगा, तब फिर आना होगा कि नहीं?' इसका मैं क्या उत्तर देता? उसी से कहला भेजा :'बाबाजी से कह देना भक्त के लिए सब कुछ संभव है।' पीछे भेंट होने पर इन्होंने मुझे बताया : 'आपका संदेश पाने पर मैंने इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया। मेरे अनुभव में आया कि यह हमारा दसवाँ जन्म है और यही अंतिम है।'

इस बार पागला महाशय ने मुझसे अपने पूर्व जीवन का वृत्तांत विस्तारपूर्वक बताया। वह बहुत ही अद्‌भुत है। उसके संबंध में कुछ आवश्यक तथ्य नीचे दिये जाते हैं—

इनका जन्म ढाका (पूर्वी बंगाल) जिले में विक्रमपुर परगने के अंतर्गत काचिआइल ग्राम में, माघ १३०७ बंगाब्द (दिसंबर, १९०० ई०) में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में

हुआ था। नाम रखा गया गोपालचंद्र मुखोपाध्याय। ४ वर्ष की अल्पायु में ही ये पितृहीन हो गये। दादी ने स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा, वहाँ 'शैलजाकांत मुखोपाध्याय' नाम लिखाया गया। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करके ये देशबंधु चितरंजनदास के चाचा कालीमोहन दास तथा दुर्गामोहन दास की स्मृति में तेलारबाग (विक्रमपुर) में स्थापित के० एस० डी० एम० हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। यहाँ से इन्होंने हाई स्कूल तक छात्रवृत्ति प्राप्त करते हुए अध्ययन किया। हाई स्कूल परीक्षा प्रथमश्रेणी में उत्तीर्ण करके ये उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता गये। वहाँ देशबंधु चितरंजनदास ने इनका नाम साउथ सबर्बन कालेज (जो बाद में आशुतोष कॉलेज हो गया) में लिखा दिया और ४० रु० मासिक देने लगे। इसी कालेज से इन्होंने १९२४ ई० में बी० ए० पास किया। कुछ दिनों तक कानून पढ़कर इन्होंने अध्ययन स्थगित कर दिया। फिर ईस्ट बंगाल रेलवे में ठेकेदारी करने लगे। १९३१ ई० में इसे छोड़कर कुमुदानंद झा नामक एक जमींदार के लड़के के गार्जियन ट्यूटर हो गये। १९३४ तक वहाँ रहकर ये काशी चले आये।

इनके मामा पंडित आनंदचंद्र विद्यालंकार काशिराज के सभापंडित और बंगाल सारस्वत समाज के अध्यक्ष थे। वे काशी में ही रहते थे। यहाँ के पंडितसमाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनके संबंध से ये काशी बराबर आया करते थे। १९३४ ई० में जिस समय इनका काशी आगमन हुआ संयोगवश उन दिनों रामठाकुर महाशय यहाँ अवस्थान कर रहे थे। ये उनका दर्शन करने गये। श्रद्धावनत होकर दीक्षा देने की प्रार्थना की। ठाकुर महाशय ने शरण में लेना स्वीकार कर लिया। गोदौलिया में इवांस कंपनी के दोतल्ले में इनकी विधिवत् मंत्रदीक्षा हुई।

संयोग की बात देखिये कि १२ वर्ष की अवस्था में ही जब ये महात्मा भोलानंद गिरि से दीक्षा लेने के उद्देश्य से हरद्वार गये थे तो उन्होंने स्पष्ट कहा था, 'मुझसे तुम्हारी दीक्षा नहीं होगी। आगे कोई महापुरुष देगा।' इसके २२ वर्ष बाद उसका संयोग उपस्थित हुआ। बाद में जब स्वामी भोलानंदगिरि के प्रधान शिष्य मंडलेश्वर महादेवानंद गिरि जी महाराज काशी पधारे तो इन्होंने कहा : 'आपके गुरुदेव के पास मैं दीक्षा लेने गया था किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया।' महामंडलेश्वर ने हँसते हुए कहा, 'गुरु किना (क्रीत) होता है, तुम्हारा जो है वही दीक्षा देगा।' गिरि महानुभाव अपने पूर्व जीवन में मैमनसिंह (पूर्वी बंगाल) के एक प्रसिद्ध वकील थे।

इसके बाद ये कलकत्ता चले गये। वहाँ एक वर्ष पर्यंत रहकर १९३६ ई० में पुनः काशी लौट आये। तब से यहीं रह गये। इनके साथ माताजी भी रहती थीं। १९४५ ई० में उनका देहांत हो गया। इसके बाद दो वर्ष बंगाली टोला में रहे। १९५० ई० से ये पातालेश्वर मुहल्ले में रहते हैं। पहले कुछ दिन किराये के मकान में रहे किन्तु १९५१ ई० से एक मस्जिद के बाहरी कमरे में निवास करते हैं। इनके भक्तों और सेवकों में मुसलमान भी हैं। वे श्रद्धा से इन्हें वहाँ रखे हुए हैं।

शैलजाकांत वंद्योपाध्याय से बदल कर ये 'माधव पागला' कैसे हो गये इसके संबंध में मेरे प्रश्न करने पर इन्होंने इस रहस्य की व्याख्या करते हुए एक दिन मुझसे कहा : 'मेरे शिक्षा-गुरु श्री नरेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय ने एक दिन उपदेश करते हुए मुझे बताया कि छपरा

जिले के किसी गाँव में एक साधु रहते थे, वे 'आमार माधव खूब भालो' (हमारा माधव बहुत अच्छा है) कहते हुए पागल की तरह घूमा करते थे। वंद्योपाध्याय जी के पांडेचेरी जाने पर संस्कार साक्षात् होने से हमने इसका भेद जान लिया कि दिव्योन्माद युक्त वह 'माधवपागला' मैं ही था। माता आनंदमयी ने भी पीछे इसकी पुष्टि की। इस स्मृति के प्रभाव से मेरा पूर्वभाव जग गया[१] तो मैं १२ वर्षों तक नंगे बदन पागल की तरह काशी की गलियों में चक्कर लगता रहा। बाहर से लोग मुझे अत्यन्त विपन्न तथा अभावग्रस्त समझते थे किन्तु मेरे भीतर आनंद-सागर लहरा रहा था। शरीर रहेगा कि नहीं इसकी परवाह नहीं थी—एक बार ३६ दिन तक निराहार रहा—उस समय ब्रह्म-चिंता से ही शरीर को पोषण मिलता रहा।'

काशी में रहते हुए इन्होंने कई विशिष्ट महात्माओं का सत्संग लाभ किया—माधवानंद गिरि, बालानंद ब्रह्मचारी के शिष्य मोहनानंद, सीतारामदास, ओंकारनाथ, स्वामी सर्वानंद, पातालेश्वर स्थित मस्जिद के फकीर साहब, चौसट्टी के मौनी बाबा, काश्मीर के स्वामी ब्रह्मानंद, स्वामी कृष्णानंद आश्रम, स्वामी प्रणवानंद, हरद्वार के ज्ञानानंद स्वामी, शोभा माँ, तिलभांडेश्वर की राँगा माँ तथा रानी महल के केवलानंद ब्रह्मचारी इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कलकत्ता में ठीकेदारी करते हुए मुर्शिदाबाद के मीनाई फकीर की इन्हें विशेष कृपा प्राप्त हुई थी। ये उनको गुरुकल्प मानते थे।

यह एक विचित्र बात है कि वैराग्य संपन्न अवधूत महापुरुष होते हुए भी अब तक एक गृहस्थ परिवार से इनका परिवारिक संबंध स्थापित है। इस संबंध में जिज्ञासा करने पर इन्होंने एक दिन इसका भेद खोलते हुए मुझसे कहा, 'यदुलाल बनर्जी की यहीं चौक में दवा की दूकान थी। नरेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय महाशय ने एक दिन मुझे बुलाकर कहा कि तुम इनके परिवार के अभिन्न अंग हो। मैंने जब इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया तो अनुभव में आया कि वे हमारे पूर्व जन्म के पिता थे। १९५६ ई० में उनका देहांत हो गया। उनके एक पुत्र था। पुत्रवधू और स्त्री भी थीं। मैं उन्हें चाची कहता हूँ। अब पुत्र के चार संतानें हैं। इस परिवार का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। ये लोग हमारी भरपूर सेवा करते हैं। मैं भी यथाशक्ति उनकी सहायता कर देता हूँ। सर्वथा निर्वंध होते हुए भी इस संस्कारजन्य बंधन से मैं बँधा हूँ।'

महात्मा रामठाकुर से इन्होंने साधनप्रक्रिया प्राप्त की थी। मुझे इनका वह गुरुप्रदत्त साधना-क्रम साधकों के लिए विशेष लाभदायक प्रतीत हुआ। लोक कल्याण के लिए उसकी संक्षिप्त रूपरेखा दे देना आवश्यक है। इसे मैं इनके २३ चैत्र (वासंती दशमी) १९६७ बंगाब्द को लिखे गये एक बंगला पत्र से हिन्दी में अनूदित करके दे रहा हूँ।

प्रथम क्रम

साधना पथ में दृढ़ विश्वास के लिए स्थिर चित्त होकर साधक आगे बढ़े। प्रथमत: श्री श्री गुरुमूर्ति को उत्तम स्थान पर स्थापित कर यथानियम भक्तिपूर्वक गंधपुष्पादि द्वारा नाना उपचार से अभीष्ट कामना या साध्यानुसार पूजा तथा स्तोत्र पाठ करे।

आरंभ में दैहिक क्लेश, मानसिक चांचल्य, वैषयिक चिंता इत्यादि उत्पात होंगे। इनसे विचलित न होकर साधक नियम की रक्षा करे।

---

१. 'संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्'। (योगदर्शन—विभूति पाद—२०)

श्री श्री गुरुपूजा समापन के अनंतर उस मूर्ति की ओर एक दृष्टि होकर कुछ क्षण देखे और मन ही मन मंत्र-जप करे।

सांसारिक कार्यों में रत को चाहिए कि मन ही मन इष्टमंत्र जप करते हुए श्री श्री गुरुचरण को ही सर्वथा अपना शरण्य माने। जप निरंतर चलता रहे। क्रमशः चरण से लेकर शरीर के ऊपर ध्यान की चेष्टा करे। फिर विपरीत क्रम से मुखमंडल से चरण युगल तक का ध्यान करे। इस ध्यानक्रम का अभ्यास कभी बंद न हो। साधक जिस भाव में दृष्टि रख सके उसी भाव में ध्यान का अभ्यास करे। कुछ काल अभ्यास के फलस्वरूप इसमें परिपक्वता का लाभ कर वह द्वितीय क्रम में प्रवेश का अधिकारी हो जायगा।

द्वितीय क्रम

इस क्रम में आकर श्री श्री गुरु की पूर्णांग-रूप-चिंता तथा सर्वावस्था में जप-ध्यान करे। अभ्यास के दृढ़ होने पर कान में अविरल साँय-साँय शब्द, शंख, घंटा किंवा दूरागत वंशीरव सुनायी पड़ेगा। उससे अश्रु, कंपन, पुलक इत्यादि लक्षण देह में प्रकाश करेंगे। उन्हें कोई रोग समझ कर घबड़ाये नहीं, प्रत्युत् उत्तम लक्षण समझ कर आनंदानुभव करे। अबाधितजप ही इसकी सिद्धि का प्रमाण है। इसी रूप में श्री गुरुमूर्ति का पूर्णांग रूप मानसपट पर स्थायीभाव से रखे। इसके सफल होने पर मन स्थिर हो गया, ऐसा समझना चाहिए। यह द्वितीय क्रम की परिणति है।

तृतीय क्रम

साधना के तृतीय क्रम में जब आ जाय तब श्री गुरु के पूर्णांग-मूर्ति चिंतनपूर्वक जप करते-करते देह श्री गुरुदेव को समर्पित करे।

अब देह को श्री गुरुदेव की इच्छामात्र से चलाये और अंतर में सर्वदा गुरुमूर्ति का दर्शन करे। इससे विषम-शक्ति क्रमशः लुप्त हो जायगी। काम-क्रोधादि रिपुओं की भीषणता घट जायगी। मन शांत होकर शनैः शनैः प्रसन्नता लाभ करेगा। क्रमशः देह में आत्मबुद्धि तथा अभिमान-राशि घटती जायगी। सांसारिक भावों का उदय कम होगा। श्री श्री गुरुशक्ति पर श्रद्धा एवं विश्वास दृढ़ होगा। गुरुकृपा के फलस्वरूप उनकी चिन्मयसत्ता साधक के अंतर में प्रकट होगी। फिर उसकी इंद्रियाँ, देह, मन, बुद्धि आदि गुरुशक्ति से ही चलने लगेंगी। चित्त का उससे तादात्म्यलाभ होगा। गुरु शिष्य में अभेदत्व की स्थापना हो जायगी। गुरुशक्ति से अभेदत्व अथवा एकत्वभाव स्थापित होने पर अपना समस्तदायित्वबोध होगा। साधक मुक्त हो जायगा। धर्माधर्म, पापपुण्य, सुख-दुःखादि संस्कार फिर उसे विचलित नहीं कर सकेंगे। साधक अपने समस्त दायित्व को गुरु में न्यस्त करके निरपेक्ष भाव से विचरण करने लगेगा। यह भक्ति संसार की अतीव दुलर्भ एवं गुह्य वस्तु है। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त किये बिना रागानुगभजन संभव नहीं है। इसलिए श्री श्री चैतन्यचरितामृत में कहा गया है—

''शास्त्रयुक्ति नाहीं माने रागानुगा प्रकृति''

इस अवस्था में उन्नत होकर शांभवी-मुद्रा के प्रयोग से अखंड नामजप व ध्यान के परिपाक

होने पर देहाभिमान संपूर्ण भाव से चला जायगा और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में वर्णित निर्द्वंद्व अथवा गुणातीत अवस्था प्राप्त होगी।

इस अवस्था के परिपाकांत में श्रीगुरु साधक के देह में आवेशित होंगे और शिष्य के द्वारा अनेक अलौकिक कार्य संपन्न करायेंगे। इसको अपनी क्षमता या बल समझने से अनिष्ट हो सकता है। अग्रगति अवरुद्ध हो जाने की आशंका भी रहेगी। अत: इस विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए।

चतुर्थ क्रम

पूर्ववर्णित गुणातीत अवस्था पार करके साधक चतुर्थक्रम में उपनीत होगा। इसमें भजन केवल मात्र गुरु-शक्ति द्वारा होता है। तब जीव का निज साधनसंस्कार नहीं रह जाता है। साधक के चित्त में योग्यतानुसार भाव-प्रकाश होता है। रस इस भाव के अनुगत है। भावानुयायी रस चित्त को आनंद देता है और इष्ट में अर्पित होता है। यही इस क्रम की परिपक्वावस्था है। इष्ट तदात्मक प्राप्त है। उस क्षण अखंड जप एवं ध्यान के बाद साधक के चित्त में केवल मात्र इष्ट-स्वरूप की अनुभूति होती है। इस दशा में साधक जो आचरण करता है वही सर्वेंद्रियों में कृष्णानुशीलन है। कारण कि तत्क्षण उसकी निज सत्ता नहीं रहती, इष्ट-सत्ता ही स्फुरित होती है और इष्ट के प्रति प्रीतिजन्य इंद्रियादि कर्मरत होती हैं। मन, बुद्धि, अंहकारादि ज्ञान एवं कर्मसंस्कार छोड़कर सर्वतोभावेन इष्टानुसंधान में लीन होते हैं।

इस भाव में स्नेहसहित यत्नपूर्वक निरंतर (अर्थात् जब तक शरीर रहे) मनन करता रहे। इस प्रकार का भजन अत्यंत दुर्लभ है। यही रागानुगा भक्ति की शेष परिणति है। इस अवस्था से ही प्रगाढ़ भक्ति के लक्षण इंद्रियों द्वारा प्रकाशित होते हैं। इसी को साधनशक्ति कहते हैं। विशेष प्रगाढ़ होकर यही प्रेमभक्ति की संज्ञा पाती है। उसी क्षण हृदय में इष्टदेव का प्राकट्य हो जाता है। बाहर सब कुछ धुँधला दिखायी देने लगता है—भीतर अखंड दिव्यज्योति प्रकाशित होती है। 'भक्ति-रसामृतसिंधु' में इसी दिशा को लक्ष्य करके कहा गया है—

"नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं सिद्धिसाध्यता।"

भाव यह कि तत्क्षण चित्त में प्रेम प्रकट होने पर आस्वादित स्वादित हो जाता है।

इस दशा में साधक इष्टरूप में स्थित होकर चिन्मय-रस-विग्रह अथवा सच्चिदानंद-स्वरूप हो जाता है।

❖

५

पत्रालोक

जीवन की अंतधाराओं के संधान में पत्रों का महत्व निर्विवाद है। इनसे व्यक्ति के मानस की उन सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों के अनुचिह्नों का पता लगता है जो जीवनी-निर्माण के अन्य उपकरणों से सामान्यतया लक्षित नहीं किये जा सकते। कविराजजी द्वारा प्रेषित तथा प्राप्त पत्रों में इनके आंतरिक जीवन के अनेक मनोरम चित्र सुरक्षित हैं।

पत्रों की विशेषता

इन पत्रों की सबसे बड़ी विशेषता है—वैयक्तिकतत्वहीनता। प्रस्तुत ग्रंथ के लिए पत्रों के संग्रह तथा उपयोग की अनुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से जब मैं पहली बार कविराजजी की सेवा में उपस्थित हुआ तो इन्होंने अपना एतद्विषयक विचार बड़े ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा : 'मैं तत्व के अतिरिक्त अन्य विषयों से संबद्ध पत्रों का उत्तर बहुत कम देता हूँ, स्वयं ऐसे पत्र लिखता भी कम ही हूँ। पत्रों में वैयक्तिक चर्चा जितनी कम हो उतना ही अच्छा। संग्रह ऐसी वस्तु का करना चाहिए जिसमें चिरंतनता हो, जो शाश्वत मूल्य की हो और जिसमें पाप-ताप से उद्विग्न आत्माओं के उन्नयन की शक्ति हो। नश्वर देह के सुख-दु:ख से रँगे कागज के टुकड़े बटोर कर क्या करोगे?' इस भावना का आदर करते हुए यहाँ ऐसे ही पत्र संकलित किये गये हैं जो किसी न किसी प्रकार इनकी अध्यात्मचर्या से संबंधित हैं। इनमें एक को छोड़कर ऐसा कोई पत्र नहीं है जो तत्वज्ञान अथवा सत्संग चर्चा से रहित हो। जिनमें इनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं का उल्लेख है, उनकी भी पृष्ठभूमि में किसी तत्ववेत्ता संत की अनिवार्य रूप से उपस्थिति रही है। श्रीचरणों की स्वीकृति प्राप्त कर इसके अपवाद रूप में छात्र जीवन का एक ऐसा पत्र संमिलित कर लिया गया है, जो इनकी राष्ट्रीय भावना तथा साहित्यिक-अभिरुचि पर प्रकाश डालता है।

पत्रों के प्रकार

ये पत्र दो प्रकार के हैं—कविराजजी द्वारा प्रेषित पत्र और इनके द्वारा प्राप्त पत्र। प्रथम वर्ग के अंतर्गत विभिन्न स्थानों से विभिन्न व्यक्तियों के पास भेजे गये पत्र आते हैं। इन व्यक्तियों में इनके अनुगत साधक, मित्र, जिज्ञासु, साधनारत गृहस्थ, संत, संन्यासी आदि विविध आश्रमों तथा सामाजिक स्थितियों के लोग हैं। द्वितीय वर्ग के पत्रों के लेखक दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—तत्वदर्शी संत तथा जिज्ञासु साधक। तत्वदर्शी पत्र-लेखकों में हैं गुरुदेव परम-हंस विशुद्धानंद, माँ आनंदमयी तथा मेहेर बाबा; जिज्ञासु साधकों में कविराजजी से कतिपय घनिष्ठरूपेण संपृक्त एवं परिचित आते हैं।

परिधि-विस्तार

उपर्युक्त दोनों वर्गों के पत्रों से कविराजजी के अंतर्जीवन के विविध पक्ष उद्घाटित होते हैं। राष्ट्रप्रेम,साहित्यिक रुचि, शोध-प्रवृत्ति तथा अध्यात्मसाधना के प्रबल संस्कार इनके व्यक्तित्व में आरंभ से ही प्रकाशित होने लगे थे। उनके क्रमविकास की एक क्षीण धारा इनमें सहज ही निर्दिष्ट की जा सकती है। क्षीण इसलिए कि इन प्रवृत्तियों के पोषक पत्रों में से केवल इने-गिने पत्र ही यहाँ संकलित हो सके हैं। जयपुर से १९०७ ई० में ढाका के एक बालबंधु के पास लिखा गया अध्ययनकाल का केवल एक पत्र उपलब्ध हुआ है। इसके बाद १९२३ ई० का प्राप्त पत्र साधनावस्था का है। १९०७ से १९१३ ई० तक के छात्रजीवन का कोई पत्र न मिल सका। १९१४ ई० में इनकी गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस के सरस्वती भवन में नियुक्ति हो गयी। तब से इसी संस्था में तेईस वर्षों तक विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए १९३७ ई० में इन्होंने प्रिंसिपल के पद से समयपूर्व अवकाश ग्रहण किया। १९१८ ई० में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। नियमित रूप से इनके साधनजीवन का श्रीगणेश इसी समय से हुआ। इस क्षेत्र में गुरुदेव से इन्हें किस प्रकार निरंतर सहयोग प्राप्त होता रहा, इसके निदर्शनार्थ परमहंस जी द्वारा इनके पास १९२३, १९२६, १९३१ और १९३३ ई० में भेजे गये चार पत्र संकलित किये गये हैं।

धीरे-धीरे एक उच्चकोटि के साधक महापुरुष के रूप में इनकी ख्याति चतुर्दिक् फैल गयी। दूर-दूर के साधक इनके पास दिशानिर्देश के लिए आने लगे। उनसे इनका पत्राचार होता रहता था। ऐसे कुछ पत्र नमूने के लिए यहाँ रख दिये गये हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन तथा संस्कृति पर अपने विपुल लेखों और ग्रंथों के माध्यम से विद्वद्वर्ग में एक विशिष्ट प्राच्यविद् के रूप में भी इनकी प्रतिष्ठा हो गयी थी। अत: देश-विदेश के शोधार्थी और विद्वान् शोधप्रबंधों और स्वतंत्र रूप में लिखे गये ग्रंथों पर इनकी संमति प्राप्तकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करने लगे। इनके व्यक्तित्व के इस स्वरूप से संबद्ध दो पत्र दे दिये गये हैं। नीचे इन सभी प्रकार के पत्रों के विषय-विन्यास पर हम कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

१. कविराजजी द्वारा प्रेषित पत्र

ये पत्र दो रूपों में लिखे गये हैं—स्वतंत्र रूप में और पत्रोत्तर के रूप में। वर्णन-शैली के अनुसार इनमें से कुछ विचारप्रधान हैं, कुछ अनुभूतिप्रधान।

(क) विचारप्रधान पत्र—इस वर्ग के यहाँ तीन पत्र संकलित हैं। पत्र सं० १, ९ और १२। पहले अर्थात् जयपुरवाले पत्र से इनकी उत्कट राष्ट्रीयभावना तथा साहित्य प्रेम का परिचय मिलता है। यह पत्र अंग्रेजी में है। कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

> 'लेट अस होप दि डे इज़ नाट फ़ार डिस्टैंट ह्वेन वी शैल रिगेन अवर प्राउड पोज़ीशन इन दि पार्लियामेंट ऑव नेशंस इन दि वर्ल्ड ऐन्ड दि डिस्पाटिक टाइरेन्ट्स ऑव दि सैक्सन स्वायल विल बी ड्रिवेन बैक टु दियर नेटिव शोर। ओ, ह्वाट ए रैप्चरस विज़न दिस!—इट इज़ दिस विज़न ह्विच विल अगेन गिव अस ऐन इंसेन्टिव टु पुट अवर लाइव्ज़ टु दि क्रास ऐज़ दि प्राइस फ़ार अवर मदर्स सालवेशन।'(पत्र सं०१)

नवें पत्र में बंगाल के एक प्रसिद्ध विद्वान् के ग्रंथ की समीक्षा की गयी है। इस विषय में यह द्रष्टव्य है कि आलोचना के प्रसंग में ही कविराजजी ने तद्विषयक प्रचुर अविवेचित तथा अज्ञात

सामग्री का उल्लेख किया है और उसके आधार पर अपना सैद्धांतिक मतभेद भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार इनकी ग्रंथ-समीक्षा-पद्धति आलोच्य पुस्तक से संबद्ध पर्याप्त मौलिक सामग्री के साथ ही उक्त विषय के अनुशीलन के लिए नवीन दृष्टि भी प्रदान करती है—

> ''आपने मानसवृन्दावन में सिद्धदेह में महाभावरूपिणी श्री राधा का संचारीभावरूपा सखियों के अनुगमन के द्वारा—श्रीकृष्ण की प्रीतिसंपादन के लिए जीवन उत्सर्ग करने को, बंगीय-वैष्णव-धर्म का वैशिष्ट्य कहकर वर्णन किया है। (पृ० ४८) यह बहुधा सत्य है। यद्यपि तात्विक दृष्टि से यह बहुत पहले से अर्थात् महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव के पूर्व से ही गुप्त साधकों के भीतर परिज्ञात रहा है। इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। परन्तु यह वृदावन क्या मानस वृदावन है?—कहना न होगा कि यह मायातीत भूमि है। इसीलिए इसको 'मानस वृंदावन न कहकर 'नित्य वृदावन' रूप से ग्रहण करना ही उचित जान पड़ता है।—'प्रेमानंद लहरी', 'राधारसकारिका', 'निगूढ़ प्रकाशावली' प्रभृति ग्रंथों में राधाकृष्ण-तत्व अर्थात् युगलरूप का निगूढ़रहस्य वर्णन किया गया है।''

बारहवें पत्र का संबंध शोधनिर्देशन से है । इससे इनके व्यक्तित्व में सन्निहित शोधनिर्देशक के तीन अनिवार्यगुणों—अगाध विषयज्ञान, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि तथा व्यवस्थित-चिंतन-पद्धति का संधान मिलता है। इसमें विभिन्न दार्शनिक मतवादों तथा साधन मार्गों के साथ नाथयोग की तुलनात्मक विवेचना के जो सुझाव दिये गये हैं वे कविराजजी ऐसे सर्वशास्त्रविद् के स्वरूपानुकूल ही हैं। एक उद्धरण पर्याप्त होगा—

> ''कायासाधन नाथयोग का एक मुख्य कर्तव्य है। इसका विशेष विवरण संग्रह करने का प्रयत्न करना। नाथसिद्ध, शैवसिद्ध, शाक्तसिद्ध तथा बौद्ध सिद्धाचार्यों का साधन-आदर्श व आचारगत सादृश्य तथा वैषम्य विशेष रूप से ध्यान देने का विषय है। प्रासंगिक रूप से तिब्बतीय लामाधर्म के तत्व और साधन के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान रहना चाहिए। माहेश्वर-संप्रदाय के अंतर्गत रस-संप्रदाय के सिद्धों से पूर्वोक्त सिद्धों का किसी अंश में वैशिष्ट्य था या नहीं। अगर रहा तो पूर्वोक्त संप्रदायों की साधना में उसका किन-किन विषयों में पार्थक्य रहा था? यह जानना होगा। नाथों के महाज्ञान का स्वरूप क्या था? मृत्यु को जय करने की विभिन्न प्रणालियों के भीतर नाथाचार्यगण कौन प्रणाली अवलंबन करते थे? यह जानना चाहिए।''

(ख) अनुभूतिप्रधान-पत्र—इस प्रकार के कुछ पत्रों में कविराजजी ने सत्संग के क्षणों में प्राप्त अन्य महात्माओं के अनुभव एवं आध्यात्मिकस्थिति की समीक्षा की है और कुछ में तत्वज्ञान के कतिपय विशिष्ट अंगों पर, जिज्ञासु साधकों के पत्रों के उत्तर रूप में, अपने निजी अनुभव व्यक्त किये हैं। यहाँ हम इसी क्रम से उक्त दोनों प्रकार के पत्रों की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

(१) सत्संगचर्चा-विषयक पत्र—कविराजजी का सारा जीवन सत्संगचर्या में बीता है। इनमें संतों को परखने की विलक्षण प्रतिभा है। इनकी उच्च मानसिक स्थिति तथा लोकोत्तर साधनसंपद् से प्रभावित होकर संत अपनी गुह्यतम अनुभूतियाँ इनके समक्ष नि:संकोच भाव से प्रकट कर देते हैं। उनकी विशिष्ट मनोदशाओं के विश्लेषण तथा उपलब्धियों के मूल्यांकन में इनकी अंतर्दृष्टि का पता चलता है। जगन्नाथपुरी के श्यामदास बाबा के संबंध में अपने

मित्र अक्षयबाबू को इन्होंने जो पत्र लिखा है, उसकी निम्नांकित पंक्तियों में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं—

''ये महात्मा बहुत सीधेसादे हैं, बाह्याडंबर नहीं है परन्तु ज्ञान संपत्ति अच्छी है।......इनको आत्मदर्शन हुआ है।......साकार पदार्थ के भीतर इनको निराकार आकाश का दर्शन होता है।......किसी प्रकार मोह का संबंध नहीं है। अवश्य कभी भी लिप्तभाव का आभास नहीं होता, ऐसी बात नहीं किन्तु यह पूर्वसंस्कार का अभिनय मात्र है। इस संस्कार का शोधन हो जाने पर वह आभास भी नहीं रहेगा। अपुनर्जात-स्वभाव (अनरिजेनरेट नेचर) इतना ही अवशिष्ट रह गया है।''

(पत्र सं० ६)

इसी प्रकार पत्र सं० ७ में बाबाजी की तत्कालीन साधनावस्था का आलोचन करते हुए ये लिखते हैं—

''बाबा जी महाशय अभी तक चिदाकाश में प्रतिष्ठित नहीं हुए, क्योंकि कभी-कभी, थोड़े समय के लिए ही सही, आत्मविस्मृतवत् हो जाते हैं, मानो द्रष्टा की निरपेक्ष बोधावस्था से च्युत होकर लौकिक पुरुष के सदृश अवस्था को प्राप्त करते हैं। अवश्य यह उनके पूर्वसंस्कार के उद्दीपन से उद्‌भूत सामयिक भावमात्र है।''

(पत्र सं० ७)

कहीं-कहीं ये अनुभवसिद्ध योगी के रूप में उन्नत आध्यात्मिक दशाओं के आधिकारिक निरूपण में प्रवृत्त दिखायी देते हैं :

''चिदाकाशदर्शन अभेददर्शन है, चित्ताकाश और उसकी विभूतियों का दर्शन भेदाभेददर्शन है। चिदाकाश का दर्शन उर्ध्वनेत्र से होता है, चित्ताकाश का मध्यनेत्र से और भूताकाश का अधोनेत्र से।''

(पत्र सं० ७)

इन विवरणों को पढ़ते हुए कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे ये इन स्थितियों के श्रोता तथा द्रष्टा मात्र न होकर भोक्ता भी हैं :

''चिदाकाश में प्रवेश करने पर उस समय वैसा दर्शन नहीं होता और हो भी नहीं सकता, यह एक प्रकार से ब्रह्मनिर्वाणावस्था है। केवल इतना ही नहीं, वहाँ से चित्ताकाश का भी दर्शन नहीं होता, भूताकाश का दर्शन तो दूर की बात है।''

''चित्ताकाश से सतोगुण का आलोकमय पर्दा यदाकदा हट जाने पर उसी रंध्र से मुक्त-चिदाकाश का दर्शन हो जाता है।''

(पत्र सं० ७)

अनेक शास्त्रों और साधना पद्धतियों में पारंगत होने के कारण ये एक ही स्थिति के, दृष्टिभेद से रखे गये विभिन्न अभिधानों को, अनायास ही लक्षित कर लेते हैं और इस प्रकार बाह्यभेदों में सन्निहित ऐक्यसूत्र के द्रष्टा, भारतीय संस्कृति की परंपरागत समन्वयभावना को प्रतिष्ठापित करने वाले लोकनायकों की पंक्ति में खड़े दिखायी देते हैं—

''इसी स्थान से रसस्फूर्तिरूप लीला का विकास होता है। प्राचीन आगम में इसका नाम है 'विसर्गभूमि'। शिवशक्ति का 'यामल रूप', जिसको गौड़ीयगण 'युगल रूप' और सहजयानी बौद्धगण 'युगनद्धरूप' कहते हैं, इस लीलारसधार का प्रस्रवण स्वरूप है।''

(पत्र सं० ८)

इसके अंतर्गत वे पत्र भी आते हैं जिनमें इन्होंने अपने साथ हुई साधकों की सत्संगवार्ता का उल्लेख किया है। इनमें आलोच्य विषय के गूढ़ अंशों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला

गया है। ऐसा करने में इनका उद्देश्य रहता है, आलोच्य तत्व को साधक के पात्रतानुसार अधिक बोधगम्य बनाना। इस प्रकार के पत्रों में ये सारी ज्ञातव्य बातें एक बार ही इस आशंका से नहीं प्रकट कर देते कि साधक उन्हें तत्काल आत्मसात् नहीं कर सकेगा। इसलिए चंचुदान की प्रणाली अपनायी गयी है। ऐसे प्रसंगों में प्राय: निम्नांकित शब्दावली प्रयुक्त हुई है—आज यहाँ तक समझने का प्रयत्न करिए फिर दूसरे दिन कहेंगे' (पत्र संख्या १३) 'इस क्षण के विषय में बहुत कुछ बातें कहने को हैं, आगे कहेंगे।''

(पत्र सं० १९)

इस स्थान में अधिक लिखना ठीक नहीं। (पत्र सं० २४)

एकाध स्थलों पर देखने में आता है कि अनुगतसाधक के साथ जिस विषय पर प्रात:काल वार्तालाप हुआ था एकसूत्रता की रक्षा के लिए इन्होंने उसी दिन उसके पास सविस्तार व्याख्या, पत्र द्वारा भेज दी जिससे वह अवकाश के क्षणों में स्थिरचित्त से विचार करने के पश्चात् उपदिष्ट तत्व को हृदयंगम कर सके (द्रष्टव्य पत्र सं० १३)

इन पत्रों में प्राय: देखा गया है कि साधक ने अपनी साधनावस्था का विवरण देते हुए जिस प्रकार की जिज्ञासा की है, कविराजजी ने पत्रोत्तर में केवल उसका समाधान ही नहीं किया है, वरन् साधक की स्थिति के स्तर का भी निर्देश कर दिया है किन्तु जब तक उस स्थितिविशेष में साधक का सम्यक् रूपेण अवस्थान न हो जाये तब तक परवर्ती स्तर का भेद बताने से इनकार किया है। कविराजजी की प्रशिक्षण-पद्धति की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है। अपरिपक्व-आधार में तत्वारोपण इनके सिद्धांत के विरुद्ध है—

''मैं समझता हूँ तुमने नित्यधाम का मंदिरदर्शन किया है। माता की गोदी में विश्रामसुख का कुछ आभास भी पा गये हो। परन्तु जब तक तुम्हारा कर्म पूर्ण न हो, तब तक इस विषय में अधिक नहीं कहूँगा। प्रयोजन होने पर पीछे बताऊँगा।''

(पत्र सं० २३)

''जप के कौशल के विषय में यदि कुछ जिज्ञासा रही तो समयांतर में आलोचना की जायगी।'' (पत्र सं० २५)

जहाँ ये विश्वस्त हैं कि प्रबुद्धसाधक उपदिष्ट तत्व को स्वत: समझ जायगा, वहाँ संकेत मात्र करके रह जाते हैं। अनावश्यक विस्तार इन्हें पसंद नहीं—

''इसके बाद एक अवस्था और आती है। अब समझ में आता है कि ज्योति घनीभूत हो गयी है, रूप नहीं है, परन्तु रूप से ही ज्योति चारों ओर विकीर्ण हो रही है। यह अत्यंत उच्चावस्था है। इस तत्व को मैंने संक्षेप में समझाया, शेष तुम समझ लेना।''

(पत्र सं० २४)

किन्तु शब्दातीत एवं अनुभवैकगम्य निगूढ़ स्थितियों के संबंध में ये मौनावलंबन ही उचित समझते हैं—

''इसके अनंतर एक निगूढ़ स्थिति है जो मानवीय भाषा के अगोचर है। इसकी आलोचना की चेष्टा व्यर्थ है।'' (पत्र सं० २९)

इनकी दृष्टि में साधकों के लिए मात्र सिद्धांतज्ञान कोई महत्व नहीं रखता। अत: इन पत्रों में ये जिज्ञासुओं को सतत अभ्यासरत रहने के लिए सावधान करते रहे हैं। स्वयं ज्ञान के उन्नतशिखर पर आरूढ़ होते हुए भी इनकी यह दृढ़ धारणा है कि 'पोथीगत विद्या'

अथवा 'वाक्यज्ञान' अपने आप में जीव को ऊर्ध्वगति प्रदान करने में सर्वथा अपर्याप्त एवं अक्षम है—

''असली बात यह है कि क्रिया का संघर्ष छोड़कर निद्रित शक्ति को जगाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।'' (पत्र सं० २२)

''सभी वस्तु वस्तुतः आत्मा है यह केवल ग्रंथ से जानने पर काम नहीं चलेगा। इसका प्रत्यक्षानुभाव होना चाहिए।''

(पत्र सं० २२)

कविराजजी का सारा शास्त्रज्ञान साधनापुष्ट रहा है। जिन दार्शनकि तत्त्वों की व्याख्या इन पत्रों में की गयी है वे अंतःस्फुरण के फल हैं। अतः उनमें बौद्धिकता की अपेक्षा प्रत्यक्षानुभव का स्वर अधिक मुखरित हुआ है। साधनागत अंतर्दशाओं के उत्तरोत्तर विकास के जो चित्र इन पत्रों में अंकित हैं उनकी अवतारणा साक्षात् अनुभव के बिना संभव नहीं है। इंनकी लेखनी से यह तथ्य यत्रतत्र अनायास व्यक्त हो गया है—

''हृदय में जैसी प्रेरणा आयी, उसी का अनुकरण करके मैंने कहा। जो बालनेवाला है, उसी का बोलना है। मैं निमित्त मात्र हूँ।'' (पत्र सं० १३)

२. कविराजजी द्वारा प्राप्त पत्र

इन पत्रों के लेखकों में से कुछ कविराजजी के श्रद्धास्पद प्रेरणादायक संत हैं और कुछ इनसे अध्यात्म-साधना में प्रेरणा प्राप्त करने के इच्छुक साधक। विषय सभी पत्रों का प्रायः एक ही है—तत्वानुसंधान।

तत्वदर्शी संतों के पत्र

इनमें चार पत्र परमहंस विशुद्धानंदजी के हैं। ये कविराजजी के पूर्व प्रेषित पत्रों में अभिव्यक्त साधनासंबंधी विक्षेपों तथा शंकाओं के समाधानार्थ लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त इन पत्रों से साधनमार्ग में इन्हें आगे बढ़ने के लिए अपेक्षित प्रोत्साहन तथा सहायता प्रदान करने का भी आश्वासन दिया गया है। बाबाजी की इन पर अपार कृपा प्रस्तुत पत्रों के शब्द-शब्द में लिपटी दिखायी देती है—

''वत्स! जो कुछ अंतर में देख रहे हो वह महाशक्ति का व्यापार है। ....अच्छी तरह से समझ में आता है कि योग और विज्ञान को छोड़कर दूसरे उपाय से इस विषय में कुछ नहीं जाना जा सकता। बाबा! चिंता का कारण नहीं है। किसी विषय में चिंता न करो और भी परिश्रम करो, तब अन्य कितने विषय जान सकोगे।''

(पत्र सं० २)

''जगत्प्रसविनी प्रत्यक्ष माँ के योग से ब्रह्मतीता माँ महाभावतत्व के निष्कर्ष-रूप रहस्य को क्रिया के द्वारा हृदय में सर्वदा ग्रहण करो। बाहरी भावों के भीतर विवशतया न पड़कर सर्वदा माँ का स्पर्श करने में सक्षम बनो। ऐसा होने पर सब कुछ होगा। क्रिया जैसे करते हो करते जाओ। शीघ्र गति से बढ़ने की चेष्टा करो। क्या चिंता है?'' (पत्र सं० ३)

''शरीर की स्थिति देखकर विचार करना नहीं चाहिए। जैसे घट टूटने पर अखंडव्यापी आकाश है वैसे मायारूप घट टूटने पर माँ को अनंतव्यापीरूप में समभाव से देखोगे।

चिंता क्या है ? समय आने पर सब ठीक होकर रहेगा। पिता पुत्र के लिए सर्वदा व्यस्त है।''

''तुम्हारा पत्र पाकर दुःख भी हुआ आनंद भी। वत्स! एक बार तुम जैसे पुत्र को देखना चाहिए कि अभ्रांत-मातृबोध तथा स्वाभाविक-मातृज्ञान में सहज तथा स्वाभाविक कौन है ? प्रथम भ्रांतिहीन ज्ञान का क्या फल है ? कितने ही शास्त्रों का अध्ययन क्यों न हो, कोई तत्वज्ञानी हो नहीं सकता। अंत में बालक के सदृश सरलदशा को प्राप्त कर लेते ही जगज्जननी-संबंधी-ज्ञान में अधिकार प्राप्त होता है। ...... सरलता ही ब्रह्ममयी का परिस्फुट मार्ग है।'' (पत्र सं० ५)

ये पंक्तियाँ कविराजजी द्वारा गुरुमुख से प्राप्त तत्वज्ञान तथा इष्टदेवता के स्वरूप को भी स्पष्ट कर देती हैं। इनके दार्शनिक व्यक्तित्व के निर्माण में इस शिक्षा का गहरा प्रभाव आद्योपांत दिखायी देता है। इन पत्रों के अभाव में यह पक्ष अज्ञात ही रह जाता।

माँ आनंदमयी पर कविराजजी की अगाध श्रद्धा है। 'इनके सामान गुरुदेव को छोड़कर हमारे लिए संसार में और कोई नहीं है', ये उद्गार इन्होंने माँ के पत्रों की प्रतिलिपि देते हुए मुझसे व्यक्त किये थे। माँ स्वयं 'बाबा' को किस दृष्टि से देखती हैं, यह उनकी पत्रावली के इन शब्दों से स्पष्टतया व्यक्त हो जाता है :

'इस शरीर ने तो देहरादून में बाबा के कमरे में बैठकर यही बात कही थी 'बाबा का यह शरीर जागतिक सुखभोग के लिए नहीं आया है।' (पत्र सं० ४०)

'यह छोटी लड़की बाबा को छोड़कर तो नहीं है। तद्भाव से बाबा को प्रफुल्लित रखे, यही होना (है)।'' (पत्र सं० ४१)

'बाबा' के कुशल-क्षेम का 'माँ' कितना ध्यान रखती है ?

माँ ने फिर पूछा है, 'उपस्थित शरीर कैसा (है) ? शरीर का दर्द घट तो गया ?' (पत्र सं० ३६)

कैंसर ऐसे भीषण रोग से 'बाबा' की मुक्ति इन्हीं के प्रसाद से हुई थी। इसकी चर्चा कविराजजी ने अपने एक शिष्य के पास लिखे गये पत्र सं० ३२ में की है।

इसी वर्ग में इस युग के अवतारकल्प संत मेहेरबाबा की ओर से उनके निजी सचिव द्वारा कविराजजी के पास भेजे गये दो पत्र आये हैं। ये ऊपर से देखने में तो व्यावहारिक से प्रतीत होते हैं किन्तु हैं वास्तव में आध्यात्मिक। इनसे कविराजजी का बाबा के साथ गंभीर आंतरिक संबंध द्योतित होता है। इस धारणा की पोषक कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

'आपके जीवन की यह कड़ी अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो जन्म और मृत्यु की सारी कड़ियों को लय कर रही है। बाबा के मौन खोलते ही आपको उस कड़ी का महत्त्व मालूम होगा, जो कड़ी बाबा से जुड़कर उनसे मधु पा रही है।' (पत्र सं० ४२)

(ख) जिज्ञासु साधकों के पत्र

इन पत्रों में साधकों ने अपनी स्थिति का विवरण देते हुए कविराजजी से साधनमार्ग में उपस्थित गुत्थियों को सुलझाने तथा आगे का मार्ग प्रदर्शित करने की प्रार्थना की है :

''क्या ँ यह बिन्दु ही ब्रह्मबिंदु है ? इसमें प्रवेश करने पर ही क्या निर्विकल्प समाधि

होता है ? इस समाधि के बाद इस रक्तमांस के स्थूल देह का नाश हो जाता है या योगी उस समय इच्छामृत्यु वरण कर सकता है।''

(पत्र सं० ३१)

''..........इसी प्रकार की अन्य अन्य अनेक अवस्थाओं का अनुभव हो रहा है। इस साधना की परिणति क्या है ? यह जानना चाहता हूँ।'' (पत्र सं० २९)

ये प्रश्न लेखक की साधना में तल्लीनता तथा तीव्रजिज्ञासा के परिचायक हैं। इनका समाधान ऊर्ध्वतर स्तर में अवस्थित कविराजजी ऐसे सिद्धमहापुरुष ही कर सकेंगे—इसी उद्देश्य से ये श्रीचरणों में प्रस्तुत किये गये हैं।

कुछ साधकों ने इनके अंतर्गत अपने विलक्षण अनुभवों का उल्लेख किया है—फणींद्रनाथ घोष का बिंदुदर्शन (पत्र सं० ३३), पाँचूगोपाल भट्टाचार्य का भोगरहस्य वर्णन (पत्र सं० ३०), एक विशिष्ट महात्मा का समाधिदशा में शिव तथा नृत्यरत भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार (पत्र सं० २९), सुरेंद्रनाथ मुखर्जी की दिव्य देहधारी महापुरुष द्वारा प्राणरक्षा—आदि कार्य-व्यापार इसी प्रकार के हैं। इनसे संबद्ध कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :

''मैं उस ध्वनि को सुनकर और उस ज्योतिसमुद्र का दर्शन कर आश्चर्यान्वित हो गया।.........महात्माजी बोले : 'वह शब्द ही ब्रह्म है और वह बिंदु ही ब्रह्मबिंदु है। उसको वेष्टित किये हुए जो शुभ्र अंश देख रहे हो, वहाँ सत्व, रज , तम—तीनों साम्यावस्था में हैं। वहाँ सृष्टि नहीं है।'' (पत्र सं० ३३)

यह नाद सुनते ही मेरा ज्ञान चला गया। ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसमें भगवान् अपना एक विशिष्ट रूप लेकर खड़े हो गये, आदेश दिया कि जाओ सर्वत्र नामदान करो।' (पत्र सं० २९)

एक अन्य विशेष बात जो इनमें से दो पत्रों में दिखाई पड़ी वह है स्वामी विशुद्धानंद, परमहंस रामकृष्ण तथा कविराजजी के जीवन अथवा योगिविभूति-विषयक कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख। इस विचार से डॉ० सुरेंद्रनाथ मुखर्जी के दो पत्र बड़े महत्व के हैं। इनमें कविराजजी के आध्यात्मिक उत्कर्ष, साधनागत प्रगति, स्वभाव आदि के संबंध में एक दिव्यमहापुरुष के विचार उद्धृत किये गये हैं :

'महापुरुष उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाते हुए बोले : 'देखो! तुम्हारा गोपीदा अगाध पांडित्य पाकर भी शिशुतुल्य सरल है। इतनी सरलता देखकर साधारण लोग उनको हास्यास्पद समझते हैं। यह उनकी मूर्खता है। गोपीदा इतना विद्धान् होकर ही यह समझ सका कि पुस्तकों के पढ़ने पर भी परमपद लाभ नहीं होता।'

(पत्र सं० १०)

'गोपीदा में सूक्ष्मविचार और सरलविश्वासस्थापना के लिए जो गुण चाहिए वे हैं ही, इसके अतिरिक्त प्रकृतमनुष्य को विचार करके देखने की अथवा परखने की क्षमता भी है।'

''गोपीदा जिस किसी को महापुरुष अथवा सिद्ध संत कहकर पूजा करना नहीं जानते हैं, उनके पास प्रकृत नेत्र हैं—पोथीगत विद्या नहीं। वे तत्वग्राही हैं।''

(पत्र सं० ११)

'सुरेन्द्र ! तुमने गोपीदा के पास इतने दिन रहकर भी उन्हें नहीं पहचाना।.....एक दिन

शीघ्र देखोगे कि ठीक मेरी तरह स्थूल और सूक्ष्म शरीर धारण करके वह आया-जाया करेंगे। ...... ठीक एक साल में अथवा कुछ दिन बाद वह गुरुदेव की विशेष कृपा प्राप्त करेंगे जिसके द्वारा वह बहुत उच्च अवस्था लाभ करेंगे।''

(पत्र सं० ११)

'तुम्हारा गोपीदा भारत का मुख उज्ज्वल करेगा। ...... कितने ही लोग उसके स्पर्श से कृतार्थ होंगे। उनकी करुणादृष्टि जिन पर पडेगी उधर आनंद के स्त्रोत बहेंगे। बड़े-बड़े महापुरुष इसी गोपीदा को लेकर कितनी ही आलोचना करेंगे ...... हाय रे दुर्भाग्य! भारतवर्ष एक अमूल्य रत्न पाकर भी दरिद्र है।' (पत्र सं० ११)

इन्हीं पत्रों में एक स्थान पर, उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगाल में धार्मिक राष्ट्रीयता के सूत्रपात की पृष्ठभूमि पर परिचय देते हुए पूर्वोक्त अलौकिक महापुरुष द्वारा प्रस्तुत, परमहंस रामकृष्ण की अवतारलीला-संबंधी कुछ नये तथ्यों का उल्लेख है। ये महानुभाव परमहंस रामकृष्ण के गुरुभाई थे—यह उन्होंने स्वयं कहा है।

'बंगभंग के बाद अनेक शिक्षित बंगाली युवक यह सोचने लगे कि क्रांति को सफल बनाने के लिए शिवाजी के पथप्रदर्शक समर्थ रामदास ऐसा गुरु चाहिए। ऐसे शक्तिसंपन्न आध्यात्मिक उपदेष्टा की खोज कितने ही बंगाली युवक प्रियजन का संसर्ग त्याग, माता-पिता को रोता छोड़कर बाहर निकल पड़े थे। उनमें से अधिकांश ने योगियों का सान्निध्य प्राप्त करने के उद्देश्य से हिमालय की गह्वर उपत्यकाओं की शरण ली। कालांतर में उनमें से किसी की मृत्यु हो गयी, कोई लौट आये और किसी ने योगियों की कृपा से सिद्ध होकर उच्चावस्था लाभ किया।

''...... परमहंस रामकृष्ण तुम्हारे परिचित हैं। कोई उन्हें अवतार, कोई योगी कहते हैं। ...... रामकृष्ण क्या थे? यह बहुत कम लोग जानते हैं। ...... वे मेरे गुरु भाई थे? मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि पूर्वजन्म में रामकृष्ण ने योग में अत्यन्त उच्चावस्था प्राप्त की थी, प्राय: भगवान् से अभेदावस्था। ...... उन्होंने स्वेच्छया योगी की उच्चावस्था त्यागकर जीवों के दु:खनाश के लिए गर्भयातना का वरण किया था। ''

(पत्र सं० १०)

इसी भाँति पत्र सं० २७ में प्रसंगवश परमहंस विशुद्धानंद सूर्यविज्ञान की सृष्टि प्रक्रिया की भी चर्चा आयी है। इसके लेखक एक विख्यात बंगीय संत हैं। उक्त पत्र की संगत पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

''कटक के श्रीमत् चिन्तामणि आचार्य महाशय के हाथ में परमहंस बाबा का दिया हुआ सूर्य विज्ञान से निर्मित अंगुरीयक (अँगूठी) और उनकी पत्नी के हाथ में एक स्वर्णालंकार मैंने देखा था।''

कविराजजी ने गुरुदेव की योग विभूतियों की व्याख्या करते हुए ऐसी अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख परमहंसजी की स्वलिखित जीवनी में किया है। उनमें से कुछ इस ग्रंथ में भी उद्धृत की गयी हैं। इस पत्र से उनका समर्थन होता है।

संकलित पत्रों की विषयशैली के इस संक्षिप्त परिचय के अनंतर उनके संग्रह तथा संपादन-प्रणाली के विषय में भी दो शब्द निवेदन कर देना आवश्यक है। इस संबंध में पहली उल्लेख्य बात यहा है कि इनमें से चार को छोड़कर सभी पत्र बंगला में अनूदित हैं।

पहला पत्र अंग्रेजी में था। यहाँ उसे देवनागरी में लिप्यन्तरित करके हिन्दी अनुवाद सहित रखा गया है। मूलरूप में हिन्दी में लिखे गये तीन पत्रों में से एक कविराजजी का है, दो मेहेर बाबा के निजी सचिव के।

कविराजजी के संपर्क में आनेवाले जिन व्यक्तियों द्वारा ये पत्र लिखे गये हैं, उनमें से कई महानुभाव अभी जीवित हैं। उनमें से किसी-किसी को अपनी साधनागत अनुभूतियों तथा व्यक्तिगत प्रसंगों के प्रकाशन में आपत्ति थी। अत: प्रकृत पत्रों में से उनके नाम तथा अभिज्ञान-बोधक-चिह्न जान-बूझकर हटा दिये गये हैं। तत्वचर्चा में वैयक्तिक संदर्भों का विशेष महत्व नहीं होता, इसलिए यह प्रक्रिया विषय की गौरवरक्षा में किसी प्रकार बाधक नहीं हुई।

पाठकों की सुविधा के लिए प्रत्येक पत्र के आरंभ में उसके वर्ण्यविषय के आधार पर शीर्षक इन पंक्तियों के लेखक द्वारा दिये गये हैं। मूल पत्र में निर्देश नहीं था। अत: उनकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का पूरा दायित्व इन जन पर ही है। हमारा यह सौभाग्य है कि इन पत्रों की खोज में हमें बहुत भटकना नहीं पडा। अधिकांश पत्र कविराजजी से ही प्राप्त हो गये। इसी प्रकार बंगला पत्रों के हिन्दी अनुवाद की उलझन भी उसी आशुतोष ने दूर कर दी जिसके जीवन का प्रत्येक क्षण आश्रितों की ग्रंथिमोचन के ही निमित्त अर्पित रहा है।

पत्र-संख्या १

प्रेषक — पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — महाराजा कालेज, जयपुर, राजपूताना।
दिनांक — ३० मार्च, १९०७ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — नवद्वीपचंद्र साहा, साभर, ढाका।
आलोक —

नवद्वीप कविराजजी के सहपाठी थे। इनका पूरा नाम नवद्वीप चंद्र साहा था। ये ढाका के समीपस्थ साभर नामक गाँव के निवासी और प्रसिद्ध वैज्ञानिक मेघनाद साहा के सगोत्री थे। ढाका के जुबिली स्कूल में ये तीसरी कक्षा से लेकर एन्ट्रेंन्स तक कविराजजी के साथ पढ़ते रहे। इस बीच कविराजजी से इनकी प्रगाढ़ मैत्री स्थापित हो गयी। यह संबंध इनके जयपुर चले जाने पर भी बना रहा। इन दोनों मित्रों में बराबर पत्राचार होता रहता था। प्रस्तुत पत्र इसी काल में लिखा गया था। कविराजजी की इनके प्रति लिखी गयी एक अंग्रेजी कविता प्राप्त हुई है। इस पत्र से छोटी आयु में ही स्फुरित कविराजजी की उत्कट देशभक्ति तथा परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि का पता चलता है। मूल पत्र अंग्रेजी में है, यहाँ उसका देवनागरी लिप्यन्तरित रूप दिया जा रहा है—साथ ही हिन्दी अनुवाद भी।
माई डियर नवद्वीप[1],

योर स्वीट लाइन्स हैव कम टु माई प्रेजेन्स इन ड्यू टाइम ऐण्ड आई हैव रिसीव्ड देम इन स्पिरिट ऑव कार्डियल एफेक्शन।

---

१. मूल पत्र रोमन लिपि में है। यह उसका देवनागरी लिप्यन्तरित रूप है।

आई ऐम वेरी मच डिलाइटेड टु लर्न दैट दि आडियल ऑव स्वराज हैज़ स्ट्रक ए डीप रूट इन्टू दि माइन्ड्स ऑव दि ढाका पब्लिक। लेट अस होप दि डे इज़ नाट फ़ार डिस्टैंट ह्वेन वी शैल रिगेन अवर प्राउड पोजीशन इन दि पार्लियामेंट ऑव नेशंस इन दि वर्ल्ड ऐंड दि डिस्पाटिक टाइरैंट्स ऑव दि सैक्सन स्वायल विल बी ड्रिवेन बैक टु दियर नेटिव शोर। ओ! ह्वाट ए विज़न दिस इट वाज़ सच ए विज़न ह्विच इनस्पायर्ड शिवाजी ऐंड प्रताप सिंह टु सैक्रीफ़ाइस दियर लाइव्ज़ ऐट दि आल्टार ऑव दियर कंट्रीज़ रिडेम्पशन ऐंड इट इज़ दिस विज़न ह्विच विल अगेन गिव अस ऐन इंसेटिव टु पुट अवर लाइव्ज़ टु दि क्रास ऐज़ दि प्राइस ऑव अवर मदर्स साल्वेशन। विपिन बाबू हैज़ बीन डूइंग ग्रेट सर्विस टु दि कंट्री इन प्रीचिंग दिस आइडियल ऐंड कीपिंग इट एलाइव दि पपुलर माइंड।

यू आर ऐंक्शस टु हैव इन्फारमेंशन ऐज़ टु द प्रोग्रेस वी हैव मेड इन अवर स्टडीज़। प्रीज़्यूमैब्ली यू डु नॉट नो दैट अवर स्टैंडर्ड हियर इज़ क्वाइट डिफ्रेंट फ्राम दैट ऑव दि केलकटा युनिवर्सिटी। वी हैव टु रीड हियर इलाहाबाद युनिवर्सिटी टेक्स्ट बुक्स। इट वाज़ फ़ार दिस रीज़न दैट आई डिड नॉट राइट एनीथिंग एबाउट अवर स्टडीज।

आई ऐम ग्लैड दैट यू आर सो मच इन्टेरेस्टेड इन रविबाबू'ज 'नोका डूबी' (बंगाक्षर) बट रिगेरेट टु से ऐज आई हैव गॉट नो कापी ऑव दि बुक हिटर आई ऐम अनेबल टु ऐक्सीड टु योर रिक्वैस्ट। आई आस्क योर पार्डन फॉर दैट। रविबाबू' ज राइटिंग्स हैव ए पेरीनियल चार्म इन देम ह्विच दोज़ हू हैव ए हार्ट टु फ़ील कैन नेवर फ़ेल टु ऐप्रीशिएट। स्टिल देयर आर सम अनफ़ार्चुनेट कॉर्पिङ्ग क्रिटिक्स हू डु नॉट स्क्रपुल टु प्रोनाउन्स दियर रा वर्डिक्ट्स अपॉन देम ऐण्ड डिनाउन्स देम ऐज़ बींग अटरली हॉलो ऐण्ड वर्थलेस। इट इज़ ए साइन ऑव देयर ओन शैलोनेस ऑव इंटेलेक्ट ऐण्ड नैरोनेस ऑव सोल। इट इज़ ए डिलाइट टु सी दैट यू आर नॉट वन ऑव दैट टाइप।

इन ऐडीशन टु हिज़ अर्लियर पोएटिकल ऐण्ड प्रोज़ राइटिंग्स, आई हैव गॉट हिज़ 'पंचभूत' ऐण्ड 'खेया' (पब्लिश्ड दिस इयर) ऐज़ वेल ऐज़ हिज़ मंथली मैगज़ीन 'भाण्डार', 'आत्मशक्ति', 'चोखेरबाली', 'भारतवर्ष', 'योरप यात्रीर डायरी'। दीज़ बुक्स आई ब्रॉट लांग एगो।

आई रिक्वैस्ट यू टु रीड रविबाबू' ज़ वर्क्स ऐज़ मच ऐज़ यू कैन।

योर्स

गोपीनाथ कविराज

पत्र-सं० १ का हिन्दी रूपांतर

जयपुर राजपूताना
३०/३/१९०७

प्रिय नवद्वीप,

तुम्हारा मधुर पत्र यथासमय प्राप्त हुआ। मैंने उसका स्नेहपूर्ण हृदय से स्वागत किया।

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि ढाका की जनता के मस्तिष्क में स्वराज्य की भावना बद्धमूल हो चुकी है। हम आशा करते हैं कि वह दिन बहुत दूर नहीं जब हम

विश्वराष्ट्रसंसद् में अपना गौरवपूर्ण स्थान पुन: प्राप्त करेंगे और सैक्सन भूमि के स्वेच्छाचारी नृशंस अपने तटीय देश को खदेड़ दिये जाएँगे। कितना मनोहर स्वप्न है यह! इसी प्रकार का स्वप्न था जिसने शिवाजी और महाराणा प्रताप सिंह को अपने देश के बंधनमुक्ति की बलिवेदी पर जीवन उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी थी और यही स्वप्न हमें पुन: अपनी मातृभूमि के उद्धार के मूल रूप में सूली को वरण करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। विपिन बाबू अपने व्याखानों के द्वारा जनसामान्य के मस्तिष्क में इस आदर्श को जीवित रखकर देश की बड़ी सेवा कर रहे हैं।

तुम हमारी शैक्षिक प्रगति-विषयक सूचना के लिए व्यग्र हो। संभवत: तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि हमारे यहाँ का स्तर कलकत्ता विश्वविद्यालय से नितान्त भिन्न है। हमलोग यहाँ इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तकें पढ़ते हैं। यही कारण था जिससे मैंने अपने अध्ययन के बारे में कुछ नहीं लिखा था।

मुझे हर्ष है कि रवि बाबू की 'नौका डूबी' में तुम्हें इतनी रुचि है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ अपने पास उसकी कोई प्रति न होने से तुम्हारे अनुरोध का पालन करने में विवश हूँ। इसके लिए क्षमा करना। रवि बाबू की कृत्तियों में एक शाश्वत सौंदर्य है। संवेदनशील व्यक्ति उनकी प्रशंसा किये बिना रह नहीं सकता। फिर भी कुछ ऐसे अभागे छिद्रान्वेषी आलोचक हैं जो उन पर अपने अनगढ़ निर्णय थोपने में संकोच नहीं करते और पूर्णतया खोखली एवं निकम्मी कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं। यह स्वयं उनके बौद्धिक छिछलेपन और मानसिक संकीर्णता का द्योतक है। संतोष की बात है कि तुम उनमें नहीं हो।

प्रारंभिक काव्य तथा गद्य कृतियों के अतिरिक्त मेरे पास उनकी 'पंचभूत' तथा 'खेया' (इस वर्ष प्रकाशित) हैं। इसके साथ ही उनकी मासिक पत्रिका 'भांडार', 'आत्मशक्ति', 'चोखेर बाली', 'भारतवर्ष', 'योरप यात्रीर डायरी' भी हैं। ये पुस्तकें मैं बहुत पहले ले आया था।

रवि बाबू के ग्रंथों का यथाशक्ति अनुशीलन करते रहो, यह मेरा अनुरोध है।

तुम्हारा
गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २

प्रेषक — श्री विशुद्धानंद परमहंस।
स्थान — ७ कुण्डूरोड, भवानीपुर (कलकत्ता)।
दिनांक — ७ फाल्गुन, १३२९ बंगाब्द (१९२३ ई०)।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस।
दिनांक — २० फरवरी, १९२३ ई०।
आलोक — कविराजजी ने गुरुदेव के पास लिखे गये एक पत्र में साधना संबंधी अपने आंतरिक अनुभवों का विवरण देते हुए उनसे तद्विषयक पथनिर्देश की यांचना की थी। परमहंसजी ने यह पत्र उसी के उत्तर-रूप में लिखा था।

विषय—**महाशक्ति का अवतरण**

'ॐ तत् सत्'

आशीर्वादक श्री विशुद्धानंद परमहंस

चिरायु!

परम शुभाशिषां राशयः सन्तु।

बाबाजीवन मंगलमय तुम्हारा मंगल करे, यही मेरा इष्ट है। पत्र पाकर सब समाचार विस्तृत रूप से जानकर मुझे संतोष हुआ। वत्स! जो कुछ अंतर में देख रहे हो, वह महाशक्ति का व्यापार है। साधारणतः मानव की चिंताशक्ति जड़ की अंधशक्ति के द्वारा अंध होकर विविध रूप में भ्रमण करती है। वह अंध भौतिक शक्ति (ब्लाइंड मैटेरियल फ़ोर्स) विज्ञानतत्व को धारण करने में समर्थ नहीं होती। सर्वव्यापिनी शक्ति में स्थूलता का बोध भ्रांति है। उसके द्वारा महाशक्ति का ज्ञान संभव नहीं हो सकता है। यह विषय सहज ही जाना जा सकता है। महाशक्ति का ज्ञान और उसका चिंतन उभय ही प्रबल योगावस्था में स्वाभाविक हैं। वह अस्वाभाविक परिमित के द्वारा चालित नहीं होता। उसकी गति महाकाश में ही एकमात्र महाशक्ति की ओर रहती है। इस महाविज्ञान-चिंता का कोई मध्यवर्ती नहीं है। यह महाशक्ति की कृपा से ही उन्मेषित होता है। मानवहृदय में यदि सरसों सदृश स्थान में भी पवित्रता रहे तो अखंड महामाया के विशुद्धभाव से चिंतन के प्रभावस्वरूप जिस ज्ञान का उदय होता है उसके उज्ज्वल तेज से सब प्रकार के पाप-ताप, ज्वाला-यंत्रणा आसक्ति के आवर्जनादि सभी भस्म हो जाते हैं। तब हृदय में महाशक्ति की जगत्शक्ति का ज्ञानरूप अमृत प्रकाशित होता है। वह कलुषित तथा संतप्त चित्त का महाआवरण से परित्राण कर देता है। उस समय बाह्य व्यापार सब भूल जाता है। महाशक्ति के कृपाजन्य विज्ञान के प्रभाव से महाशक्ति का महातत्व स्थूल जगत् में आ सकता है। उसका अवतरण (डिसेंट) हो सकता है। एकदम परिपूर्णतम को भी विज्ञान के द्वारा स्थूल रूप में लाया जा सकता है। सीमाशून्य महाशक्ति के महाविज्ञान के आलोक से प्राण में जिस भाव का उदय होता है उसे जिसको हुआ है वही जान सकता है। वह वाक् अगोचर है। भाषा होती तो लिखता। अच्छी तरह से समझ में आता है कि योग और विज्ञान को छोड़कर दूसरे उपाय से इस विषय में कुछ नहीं जाना जा सकता। बाबा! चिंता का कारण नहीं है। किसी विषय में चिंता न करो। और भी परिश्रम करो तब अन्य कितने विषय जान सकोगे।

पण्डित श्रीमान् नारायण शास्त्री ने जो लिखा है[1] उस विषय में मेरी असम्मति नहीं है। तुम सब लोग कैसे हो? सब बाबाजी व माता का आशीर्वाद कहना और स्वयं तुम भी जानना। यहाँ और कुशल है। अपने कुशल का संदेश भेजना। श्रीमती शतदल[2] माता ने मेरे पास एक पत्र लिखा है। मैंने बहुत दुःख के साथ उसका उत्तर दिया है। मुझे श्रीमान् भूषण बाबाजीवन की भेजी हुई नूतन आश्रम की वस्तुएँ वर्धमान आश्रम मे मिल गयीं। वह

१. पं० नारायण शास्त्री खिस्ते सरस्वती भवन में सहायक पुस्तकाध्यक्ष थे। ये बाबाजी के भक्त थे। इन्होंने बाबाजी से उनका जीवन चरित लिखने की अनुमति चाही थी। बाबाजी ने इसकी स्वीकृति दे दी थी किन्तु वह काम पूरा नहीं हो सका।

२. श्रीमती शतदल कविराजजी के गुरुभाई डॉ० सुरेन्द्रनाथ मुखर्जी (हाथरस) की पत्नी थीं।

द्रव्य मार्ग में विकृत नहीं हुआ। नूतन आश्रम का कार्य कहाँ तक हुआ? तुम सब कुछ मुझको लिखना। काशी में गर्मी शुरू हुई कि नहीं लिखना। यह पत्र पाते ही उत्तर देना।

पत्र-संख्या ३

प्रेषक — स्वामी विशुद्धानंद परमहंस।
पता — २०, रूपनारायण नंदन लेन, भवानीपुर (कलकत्ता)।
दिनांक — १७ चैत्र, १३३२ बंगाब्द (१९२६ ई०)।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
प्राप्तितिथि — ३१ मार्च, १९२६ ई०।
आलोक — कविराजजी के एक पत्र के उत्तररूप में परमहंस जी ने प्रस्तुत पत्र में इन्हें निर्दिष्ट साधना पथ पर निरंतर बढ़ते जाने का आदेश दिया है।

विषय—**मातृशरणागति : जीव का परम पुरुषार्थ**

आशीर्वादक श्री विशुद्धानंद परमहंस
चिरायु!

परम शुभाशिषां राशयः संतु।

बाबा जीवन! मंगलमयी तुम सबका सभी विषयों में मंगल करें, यही मेरा इष्ट है। वत्स! सब शक्ति के मूल में जो शक्ति है वही आदि तथा अंतिम है। सब विषयों में उन्हीं का प्रकाश छोड़कर और कुछ नहीं है। उनकी शक्ति संकोच हो जाने पर चंद्रमा, सूर्य, ग्रह, उपग्रह तथा विचित्र जगत्, देव-देवी, जो कुछ वर्तमान हैं उनका अस्तित्व लुप्त हो जायगा। फिर दृष्ट न होगा। एकमात्र पूर्ण परमानंदमयी, ब्रह्ममयी सत्ता द्वैत तथा अद्वैत, नित्य तथा अनित्य लीला में सुख-दुःख, आशा-नैराश्य, पिता-पुत्र, सेव्य-सेवक आदि को लेकर एक आनंदमय खेल खेल रही है। प्रयोजन-अप्रयोजन वह स्वयं जानती है और जो उसके विषय में आलोचना करते हैं वे भी कुछ जानते हैं। जीवात्मा, स्वरूप-आत्मा, परमात्मा, स्थूल-आत्मा, मूल-आत्मा आदि जो कुछ है सभी महाशक्ति माँ का ही भाव है। यह छोड़कर और कुछ बुद्धि में नहीं आता या नहीं है। बाबा! तथ्यहीन युक्ति तथा तर्क से कुछ भी मिल नहीं सकता। फिर प्रत्यक्ष विषयों में युक्ति या तर्क क्या? जगत्प्रसविनी माँ के योग से ब्रह्मातीता माँ--महाभाव-तत्त्व के निष्कर्ष रूप रहस्य को क्रिया के द्वारा हृदय में सर्वदा ग्रहण करो। बाहरी भावों के भीतर विवशतया न पड़कर सर्वदा माँ को स्पर्श करने में सक्षम बनो। ऐसा होने पर सब कुछ होगा। क्रिया जैसे करते हो करते जाओ। शीघ्र गति से बढ़ने की चेष्टा करो। क्या चिंता है? श्रीमती वधूमाता, बालक-बालिकागण, श्रीमान् सतीश, नरेंद्र, गणपति, भूषण, छातूलाल, गिरधारीलाल, राधिका, मुकुंद, सुरेंद्र आदि सभी बाबा-जीवन कैसे हैं? सब लिखना। श्रीमान् माखन तथा गणपति के आने से बड़ी प्रसन्नता हुई थी। न जाने क्यों हुई थी? सब बाबाजीवन और माताओं को मेरा आशीर्वाद कहना व स्वयं लेना। यहाँ के सभी स्वस्थ हैं। मैं भी अच्छा हूँ। श्रीमान् विधु बाबाजीवन ने एक मकान खरीदा है। उसकी अच्छी तरह मरम्मत करने के बाद हम लोगों को रहने के लिए दिया है। वहीं रह रहा हूँ। समय मिलने पर आने की चेष्टा करना। अगर कोई आना चाहे, उसे आने के लिए कहना।

पत्र-संख्या ४

प्रेषक — श्री विशुद्धानंद परमहंस।
स्थान — कलकत्ता।
दिनांक — ९ भाद्र, १३३८ बंगाब्द (१९३१ ई०)।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २८ अगस्त, १९३१ ई०।
आलोक — कविराजजी को गुरु द्वारा उपदिष्ट साधना-प्रणाली पर चलते हुए एक बार कुछ आंतरिक विक्षेप का अनुभव हुआ। इसका विशद विवरण इन्होंने गुरुदेव के पास भेजा। परमहंस जी ने प्रस्तुत पत्र द्वारा उसे अंध-भौतिक जड़ शक्ति (ब्लाइंड मैटेरियल फोर्स) का व्यापार बताकर जगज्जननी का दृढ़ आश्रम ग्रहण करने का परामर्श दिया था।

विषय—**मातृदर्शन**

'नमोनारायण'

आशीर्वादक श्री विशुद्धानंद परमहंस
चिरायु!

परम शुभाशिषां राशयः संतु।

बाबाजीवन! तुम लोगों का मंगल परम मंगलमय के समीप प्रार्थना करता हूँ। मंगलमय तुम लोगों का मंगल करें, यही मेरा इष्ट है। वत्स! पत्र पाकर सब अवगत हुआ। विश्वजननी के अपरिवर्तनीय नियम तथा क्रिया के संयोग से देही के विकास के परिणामस्वरूप मानवीय सत्ता गूढ़रूप में छः वृत्तियों—द्वेष, दंभादि के रूप में निवास करती है। शत्रुसमूह शरीरस्थित मानवीय भाव के आकर्षण तथा कुसंग के कारण मन सर्वदा माँ की गोद में रहते हुए भी शत्रुओं से आकृष्ट होता है। परन्तु पुत्र! इस दशा में चित्त वेदनाभागी होकर माँ की सत्ता से कभी भी स्वतंत्र नहीं होता। बाबा! क्यों निराश हो रहे हो? आशाहीन होने का क्या कारण है? क्या देखा या हुआ क्या? क्या जीवात्मा जगदम्बा का प्रकाश नहीं है? सूर्य की किरणें, किरणों का ताप, उक्त ताप जैसे जड़ पदार्थों को स्पर्श करता है, मन की दशा भी वैसी ही है। चित् और जड़, उभय शक्तियों के संधिस्थल पर पड़कर कभी मानवभाव और कभी देवभाव में स्थिति प्राप्त करता है। शरीर की स्थिति देखकर विचार करना नहीं चाहिए। जैसे घट टूटने पर अखंडव्यापी आकाश है, वैसे मायारूप घट टूटने पर माँ को अनंतव्यापी रूप में समभाव से देखोगे। चिंता क्या है? समय आने पर ठीक होकर रहेगा। पिता पुत्र के मंगल के लिए सर्वदा व्यस्त है।

हम लोग १५ भाद्र मंगलवार को यहाँ से रवाना होकर ता० १६ भाद्र, बुधवार को बनारस एक्सप्रेस से पहुँचेंगे। संभवतः १२ आदमी रहेंगे। और सब बातें मिलने पर होंगी। कलकत्ता से अगर कोई वस्तु ले आनी हो तो लिखना। सब बाबा लोगों तथा माताओं को मेरा आशीर्वाद कहना और स्वयं लेना। श्रीमान् शोभाराम, भूषण, प्रिय आदि सबको बताना। अन्यान्य शुभ है। तुम लोगों का शुभ समाचार प्रार्थना करता हूँ।

पत्र-संख्या ५

प्रेषक — श्री विशुद्धानंद परमहंस।
स्थान — भवानीपुर, कलकत्ता।
दिनांक — २ आश्विन, १३३९ बंगाब्द (१९३३ ई०)।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २२ सितम्बर, १९३३ ई०।
आलोक — कविराजजी ने गुरुदेव के पास भेजे गये एक पत्र में साधना-विषयक कुछ गूढ़ तत्त्वों पर स्वानुभूति का प्रकाशन करते हुए मार्गदर्शन की प्रार्थना की थी। बाबाजी ने उसके उत्तरस्वरूप लिखे गये इस पत्र में कर्म तथा ज्ञान मार्ग से आगे बढ़कर जगज्जननी का चिंतन करते हुए बालक सदृश 'सरलदशा' प्राप्त करने का उपदेश दिया है और इसे ही साक्षात्कार का कारण बताया है।

विषय—**भेदहीन मातृचिंतन**

'नमोनारायणाय'

आशीर्वादक श्री विशुद्धानंद परमहंस
चिरायु!

परम शुभाशिषां राशयः संतु।

बाबाजीवन तुम लोगों का मंगल परममंगलमय के समीप प्रार्थना करता हूँ। मंगलमय तुम लोगों का मंगल करें—यही मेरा इष्ट है। तुम्हारा पत्र यथासमय मुझे मिला। पत्र पाकर दुःख भी हुआ आनंद भी। वत्स! एक बार तुम जैसे पुत्र को देखना चाहिए कि अभ्रांत मातृबोध तथा स्वाभाविक मातृज्ञान में सहज तथा वास्तविक कौन है? प्रथम भ्रांतिहीन ज्ञान का क्या फल है। कितने ही शास्त्रों का अध्ययन क्यों न हो, कोई तत्त्वज्ञानी हो नहीं सकता। अंत में बालक के सदृश सरल दशा को प्राप्त कर लेते ही जगज्जननी-संबंधी ज्ञान में अधिकार प्राप्त होता है। बालक पहले भी बालक, अंत में भी बालक सदृश, मध्य में केवल द्वन्द्व है। सरलता ही ब्रह्ममयी का परिस्फुट मार्ग है। यह सरलता कैसे आती है? कर्म से। शास्त्र के अध्ययन से वह बोध में नहीं आता। जो कर रहे हो करते जाओ। निश्चय ही प्रत्यक्ष होगा। आभास अच्छा मालूम हो रहा है। शिशु जैसे मातृगर्भ में अमृता नाड़ी के रस से वर्द्धित होने लगता है उस वृद्धि के साथ उसकी चैतन्य शक्ति के अस्तित्त्व का क्या प्रमाण नहीं मिलता? जगज्जननी के चिंतन तथा कार्यों के साथ-साथ सर्वदा नित्यज्ञान की वृद्धि हो रही है। जो किसी की अपेक्षा नहीं करता, वही धन्य है। संपूर्ण रूप से निर्भरशील को छोड़कर कौन इस संसार में स्वर्ग का तत्त्व लायेगा तथा लाया है? जो लोग सर्वदा महाशक्ति का चिंतन करते हैं वे भाषा के द्वारा देवकार्य प्रकाश करते हैं। उनके बिना अन्य कौन करेगा? रोग होने पर रोगी को छोड़कर उसकी यातना चिकित्सक समझा नहीं सकता। बाबा! भेदहीन मातृचिंतन से ही माँ को जाना जा सकता है। वह तो जगत्प्रसविनी है। द्वेष, हिंसा आदि जो भी वहाँ हो, स्वार्थ से भरा संसार भी स्वर्ग के सदृश शोभा अवश्य ही धारण करेगा, इसमें चिंता क्या है?

तुम सब कैसे हो ? स्वयं कैसे हो ? सब लिखना। सब बाबाजीवन तथा माताओं को मेरा आशीर्वाद देना तथा स्वयं लेना। हम लोग पंचमी के दिन यहाँ से चल देंगे।

पत्र-संख्या ६

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — रामचंडी शाही, जगन्नाथपुरी (उड़ीसा)।
दिनांक — ३ जुलाई, १९३९ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — श्री अक्षयकुमारदत्त गुप्त; ६५, लेक एवेन्यू, कलकत्ता।
आलोक — अक्षयकुमारदत्त गुप्त महाशय कविराजजी की माता का पालन-पोषण करनेवाली श्री वामासुंदरी जी के परिवार से संबंधित रहे हैं। इसलिए वे इनसे बाल्यावस्था से ही परिचित हैं। गुप्त जी के छोटे भाई प्रफुल्लकुमार दत्त गुप्त कविराजजी के सहपाठी थे। जिन दिनों ये ढाका के जुबिली स्कूल में पढ़ते थे 'अक्षय बाबू' कॉलेज का अवकाश होने पर धामराई आया करते थे। पहले पहल उन्होंने ही इन्हें रवींद्र-साहित्य से परिचित कराया और संस्कृत-साहित्य तथा दर्शन के अनुशीलन की प्रेरणा दी। प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता से एम० ए० करने के बाद अक्षय बाबू ढाका विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गये। वहाँ से वे इंपीरियल लाइब्रेरी में प्रधान अनुवादक के पद पर नियुक्त होकर कलकत्ता चले गये। सेवावृत्ति से अवकाश ग्रहण कर अब वे कलकत्ता में ही निवास करते हैं।

आध्यात्मिक साहित्य के अनुशीलन तथा महापुरुषों से संपर्क-स्थापना में अक्षय बाबू की प्रगाढ़ रुचि रही है। इनके द्वारा विरचित 'यशोमाधव-स्तोत्र' को कविराजजी ने अपने छात्रजीवन में कंठाग्र कर लिया था। १८१८ ई० के बाद एक बार ये कविराजजी से मिलने काशी आये। परहंस विशुद्धानंद की अलौकिक सिद्धियों की चर्चा सुनकर ये कविराजजी के साथ उनका दर्शन करने गये। छः-सात वर्षों तक बाबा के निरंतर संपर्क में रहने के बाद इनकी दीक्षा हुई। इन्होंने 'योगिराजाधिराज विशुद्धानंद' नाम से परमहंस जी का जीवनवृत्त लिखा है। आयु में बड़े होने पर भी ये कविराजजी को आदरणीय श्रद्धास्पद मानते हैं। इनसे कविराजजी का आध्यात्मिक विषयों पर बराबर पत्राचार होता रहता है। यह पत्र उन्हीं में से एक है। कविराजजी ने इसे जगन्नाथपुरी से इनके पास भेजा था।

विषय—स्व-भाव का जागरण

यहाँ आकर एक अच्छे महात्मा का दर्शन लाभ हुआ। इनको लोग श्यामदास बाबाजी कहकर पुकारते हैं। बाहर की दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि ये चैतन्य-संप्रदाय के वैष्णव महाराज हैं, परन्तु वास्तव में ये एक उच्चकोटि के अनुभूतिसंपन्न ज्ञानी हैं। अवस्था में वृद्ध हैं। मेरी समझ में ८० से ऊपर होंगे। किन्तु शरीर इस आयु में भी सबल एवं कार्यक्षम है। किसी भी अंग में शिथिलता का संचार नहीं हुआ है।

ये पहले पच्चीस वर्षों तक श्री वृन्दावन में कुसुमसरोवर के समीप वास करते थे। उसके बाद कुछ दिन काशीधाम में परलोकगत ब्रह्मानंद भारती महाशय के समीप में रहते थे। इसके अनंतर पुरीधाम में आकर प्राय: २० वर्ष से अवस्थान कर रहे हैं। यहाँ पहले ये स्वर्गद्वार में महात्मा हरिदास के समाधि-मंदिर में रहते थे। इस समय नरेंद्रसरोवर कें प्रांत में सुप्रसिद्ध जगन्नाथ-वल्लभ-उद्यान के पार्श्व में 'बंधु-आश्रम' नाम से एक आवासस्थान बनाकर रह रहे हैं। ये महात्मा बहुत सीधे-सादे हैं। बाह्याडम्बर नहीं है। परन्तु ज्ञानसंपत्ति अच्छी है। इन्होंने यौवन की अंतिम अवस्था में तैलंगस्वामी की कृपा प्राप्त की थी। इनके अतिरिक्त फरीदपुर के प्रभु जगद्बन्धु तथा अन्य अनेक साधुपुरुषों का सत्संग तथा आशीर्वाद इन्हें प्राप्त हुआ है। इसी क्रम से चलते-चलते इनको अनुभव होने लगा कि इनका 'स्व-भाव' जाग गया। इनका कहना है कि ये सर्वदा द्रष्टा के भाव में रहकर अपने स्वभाव का खेल देखते हैं। इस देखने के साथ सुख-दुःख का किसी प्रकार संबंध नहीं रहता। एक शांत आनंदमय तथा निर्लिप्त भाव ही 'स्व-भाव-दर्शन' का प्राण है। अपनी बहुसंख्यक गुप्त अनुभूतियाँ इन्होंने स्वत: प्रेरित होकर मुझे बातचीत के क्रम में बतायी हैं। उस पर विचार करने से इनकी आध्यात्मिक स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है। यह जो 'स्व-भाव' की बात कही गयी है, उसको इन्होंने चिदाकाश के रूप में समझ पाया है। वह एक नीलवर्ण, मण्डलाकर आकाश के सदृश अंतर्दृष्टि के सम्मुख दिखायी पड़ता है। जिस समय ये बाहर के भावों में लिप्त रहते हैं, उसका दर्शन नहीं होता। परन्तु बाह्यभाव हट जाने के साथ ही साथ उस चिदाकाश का पूर्ववत् दर्शन होने लगता है।

एक बात और है। उस चिदाकश में अंतर्दृष्टि निबद्ध रहने से बाह्यभाव में लिप्त हो जाने की आशंका नहीं रहती। उस आकाश में मन प्रभृति अपनी प्रकृति का सब खेल देख पड़ता है। परन्तु यह दर्शन 'विविक्त-दर्शन है'। इसी से इसके द्वारा द्रष्टाभाव रंजित होकर भोक्ताभाव में परिणत नहीं होता। इनको आत्मदर्शन हुआ है। जगत् की प्रत्येक वस्तु के भीतर इनको अपने 'स्व-भाव' का साक्षात्कार स्पष्ट रूप से होता है। साकार पदार्थ के भीतर इनको निराकार आकाश का दर्शन होता है। पक्षांतर में निराकार आकाश में साकार-जगत् के सब प्रकार के खेल दिखायी देते हैं। इस दर्शन से किसी प्रकार मोह का संबंध नहीं है। अवश्य कभी-भी लिप्तभाव का आभास नहीं होता, ऐसी बात नहीं। किन्तु वह पूर्वसंस्कार का अभिनयमात्र है। इस संस्कार का शोधन हो जाने पर वह आभास भी नहीं रहेगा। अपुनर्जात स्वभाव (अनरिजेनरेट नेचर) उतना ही अवशिष्ट रह गया है।

यह महात्मा निरंतर निर्जन स्थान में रहते हैं। यहाँ के बहुत लोग इनको जानते हैं, परन्तु अधिकांश इनका स्वरूप नहीं पहचानते। गत माघ मास में जब माँ आनंदमयी यहाँ आई थीं तब वे एक दिन के लिए इनके आश्रम में रही थीं।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या ७

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — रामचंडी शाही, जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा)।
दिनांक — १४ जुलाई, १९३९ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — श्री अक्षयकुमारदत्त गुप्त, ६५ लेक एवेन्यू, कलकत्ता।

विषय—चिदाकाश-दर्शन

बाबाजी महाशय अभी तक चिदाकाश में प्रतिष्ठित नहीं हुये, क्योंकि कभी-कभी थोड़े समय के लिय ही सही, आत्मविस्मृतवत् हो जाते हैं मानो द्रष्टा के निरपेक्ष-बोधमय-स्वरूप से च्युत होकर लौकिक पुरुष के सदृश अवस्था को प्राप्त होते हैं। अवश्य यह उनके पूर्व संस्कार के उद्दीपन से उद्‌भूत सामयिकभाव मात्र है। वास्तविक दृष्टि से उसमें उनकी स्वरूप-हानि नहीं होती, क्योंकि थोड़ी ही देर के बाद वे अपने विविक्त साक्षीरूप में प्रत्यागमन करते हैं। इस समय वे अपनी प्रकृत्ति का खेल देखते हैं और कभी-कभी जैसे प्रकृति के खेल का अवसान होता है, उसी प्रकार प्रकृति के साथ अभिन्न भाव से अवस्थान करते हैं। वास्तव में इस द्वितीय अवस्था में उनकी आत्मप्रकृति का ही दर्शन होता है। यह आत्म-दर्शन होने पर भी विशुद्ध आत्म-दर्शन नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्म-दर्शन एक बार होने पर फिर नष्ट नहीं होता। लौकिक उत्थानावस्था अर्थात् जगत्-दर्शन के समय में भी आत्म-दर्शन अनुस्यूत रहता है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि यह आत्म-दर्शन का आभास मात्र है। व्यवहारभूमि में इसे भी आत्म-दर्शन कहा जा सकता है। वास्तविक बात यह है कि बाबाजी महाराज चित्ताकाश में अवस्थान कर रहे हैं और वहाँ से कभी-कभी, अधिकांश समय ही समझिए, चिदाकाश का दर्शन पाते हैं। वे चित्ताकाश में प्रतिष्ठित हो गये हैं, इसीलिए उसको पृथक्‌रूपेण दृश्य देख नहीं पाते। चित्ताकाश से सतोगुण का आलोकमय पर्दा यदाकदा हट जाने पर इसी रंध्र से मुक्त चिदाकाश का दर्शन हो जाता है। यह दर्शन विज्ञान-चक्षु का व्यापार है, दिव्य चक्षु का नहीं। दिव्यचक्षु चित्ताकाश और उसकी अनंत विभूतियों का दर्शन करके शांत हो जाते हैं, चिदाकाश-दर्शन में समर्थ नहीं होते।

चिदाकाश-दर्शन अभेद-दर्शन है, चित्ताकाश और उसकी विभूतियों का दर्शन भेदाभेद दर्शन है। एक बात और है। दिव्यदर्शन में ज्योति का प्राधान्य रहता है, चिन्मय दर्शन में ज्योति नहीं रहती, विशुद्ध प्रकाश रहता है। हम लोग साधारणतः अंधकारमय भूताकाश में अवस्थान कर रहे हैं। यह अंधकार का राज्य है। आलोक यहाँ का आगन्तुक धर्म है। आलोक के लिए यहाँ प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु अंधकार को आवाहन करना नहीं पड़ता। यही अज्ञान का निदर्शन है। इसीलिए हृदयाकाश अंधकार से आच्छन्न देख पड़ता है। परन्तु जब भीतर में ज्ञान का आलोक प्रज्वलित होता है, तब धीरे-धीरे क्रमशः इस आलोक का पर्दा फट जाता है। अंत में एक ऐसी अवस्था का उदय होता है, जब हृदय से अंधकार सदा के लिए हट जाता हैं। एकमात्र आलोकमय आकाश ही व्यापक रूप से दिखायी पड़ता है। यही चित्ताकाश है। शुद्ध चित्त में चित् का प्रतिफलन होने पर ही आलोक का विकास होता है। इसी का नामांतर ज्ञान है। चित्ताकाश का आलोकमय पर्दा कभी-कभी हट जाने

पर जैसा चिदाकाश दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार भूताकाश का अंधकारमय पर्दा बीच में हट जाने पर उसी रंध्र से आलोकित चित्ताकाश का दर्शन मिलता है। चिदाकाश का दर्शन ऊर्ध्वनेत्र से होता है, चित्ताकाश का मध्य-नेत्र से और भूताकाश का अधो-नेत्र से। पहले दर्शन का मार्ग है ब्रह्मरंध्र, दूसरे दर्शन का मार्ग है भ्रू मध्य स्थित दिव्यचक्षु और तीसरे दर्शन का मार्ग है इंद्रिय। द्रष्टा सब समय में पीछे विद्यमान रहता है। ऐंद्रिय अथवा भौतिक दर्शन भेदमय है, शुद्ध मन अथवा दिव्यचक्षु का दर्शन भेदाभेदमय है और विज्ञान-चक्षु का चिन्मय दर्शन अभेदमय है। भूतशुद्धि के प्रभाव से चित्ताकाश में और चित्तशुद्धि के प्रभाव से चिदाकाश में प्रतिष्ठा होती है।

चिदाकाश ही विष्णु का परमपद है। जिनके निकट यह सर्वदा प्रकाशमान है, उन्हीं का नाम सूरि है। वही ब्रह्मदर्शी है। अखंड मंडलकार रूप से देहावस्थान के समय में उसका दर्शन होता है। इसी के एक प्रांत में एक क्षुद्रबिन्दु के सदृश समग्र विश्व अभिन्न रूप में प्रतिमासमान होता है। परन्तु अभिन्न होने पर भी शुद्ध विकल्प दृष्टि से भिन्न रूप से प्रतीयमान होता है। शुद्ध विकल्प महामाया के स्तर का है और अशुद्ध विकल्प मायिकजगत् का स्वाभाविक धर्म है। विश्व विकल्पमय है, अतएव महामाया और उसके अंतर्गत शुद्ध धामादि स्तर, माया और मायिकजगत् सभी विश्व के अंतर्गत हैं। भगवत्स्वरूप में अर्थात् निर्विकल्प-परमपद में विश्व उनके साथ अभिन्न होने पर भी अर्थात् उनकी स्वरूपशक्ति के खेल में रसरूपेण अवस्थित होने पर भी, विकल्प भूमि में उनसे विश्लिष्ट होते हैं, परन्तु विश्लिष्ट होने पर भी उन्हीं से संश्लिष्ट रहते हैं, क्योंकि वही परमाश्रय हैं। विश्व का यह शुद्ध विकल्पमय, सत्य-संकल्पमय, ज्ञानोज्ज्वल, इच्छाज्ञान-क्रियात्मक शक्तित्रय का स्फुरणीरूपी अंश चित्ताकाश के अंतर्गत है और अशुद्ध विकल्पमय अविद्याच्छन्न अंश, जहाँ इच्छादि शक्ति बाधित होती है, भूताकाश के अंतर्गत है। ज्ञान के उदय से भूताकाश के आलोकित होने पर जिस चक्षु का उन्मीलन होता है, वही पिंड से ब्रह्मांड में जाने का द्वार है। ब्रह्मांड से सत्वगुण की अव्यक्तता हेतु ज्ञान विरुद्ध होने पर और गुणातीत चित्कला का उन्मेष होने पर उस मार्ग से अर्थात् ब्रह्मांड के ऊर्ध्व छिद्र ब्रह्मरंध्र मार्ग से अथवा सूर्यमंडल की ऊर्ध्व अमृतरश्मि के योग से चिदाकाश में प्रवेश होता है। उसमें प्रवेश-करने का और कोई मार्ग नहीं है। शास्त्रीय परिभाषा में यह अमृत-रश्मि या नाड़ी की क्रिया ही पराभक्ति के नाम से अभिहित की जाती है। इसको छोड़कर चिदाकाश में अभेद स्थिति हो नहीं सकती।

चिदाकाश में प्रवेश करने पर उस समय वैसा दर्शन नहीं होता और हो भी नहीं सकता। यह एक प्रकार से ब्रह्म-निर्वाणवस्था है। केवल इतना ही नहीं, वहाँ से चित्ताकाश का भी दर्शन नहीं होता, भूताकाश का दर्शन तो दूर की बात है अर्थात् चित्ताकाश और भूताकाश दोनों का ही दर्शन होता है, परन्तु अभिन्न रूप से, चिदात्मक रूप से, ब्रह्म रूप से। यह ब्रह्म-दर्शन वस्तुतः स्वयंप्रकाश ब्रह्म की स्वरूपस्थिति है। परब्रह्म और शब्दब्रह्म की अभिन्नता का जो बोध है, उसी का नाम पूर्ण ब्रह्मज्ञान है। चिदाकाश शब्दब्रह्म का नामांतर है। द्रष्टा परब्रह्म है। चिदाकाश में भगवदनुग्रह से अथवा पराभक्ति के प्रभाव से, उन्मना शक्ति के उल्लास के कारण या पूर्णतत्व के बोध के कारण, प्रविष्ट होने पर परब्रह्म वा शब्दब्रह्म का

अथवा द्रष्टादृश्य का नित्य सामरस्य प्रतिष्ठित होता है। यही स्वातंत्र्यमय बोध-स्वरूप आत्मा है। यह अद्वयतत्व है। यह सब तत्वों के अतीत होने पर भी सर्वतत्वमय परमतत्व है।

पूर्णब्रह्म में स्वातंत्र्य का उल्लास होने पर ही चिदाकाश का आविर्भाव होता है। वस्तुत: यह स्वातंत्र्य नित्य होने से चिदाकाश भी एक दृष्टि से नित्य आविर्भूत है। द्रष्टा जैसे नित्य है, उसी प्रकार उसका दर्शन भी नित्य है। यह दृश्य द्रष्टा का ही 'स्व-भाव' है। यह स्वरूपभूता शक्ति है। दोनों चिद्-एकरस हैं। महाशक्ति की मधुरलीला में एक ही अद्वयतत्व अनादि दिव्य मिथुनरूप से अर्थात् युगलरूप से या युगनद्धरूप से प्रकाशमान है। फिर भी यह विकल्पमय मनोराज्य या विश्व के ऊर्ध्व में है। काल के कलनात्मक व्यापार से अतीत है, 'ए प्ले ऐज़ इट वेयर इन दि हार्ट ऑव एटरनिटी'।

चिदाकाशदर्शन के अनंतर वहाँ से स्वेच्छया अवतरण के समय पूर्ण चित्ताकाश का युगपत् दर्शन होता है। यही विश्वदर्शन या विश्वसृष्टि है। इसमें क्रम नहीं है। इसके बाद चित्ताकाश में प्रवेश होता है, और उसी में जीवनरूप में संचरण होता है। यहाँ सभी अवस्थाओं का क्रमश: स्फुरण होता है। यह क्रम अत्यंत सूक्ष्म भी हो सकता है, जिसका कामरूप में भान नहीं होता अथवा अत्यंत स्थूल भी हो सकता है। इसी क्रम से काल के भान का निर्णय होता है। चित्ताकाश से अवतरण के समय संपूर्ण भूताकाश घोर अंधकारमय गोलक के रूप में देख पड़ता है। यह अंधकार माया का अंधकार है। इसमें प्रविष्ट होने पर पूर्ण रूप से आत्म-विस्मृति हो जाती है। अपना स्वरूपज्ञान आच्छन्न हो जाता है। उसके बाद मायागर्भ से बाहर होने पर भेदज्ञान मायावस्था स्थायी हो जाती है। जब तक भूताकाश में अवस्थान होगा तब तक यह भेदज्ञान छूट नहीं सकता। ज्ञान के आलोक से अथवा दिव्यचक्षु का विकास होने पर चित्ताकाशदर्शन की अवस्था में भेदाभेद ज्ञान का आविर्भाव हो सकता है, परन्तु यथार्थ अभेदज्ञान चिदाकाश छोड़कर हो नहीं सकता।

मूल में आकाश एक ही है। यह एक अनंत प्रकाशमय व्यापक सत्ता है—'आ समन्तात् काशते' इसे कोई-कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई पराशक्ति, कोई परमशून्य और कोई पूर्ण। यह वस्तुत: अवस्थाहीन होने पर भी व्यवहारदृष्टि से अवस्थाभेद के अनुसार विभिन्न आकाशरूप में वर्णित होता है। भूताकाश से भूतावरण हट जाने पर वही चित्ताकाश है। चित्ताकाश से गुणावरण हट जाने पर वही चिदाकाश है। चिदाकाश निर्मल है। उसमें कोई आवरण नहीं है। परन्तु सामरस्यावस्था में उसका भी भान नहीं रहता। कुंज उस समय निकुंजरूप में प्रकट होता है। शैव भक्तगण चिदंबर अथवा उमा हैमवती नाम से उस चिदाकाश को ही लक्ष्य करते हैं। योगवासिष्ठ के लीला उपाख्यान से ज्ञात होता है कि सरस्वती के आशीर्वाद से मोहनिद्रा से जाग्रत होकर लीला ने पति का अन्वेषण करने के लिए देह के बाहर असंख्य ब्रह्मांडों का दर्शन पाया था।

आज यहीं समाप्त करता हूँ।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या ८

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — रामचंडी शाही, जगन्नाथपुरी (उड़ीसा)।
दिनांक — ९ अगस्त, १९३९ ई०।
प्राप्तकर्ता — श्री अक्षयकुमारदत्त गुप्त, ६५ लेक एवेन्यू, कलकत्ता।
आलोक — अक्खय बाबू ने अपने एक पत्र में 'नित्यलीला' के स्वरूप के संबंध में जिज्ञासा की थी। कविराजजी ने प्रस्तुत पत्र में उसकी व्याख्या की है।

विषय—नित्यलीला स्वरूपविकास

आपने जो नित्यलीला की बात लिखी है वह चिदाकाश का ही व्यापार है, चित्ताकाश का नहीं। चित्ताकाश में कर्मसंस्कार संचित रहता है, यह भेदज्ञान के बीज माया से कलंकित है। मायातीतपद में आरूढ़ न होने पर नित्यलीला का संधान नहीं मिलता। नित्यलीला जड़जगत् का व्यापार नहीं है। चिन्मयधाम में ही उसकी स्वाभाविक स्फूर्ति उपलब्ध हो सकती है। चैतन्य-संप्रदाय में भी इसी कारण से महाजन लोग स्वरूपशक्ति के उल्लासरूप में ही नित्यलीला का वर्णन करते हैं। स्वरूपशक्ति अंतरंगा चित्शक्ति है, यह कहना अनावश्यक है। यह वस्तुतः भगवत्स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी शक्त्यात्मक है। माया जड़शक्ति है, इसीलिए मायिकप्रपंच अथवा मायागर्भ में नित्यलीला की संभावना ही नहीं है। तांत्रिक लोग भी ऐसा ही कहते हैं। अनुत्तर-अवस्था में स्वातंत्र्य का उल्लास होने पर शिवशक्ति का परस्पर उन्मुखी भाव रहता है। उसी से संघट्ट होता है और संघट्ट से रस की धारा उच्छलित होने लगती है। इसी स्थान में रसस्फूर्तिरूप लीला का विकास होता है।

प्राचीन आगम में इसका नाम है—'विसर्ग-भूमि'। शिवशक्ति का यामलरूप, जिसको गौड़ीयगण 'युगल' रूप और सहजयानी बौद्धगण 'युगनद्ध' रूप कहते हैं, उस लीला रसधारा का प्रस्रवण स्वरूप है। यह कहना अधिक है कि यह इच्छाशक्ति के उन्मेष से पूर्व की अवस्था है। तंत्र के अनुसार अ, और आ, एक ही सत्ता के दो दिक् हैं। 'इ' से विश्वबीज इच्छा का उद्भव होता है, 'अ' है अनुत्तर और 'आ' है आनंद। उसमें अनुत्तर पर प्रकाश मात्र है। यह शिवशक्ति का अद्वयरूप तत्व है। यही वास्तव में अद्वैत है, 'आनंद' है। प्रकाशरूपी शिव और विमर्शरूपी शक्ति को मिथुनीभाव या परस्पर अनुप्रवेश से उच्छ्वसित रसधारा शृंगार अथवा आदिरस को आश्रय करते हुए 'विवर्तविलास' के रूप में खेलने लगती है। उसके बाद इच्छा के विकासक्रम से क्रमशः 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' इन शक्तियों का आर्विभाव होता है। प्रचलित भाषा में इन्हीं का नाम है इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इन शक्तियों के घात-प्रतिघात से विचित्ररूप जगत् उत्पन्न होता है। अतएव लीला चित्ताकाश का व्यापार नहीं है, यह असंदिग्ध है।

किसी-किसी का मत है कि शुद्धचैतन्य निष्क्रिय और लीला क्रियात्मिका है। अतएव शुद्ध चित्स्वरूप में लीला का कोई स्थान नहीं है। यह ठीक नहीं है। लीला संपंदमयीशक्ति का स्वच्छंदविलास मात्र है। इसके साथ इच्छा-ज्ञान-क्रिया का संबंध नहीं है। यह भगवत्स्वरूप का निगूढ़-रहस्य है। बाह्यदृष्टि से यह देखी नहीं जा सकती। जब तक बाह्यभाव रहता है,

तब तक इसका पता भी नहीं चलता। यह वस्तुत: अपने साथ ही अपना खेल है। इस खेल में द्वितीय कोई नहीं है। परन्तु अनुगत द्रष्टा साक्षीरूप से लीला देख सकते हैं। सखी को वस्तुत: यह अधिकार है। क्योंकि सखी भी मूलरूप में स्वरूपशक्ति का ही स्फुरण मात्र है, परन्तु इसका प्रयोजन है। यही मायामुक्त भगवद्‌भक्त जीव के साथ सम्बद्ध है। जीव मुक्त होकर पराभक्ति के प्रभाव से सखी के साथ योगयुक्त हो जाता है, इसीलिए साक्षी अथवा द्रष्टा होकर लीलादर्शन का अधिकारी होता है। अथच माया और महामाया से अतीत होकर वह भगवान् की विशुद्ध चित्-उज्ज्वला, स्वरूपभूता महाशक्ति के अंकाश्रित रहते हैं। इसीलिए सांख्यादि सम्मत केवली द्रष्टा के पद से ऊर्ध्व में अवस्थान करते हैं। इसी को गुरुदेव (स्वामी विशुद्धानंद) 'माँ की गोदी में बैठकर माँ का खेल देखना' कहते थे।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या ९

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — २ ए, सिगरा, बनारस।
दिनांक — १८ जुलाई, १९४० ई०।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, कलकत्ता।
आलोक — तर्कभूषण जी पहले कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में प्रोफेसर थे, बाद में मालवीय जी के अनुरोध से हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग का अध्यक्षपद ग्रहण किया था। उन्होंने कविराजजी के पास अपनी पुस्तक 'बाँगलार वैष्णव धर्म' सम्मति के लिए भेजी थी। इस पत्र में उसकी संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

आपकी भेजी हुई 'बाँगलार वैष्णव धर्म' नामक पुस्तक कुछ दिन पहले मिली थी। उसके लिए मैं आपसे कृतज्ञता निवेदन करता हूँ। यह ग्रंथ अच्छी तरह से लिखा गया एवं सुपाठ्य है, इसमें संदेह नहीं। आपकी रचनाशैली का स्वाभाविक माधुर्य पूर्णरूप से इसमें विद्यमान है। प्रतिपाद्य विषय की आलोचना भी साधारण पाठक की बोधगम्य भाषा तथा प्रणाली में की गयी है। इसीलिए सबके लिए चित्ताकर्षक हुई। आपने गौड़ीय-वैष्णव-साधना के वैशिष्ट्य आलोचना के संबंध में शठकोप मुनि की कामिनीत्व-प्राप्ति अथवा गोपीभाव अवलम्बन के विषय में संक्षेप में कुछ बातें कही हैं। रागमार्ग की भक्तिसाधना का धारावाहिक इतिहास लिखने के समय शठारि का साधनागत वैशिष्ट्य अवश्य ही आलोचित होगा। आपने मानस-वृंदावन में सिद्धदेह में महाभावरूपिणी श्रीराधा का संचारीभावरूपा सखियों के अनुगमन के द्वारा रसानुभूति-रसिक-राजशेखर श्रीकृष्ण के प्रीतिसंपादन के लिए जीवन उत्सर्ग करने को वंगीय वैष्णव-धर्म का वैशिष्ट्य कहकर वर्णन किया है (पृ० ४८)। यह बहुधा सत्य है। यद्यपि तात्विक दृष्टि से यह बहुत पहले से अर्थात् महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव के पूर्व से ही गुप्त साधकों के भीतर परिज्ञात रहा है। इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। परन्तु यह वृंदावन क्या मानस-वृंदावन है? 'चैतन्य-चंद्रोदय' नाटक में विरजा के दूसरे पार में परव्योम का वर्णन मिलता है। यह नित्यचिन्मयभूमि है। इस स्थान के लताकुंजादि चिन्मय और आनंदघन हैं।

'भगवत्-संदर्भ' में भी इसका वर्णन है। यह नारायण की त्रिपाद-विभूति-स्वरूप नित्य-अनंत-शुद्ध-सत्वमय दिव्य-परमपद है। कहना न होगा कि यह मायातीत भूमि है। इसीलिए इसको 'मानस-वृंदावन' न कहकर 'नित्यवृंदावन' रूप से ग्रहण करना ही उचित जान पड़ता है। वृंदावन तीन हैं, मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं। 'नित्य वृंदावन' में ही 'स्वतःसिद्ध' मनुष्य का प्रकाश होता है अन्यत्र अयोनिसंभव व योनिसंभव मनुष्य की स्थिति है। 'मानस-वृंदावन' के साथ 'नित्य-वृंदावन' का भेद रहस्यमार्ग में प्रसिद्ध है, जिसको 'अप्राकृतनवीनमदन' रूप से वर्णन किया जाता है, वह विरजा के इस पार की वस्तु नहीं है। 'प्रेमानंद-लहरी', 'राधारसकारिका', 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' प्रभृति ग्रंथों में राधाकृष्णतत्व अर्थात् युगलरूप का निगूढ़रहस्य वर्णन किया गया है।

भावदेह के अनंतर सिद्धदेह प्रसिद्ध है। भावदेह साधक अवस्था में अभिव्यक्त होता है, अवश्य मलशुद्धि के या नाममाहात्म्य के प्रभाव से। परन्तु सिद्धदेह साधक-अवस्था में होता नहीं है। और एक बात है। साधक का आश्रय है सखी का चरण किंतु सिद्ध का आश्रय है श्रीराधा का चरण। साधक का 'लील-राग' है परन्तु सिद्ध का 'प्रेम तथा प्राप्ति राग' है। 'मानस-वृंदावन' में सिद्ध गणों के उपभोग्य इस रस का आस्वादन संभव नहीं है। प्राचीन रामायत संप्रदाय में भी इस गूढ़तत्व का संधान मिलता है। तुलसी के 'श्री रामनाम-कलामणि-कोष मंजूषा' नामक ग्रंथ में और कबीर के रेखता प्रभृति में, इस तत्व का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। शुकसंहिता, सदाशिव संहिता आदि ग्रथों में भी इस विषय में आलोचना है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रभृति देह अतिक्रम करने के बाद हंसदेह प्राप्त होने पर श्री भगवान् के नित्यपार्षद-भाव की प्राप्ति होती है। यह सगुण व निर्गुण दोनों भावों से अतीत है। फिर भी लौकिक दृष्टि से उभय-भावमयरूपेण या भिन्न-भिन्न रूपेण प्रतिभासित होता है। यही युगलरूप का रहस्य है। तांत्रिकों का 'यामल' रूप और वज्रयानी बौद्धों का 'युगनद्ध' रूप तात्विक दृष्टि से एक ही है। इस विषय में यह भी याद रखना चाहिए कि महाप्रभु चैतन्य ने उत्कल में जिस निगूढ़ धर्म का शिक्षण दिया था और जो अधिकारभेद से पंच-सखाओं के भीतर आबद्ध रहा, उसकी भी आलोचना आवश्यक प्रतीत होती है। उत्कलीय वैष्णवों के ग्रंथ अभी विद्यमान हैं। ये अतीव अपूर्व हैं। हमारे गोस्वामियों की ग्रंथावलियों की भाँति इन ग्रंथों का भी विश्लेषण आवश्यक है। 'प्रेमभक्ति', 'ब्रह्मगीता' 'गुरुभक्ति गीता' प्रभृति उत्कृष्ट तत्वग्रंथ हैं।

आशा है आप कुशल से होंगे।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १०

प्रेषक — डॉ॰ सुरेंद्रनाथ मुखर्जी।

स्थान — होमियो हीलिंग चैंबर, हाथरस सिटी।

दिनांक — १७ अक्तूबर, १९४० ई॰।

आलोक — डॉ॰ सुरेंद्रनाथ मुखर्जी कविराजजी के गुरुभाई थे। इन पर एक अलौकिक महापुरुष की कृपा थी। वे इनका निरंतर पथप्रदर्शन एवं

रक्षा करते रहते थे। इस पत्र में उस अलौकिक महापुरुष द्वारा मुखर्जी महाशय की प्राणरक्षा और उनसे प्राप्त कविराजजी के स्वभाव एवं व्यक्तित्व तथा रामकृष्ण परमहंस के अवतरण विषयक कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी गयी हैं।

जिस बात को आपसे कहने के लिए मैं काशी गया था, वह न कही जा सकी। उस समय आपके पास बाहर से आये हुए कई व्यक्ति उपस्थित थे, इसीलिए मैं लौट आया। मैंने सोचा, किसी अन्य समय जब आपसे भेंट होगी, कहूँगा। किन्तु देखते-देखते समय बीत गया, कहना नहीं हुआ। जिनके विषय में कुछ कहने के उद्देश्य से मैं आपके पास गया था, उनका आदेश था कि यह बात गुप्त रखना। बहुत दिन तक इसके कारण पर विचार करने के बाद अनुभव हुआ कि वे महाशय अत्यंत संकोचशील हैं और अपने को प्रकट नहीं करना चाहते । उनकी इच्छा के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कह सकता। किन्तु जब अकस्मात् मेरे मन में यह भाव उठा कि इस निषेध का मूल मात्र संकोच ही है तब मैंने इस विषय को अपने मित्रों से भी कहने में संकोच नहीं किया। विशेष रूप से आपसे कहने के लिए आंतरिक आग्रह इतना प्रबल था कि इतने दिनों तक इसे मन में दबाकर रखने में कष्ट का अनुभव होता रहा। आज उसे व्यक्त कर रहा हूँ।

मन की एक अवस्था ऐसी है जिसका आविर्भाव होते ही महापुरुष का दर्शन हो जाता है। मैंने अपने जीवन में इस तत्व का प्रत्यक्ष बहुत बार किया है। किन्तु इस अवस्था को ले आना अपने प्रयत्नाधीन नहीं है। प्रयत्न से कभी ऐसा हो भी नहीं सकता। जब होता है तब अकस्मात् ही हो जाता है। जिस समय चारों तरफ के उपद्रव से मेरा चित्त विक्षिप्त हो जाता है और भीतर में हताशभाव आकर चित्त को अभिभूत कर लेता है, तब, इस जीवन में कोई आशा नहीं है, यह समझ कर मैं जब कभी एकाकी भाग जाता हूँ और किसी निभृत या निर्जन स्थान में जीवन के शेष मुहूर्त की प्रतीक्षा करता हूँ, उसी समय महापुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन पाकर, हृदय में भरपूर आनंद लेकर लौट आता हूँ।

कैशोर अवस्था में एक बार कापालिक लोग मुझे पकड़ कर इधर-उधर भुलावा देकर बलि देने के लिए विंध्याचल ले गये थे। उस समय इन महापुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन मिल गया था जिससे हमारे जीवन की रक्षा हुई थी। इसके बाद विवाह के समय जब गोलमाल होने लगा था उस समय भी मेरी रक्षा करने के लिए महापुरुष ने दर्शन दिया था। ये दोनों अवसर बीत चुके हैं, अब मैं तीसरी बार की बात कह रहा हूँ।

मेरे जीवन का जो आंतरिक क्रंदन है, अभाव है, सब कुछ आप जानते हैं। उसको नूतन करके पुरानी बात कहने की आवश्यकता नहीं।

एक दिन अकस्मात् हरद्वार जाने की इच्छा हुई। प्रस्थान कर दिया। हरद्वार पहुँच कर आगे बढ़ने की प्रेरणा हुई। लक्ष्मणझूला पार कर टेहरी राज्य के प्रांत में पहाड़ की गोदी में गंगा नदी के किनारे उन्मनाभाव से चलने लगा। उद्देश्य था आत्महत्या करना। उस समय संध्याकाल था। चारों ओर के घने जंगल और गंभीर निर्जन भाव ने हमारे चित्त को डुबा दिया। गंगातट के निकट बैठने की इच्छा करके एक बड़े पत्थर को झाड़-पोंछ कर सोचने लगा कि इसी स्थान पर आज अपनी जीवन-लीला समाप्त करूँगा। रातभर नाम जप करके

बिताऊँगा। ऐसा सुन्दर अवसर फिर कहाँ मिलेगा? इतने दिन जीवन में आत्मीय बंधु-बांधवों के साथ रहकर कितना क्षुधार्त रहा, इस समय उन सब बातों को सोचकर हँसी आती है, लज्जा मालूम पड़ती है। महापुरुष ने कहा था : 'मनुष्य को अपने दुःख की बात सुनाने पर उनके (श्री भगवान् के) पास नहीं पहुँचती है।' उन्होंने यह भी कहा था : 'कर्त्तव्य (ड्यूटी) में डूब जाओ। दुःख की बात सोचना मत। तब तुमको देख पड़ेगा, आनंद का झरना बह रहा है।' खैर, मैं आँख बंद कर जप के लिए उसी पत्थर पर बैठ गया। कितना समय बीत गया, पता नहीं। अकस्मात् मालूम पड़ा मानो कोई व्यक्ति मेरे पास आ गया है और मेरी आँखों के ऊपर बार-बार टार्चलाइट फेंक रहा है। उस समय मुझे ऐसा आभास हुआ कि मेरी आँखें खुली हुई हैं। ऐसा समझ करके मैंने जल्दी-जल्दी हाथ से आँखों को ढक लिया। हाथों के स्पर्श से पता चला कि दोनों आँखें बंद थीं। इससे हमने अनुमान लगाया कि आलोक इतना तेज अवश्य रहा होगा जो पलकों को भेदकर नेत्रों में तीव्रदाह उत्पन्न कर रहा था। यह पुनः पुनः मन ही मन विचार करता हुआ मैं आँखें बंद किये बैठा रहा। इस बीच मैं युक्ति से अपने को समझाने की चेष्टा कर रहा था कि शायद किसी पथिक या शिकारी ने यह प्रकाश फेंका हो। बीच में मानो किसी ने गेटे (जर्मन कवि) के स्वर में कहा, 'लाइट! लाइट! मोर लाइट! यह वह आलोक है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य धन्य होता है। तुम इतने अविश्वासी हो कि इस प्रकार का दिव्य-प्रकाश पाकर भी उसकी रक्षा न कर सके। सुरेंद्र! वस्तुतः तुम दुर्भाग्य हो। परन्तु एक दृष्टि से तुम भाग्यवान भी हो। क्योंकि तुम्हारे ऊपर गुरुकृपा है। उसी के प्रभाव से आज इस हिंस्त्रजीवों से सेवित प्रदेश में तुम अक्षत घूम रहे हो। उसी बल से साधारण साधन से ही तुम्हें ज्योति का दर्शन मिल गया। यदि और कुछ समय तक स्थिर रहते, अविश्वास हो हृदय में स्थान न देते और मन में इतना तर्क न करते तो निश्चय ही प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता।'

इस प्रकार बहुत सी बातें वे महापुरुष कहने लगे। घने अंधकार में मैं उन्हें देख नहीं सका। बिना देखे ही उनकी ये बातें सुनता रहा। कभी-कभी थोड़ा भय भी होता था। सोचा, ये बाबा (गुरुदेव) तो नहीं हैं। ये बातें तो 'गोपीदा' जैसी करते हैं। वे ही इधर घूमने तो नहीं आ गये हैं? यह सब मेरी चिंता की धारा थी। आँखें खोलीं तो देखा वहाँ कोई नहीं था। थोड़ी देर बाद देखने में आया कि सामने साँप की बिल जैसा एक छोटा सा गड्ढा है। उसमें से एक लंबाकार महापुरुष प्रकट हुए। मैं यह दृश्य देखकर स्तंभित हो गया। फिर उठा, जल्दी से उन्हें प्रणाम करके बैठने के लिए आसन दिया। थोड़ी देर के बाद वे प्रकृत मनुष्य की भाँति प्रतीत होने लगे। मैं उन्हें गौर से देखने लगा, यह निश्चित करने के लिए कि कहीं ये बाबा (स्वामी विशुद्धानंद) तो नहीं हैं। मेरा अभी तक ऐसा विश्वास है कि कदाचित् वे उन्हीं के आश्रम—ज्ञानगंज के कोई व्यक्ति थे क्योंकि अणिमा, लघिमादि सिद्धियाँ—जिनका प्रयोग इनके प्राकट्य में हुआ था, वहाँ सहज सुलभ हैं। इस प्रकार सोच ही रहा था कि आगंतुक महापुरुष ने मुझे संबोधित करते हुए कहना आरम्भ किया, 'सुरेंद्र! क्या तुम्हारी इतनी ही बुद्धि है? क्या तुम्हारे विचार में सिद्धि की यही एकमात्र कसौटी है? वैसे तुम जो कुछ सोच रहे हो सब ठीक है। बाबा की ही कृपा से आज मेरी यह शक्ति है।

मैं उन्हीं के बल ले बलवान हूँ। तुम्हारी इस प्रकार की हठकारिता से ही आकृष्ट होकर मुझे यहाँ आना पड़ा। तुम अपने जीवन को समाप्त करना चाहते थे। परन्तु यह सामर्थ्य तुम्हारा है क्या? स्वयं अपने जीवन पर तुम्हारा कितना अधिकार है? क्या तुम जानते हो किस कार्य से सुख मिलता है और किससे दुःख? यह जानकर भी तुम्हें इतना परिताप एवं नैराश्य क्यों है? अपने को मूर्ख सोचकर मूर्ख ही बन रहे हो। पुस्तकों को पढ़कर अगाध पांडित्य लाभ कर लोग विद्वत्ता का अभिमान करते हैं, यह साधना का अंतराय है। तुम सोच-सोचकर अपनी इच्छा से दुःख बढ़ा रहे हो।'

इन शब्दों में महापुरुष ने हमारी बहुत भर्त्सना की किन्तु इसमें बहुत स्नेह था। यह सुनते-सुनते प्रातःकाल हो गया हमारा मरना न हो सका। महापुरुष उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाते हुए बोले, 'देखो! तुम्हारा गोपीदा अगाध पांडित्य पाकर भी शिशु तुल्य सरल है। इतनी सरलता देखकर साधारण लोग उनको हास्यास्पद समझते हैं। यह उनकी मूर्खता है। गोपीदा इतना विद्वान् होकर ही यह समझ सका कि पुस्तकों के पढ़ने पर भी परमपद लाभ नहीं होता। भगवान् कहाँ हैं और किसमें किस समय प्रकट हो जायेंगे कौन कह सकता है? उनके लिए कोई बंधन या नियम नहीं है। शुचि-अशुचि भेद नहीं है। विद्वान्-मूर्ख, छोटे-बड़े का विचार भी नहीं है। उनकी कृपा के प्रकाश का ऐसा एक रहस्यपूर्ण नियम है जिसको हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं करती। ऐसी भी एक अवस्था है, जिसके प्राप्त होने पर वे आये बिना रह भी नहीं सकते साथ ही साथ यह भी सत्य है कि उनको न आना है, न जाना है, सब नित्य वर्तमान है केवल पकड़ने का खेल है। ऐसा एक अद्‌भुत कौशल है, जिसके अनुसार झटका देने से उनका आगमनरूप व्यापार आप ही आप सिद्ध हो जाता है।

महापुरुष ने संक्षेप में अपना परिचय दिया। उनका निवास स्थान पूर्व बंग में था। उन्होंने अपनी मातृभाषा में ही ये सारी बातें की थीं। मेरा घर कलकत्ते के पास था, इसलिए मुझे बोली समझने में कुछ कठिनाई हो रही थी। कोई-कोई शब्द बिल्कुल समझ में नहीं आते थे। एक और आश्चर्यजनक व्यापार देखने में आया, वह यह कि 'इतने बड़े ऐश्वर्य के अधिकारी होते हुए भी वे इतने विनीत थे कि संकोच से अपने को प्रच्छन्न रखना चाहते थे। आत्म-प्रकाशन उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। बंगभंग के बाद अनेक शिक्षित बंगाली युवक यह सोचने लगे कि क्रांति को सफल बनाने के लिए शिवाजी के पथ-प्रदर्शक समर्थ रामदास ऐसा गुरु चाहिए। ऐसे शक्तिसम्पन्न आध्यात्मिक उपदेष्टा की खोज में कितने ही बंगाली युवक प्रियजन का संसर्ग त्याग, माता-पिता को रोता छोड़कर बाहर निकल पड़े थे। उनमें से अधिकांश ने योगियों का सान्निध्य प्राप्त करने के उद्देश्य से हिमालय की गहन उपत्यकाओं की शरण ली थी। कालांतर में उनमें से किसी-किसी की मृत्यु हो गयी, कोई लौट आये और किसी-किसी ने योगियों की कृपा से सिद्ध होकर उच्च अवस्था लाभ किया। ये महापुरुष उन्हीं में से एक थे।

बातचीत के सिलसिले में ये कहने लगे, 'देखो, लोग यथार्थ मनुष्य को सम्मान देना नहीं जानते। चाहे किसी को देखकर, उसको अवतार योगी, महापुरुष अथवा सिद्ध कहकर पूजा करने लगते हैं। यदि उससे कामनाओं की पूर्ति न हो सकी तो अंत में निराश होकर निंदा करने से भी बाज नहीं आते। सीधी बात इनकी समझ में आती नहीं। परमहंस रामकृष्ण

देव तुम्हारे परिचित हैं। कोई उन्हें अवतार, कोई योगी कहते हैं। किन्तु व्यक्ति एक साथ ही योगी तथा अवतार दोनों नहीं हो सकता। योगी न अवतारी हो सकता है, न अवतारी महापुरुष योगी। रामकृष्ण क्या थे? यह बहुत कम लोग जानते हैं। वे मेरे गुरुभाई थे। मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि पूर्वजन्म में रामकृष्ण ने योग में अत्यंत उच्चावस्था प्राप्त की थी, प्रायः भगवान् से अभेदावस्था। जब वे उस अवस्था से उतर कर आते थे तो गुरुदेव से बार-बार कहते थे, 'इस प्रकार की आनंदावस्था भारत के जीवों को क्यों नहीं प्रदान की जाती? उन्हें क्यों इससे वंचित किया जा रहा है। मेरी ऐसी इच्छा है कि एक बार समस्त भारत को खींचकर आपके चरणों में ले आऊँ।' इन सब बातों की चर्चा में महापुरुष मग्न हो जाते थे। उन्होंने बताया कि एक दिन अत्यंत आतुर होकर रामकृष्ण ने गुरुदेव का चरण पकड़ कर प्रार्थना करते हुए, ईश्वर तुल्य पद छोड़कर दुखी जीवों के आर्तिनाश के निमित्त जगत् में जन्मग्रहण करने की अनुमति प्रदान करने की याचना की। गुरुदेव ने उनको बार-बार निषेध किया और उन्हें समझाते हुए कहा : 'कुछ दिन प्रतीक्षा करो। ऐसी स्थिति आ जायगी, जब समग्र जीवों को तुम सुखी कर सकोगे। इस समय यदि जाओगे तो मुझको रोते-रोते जीवन बिताना पड़ेगा। अवश्य यह रोना दूसरों के लिए होगा। इस समय उनके दुःख को हटाने के लिए अपेक्षित शक्ति के अभाव का तुम्हें अनुभव होगा अर्थात् हृदय में दुःखनाश की प्रबल इच्छा किन्तु उसे दूर करने की शक्ति नहीं।' यह सुनकर रामकृष्ण ने गुरुदेव का चरणस्पर्श करते हुए निवेदन किया : 'अपनी सब सिद्धि-संपद् ले लीजिए। मैं मानव का दुःख हटाऊँगा, जगदंबा का नाम सुनाकर।' गुरुजी ने कहा, 'जिस शक्ति द्वारा अणिमा-लघिमा का उदय होता है, उसी से मनुष्यों की दुःखनिवृत्ति भी होती है। इस प्रकार की शक्ति के अभाव में तुम एक मनुष्य का भी दुःख न हटा सकोगे। यह जो ज्ञान है, इसे तुम तुच्छ समझते हो, यह भी पुनर्जन्म न लेने के लिए त्याग का अभिमान मात्र है। मैं चेष्टा करके तुम्हें रोकना नहीं चाहता। नियति तुमको खींचकर ले जा रही है। अच्छा जाओ, कुछ दिन जगत् का अनुभव कर लो।' यह सब बातें वे महापुरुष कहने लगे।

इसके बाद वे बोले : 'रामकृष्ण वास्तव में वही रहे। उनको अवतार भी नहीं कहा जा सकता, न योगी ही। उन्होंने स्वेच्छया योगी की उच्चावस्था त्याग कर जीवों के दुःखनाश के लिए गर्भयातना को वरण किया था। यह भी साधारण बात नहीं है। पहले जब वे योगी अवस्था में थे, मैं गुरु आश्रम में साथ रहता था। उसी के अभ्यासानुसार इस जन्म में भी पूर्ण निवृत्तिभाव अर्थात् निष्कामभाव उनमें प्रकट हुआ। साधारण लोग समझते थे कि परमहंसदेव योगी होना पसंद नहीं करते।' यह सब सुनकर मेरी समझ में आया कि ये सब विषय जानते हैं।

प्रसंगवश उन्होंने श्री अरविन्द की पूर्व जन्म-विषयक कुछ बातें कहीं। उन्हें लौकिक विषयों का भी पर्याप्त ज्ञान था, आइंस्टीन के सापेक्षवादिता सिद्धान्त (थियरी ऑव रिलेटिविटी) के संबंध में भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। शचीन दा (प्रसिद्ध क्रांतिकारी शचींद्रनाथ सान्याल) को मैं आपके पास लेकर गया था। उनके बारे में भी बहुत कुछ कहा। मैंने कहा : 'इतने देशभक्त लड़के निरवलंबावस्था में जेल में यातनाएँ सहते हुए प्राणत्याग कर रहे हैं। क्या उन पर आपको दया नहीं आती।' यह सुनकर महापुरुष बोले : 'सुरेंद्र! दया करना या न करना

इसका प्रश्न नहीं है। कौन अपने उद्देश्य में कितना निष्ठावान है, इसकी परख स्थूलबुद्धि मनुष्य नहीं कर सकता। ऐसे सूक्ष्मविचार प्रकृति के नियमों में स्वाभाविकरूप से गुँथे हैं। वहाँ किसी अंश में कुछ भी धोखा नहीं चल सकता। अविचार-सुविचार का प्रश्न ही नहीं उठता। असली चीज जानते हो क्या है? यह जो तुम्हारा मन है, उसे आयत्त या स्वाधीन कर लेना। यदि यह कर सको तो समझो बाजी मार ले गये, फिर कुछ करने को नहीं है। इसके बाद जिस समय जैसा आवश्यक होगा, उस समय ठीक स्थान पर उसे प्रवृत्त कर सकने पर आनंद का निर्झर फूट पड़ेगा। जब तुमको अदृश्य होने की इच्छा होगी तब उस मन को लेकर विशिष्ट भीतरी बटन दबा देनी पड़ेगी, तत्काल अदृश हो जाओगे। इच्छानुसार द्रुतगति से शून्यमार्ग में घूम सकोगे। महायुद्ध में शत-शत गोलीवर्षण तुम्हारे शरीर को स्पर्श तक न कर सकेगा। मनुष्य वास्तविक धर्म को समझते नहीं हैं। उसी मार्ग को समझाने के लिए प्रेम से तुम शचीन दा को गोपीदा के पास ले गये थे। किन्तु तुमको हताश होना पड़ा। आनंद लेने की वास्तविक सामर्थ्य जब तक संपादित नहीं की जाती तब तक ठीक-ठीक भोग होता नहीं।'

एक वाक्य उन महापुरुष के मुख से बार-बार निकलने लगा, 'खट करके लगाने से झर-झर गिरने लगेगा। इसका अर्थ क्या है? तुम्हारे गोपी दा ठीक तरह से समझा सकते हैं। यह कहकर वे थोड़ी देर के लिए चुप हो गये। फिर बोले—

'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥'

(गीता, अं० १८। ३२)

अर्थात् जो लोग ठीक-ठीक अर्थ न समझ कर उल्टा अर्थ करते हैं और शास्त्र को अपने मनोनुकूल भाव से समझने-समझाने की चेष्टा करते हैं उनकी बुद्धि तामसी है। ऐसे लोग जगत् की शांति के मार्ग में कंटक हैं। इसके अतिरिक्त उक्त महापुरुष ने और भी बहुत सी बातें कही थीं किन्तु उन्हें भूल रहा हूँ।

सुरेंद्र

पत्र-संख्या ११

प्रेषक — डॉ० सुरेंद्रनाथ मुखर्जी।
स्थान — होमियो हीलिंग चैंबर, हाथरस (यू०पी०)।
दिनांक — २१ फरवरी, १९४१ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
आलोक — इस पत्र में मुखर्जी बाबू ने उन महापुरुष के कविराजजी के संबंध में विचारांकन के साथ अपने जीवन की कतिपय समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

परमपूजनीय श्रीचरणकमलेषु!

भाई गोपी दा

आपके यहाँ जाने के पहले सोचा था कि सब कहकर बताऊँगा, जब मुँह से बता नहीं पाया तब पत्र द्वारा ही बता रहा हूँ। लेकिन इतनी सब कथा कैसे लिखूँ? और लिखने

के बाद लगता है कि ठीक वैसा नहीं हुआ जैसा मुँह से कहने पर होता। इतने दिन बाद यह 'नहीं लिख पाना' और 'मुँह से बोल नहीं पाना' इतनी दारुण अक्षमता क्यों है ? यही सोचने लगा। इसके पश्चात् कैसी एक लज्जा, भय, आशंका बाधा देती है, कोई जैसे सीने पर चढ़ बैठा है।

आज फिर बताने के लिए आया हूँ ? क्यों लिखने बैठा हूँ ? पता नहीं। फिर भी एक कौतूहल बार-बार प्रेरणा दे रहा है, बिना लिखे रह नहीं सकता।

मेरे कितने प्रश्नों के बाद वह महापुरुष बार-बार मुझको बोल रहे थे, 'सुरेन भैया! मेरी बात सुनो, तुम तुरंत गोपीदा के पास जाओ और कुछ दिन रहो।' मैं उनके अनुरोध को बार-बार ठुकरा कर बोला : 'उनके पास मैं इस हालत में कभी नहीं जा पाऊँगा, क्षमा करें।' यह कहकर मैं गद्गद होकर रो पड़ा और मेरा वाग्रोध हो गया। फिर भी वह कुछ डाँटकर और कुछ स्नेह भरे स्वर से बोलने लगे। वे शब्द अभी भी मेरी कर्णगुहा में झंकृत हो रहे हैं : 'सुरेंद्र! तुमने गोपीदा के पास इतने दिन रहकर भी उन्हें नहीं पहचाना। उनके निकट तुम कितना भी अपराध क्यों न करो, तुम लोग एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। तुम्हारे ऊपर जब भी कोई विपत्ति आयी, उनके स्पर्श से और उनकी शक्ति से तुम्हारा मंगल हुआ है और होगा। एक दिन शीघ्र ही देखोगे कि ठीक मेरी तरह सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करके वह आया-जाया करेंगे।' यह सुनकर ही मैंने तुरत अत्यंत आग्रह से और व्यग्र होकर पूछा : 'हाँ, मैं इसी रूप में उनको देखना चाहता हूँ। कितने दिनों में वह इस शक्ति को प्राप्त करेंगे ?' वह जैसे कहना नहीं चाहते थे। मेरे बार-बार और तीव्र अनुरोध के कारण बोले : 'ठीक एक साल में अथवा कुछ दिन बाद ही वह गुरुदेव की विशेष कृपा प्राप्त करेंगे, जिसके द्वारा वह बहुत उच्च अवस्था लाभ करेंगे।' मैं तब भी तृप्त नहीं हुआ। मैं उस समय बच्चों जैसी बातें कर रहा था। अब वह सब सोचकर मैं स्वयं ही लज्जित हो रहा हूँ कि इतने बड़े महापुरुष के साथ इस तरह से बात करना ठीक नहीं था। मैं, बात करते-करते मुझे अच्छी तरह से याद आ रहा है, अपने को भूल गया और साधारण मनुष्य मानकर उनसे तर्क करने लगा। यह सब तर्क केवल आपको लेकर हुआ। तर्क क्या था, उसे मैं फिर कह रहा हूँ। यह इतना बड़ा कौतूहल है कि उसे लिखे बिना मैं रह नहीं सकता।

महापुरुष के कथनानुसार मुझे यह जानने का कौतूहल हो रहा है कि आपको कोई विशेष अवस्था प्राप्त हुई है कि नहीं ? उनसे मेरी भेंट हुए एक साल हो गया। उनकी बात क्या झूठी होगी ? मैं प्राय: आपके दर्शन के लिए आकाश में और इधर-उधर दृष्टि डालता हूँ, परन्तु दर्शनलाभ नहीं होता। इसके बाद उन्होंने कहा था कि केवल सूक्ष्म रूप से आने पर ही क्या बड़ा हुआ जा सकता है, लेकिन हाँ गोपीदा बहुत ऊपर हैं। केवल एक कारण से वह दबे हुए हैं जिसको खोलने के लिए गुरुदेव की अपेक्षा कर रहे हैं, गोपीदा के ऊपर अपार कृपा देखकर मैं स्वयं ही आत्म-विभोर हो जाता हूँ। मैंने उनको अपने साथ आपके घर जाने के लिए बार-बार कहा—इसके उत्तर में वे हँसकर बोले : 'एक दिन होगा—जरूर जाऊँगा—तुम जाओ, अभी जाओ, नहीं तो तुम्हारे अदृष्ट में अशेष दु:ख है, वहाँ जाकर मन लगाकर अच्छी तरह से क्रिया करो, देखोगे तुम्हें गोपीदा को कुछ भी बोलने

का प्रयोजन नहीं होगा। तुम्हारे रहने से ही काम हो जायेगा। देखो! तुम्हें जब भीषण बीमारी हुई थी तो बाबा ने गोपीदा को ही तुम्हारे पास भेजा था। उसी से ग्रहशांति हुई, प्राण-रक्षा हुई। इसका क्या संबंध है, तुम लोग नहीं समझोगे।' किन्तु मेरे मन में एक विचित्र लज्जा, भय और आशंका का उदय हो रहा था जिससे मैं आपके पास किसी हालत में नहीं आ पाया और अब भी इतना बड़ा प्रयोजन होने पर भी, आपके निकट नहीं आ पाता, भविष्य में भी आ पाऊँगा, यह भी पता नहीं, लेकिन सभी बातें यदि मैं कह देता हूँ तब बिना आये नहीं रह सकता। बोलने की पर्याप्त सुविधा देकर आप कुछ दिन के लिए मेरे अनुरोध की रक्षा करें। सभी बातें कहने से मेरी एक आशंका प्रचंड होकर मुँह बंद कर देती है। वह डर क्या है? .... डर यह है कि पीछे आप हमें गलत समझें, विश्वास न करें, इत्यादि।'

घटना यह है कि मुकदमा क्रिया के गंडगोल होने से ही मेरे ऊपर इतनी विपत्ति आयी, ऐसा लगता है। उन्हीं कारणों से मैं नास्तिक हो गया और भाग गया। मन में यही था कि फिर नहीं लौटूँगा। हर समय भागने का ही भाव—क्रिया अच्छी तरह से नहीं हो पाती, आनंद से सीना फूल उठता है। कैसी एक उन्मादना से प्राण मन नृत्य करने लगता है। सर्वदा जैसे कीर्तन चल रहा है इसी भाव को एकमात्र जीवन का साथी करके तैर पड़ा—जीवन के अंतिम दिन तक कैसे इस भाव की रक्षा कर पाऊँ, इसके लिए मैं बहुत अधिक सतर्क था। सतर्कता ने ही मेरी रक्षा की है—यह सतर्क होने का कौशल आपकी ही देन है—बाबा की कृपा का अमूल्य रत्न। हृदय का धन भीतर में अत्यंत आनंद दे रहा है। दादा! भाई गोपीदा! मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि गलत समझ कर और मुझे सांत्वना देने के लिए अगर आप कुछ अर्थ (धन) दें और समझें कि मेरा दुःख दूर हो जायेगा तो मुझे बहुत कष्ट होगा। अगर आप समझ लें कि मैं रुपये के लिए ही ये सब बात कह रहा हूँ, इसी कारण मैं आपसे इतने दिन तक यह सब नहीं बोल पाया।

अब मेरा मुकदमा प्रायः खत्म हो गया है। थोक रुपया खत्म हो गया है। मुकदमाबाजी करने से जो हालत होती है, वही मेरी हुई है। आपके आशीर्वाद से डिग्री हुई, लेकिन इन लोगों ने फिर अपील की है। एकमात्र संचित अर्थ जीवनबीमे में था। उसी से उधार लिया है और .... के पास से उधार लिया है, लेकिन आपसे नहीं लूँगा। यह साधारण सी बुद्धि है, क्योंकि आजकल आपकी अवस्था वैसा नहीं है। आपसे रुपया माँगना आपको कष्ट देना है। आप अक्षम होकर गृहत्यागी हो गये हैं, यह सब बातें कहकर आपको विरक्त कर रहा हूँ। लेकिन एक विशेष कारण से विरक्त करने के लिए बाध्य हुआ हूँ। मेरे जीवन की समस्या का सामाधान आपके अलावा कौन सोचेगा? कुनाल की परीक्षा खत्म होने पर ही उसे कहीं रखकर मैं फिर कहीं चले जाने की सोच रहा हूँ। उसके पहले एक बार आपके पास आऊँगा .... लेकिन आने में लज्जा लगती है, फिर मालूम पड़ता है कि जाकर क्या करूँगा? जब जाऊँगा ही तब किसी से साक्षात्कार करके क्या होगा? यही सब सोच रहा हूँ। मुझे केवल यही मालूम पड़ता है जैसे कि मेरा अंतिम समय बहुत निकट है—अंतिम समय में अतल निबिड़भाव से अकड़ कर रहना चाहता हूँ। किसी एक आश्रम में जाकर कुछ दिन रहने की इच्छा होती है। आज करीब सात-आठ दिन हुए बायीं हथेली में वायु

प्रकोप से धनुष्टंकार की तरह हुआ था। मैं मृतप्राय हो गया था, किसी प्रकार रक्षा हुई। इस प्रकार बार-बार घात और प्रतिघात स्मरण करा रहा है कि समय निकट है, अत्यन्त निकट है। समय समाप्त हो गया है और कुछ ही क्षण बाकी हैं।

अनंत काल के लिए चले जाने के पहले एक बार आपके मुँह से सुनना चाहता हूँ कि मुझे उन महापुरुष ने आपके बारे में जो कुछ कहा था, वह कितना ठीक है? आपने कोई विशेष अवस्था-लाभ किया है कि नहीं? गत रात सघन अमावस्या में अपने मन को संबोधन करके मैंने प्रश्न किया—कहो हे निबिड़ रजनी! मेरे गोपीदा कहाँ और कैसे हैं? महापुरुष की बात अजीब लग रही है और भय हो रहा है कि गोपीदा क्या महाप्रयाण करेंगे? उसी का इंगित किया किन्तु कुछ भी समझ में नहीं आया? महापुरुष की बात आप जैसे समझेंगे वैसा मैं नहीं समझूँगा। उनकी बहुत सी बातें भूला जा रहा हूँ। कभी-कभी यह सब अपने आप उदय होकर उज्जवल रूप से स्मरण कराता है। फिर म्लान हो जाता है। इस उदय और अस्त को लेकर ही जीवन काट रहा हूँ। अब मेरी एकमात्र चिंता है आपके विषय में जो महापुरुष ने कहा था 'तुम्हारा गोपीदा भारत का मुख उज्ज्वल करेगा। अरविंद कहाँ टिकते हैं, कहाँ टिकते हैं विवेकानंद? कितने ही लोग उनके स्पर्श से कृतार्थ होंगे। उनकी करुणादृष्टि जिधर पड़ेगी उधर आनंद के स्रोत बहेंगे। बड़े-बड़े महापुरुष इसी गोपीदा को लेकर कितनी ही आलोचना करेंगे। उन लोगों की बहुत इच्छा होती है गोपीदा को यह अवस्था तुरंत प्रदान की जाये, लेकिन केवल एक व्यक्ति इस विषय में चुप रहता है और धीरे से मुस्करा देता है। वह हँसी सबको जता देती है कि अभी भी समय नहीं हुआ है। हाय रे दुर्भाग्य! भारतवर्ष एक अमूल्य रत्न पाकर भी दरिद्र है—मनुष्य छाया को पकड़ कर ही तृप्त होना चाहता है। सोचता है कि यही मेरी खोयी हुई निधि है और पग-पग पर चोट खाकर अनीश्वरवादी हो उठता है, फिर भी नहीं सोचता है कि क्या चाहिए? जो चाहता हूँ वह क्यों नहीं पाता?

दादा! और कितना क्या लिखूँ.......... जो महापुरुष धीरे से मुस्करा कर चुप रहते हैं वह कौन हैं? मैंने भृगुराम परमहंस को लक्ष्य करके प्रश्न किया, लेकिन हम लोगों के गुरुदेव 'बाबा' ने इसके उत्तर में जो कहा उससे मालून पड़ता है कि ये इन्हीं लोगों में से कोई हैं। परिष्कार रूप से और सटीक कोई उत्तर नहीं दिया।

आपके विषय में अनेक सूक्ष्म और छोटी-मोटी बातें उठाकर और उन पर विचार करके उन्होंने कहा, 'देखो, गोपीदा में सूक्ष्मविचार और सरल विश्वास स्थापना के लिए जो सब गुण मनुष्य में होना चाहिए वह तो हैं ही, उनके अतिरिक्त प्रकृत मनुष्य को विचार करके देखने की अथवा परखने की क्षमता भी है। लोग कहते हैं गोपीदा जिस किसी पर भी विश्वास कर लेते हैं—कितनी बड़ी भूल! गोपीदा जिस किसी की, महापुरुष अथवा सिद्ध भक्त कहकर, पूजा करना नहीं जानते। उनके पास प्रकृत नेत्र हैं केवल पोथीगत विद्या नहीं, वे तत्वग्राही हैं।

मैं अपने जीवन की बहुत-सी बातें भूल गया हूँ। अभी एक घटना का उल्लेख करके, मुझेस्मरण करवा कर वे बोले, 'देखो सुरेन! तुम्हारे जीवन की अनेक पाप और पुण्य की घटनाओं में से एक सद् घटना का उल्लेख करता हूँ—तुम अभी प्राय: उसे भूल

गये हो जिसके फलस्वरूप आज तुम्हारी रक्षा के लिए स्वयं गुरु की कृपा का वर्षण हो रहा है। जो इतना महान् है, उसे तुम स्वयं ही नहीं जानते हो, भूल गये हो। बात छिपाकर ही रक्खा। मेरे मामा की मृत्यु के बाद घर की अवस्था बहुत खराब हो गयी। सभी लोग समझते थे कि सुरेन के पास बहुत रुपया है—घी की दुकान कर रहा है। अंततः ऐसे दुर्दिन में गोपीदा के पास से कुछ रुपया तो ला सकता है जिससे कि थोड़ी अन्न की व्यवस्था हो। लेकिन मैं इस अवस्था को धैर्य के साथ सहन करने लगा, ठीक से दुकान पर बैठने लगा और अशोक बाबू के लड़का और लड़की को पढ़ाकर कुछ रुपया पाने लगा। और सब भाइयों को अन्यत्र काम पर जाने के लिए कहा।

सोचा था, आपसे जिज्ञासा करूँगा किन्तु आप जब यहाँ आये थे उस समय मेरे सिर में बहुत पीड़ा थी जिससे सब भूल गया था, उत्साहवश काम करता था, लेकिन वेदना के कारण बात बोलने में कष्ट हो रहा था, यहाँ तक कि आपको मोटर तक पहुँचाने भी नहीं जा सका। नीचे से ऊपर आकर गिर गया, खड़े रहने में भी असमर्थ था। घुटरूँ चलकर किसी तरह सो गया। मोहन ने आकर दवा पिलायी और कुछ सुस्त हुआ, जब तक आप थे भूल गया था, आपके जाते भी बढ़ गया, आग की तरह बढ़ गया। इसी सब कारण से उस समय नहीं बता सका।

और एक कारण था। मेरा मुकदमा जिस समय खत्म हो जायेगा, रुपये का प्रयोजन नहीं रहेगा, तब बताऊँगा । ताकि आप मेरी सभी बातों पर संपूर्ण रूप से विश्वास कर सकें। ठीक यही बात अशोक बाबू के लिए भी थी, जिससे उनको नहीं बता पाया। डर गया कि पीछे वह विश्वास न कर पायें उन्हीं की अच्छाई के लिए .... उसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं है। उनकी लड़की आज क्षय रोग से आक्रांत हुई है, संप्रति एक पुत्र मर गया है—क्या करने से उन लोगों का कल्याण होगा? इस विषय में पूछा था .... कितनी बातें उन्होंने कही थीं, ताकि उन लोगों की प्राणरक्षा हो सके .... किन्तु मेरा और कहना नहीं हुआ। अब उस लड़की को मैं ठीक सुधा की तरह स्नेह करता हूँ .... नाम उसका सुजाता है। उसे अच्छा करने की चेष्टा मुझे बहुत थी, इसीलिए महापुरुष बार-बार मुझे मना करते हुए बोले, 'देखो सुरेन! मनुष्य को रोग से मुक्त करने या मृत्यु से रक्षा करने के लिए जो क्षमता अपेक्षित होती है, वह अपने से खटकर नहीं प्राप्त की जा सकती। बड़े-बड़े महापुरुष, जिनकी अक्षुण्य क्षमता है, वे भी समय-समय पर नहीं कर सकते। ऐसी चेष्टा कभी मत करना। यद्यपि साधारण मनुष्य का कर्तव्य जीव के मंगल के लिए काम करना है, किन्तु गुरु की आज्ञा या आदेश न पाने तक जपक्रिया कभी नहीं करनी चाहिए—जैसा कि तुम आहार परित्याग करके रोगमुक्ति के लिए जप आरंभ करते हो—बाबा ने तुम्हारी कितनी भर्त्सना की है। इससे कोई फल नहीं होता, कोई-कोई मरीज जो अच्छे हो गये हैं वे गुरु की कृपा से हुए हैं—उसमें तुम्हारा कृतित्व नहीं है। अपितु विपरीत फल हुआ है—तुम बार-बार बीमार पड़ते हो और कठिन रोग से आक्रांत होगे। खबरदार ऐसा कार्य कभी न करना। जो नहीं आता है या नहीं जानते हो और जिसमें संपूर्णतया अक्षम हो, उसकी चेष्टा करना मूर्खता है।' उन्होंने मुष्टि उठाकर रक्तवर्ण आँखें करके मुझे बहुत तिरस्कृत किया।

लेकिन लौट आने के बाद सुजाता को क्षय रोग से मुक्त करने का प्रयत्न मैंने बंद नहीं किया। उसी के लिए मेरी आज इतनी दुर्दशा हुई है। यह सब समझने के लिए वे बार-बार मुझको आपके निकट जाने के लिए आदेश कर रहे थे। क्रिया बहुत ही खराब हो जाती है। जाने दीजिए अब काफी अच्छा हो रहा है। मेरे जीवन की एक बड़ी साध है कि मरने के पहले एक बार बाबा का या भृगुराम परमहंसदेव का दर्शन करूँ अथवा दर्शन की आकांक्षा करके, सोचते-सोचते प्राण त्याग दूँ। इस प्रकार चिंता होने से भूल हो सकती है। हम लोगों ने कितनी भूख हड़तालें की हैं। कितने निष्क्रिय प्रतिरोध किये हैं जिसका मूल्य भ्रांतिहीन था, उसको पाने के लिए प्राणप्रण करके बैठ नहीं सका। दोनों ओर आनंद ही आनंद है। यदि दर्शन मिला तो वाह-वाह, नहीं तो मृत्यु हो जाये तो क्या बुरा है? इस प्रकार की मृत्यु भी उनको पाना ही है, इन्हीं सब नाना प्रकार की चिंताओं ने व्यग्र कर डाला है।

महापुरुष से जब हमने आपके बारे में पूछा तब वे आपकी क्रिया के विषय में अटपटी और दुर्बोध्य भाषा में व्याख्या करने लगे : 'देखो इतने दिन में उन्होंने इन सब चक्रों को भेद करके यह स्थिति प्राप्त की है। वे अब केवल एक जगह पर अटक गये हैं। उस रंध्र के विषय में उन्होंने कहा कि इसे भेद करने में कुछ समय और लगेगा लेकिन अब अधिक विलंब नहीं है। रंध्र भेद होने ही वाला है। तुम शीघ्र से शीघ्र चले जाओ और कुछ दिन उनके पास रहकर आओ। अभी अगर न कर सको तो एक साल के बाद अवश्य जाना। अब मुझे भी उनके पास जाने की बहुत इच्छा हुई है।'

किंतु भाई गोपी दा! इस समय हम कैसे आपके पास पहुँचें, कोनाल को अकेले रख करके। वह वृद्ध नौकर नहीं है, नया नौकर बदमाश.........उसके भरोसे पर छोड़कर नहीं जा सकता। उपरांत खर्चा, दो मास्टर रखे हैं। बाईस रुपये मासिक पर-नौकर दस रुपया-मकान का किराया बारह रुपया—स्कूल का खर्चा सात रुपया प्राय:। उसके ऊपर खाने का व्यय और सब लेकर मासिक साठ-सत्तर रुपया बँधा खर्च है। आय एकदम नहीं है। ऐसे समय दुकान बंद करके नहीं जाया जा सकता।

दसवाँ पास करने के बाद क्या करेगा नहीं मालूम। अभी तक कुछ तय नहीं किया है। लेकिन हमको हाथरस छोड़ना ही होगा। अलीगढ़ में काम है, मुकदमा खत्म करके ही मरना पड़ेगा, नहीं तो इन लोगों के पंजे से रुपया निकालना कोनाल की शक्ति के बाहर है।

अब नहीं लिख पा रहे हैं—पूजा के लिए रुपया भेजे हैं, पा गये होंगे।

मेरा विजय का प्रणाम श्रीचरण ग्रहण करेंगे और भाभी एवं और सबको जनाइयेगा।

इस बृहद् पत्र का लिखना बेकार हो जायेगा यदि आप कृपा करके इतना न जनावें कि महापुरुष का कथन कहाँ तक सच है?

सुरेंद्र

पत्र-संख्या १२

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — २ ए, सिगरा, वाराणसी।
दिनांक — ८ नवम्बर, १९४१ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — श्रीमती कल्याणी मल्लिक, कलकत्ता।
आलोक — कल्याणीजी टैगोर की बड़ी बहन की पौत्री हैं। पहले इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के रायबहादुर खगेंद्रनाथ मित्र के निर्देशन में 'पोज़ीशन ऑव विमेन इन ऐंशंट इंडिया' शीर्षक विषय पर शोधकार्य आरंभ किया। मित्र महाशय ने इनको कविराजजी के पास पथप्रदर्शन प्राप्त करने के लिए भेजा। कविराजजी ने इन्हें बताया कि इस विषय पर पर्याप्त कार्य हो चुका है, अतः यदि ये वास्तव में शोधकार्य में रुचि रखती हैं तो किसी नये विषय पर कार्य करें। उन्होंने इस संबंध में नाथपंथ के इतिहास दर्शन तथा साधना-प्रणाली पर अनुसंधान करने का सुझाव दिया। कल्याणीजी तैयार हो गयीं। इन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में घूम-घूमकर एतद्विषयक बहुमूल्य सामग्री संकलित की। कविराजजी की देख-रेख में यह शोध-निबंध बँगला में 'नाथसंप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधन प्रणाली' नाम से प्रस्तुत हुआ। १९५० ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इसे प्रकाशित किया।

* * *

तुमने भिन्न-भिन्न स्थानों से जो पुस्तकें प्राप्त की थीं, आशा है उन्हें अब तक पढ़ चुकी होंगी। 'योग-तारावली' वास्तव में नाथ-संप्रदाय का ग्रंथ नहीं है। वह आचार्य शंकर के नाम से प्रचलित है, परन्तु उसमें योग के विषय में आलोचना है, इसलिए वह भी उपयोगी होगा। 'षट्चक्र-निरूपण' तांत्रिक आचार्य पूर्णानंद परमहंस के 'श्रीतत्वचिंतामणि' नामक ग्रंथ का एक अध्ययन मात्र है। ग्रंथकार गोस्वामी नहीं थे। 'अमनस्क', 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति', 'सिद्धसिद्धांत संग्रह', 'गोरक्ष-शतक', 'मीनचेतन', 'गोरक्ष-उपनिषद्', 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' प्रभृति ग्रंथ क्रमशः देखती रहो। नाथधर्म के आलोचन की सामग्री कम नहीं है। संस्कृत, बंगला, हिन्दी, उड़िया आदि विभिन्न भाषाओं में ज्ञातव्य विषयों का सन्निवेश बहुत है। क्रमशः सब देखना होगा। मध्ययुग में नाथधर्म के उद्भव और विस्तार के विषय में स्पष्ट धारणा न रहने से बंगभाषा में नाथधर्म के विषय में जो ग्रंथ और गान उपलब्ध हैं उनका वैशिष्ट्य निरूपण करना कठिन है।

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में मत्स्येंद्र, गोरक्ष प्रभृति संप्रदायों तथा साधनाओं का विशेष स्थान है। यह समझने के लिए अन्य समकालीन धर्म-साधन-धाराओं का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य देना चाहिए। बहुत लोगों के विचार से हठयोग के प्रवर्तक मत्स्येंद्रनाथ थे। इस विश्वास के मूल में कितना सत्य है परीक्षा करके निर्णय करना होगा। प्राचीन भारत में योगविद्या का बहुत प्रचार था। उसमें हठयोग का बीज निहित था या नहीं? यह आलोचना

का विषय है। उसके बाद पांतजल योग, बौद्धों द्वारा प्रचारित योगमार्ग और जैनों की योग पद्धति—इन सबसे मत्स्येंद्रनाथ के संप्रदाय में किन-किन विषयों में विलक्षणता थी, यह ढूँढ़कर निकालना पड़ेगा। इस वैलक्षण्य के मूल में तंत्रोपदिष्ट योगमार्ग का रहस्य है या और कुछ? यह विचार का विषय है।

काया-साधन नाथयोग का एक मुख्य कर्तव्य है। इसका विशेष विवरण संग्रह करने की चेष्टा करना। नाथसिद्ध, शैवसिद्ध, शाक्तसिद्ध तथा बौद्ध सिद्धाचार्यों का साधन आदर्श व आचारगत सादृश्य तथा वैषम्य विशेष रूप से ध्यान देने का विषय है। प्रासंगिक रूप से तिब्बतीय लामाधर्म के तत्व और साधन के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान रहना चाहिए। माहेश्वर-संप्रदाय के अंतर्गत रससंप्रदाय के सिद्धों से पूर्वोक्त सिद्धों का किसी अंश में वैशिष्ट्य था या नहीं, जानना चाहिए। गोरक्ष-संप्रदाय में भी रस-साधना का प्रादुर्भाव था या नहीं? अगर रहा हो तो पूर्वोक्त संप्रदायों की साधना से उसका किन-किन विषयों में पार्थक्य रहा था? यह जानना होगा। नाथों के महाज्ञान का स्वरूप क्या है? मृत्यु को जय करने के लिए विभिन्न प्रणालियों के भीतर किन-किन प्रणालियों का नाथाचार्यगण अवलंबन करते थे? यह जानना चाहिए। अमरत्वलाभ की प्रक्रिया में हठयोग में उपदिष्ट—अमरौली, वज्रौली और सहजौली मुद्रा का रहस्य क्या है? इनके साथ वज्रयान या सहजयान नामक बौद्ध संप्रदाय में प्रसिद्ध योगसाधना का कोई संबंध है या नहीं? कुंडलिनी-विज्ञान, अजपारहस्य, गुप्तचक्र का विवरण, आज्ञाचक्र से सहस्त्रार और उसके भी आगे के विभिन्न आध्यात्मिक केन्द्रों का तत्व भी विशेष रूप से आलोच्य है। प्राचीन आगमसिद्धान्त के साथ उसकी तुलना भी करनी चाहिए। नाथों की सृष्टि-प्रक्रिया और दीक्षादि विषय में विशेष आलोचना होनी चाहिए।

मत्स्येंद्रनाथ के साथ कौलधर्म प्रचार का संबंध है या नहीं। मत्स्येंद्र, गोरक्ष, जालंधर, चर्पटीनाथ, विचारनाथ, चतुरंगनाथ, कांथेरीनाथ प्रभृति सिद्धों का ऐतिहासिक वृत्तांत संग्रह करना चाहिए। गोपीचंद-मैनावती प्रभृति की आख्यायिकाएँ जिस रूप से बंगदेश में प्रचलित हैं, दूसरे स्थानों में उनका प्रचार ठीक उसी प्रकार है या भिन्न रूप से? 'कल्याण' पत्र के 'योगांक' में सिद्धनाथों और नाथ संप्रदाय का जो विवरण प्रकाशित हुआ है, उसे देख लेना चाहिए। 'दोहाकोष' अच्छी तरह से देख लेना। क्योंकि उसकी भाषा तथा विषय दोनों ही कठिन हैं। देहतत्व अच्छी तरह से समझना चाहिए। बाउल, सहजिया और संतों का इस विषय में सिद्धांत जानना चाहिए। नाड़ी-चक्र के विषय में स्पष्ट धारणा चाहिए। महायान-बौद्धों का आश्रय परावृत्ति और स्कंध-सिद्धि न समझने से कायासाधन का महत्व समझ में नहीं आयेगा। महाराष्ट्र भाषा में 'ज्ञानेश्वरी' नामक गीताव्याख्या का बहुत आदर है। उसके रचयिता ज्ञानेश्वर महाराज एक उच्चांग के सिद्ध पुरुष थे। उनका नाथ संप्रदाय के साथ गुरुशिष्य संबंध था। 'ज्ञानेश्वरी' अवश्य देख लेना। और विषय कालांतर में होगा।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १३

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — २ ए, सिगरा, वाराणसी।
दिनांक — १७ मई, १९४४ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — स्वामी उमेशानन्द, मिर्जापुर।
आलोक — डॉ० उपेन्द्रनाथ बनर्जी, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के एक प्रसिद्ध चिकित्सक थे। ये धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इनकी बड़ी बहन अरविंदाश्रम (पांडेचेरी) में रहती थीं। इस नाते ये भी वहाँ जाया करते थे। इस सूत्र से ये योगिराज अरविंद के संपर्क में आये और उनके कृपापात्र हो गये। १९४८ ई० के आसपास ये पांडेचेरी गये। वहाँ कई वर्षों तक निवास करने के पश्चात् ये मिर्जापुर लौट आये। यहाँ माँ आनंदमयी का आश्रम था। उनके दर्शनार्थ ये निरंतर उपस्थित होते थे। कविराजजी से इनका परिचय यहीं हुआ।

इनकी साधना-प्रणाली में डॉ० बनर्जी विशेष दिलचस्पी लेने लगे। इस संबंध में दोनों में पत्रव्यवहार होता रहता था। प्रस्तुत पत्र उन्हीं में से एक है। पांडेचेरी जाने के पूर्व ही उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। उमेशानंद नाम इसी स्थिति का है। कुछ ही महीने पूर्व इनका देहावसान हो गया। इनकी बड़ी बहन अभी जीवित हैं और पांडेचेरी आश्रम में साधनापूर्ण जीवन व्यतीत कर रही हैं।

विषय—**नादानुसंधान**

परम श्रद्धेय स्वामी जी,

आज प्रात:काल में आपके साथ जो आलोचना हुई थी, उसका तात्पर्य यदि चित्त में धारण कर सकें तो बहुत विषयों के समझने में सुविधा होगी।

नाद का आभास आपको कुछ-कुछ मिल रहा है, परन्तु यह आभास मात्र है, अभी यर्थाथ नाद की स्फूर्ति नहीं हुई। नाद का बहुत वैशिष्ट्य है, भेद भी बहुत है, परन्तु मूलनाद एक ही है। नाद के प्रभाव से ही विशुद्ध सृष्टि की सूचना होती है। विशुद्धसृष्टि का अवलंबन करके ही अध्यात्म साधना संपन्न होती है। मलिन सत्ता के शुद्ध होने पर जब उस शुद्धसत्ता में उज्ज्वल चिदालोक प्रतिफलित होता है, तभी महाचैतन्य की ओर स्वाभाविक आकर्षण का अनुभव होता है। इस महाचैतन्य से भी अतीत अवस्था है।

परन्तु यह सब सोच-विचार करके समझने का विषय नहीं है। समय आने पर अपने आप ही सब समझ में आ जायगा। इस समय चाहिए निरंतर नाद का अनुसंधान मात्र। नाद अविच्छिन्न है, उसका विराम नहीं है। किन्तु आपका मन अविच्छिन्न रूप से नाद-प्रवाह में युक्त नहीं रह सकता। इसीलिए कभी-कभी योगसूत्र टूट जाता है।

जब तक मन विक्षिप्त रहता है, तब तक नाद की उपलब्धि नहीं होती। एकाग्र होने पर भी नाद का अनुभव नहीं होता। विक्षिप्त अवस्था से एकाग्र भूमि में क्रमश: संचरण

करना ही नाद की साधना है। नाद तरंग रूप में प्रवाहित होता है। चिदाकाश अथवा कुंडलिनी से ही उस प्रवाह का उद्‌गम होता है। कुंडलिनी ही बिंदु-स्वरूपा महामाया है। भगवान् की कृपाशक्ति अर्थात् चित्‌शक्ति महामाया में संचरित होने पर महामाया क्षुब्ध होकर नादरूप में परिणत होती है। नाद की अभिव्यक्ति का मूल है चिदाकाश में चित् शक्ति का आघात। यही महाकृपा का रूप है। परन्तु नाद अभिव्यक्ति होने पर भी जब तक मन उसमें युक्त नहीं होता तब तक वह सुनने में नहीं आता। क्रियाकौशल से अथवा प्रबल इच्छा शक्ति के प्रभाव से मन को अंतर्मुख करने पर नाद सुनने में आता है। उसके बाद नाद ही क्रमश: मन को आकर्षित करने लगता है। जिस मात्रा से मन नाद में आकृष्ट होता है, उसी मात्रा में मन की एकाग्रता होती है। नाद उत्थित होता है चिदाकाश से और लीन भी होता है चिदाकाश में। नाद लौटने के समय अपने साथ मन को खींच ले जाता है। बिन्दु ही चिदाकाश है। जब मन बिन्दु में पहुँच जाता है तब उसकी चंचलता नहीं रहती। वह स्थिर हो जाता है। इसी का नाम एकाग्रता है। इस अवस्था में मन का लय नहीं होता। चैतन्यावस्था है। इसी का नाम प्रज्ञा है। यह मन की जागृत अवस्था है।

नाद का आश्रय न मिलने पर मन बिन्दु से स्थितिलाभ नहीं कर सकता। करने पर भी वह स्थिति चैतन्यरूप न होकर सुषुप्ति का ही नामांतर होती है। मन को बिन्दु रूपी केंद्रस्थल में ले जाने के लिए एक मार्ग अवलंबन करना पड़ता है—यह है नाड़ी पथ। बिन्दु से असंख्य रश्मियों का निर्गम हुआ है। उनमें से जिसके साथ मन का योग हुआ है, वही मन का अपना मार्ग है। उसी से मन आरोह-क्रम में चलता रहता है और शब्द की निवृत्तिधारा में पकड़ कर बिन्दुस्थान में पहुँच जाता है। किसी-किसी के लिए नाद का आश्रय लिये बिना भी मन चेतना भाव से बिन्दु में रह सकता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति विरल हैं। इसका कारण यह है कि चित् शक्ति साक्षात् रूप से माया में संचारित नहीं होती, महामाया में प्रतिफलित होकर माया में संचारित होती है। उस समय माया में क्षोभ उत्पन्न होता है। मायाकाश से जिस शब्द का उद्‌गम होता है, वह अशुद्ध शब्द है। उससे भेदज्ञान उत्पन्न होता है और बंधन होता है। इसी से विकल्प उत्पन्न होता है। मातृकाचक्र के रूप में यह वर्णमाला जीव को अनंत विकल्पमयी वृत्ताकार धारण करके आबद्ध रखती है। उस मायाजाल से उद्धार प्राप्त करने के लिए ही विशुद्ध नादमय शब्द का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। नादमय शब्द ही जागृतमंत्र है। यह अभेद ज्ञान उत्पादन करके अशुद्धवर्णात्मक शब्दजाल को तोड़ डालता है।

इससे समझ सकियेगा कि चैतन्य का आश्रय लिये बिना मन को निरोध करने का प्रयत्न तमोभाव और जड़त्व का आवाहन करना है। इसके द्वारा, नाद का विस्तार कितना व्यापक है, यह जानने का प्रयत्न न करियेगा। प्रयत्न करने पर भी जान नहीं सकेंगे, क्योंकि जिस स्थान में आपके मन के साथ नाद का योग है आप उसी को नाद की सीमा समझेंगे। इसी स्थान से आपके प्रत्यावर्तन का आरंभ है। सबके लिए यही नियम है। जो नादसृष्टि की धारा में बहिर्भाव होकर बह रहा है, वह ज्ञानगोचर नहीं है। इसीलिए सृष्टि के मूल को अज्ञान माना जाता है। इसी से सृष्टि की धारा अज्ञान की धारा कही जाती है। मन इस समय निद्रा की गोद में स्वप्र-दर्शन कर रहा है। परन्तु इस धारा के साथ मन के युक्त होने पर ही अज्ञान की धारा ज्ञान के

प्रवाह-रूप में परिणत हो जाती है। उस समय उसी स्थान से ज्ञान की धारा के रूप में नाद चलने लगता है और क्रमशः क्षीण होते-होते बिन्दु स्पर्श कर अशब्दावस्था में परिणत होता है। इसी का नाम है चैतन्य का उन्मेष। वास्तव में यह अशब्दावस्था नहीं है परन्तु मन एकाग्र होने के कारण अर्थात् प्रज्ञा के उदय से वह अशब्दरूप में ही साधारण ज्ञान के निकट प्रतिभासित होता है। इसको महाशब्द भी कहा जा सकता है।

चित् शक्ति के बिन्दु में पतित न होने पर नाद का उद्‌भव नहीं होता है। इसी प्रकार नाद जब तक बिन्दु में प्रत्याहृत नहीं होता तब तक चित् शक्ति की प्राप्ति नहीं होती। मन के बिन्दु में प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ बिन्दु का क्षोभ मिट जाता है। उस समय मन चित्-शक्ति में स्थिति लाभ करता है। चित् शक्ति ही चित्कला अथवा कला है। मन कलात्मक होकर कलातीत आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से अवस्थान करता है। नाद, बिन्दु और कला का यही रहस्य है।

आज यहाँ तक समझने का प्रयत्न करिये, फिर दूसरे दिन कहेंगे। हृदय में जैसी प्रेरणा आयी उसी का अनुसरण करके मैंने कहा। जो बोलनेवाला है, उसी का बोलना है। मैं निमित्त मात्र हूँ।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १४

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
प्राप्तकर्त्ता — स्वामी उमेशानन्द, मिर्जापुर (संयुक्त प्रांत)।

विषय—**शब्दसाधना और मन**

श्रद्धेय स्वामी जी,

पहले जो कुछ कहा गया है, उसी क्रम में साधन-तत्व के विषय में मुख्य बातें संक्षेप में प्रकाशित की जाती हैं।

मन ही साधन का यंत्र है। उसी के द्वारा इष्टसिद्धि करनी होगी। जब तक जीव स्वाधीनता लाभ नहीं कर सकेगा, तब तक उसकी (मन की) आवश्यकता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—इनमें से प्रत्येक में मन की आवश्यकता है। पहली अवस्था में ही मन को निरुद्ध करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, करने पर भी उसमें सफल नहीं होंगे।

अतएव कृत्रिम उपाय से मन को डुबाने की चेष्टा करने पर हानि होती है। मन को त्याग करने की चेष्टा न कर शुद्ध करने पर समझ में आयेगा कि साधक के अध्यात्म-जीवन में मन का क्या उपयोग है? अवशीभूत मलिन मन ही साधक का रिपु है, स्वायत्त और निर्मल मन ही उसका परम मित्र है।

मन सर्वदा ही चंचल है, सर्वदा ही अस्थिर है और सर्वदा ही भ्रमणशील है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मन में सभी समय एक अभाव जग रहा है, एक अस्पष्ट अथच विपुल अतृप्ति उसको शांत रहने नहीं देती। मन माँगता है ऐश्वर्य, ज्ञान और आनंद। यही मन का खाद्य है। इसको न पाकर मन निरंतर हाहाकार कर रहा है, रो रहा है। मन की क्षुधा निवृत्त होने पर ही उसकी चंचलता सदा के लिए निवृत्त हो जायगी।

मन जो माँगता है, वह है कहाँ? उसका स्वरूप क्या है? उसकी उपब्धि कैसे होगी? एक शब्द में उसका समाधान यह है कि मन चाहता है, आत्मा को। आत्मा ही मन का प्रभु है, सखा है, ऐश्वर्य है, परमानंद है, सर्वस्व है। उसको खोकर ही मन फिर उसकी प्राप्ति के लिए ज्ञात या अज्ञातरूप में विरहाग्नि में दग्ध हो रहा है। मन एकमात्र उसी का अन्वेषण कर रहा है। जागतिक वस्तुओं में 'तन्न-तन्न' कहके उसी का पता लगाने का प्रयत्न करता रहता है किन्तु सफल नहीं हो रहा है। फिर भी यह सत्य है कि वह वस्तु मन के अति निकट में है अर्थात् आत्मा को ही मन चाहता है और आत्मा मन में संनिहित है फिर भी मन उसे पहचानता नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि मन बहिर्मुख है और आत्मा की ओर से विमुख है।

अतः साधना का मुख्य उद्देश्य ही है मन को अंतर्मुख करना। जिस बहिर्मुख शक्तिप्रवाह में पतित होकर मन बाहर की ओर गतिशील है, वह है प्रकृति की शक्ति और जिस अंतर्मुख शक्ति के प्रवाह में पतित होकर मन अंतर्मुख हो सकेगा वह भी प्रकृति की शक्ति है। दोनों मूल में एक ही हैं। इसी का नाम शब्दशक्ति है। अतएव शब्द की शक्ति से ही मन बहिर्मुख होने के कारण अव्यवहितरूप में विद्यमान अपने प्रभु को भूल गया। फिर भी उसी शब्दशक्ति का आश्रय लेकर मन अंतर्मुख होकर आत्मा को लाभ कर सकेगा और परम आनंद तथा शांति प्राप्त कर सकेगा।

प्रश्न हो सकता है कि शब्द का स्वरूप एक होने पर भी उसकी शक्ति भिन्न क्यों होती है? इसका समाधान यह है कि शब्द स्वरूप में एक ही है परन्तु इसका भौतिक रूप माया के आवरण से तिरोहितप्राय है। शब्द चैतन्यस्वरूप अखंड-निनाद से ही उसका आत्म-प्रकाश होता है। विशुद्ध-व्योम-तत्व में यह स्वभावतः ही होता है परन्तु माया के स्पर्श से व्योम के कलंकित होने पर उसमें क्षोभ के कारण वायु का उद्भव होता है। वायु में वक्र गति है। उस समय वक्र और कुटिल गति के प्रभाव से सरल निनाद खंड-खंड होकर विभिन्न वर्णरूपों में अभिव्यक्त होता है। यह वर्णमाला वायु का ही खेल है। इसी से विशुद्ध-चैतन्य-प्रवाह में विभिन्न वृत्तियों का उद्गम होता है। यह सब मन को आबद्ध करता है और विक्षिप्त करता है। मन आत्मविस्मृत होकर असंख्य विक्षेपों की क्रीड़ापुत्तलिका रूप में परिणत हो जाता है। उसका आत्मवशभाव छूट जाता है। फिर शुद्धचैतन्यप्रवाह में यदि वह डाला जाय तब उसमें आत्मस्मृति जगती है अर्थात् यह सुप्ति से जाग उठता है। शुद्धनाद की धारा ही निर्मल चैतन्य का देहाश्रित प्रकाश है। विशुद्ध व्योम में यह प्रवाह निरंतर चल रहा है। इसी कारण से मन को उसी का अनुवर्तन करना चाहिए। अशुद्ध शब्दधारा के अंतराल से भी यह विशुद्धप्रवाह विद्यमान है। एक बार शुद्धनाद का आश्रय मिलने पर और उसको निरंतर धारण कर सकने पर मन की आविलता कट जाती है। उस समय वह वर्णमाला से विरचित विकल्पजाल में नहीं फँसता। सर्वदा विकल्पशून्य चैतन्य की धारा में बहने लगता है।

इसी से मन को हृदय में लेकर उस शुद्धप्रकृति-स्रोत में डालना पड़ता है। शब्द, ज्योति और रूप—यही स्वाभाविक क्रम है। शब्दसाधन के अखंड अभ्यास के प्रभाव से अनुभूति में ऐसी अवस्था का उदय होता है जिसमें समझ में आता है कि यह शब्द केवल अपने हृदय में आबद्ध नहीं है परन्तु अपने हृदय से लेकर समग्र जगत्, क्षुद्रता से लेकर

बृहत्तम सत्ता पर्यंत, प्रतिवस्तु में समरूपेण व्याप्त है। यह केवल विचारमूलक बोध नहीं है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नाद-सिद्धि का लक्षण है। इसके बाद इस नाद में डूबने पर अंतःस्थित विशालज्योति का अनुभव होता है। जब तक नाद आयत्त नहीं होता तब तक इस महाज्योति में प्रवेशलाभ नहीं होता। यद्यपि हम सभी लोग तथा जगत की जागतिक वस्तुएँ भी सर्वव्यापक महाज्योति में विद्यमान हैं तथापि हम लोग चित्त बहिर्मुख होने के कारण नाद का संधान नहीं कर सकते और शब्दभेद करने का कौशल न जानने से इसका प्रत्यक्षानुभव भी नहीं करते।

यह दोनों उपलब्ध ध्यान के ही परिपक्व फल हैं। वस्तुतः शब्द और ज्योति ब्रह्म का ही विविध स्वरूप है। साधन के द्वारा जीव के हृदय में केवल इसकी अभिव्यक्ति होती है।

यह ज्योति अरूप है, उसनें किसी प्रकार का रूप देखने नें नहीं आता। यह निजबोधरूप चैतन्य है। मन अपनी कल्पना के अनुसार उस महानाद या महाज्योति से रूप का गठन कर लेता है। दिव्यरूप का आविर्भाव ज्योति से होता है और अदिव्य मानवीय जागतिक रूप वस्तु का आविर्भाव शब्द से होता है।

शब्दब्रह्म में डूब जाना—साधारणतया इसी को सविकल्प समाधि कहते हैं। परब्रह्म या ब्रह्मज्योति में डूब जाना निर्विकल्प समाधि है। परन्तु प्रचलित समाधि से यह विलक्षण है। यदि कोई साधक मन को चेतन करके या जगा के न रख सके तो रूप का आविर्भाव हो नहीं सकता। यह रूप चिन्मयरूप है, यह कहना ही पर्याप्त है। दिव्य और अदिव्य दोनों में भेद है।

इसी प्रकार से साधन की पूर्णता होने पर सृष्टि में अधिकार उत्पन्न होता है। इस समय इन तीनों में से किसी को अपने आयत्त करके उसमें डूब सकने पर श्रीभगवान् के अनुग्रह से धीरे-धीरे सत्य का अनुभवद्वार खुल जाता है।

इस समय नाद, बिन्दु और कला का विषय स्मरण कीजिए। नादसाधन ही शब्दसाधन है, बिन्दु ही ज्योति है और कला चिद्रूपाशक्ति है, जिसको पूर्ववर्णितरूप का स्थानापन्न समझ लीजिये। अतएव कलासिद्धि ही रूपसिद्धि है। इसके बाद जो कलातीत है वही यर्थाथ सत्य है, वही अशब्द, अरूप, निष्कल और निरंजन है।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १५

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २०-५- १९४४ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — स्वामी उमेशानन्द, मिर्जापुर (संयुक्त प्रांत)।

विषय—**जपयोग**

श्रद्धेय स्वामी जी,

नाद, बिंदु और कला का संधान न कर सकने से जप का रहस्य समझना कठिन है।

जप का उद्देश्य क्या है? जप का प्रकार क्या है? और जप की सफलता किसके ऊपर

अवलम्बित है ? इन सब प्रश्नों का समाधान न कर सकने पर जप शुद्ध नहीं होता। हमारा चित्त सर्वदा ही नानाप्रकार विकल्पों से आक्रान्त होता रहता है। इन सभी आक्रमणों के प्रभाव से चित्त तरंगित हो रहा है। ये सब विकल्प वासनात्मक हैं, इसमें संदेह नहीं। परन्तु विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि वासना मात्र ही वायु की तरंग है। वायु की गति में वक्रता आने पर तरंग का उदय होता है। इस तरंग का नाम है वासना। यही अणु है, यह अशुद्ध शब्दात्मक है। हम लोग जिसको चित्तवृत्ति कहते हैं उसके मूल में इस प्रकार के अणुओं का कंपन है। इसी का नाम है वासना का क्षोभ। वायु ऊनपंचाशत ४९ प्रकार की गति विशिष्ट है। इनके परस्पर मिश्रण से और मिश्रितों के भी मिश्रण से असंख्य प्रकार की गति वायुमंडल में चल रही है। ये सब वास्तव में शब्दतरंगें हैं, मातृकाओं की लहरें हैं। जब किसी का चित्त इन लहरों से आक्रांत हो जाता है तब वह सदृशभाव में तरंगित हो जाता है। कौशल न जानने पर उनसे कोई आत्मरक्षा नहीं कर सकता। इसके प्रभाव से आत्मा अपने स्वभावसिद्ध द्रष्टाभाव से स्खलित होकर चित्त के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है और इस तरंग में तरंगायित होने लगता है। आत्मा तरंगायित होने पर भी चित्त के साथ अविवेक से चित्त की तरंगों को अपने में आरोप करता है। इसी कारण से सुख-दुःखादि विकास प्राप्त होकर संसार की अनुभूति करता है।

यह जो वायुमंडल का कंपन है, उसी का नाम वर्णमाला है। ये सब वर्ण निरंतर उदित होकर परस्पर मिलित हो रहे हैं। विभिन्न प्रकार मिलनों का फल चित्त में वृत्तिरूपेण अनुभूत होता है। यही विक्षिप्तता है। परन्तु तरंगों का मूल कहाँ है ? शुद्ध चिदाकाश में जो तरंगें उठ रही हैं वे नाद की हिल्लोल हैं। यह साक्षात् चित्शक्ति के आघात से सृष्टि के आरंभ से ही निरंतर चल रहा है। उस सूक्ष्मनाद को आश्रय करके मायातीत-शुद्ध-जगत् प्रतिष्ठत है। इस शुद्ध आकाश में वायु की क्रिया नहीं है। वायु का स्वभाव ही है तिर्यक्‌गति। परन्तु गति जहाँ वक्रताहीन है वहाँ वायु नहीं है। यहाँ वायु न रहने पर भी गति है। यह सरल गति है। यह सरल गति अपने स्वभाव से च्युत न होकर के भी वक्रगति का आकार प्राप्त करती है। यह वायु के प्रभाव से होता है। अतएव चित्त को वक्रवायु के प्रभाव से मुक्त करना ही उसकी वक्रता हटाने का एकमात्र उपाय है।

जप का उद्देश्य यह है कि उससे वायु का वक्रत्व दूर हो जाय। जप का मंत्र है नादात्मक। यद्यपि यह उस समय वर्णात्मक रूप में प्रतिभात होता है तथापि दीर्घकाल तक जप का अभ्यास करने से जपमंत्र का वीर्य उत्थित होता है। उस समय यह रहस्य खुल जाता है। वास्तव में मंत्र जब तक नाद में परिणत नहीं होता तब तक मंत्र चैतन्य नहीं हुआ, यह समझना चाहिए। मंत्र नाद में परिणत होने के समय पहले उसमें वेष्टित होकर चलने लगता है। दो वर्णों के अंतराल में नाद का प्रकाश होता है। इसके बाद क्रमशः वर्णगत वैशिष्ट्य नाद में लीन हो जाता है। इस समय समझ में आता है कि एकमात्र नाद ही विद्यमान है। वास्तव में वर्ण भी नित्य ही है, क्योंकि इसका ध्वंस नहीं है। यदि इस वर्ण का ध्वंस हो जाता तब नादातीत भूमि में वर्ण की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु प्राप्ति होती है। इसका कारण यही है। अकथ त्रिकोणरूपी महामंत्र में सब वर्णों का युगपत् समावेश है। इस स्थान में प्रतिवर्ण का वैशिष्ट्य भी अनुभव होता है। अथच सभी वर्ण एक ही

नाद-स्वरूप हैं और एक वर्ण से दूसरे वर्ण का भेद नहीं है, यह भी अनुभूत होता है। यदि वर्ण वास्तव में ध्वंसशील होता तो ब्रह्मज्योति भेदकर नित्यसिद्ध-साकाररूप का स्फुरण होना संभव नहीं होता।

असली बात तो यह है कि वर्णात्मक स्थूल शब्द के अंतराल में नादात्मक चेतन शब्द पहचानने से वर्णगत सब प्रकार के दोषों का उपसंहार हो जाता है। उस समय चैतन्य ही प्रधान हो जाता है। एकाग्रता का यही लक्षण है। इस अवस्था में वक्रवायु की तरंग नहीं रहती। एकमात्र सरल गति ही रहती है। यही चैतन्यशक्ति का खेल है, जो महामाया को आश्रय करके होता है। अतएव जप करते-करते वर्णशुद्धता लाभ करके नाद को अभिव्यक्त करते हैं। मंत्र के अंतर्गत वर्णों के मध्यस्थ जो व्यवधान है और आवर्तन (जप) काल में भिन्न-भिन्न मंत्र शब्द (राम राम, कृष्ण कृष्ण आदि) का जो मध्यस्थित व्यवधान है—ये दोनों व्यवधान जप के प्रभाव से कम होते जाते हैं। क्रमशः ह्रास होते-होते 'बहु' का अंतराल हट जाता है। अंतिम अवस्था में 'बहु' 'एक' में परिणत हो जाता है। इस समय क्रम नहीं रहता, काल भी नहीं रहता क्योंकि क्रम-काल ही का धर्म है। इसी का नाम चैतन्य का विकास है। क्योंकि चित्त का भिन्न-भिन्न अग्रभाग एक बिन्दु में मिलित होने पर जिस अवस्था का उदय होता है उसी का नाम एकाग्रता है। इस समय 'बहु' नहीं रहता, इसलिए वर्ण भी नहीं रहता। जो कुछ रहता है, वह एक है और अखंडचैतन्यमय ध्वनिमात्र है।

इसी प्रकार से क्रमशः 'बहु' से एक में प्रत्यागमन करना पड़ता है। एक में जाने पर ही चैतन्य की स्फूर्ति मिलती है किन्तु यह स्थायी नहीं होती। और एक बात है। इसका भी विकास आवश्यक है। इसीलिए इस 'एक' को भी 'बहु' के मध्यस्थित एक को एकरूपेण ग्रहण करके उसी स्तर का जो 'बहु' है, उसे उच्चतर 'एक' में पर्यवसित करना पड़ता है। चरमावस्था में महाबिन्दु में पहुँचने पर और कोई कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता। उस समय आसन की प्रतिष्ठा होती है। इष्टरूपी गुरु या गुरुरूपी इष्ट अथवा दोनों मिलकर युगपत् उसमें आसीन होते हैं।

आज यहीं तक।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १६

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।

दिनांक — १४-६-१९४४ ई०।

प्रापककर्त्ता — श्यामाप्रसन्न, माँ आनंदमयी आश्रम, भदैनी, बनारस।

आलोक — श्यामप्रसन्न माता आनंदमयी के भक्त और दार्शनिक प्रवृत्ति के बालक थे। गायत्रीतत्व के संबंध में जिज्ञासानिवृत्ति के लिए माताजी ने इन्हें कविराजजी के पास भेजा था। कविराजजी ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिए श्यामाप्रसन्न जी के पास कई पत्र लिखे थे। यह उन्हीं में से एक है।

विषय—गायत्री तत्व-विवेचन

प्रिय श्यामाप्रसन्न,

गायत्री का चतुर्थ पाद (धियो यो नः प्रचोदतात्) गृहस्थ के लिए नहीं है। इस प्रसंग में कई एक गुह्य-तत्वों का संधान किया जा रहा है। थोड़ा अनुसंधान करके समझने का प्रयत्न करना।

परमतत्व अलिंग, उभयलिंग, पुरुष, प्रकृति अथवा सब होकर भी सबसे अतीत हो सकता है। अलिंग शब्द से यहाँ समझना चाहिए कि उसमें न पुरुषभाव है न प्रकृतिभाव है। इसको कूटस्थ ब्रह्मसत्ता मान सकते हो। यह सच्चिदानंद स्वरूप है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु इस अवस्था में शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं रहती है अर्थात् जिस प्रकार व्यक्ति के द्वारा शक्ति का विलास हो सकता है, वह नहीं रहती किन्तु सामान्य अभिव्यक्ति रह सकती है, नहीं तो इस अवस्था को स्वप्रकाश-चैतन्य रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अवश्य इस सामान्य अभिव्यक्ति की भी मात्रा है। मात्रा की न्यूनता होने पर आनंद का ह्रास होता है। यहाँ तक कि चिद्भाव का भी ह्रास हो सकता है। अंत में केवल सत्तारूपी ब्रह्म रह जाता है। इस अवस्था को एक दृष्टि से सुषुप्तिदशा के अनुरूप मानना पड़ेगा, परन्तु एक ऐसी अवस्था भी है। ब्रह्म सच्चिदानंद नहीं है, यह बात नहीं। यह जीव की योग्यता के अनुरूप ब्रह्म-उपलब्धि का रहस्य है। अतएव अलिंग अवस्था भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है।

ब्रह्म की एकलिंग अवस्था है, यह परमपुरुष रूप से हो सकती है या परमाप्रकृति रूप से। जो लोग परमपुरुष के उपासक हैं वे परमपुरुषरूपी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। प्रकृति इस पुरुष में लीन रहती है, अथवा लीन न रहने पर भी आपेक्षिक दुर्बलता के कारण आश्रितभाव से वर्तमान रहती है। यह सब उपासक, युगल के उपासक नहीं हैं। मनुष्य की गति इस स्थल में एकलिंग ब्रह्मस्वरूप में है, ऐसा समझना चाहिए। जो लोग परमाप्रकृति के उपासक हैं, वे भी एकलिंग ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ये भी युगल सेवक नहीं है। उभयलिंग ब्रह्म एक ही समय में पिता और माता, पुरुषोत्तम और परमाप्रकृति दोनों ही है, वह अलिंग नहीं है, एकलिंग भी नहीं है, उभयलिंग है। युगलोपासक इस उभय-लिंग ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। उसमें पुरुष-प्रकृति दोनों भाव हैं, फिर भी दोनों में विरोध नहीं है। इस पुरुषभाव और प्रकृतिभाव में वैषम्य नहीं है। दोनों ही तुल्यबल हैं। शिव छोड़कर शक्ति और शक्ति छोड़कर शिव अलीक हैं। दोनों में अविनाभाव-संबंध है। अग्नि और दाहिकाशक्ति जैसे अपृथक्सिद्ध है, ब्रह्म का यह लिंगय भी इसी प्रकार है।

एकलिंग और उभयलिंग दोनों ही सलिंग-ब्रह्म हैं। उसको छोड़कर अलिंग ब्रह्म भी है। जब यह अलिंग और सलिंग ब्रह्म का भेद रहते हुए भी नहीं रहेगा अथवा एक निर्विशेष अवस्था में भी उभयलिंग और एकलिंग प्रतिभासपूर्ण रूप से उपलब्ध होगा तभी, परिपूर्ण ब्रह्म वस्तुतः अनुभव हो रहा है, ऐसा कहा जा सकता है। उस अवस्था में भोग और त्याग, गार्हस्थ्य और संन्यास एकार्थबोधक हो जाता है। इस स्थिति में शिवशक्ति दो शब्दों का पृथक् अर्थ नहीं रहता।

गायत्री के तुरीयपाद के प्रभाव से अलिंग स्थिति होती है। यही साधारण नियम है। यह निर्वाण या कैवल्यवत् अवस्था है। सामान्यतया संन्यास के प्रभाव से इस अवस्था की ही

उपलब्धि होती है। इस दशा में स्वरूप के भीतर स्थिति होने पर भी स्वरूपशक्ति का उल्लास नहीं रहता। यह निष्क्रिय, शांत, अचल परमावस्था है। जब तुरीयपाद, पादत्रय का परिहार करके अकेला होकर आत्मप्रकाश करता है, यह उस समय की बात है। परन्तु जब उसको तुरीयपाद पूर्ववर्ती तीन पाद को त्याग किये बिना अपने गर्भ में अंतर्भुक्त कर लेता है, तब उपासक की गति भिन्न हो जायगी। उस समय परिपूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होगी, अलिंगब्रह्म की नहीं। त्रिपादरहित तुरीयपाद और त्रिपादसहित तुरीयपाद दोनों के प्रभाव से जिस प्रकार की ब्रह्मानुभूति होती है, वह पृथक् है। पहली अनुभूति में जगत् मिथ्यारूप से प्रतिभात होता है। अनुभूति की पराकाष्ठा में जगत् का बोध नहीं रहता। फिर भी व्यापक ब्रह्मसत्ता का बोध निरवच्छिन्न भाव से वर्तमान रहता है। दूसरी अनुभूति में जगत् सत्यरूप से प्रतीत होता है। यह ब्रह्मसत्ता की ही, आत्मविलासरूप से अनुभूति होती है। शुद्धज्ञान छोड़कर इस प्रकार के विलास का अनुभव हो नहीं सकता क्योंकि उसके मूल में अज्ञान का प्रभाव नहीं है।

अर्थात् एक, नाना, एक और नाना—ये तीन प्रकार की अनुभूतियाँ हैं। एक है, नाना नहीं है—यह अलिंग ब्रह्मानुभूति है। इस समय नाना का प्रतिभास रहने पर भी उसका सत्यता-बोध बाधित है। प्रारब्ध के अनन्त में देहपात के अनंतर यह मिथ्या प्रतिभास भी नहीं रहेगा।

नाना है एक नहीं है, यह ब्रह्मानुभूति नहीं विषयानुभूति मात्र है, उसका विषय आलोच्य नहीं है।

एक है नाना भी है—यही अलिंग और सलिंग का युगपत् अनुभव है। इस अनुभूति के बहुत प्रकार-भेद हैं। एक प्रधान अंगी, नाना गौण अंग अर्थात् एक में आश्रित। नाना प्रधान एक उसका अंग अथवा एक और नाना दोनों ही तुल्यबल हैं, बराबर हैं। और एक तथा नाना अखंड हैं, दोनों एक ही हैं—यह अभिन्न अनुभूति है। शब्दमात्र में द्वैत है, वस्तु में नहीं है।

अब तुम्हारे मुख्य प्रश्न का उत्तर देंगे। आज अवकाश नहीं है, आगे होगा।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १७

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — १५-६-१९४४ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — श्यामाप्रसन्न, माँ आनंदमयी आश्रम, भदैनी, बनारस।
आलोक — पूर्वपत्र के क्रम में।

विषय—गायत्री तत्व-विवेचन

प्रिय श्यामाप्रसन्न!

त्रिपदागायत्री के उपासक ब्राह्मणसंतान महासविता को प्राप्त होते हैं। इस प्राप्ति में क्रम नहीं है। परन्तु ब्राह्मणदेह न होने पर क्रम आवश्यक हो सकता है। जन्म फिर लेना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है क्योंकि ऊर्ध्वलोक से भी देह क्रमशः शुद्ध होते-होते ब्रह्मदेह लाभ हो सकता है।

यदि किसी को महानिर्वाणमार्ग में चलने की योग्यता हो, तो ऊर्ध्वलोक में ही उसे चतुर्थपाद का रहस्यज्ञान मिलता है। यदि दिव्य और दिव्यातीत लोकों में साम्राज्य, वैराज्य, अधिराज्य और स्वाराज्यलाभ की योग्यता हो तो त्रिपदादेवी ही उसको दे सकती हैं। यदि परमपद प्राप्य हो तो वह भी आयत्त हो सकता है। गायत्री ब्रह्मविद्या स्वरूपा है। ब्रह्मविद्या के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बहुत क्रम हैं परन्तु उन सबको जानने की आवश्यकता नहीं होती। गायत्री की पूर्ण प्रसन्नता होने पर कोई वस्तु शेष नहीं रहती। जो ब्रह्मविद्या की परावस्था है वह भी अनधिगत नहीं रहती। एकमात्र गायत्री से हो सब कुछ हो सकता है।

महासंन्यास और महाज्ञानादि उपासक के निकट समय आने पर ही आविर्भूत होते हैं। प्राचीन दृष्ट्यनुसार ब्राह्मण वर्णों में श्रेष्ठ है और संन्यास आश्रमों में। परन्तु अंतिम अवस्था में दोनों ही अतिक्रांत हो जाते हैं, अवश्य दोनों का चरमोत्कर्ष सिद्ध हो जाने के बाद।

एक विशिष्ट बात कह रहे हैं। गायत्री वेदमाता व छंद-जननी है, समस्त वेद और छंद का मूल है। गायत्री वेदमय है। देवताओं ने मृत्युभय से भीत होकर छंद का आश्रय लिया था। छन्दों की प्रसूति और शुद्धतम स्वरूप ही गायत्री है। अतएव गायत्री को आश्रय करने से ही दिव्यदेह और द्वितीयजन्मलाभ हो जाता है। यह जन्म शुद्धदेह प्राप्ति का नामांतर है। इसको विद्याजन्म कहते हैं। अतएव गायत्री संस्कार-विशिष्ट-ब्रह्मण-देह वस्तुतः बैंदव देह है। वेद का सिद्धांत यह है—गायत्री छंद से ब्राह्मण का देह उत्पन हुआ है—यह स्मरण रखना होगा अर्थात् जो देह गायत्री से उत्पन्न हुआ है और जो गायत्री छंद से शोधित हुआ है, वही शब्दब्रह्म का अनुशीलन करने के लिए उपयोगी है। शब्दब्रह्म का अनुशीलन ही वेदानुशीलन का नामांतर है। स्वाध्याय प्रभृति वैदिक कर्म इसी के अंतर्गत हैं। कर्मकांड के अनंतर ज्ञानकांड का अनुशीलन भी वेद का ही अनुशीलन है। इतना उत्कर्षलाभ हो जाने पर तपस्या और ब्रह्मविद्या का चरमविकास संपन्न होता है। उस समय समना भेद होकर बिन्दुराज्य का लंघन हो जाता है। यही महासंन्यासावस्था है।

इसके बाद परमशुद्ध आत्मस्वरूप में, चिन्मात्र रूप में या नित्यचिदानंदस्वरूप में स्थिति अथवा भगवद्भाव-उद्बोध, दोनों ही हो सकता है। इस स्थान में एक महा-कारण का खेल है। उसी के अनुसार गति का वैशिष्ट्य नियंत्रित होता है। वस्तुतः इस महाकारण के खेल में काल अथवा क्रम में से किसी की अपेक्षा नहीं है। उसमें अघटन भी घट सकता है। असंभव भी संभव हो सकता है। इसकी विश्लेषण-चेष्टा जीव के लिए अनधिकारचर्चा मात्र है।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १८

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २८-७-१९४४ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — श्यामाप्रसन्न, माँ आनंदमयी आश्रम, भदैनी, बनारस।
आलोक — श्यामप्रसन्न के एक पत्र के उत्तर में कालतत्त्व-विवेचन।

विषय—काल-रहस्य

प्रिय श्यामाप्रसन्न,

काल के संबंध में जितनी आलोचना की गयी है उससे कालरहस्य के विषय में एक आभासज्ञान तुम्हें हुआ होगा।

जागतिक सृष्टि-प्रक्रिया के मूल में जैसा काल है, ठीक उसी प्रकार हम लोगों के ज्ञान में मूल में भी काल है। कालगत समसूत्रता न रहने पर द्रष्टा दृश्य का दर्शन नहीं कर सकता और भोक्ता भी भोग नहीं कर सकता। काल आपेक्षिक है, यह समझने के लिए अधिक सूक्ष्मचिंता की आवश्यकता नहीं। अतएव द्रष्टा और दृश्य के एक ही आपेक्षिक काल में वर्तमान रहने पर दर्शनव्यापार निष्पन्न हो सकता है। द्रष्टा शुद्ध अवस्था में सर्वदा वर्तमानकाल में ही स्थित रहते हैं। दृश्य वर्तमान रहने पर अर्थात् अभिव्यक्त रहने पर और द्रष्टारूपी बिन्दु के साथ उसका संबंध होने पर दर्शनक्रिया अवश्य निष्पन्न होती है। दृश्य वर्तमान रहने पर अर्थात् अभिव्यक्त रहने पर और द्रष्टारूपी बिंदु के साथ उसका संबंध होने पर दर्शन क्रिया अवश्य निष्पन्न होती है। दृश्य वर्तमान रहने पर नित्यवर्तमान द्रष्टारूपी बिन्दु के साथ उसकी सम-सूत्रता स्वाभाविक है। परन्तु उसकी तादृश्य समसूत्रता रहने पर भी परिच्छिन्न द्रष्टा के लिए दृश्यदर्शन कभी नहीं भी हो सकता है। इसीलिए द्रष्टारूपी बिन्दु के साथ संबंध आवश्यक है, नहीं तो द्रष्टा के दृष्टिगोचर होकर भी दृश्य लक्ष्य में नहीं आता अर्थात् दृष्टि के सम्मुख में महासामान्य अथवा व्यापक रूप में दृश्य वर्तमान रहता है, परन्तु उसका विशिष्टरूप स्फुरित नहीं होता है। द्रष्टा व दृश्य में काल का पार्थक्य रहने पर वह दृश्य द्रष्टा को अदृश्य रह जाता है, परन्तु किसी भी प्रकार से हो उस दृश्य की सत्ता को आभासरूप में द्रष्टा की दृष्टि के निकट उपस्थित करने पर दृश्य वर्तमान होता है, इसीलिए दृष्टिगोचर भी होता है। दृश्य वास्तव में द्रष्टा के निकट में नहीं आता परन्तु उसका आभास आता है। पक्षान्तर में यदि द्रष्टा अपनी दृक्शक्ति को आभासरूप में दृश्य के निकट प्रयोजित कर सकें तब भी द्रष्टा की आभासदृष्टि में उसके निकट अलौकिक होकर दृश्य का स्फुरण होता है। द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है और उसकी दृक्शक्ति वर्तमान का त्याग नहीं करती फिर भी विक्षेपवृत्ति की सहायता से दृक्शक्ति का आभास संचारित हो सकता है। इन दोनों प्रकार के आभास के संचार के मूल में वैशी (ईश्वरी) शक्ति की क्रिया विद्यमान है, जो कि द्रष्टा और दृश्य दोनों की अधिष्ठाता है।

इस प्रसंग में सूक्ष्म आलोचना के पहले देश के साथ काल के संबंध के विषय में समीक्षा आवश्यक है। हम लोग प्रचलित व्यवहार में जो सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग करके चार प्रकार युगभेद निर्देश करते हैं, यह काल की अवरोहिणी धारा का निदर्शन है। विपरीत क्रम से आरोहिणी धारा का व्यापार समझना चाहिए। ध्यान रखना कि इस अवरोह क्रम को समझने के लिए मात्रागतभेद का अनुसरण करके १६, १५, १४, १३ इस क्रम से संख्याविन्यास किया जा रहा है। तब समझना चाहिए कि सतयुग के आदिबिन्दु में १६ मात्राओं का पूर्ण प्रकाश रहा है। इस प्रकार षोडश से त्रयोदश मात्रा तक सत्ययुग की सीमा समझनी चाहिए। यह बात दृष्टांत के द्वारा स्पष्टीकरण के लिए कही जा रही है। इसी प्रकार द्वादश मात्रा से नवम मात्रा के अंतिम अणु पर्यंत त्रेता समझना चाहिए। अष्टम मात्रा से

पंचम के निम्नतम अणु तक द्वापर और चतुर्थ से शून्य की पूर्वावस्था तक कलिपदवाच्य है। यह जो काल का स्रोत है वह षोड़श अर्थात् पूर्ण से एक होकर शून्य की ओर प्रवाहित हो रहा है। अतएव विशिष्ट देश का संबंध छोड़कर यह कालप्रवाह समझा नहीं जा सकता है। जैसे सूर्य उदयकाल से पुनरोदयकाल पर्यंत आवर्तन कर रहा है यदि ऐसा मान भी लिया जाय फिर भी सूर्य का उदयकाल अथवा पूर्वाह्न प्रभृति अन्य किसी कालविशिष्ट का देश के साथ संबंध मूल से समझना चाहिए। द्रष्टा निराधार नहीं है। वह जिस आधार अथवा भूमि में स्थिति लिये है और दृष्टि कर रहा है, उसी के अनुसार उदयकाल अथवा पूर्वाह्नकाल प्रभृति का व्यवहार सिद्ध होता है, क्योंकि द्रष्टा के एक भूमि में रहने पर दो उदयकाल है, दूसरी भूमि में रहने पर उसी का अस्तकाल होना आश्चर्यजनक नहीं है। काल के स्रोत का रहस्य समझने के लिए विशिष्ट देश के साथ संबंध पहले ही समझ लेना चाहिए।

पूर्वोक्त दृष्टांत से समझ सकोगे कि जैसे यहाँ इस समय संध्या है, उसी समय दूसरे स्थान में प्रभात प्रभृति कई कलि वर्तमान रहते हैं उसी प्रकार यहाँ जब कलियुग है दूसरे स्थान में उसी समय सतयुग, त्रेता अथवा द्वापर अर्थात् दूसरा कोई युग वर्तमान है। अतएव कलि कहने से ही सर्वत्र ही समरूप में कलि का प्रभाव है, यह बात नहीं। किसी स्थान पर उस समय भी सतयुग है, कहीं त्रेता और कहीं द्वापर युग चल रहा है। कलियुग के भीतर भी अवांतर भेद इस प्रकार से समझना पड़ेगा। इस विशाल जगत् के भीतर ऐसे स्थान हैं जहाँ इस समय सतयुग, त्रेता अथवा द्वापर युग चल रहा है अर्थात् एक ही समय में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न युग चल रहा है। अतः एक युग का मनुष्य दूसरे युग के मनुष्य का अन्वेषण करने पर भी पता नहीं पा सकता और जिन स्थानों में ये सब युग क्रिया कर रहे हैं उन स्थानों का संधान पाते नहीं हैं। इसीलिए मैंने पहले कहा था कि द्रष्टा और दृश्य दोनों कालगत समसूत्र में हैं। अगर ऐसा न रहे तो दर्शन ही नहीं हो सकता।

उपरिलिखित विवरण से, सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा, समझ में आयेगा कि आधारगत भेद अथवा वैचित्र्य केवल देश में ही निबद्ध नहीं है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में पर्यवसित है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की देह ही उसकी कर्मभूमि है। एक ही स्थान में नगर में या ग्राम में दो आदमी ठीक एक ही काल में वास नहीं कर सकते। दोनों के भीतर कालगत वैषम्य रहता है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए ही प्रत्येक व्यक्ति रहस्यमय है। दोनों का परस्पर व्यवधान जब तक काल क्षण में प्रतिष्ठित न हो तब तक तिरोहित नहीं हो सकता।

भोगगत समसूत्रता का विषय इस समय आलोच्य नहीं है।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या १९

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।

दिनांक — २९-७-१९४४ ई०।

प्राप्तकर्त्ता — सदानंद।

आलोक — सदानंद ब्रह्मचारी स्वामी प्रेमानंद के शिष्य हैं। स्वामी जी के निमित्त लिखे गये 'श्रीकृष्ण-प्रसंग' (बंगला) का प्रकाशन इन्होंने ही किया

था। 'काल तथा क्षण तत्व' का रहस्य समझाने की प्रार्थना इन्होंने कविराजजी से की थी। इसमें उसी पर प्रकाश डाला गया है।

विषय—**काल और क्षण**

प्रिय सदानंद,

काल व क्षण के विषय में कुछ बातें संक्षेप में कह रहे हैं। इन सब बातों को अच्छी तरह से समझने का प्रयत्न करना, तब इस दुर्भेद्यरहस्य के भीतर थोड़ा सा आलोकपात् होगा और मार्ग का संधान समझ सकोगे।

काल के विषय में साधारण ज्ञान सबको है। उससे ही इस समय आलोचना का सूत्रपात किया जा रहा है। जब विभिन्न घटनाओं का संघटन होता है तब उनमें कौन घटना पूर्व की है, कौन बाद की, इस प्रकार से पूर्वापर की प्रतीति होती है। उसी से काल की धारणा साधारण लोगों के मन में जगती है। घटनावली में यह पूर्वावर संबंध क्रम नाम से परिचित है। अतएव क्रम को काल का धर्मरूपेण समझना सरल होगा। किसी एक मनुष्यदेह के विकास के मार्ग में जन्म के बाद से बाल्य, कैशोर, यौवन, प्रौढ़ता, वार्द्धक्य, स्थविरता—यह सब क्रमबद्ध अवस्थाएँ हैं। एक ही देह क्रमश: इन सब अवस्थाओं को प्राप्त होकर और फिर उसको अतिक्रम करके भी चलता है। इसीलिए कहा जाता है कि देह काल के अधीन है। अनित्यवस्तु मात्र में ही सृष्टि से विनाशपर्यंत इस प्रकार एक क्रम की धारा लक्षित होती है। इसीलिए इसको परिवर्तनशील या परिणामी कह करके वर्णन किया जाता है। यही काल की अधीनता है। नित्यवस्तु में काल का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता, क्योंकि जो नित्य है वह सर्वदा ही एकभाव से विद्यमान रहता है। उसमें कभी भावांतर नहीं होता।

उदाहरण के लिए क, ख, ग—इनको यदि नित्य मान लिया जाय तो समझना चाहिए कि 'क' सदैव 'क' ही है, 'ख' सदैव 'ख' ही है और 'ग' भी सर्वत्र 'ग' ही है अर्थात् 'क' कभी 'ख' रूप में या 'ख' कभी 'ग' रूप में परिणत नहीं होता। यहाँ समझना चाहिए कि 'क' 'ख' 'ग' काल के अधीन नहीं हैं, क्योंकि उनमें किसी प्रकार का कालगत क्रमिकसंबंध नहीं है।

सुपरिचित दृष्टांत है—श्रीकृष्ण की नित्यलीला का प्रकट स्वरूप। बाललीला में श्रीकृष्ण बालरूप में ही प्रकाशमान हैं—यह नित्य है। पक्षांतर में अपनी कैशोर लीला में वे नित्य किशोर हैं अर्थात् जो नित्य बालक है, वही नित्य किशोर भी हैं। उनका बालभाव जैसा नित्य है, उसी प्रकार उनका किशोरभाव भी नित्य है। लौकिकदेह जैसा बालभाव से किशोरभाव में परिणत होता है, तदनुरूप अलौकिक श्रीकृष्ण देह बाल से किशोरभाव में परिणत नहीं होता। क्योंकि उनके बाल और किशोरभेद दोनों ही युगपत् विद्यमान हैं और दोनों ही नित्य हैं। श्रीकृष्ण की बालदेह पूर्वकालीन है और किशोरदेह परवर्तीकाल की—ऐसा नहीं कहा जा सकता। गोपालरूपी बालक कृष्ण सहस्त्र कल्पातीत होने पर भी बालक ही रहेंगे, किशोर अथवा युवक नही होंगे। इसी प्रकार अन्यान्य भाव भी समझना चाहिए।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे समझ में आयेगा कि नित्यवस्तु काल के अधीन नहीं है और भिन्न-भिन्न नित्य वस्तु में किसी प्रकार का कालगत संबंध नहीं रहता। परन्तु लीला के लिए किसी प्रकार संबंधसृष्टि करके तदनुसार वैचित्र्य का आस्वादन किया जा

सकता है।

रहस्य की बात यह है कि शुद्धज्ञान दृष्टि में अनित्य भी मूलत: नित्य का ही कालिकप्रकाश है। अतएव जिसको हम जागतिक घटना या अनित्य-व्यापार कहते हैं, उसके मूल में भी नित्यसत्ता विद्यमान है। जागतिक दृष्टि से जैसा हम लोग पूर्वापररूप में वर्णन करते हैं, वह जागतिक दृष्टि में अपरिवर्तनीय होने पर भी वस्तुत: आपेक्षिक है। जिसकी शुद्धदृष्टि खुल गयी है, उसके लिए वह अपरिवर्तनीय नहीं है। यह देशगत परत्व और अपरत्व दृष्टांत से स्पष्ट समझ में आयेगा।

क, ख, ग ऐसे उपविष्ट हैं कि 'क' के पश्चिम में 'ख' है और 'ख' के पश्चिम में 'ग' है। इस स्थान में 'क' 'ख' के पूर्व में है, इससे संदेह नहीं। परन्तु 'क' यदि अपना स्थान बदल कर 'ग' के स्थान में बैठ जाय, तब 'क' को भी 'ख' का पश्चिम कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'ग' यदि अपना स्थान त्याग कर 'क' के स्थान में बैठे तब 'ग' को 'ख' का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। इस प्रकार 'ख' के स्वस्थान-त्याग और स्थानांतरग्रहण के प्रभाव से संबंध का व्यतिक्रम हो जायेगा। अतएव यदि क, ख और ग—तीनों को स्थिर मान लिया जाय, यदि उनका स्वस्थान-परिवर्तन संभव न हो तो तब उनका देशगत संबंध जो है वही रहेगा। किन्तु यदि एक की भी स्थिर भाव के बदले गतिमात्र स्वीकार किया जाय, तब संबंध का परिवर्तन होगा। यदि बिन्दु समरूप में और समान वेग से पारस्परिक व्यवधान की रक्षा करते हुए गतिशील हो तब गतिशीलता होने पर भी संबंध का परिवर्तन नहीं होगा।

देशगत संबंध का यह वैशिष्ट्य साधारण लोग समझ सकते हैं। परन्तु काल के संबंध में इस प्रकार गतिमत्ता की संभावना साधारण जागतिक लोगों के लिए विद्यमान नहीं है, क्योंकि साधारण लोग अपनी स्थिति परिहार करके पूर्ण या अंशतया दूसरी स्थिति ग्रहण नहीं कर सकते। एकमात्र योगी के लिए यह संभव है। लौकिक दृष्टांत से यह भी स्पष्टीकृत होगा कि कलकत्ता में जब सूर्योदय होता है, ब्रह्मा में उसके बहुत पहले हो जाता है, परन्तु काशी में तब भी नहीं होता। अतएव कलकत्तावासी के लिए जो उदयकाल है, ब्रह्मावासी के लिए वह पूर्वाह्न और काशीवासी के लिए शेषरात्रि है। देश के साथ संबंध छोड़कर जागतिक काल की स्फूर्ति होती नहीं है। उदयकाल कहने से ही किसी न किसी देश को मानकर उदयकाल समझना पड़ेगा। मध्याह्न प्रभृति अन्य कालों के विषय में भी यही नियम है। देश से संबंध रहित होकर उदयकाल संभव नहीं है। जागतिक देश गतिशील होने के कारण उसका उदयकाल स्थायी नहीं होता। परन्तु नित्यधारा में वस्तुत: गति न होने के कारण वहाँ का प्रत्येक काल ही नित्य है अर्थात् इस समय जो नित्यदेश है, उसके स्थिर होने के कारण वहाँ का उदयकाल भी नित्य है। वहाँ से सूर्य की ऊर्ध्वगति अर्थात् पूर्वाह्न, मध्याह्न प्रभृति काल कभी प्रतीतिगोचर नहीं होता।

इसी प्रकार ऐसे देश भी हैं, जहाँ से सर्वदा मध्याह्न का अनुभव होता है। वहाँ पूर्वाह्न नहीं है, अपराह्न नहीं है, रात्रि भी नहीं है। नित्यदेश अनंत है, देशभेद से प्रत्येक काल ही नित्य है। परन्तु अनित्य जगत् में गतिशीलता के कारण व्यावहारिक किसी काल को नित्य रूप में प्राप्त नहीं हो सकता। देश की गतिशीलता के अनुरूप अपने भीतर गतिशीलता का

आरोप करने पर नित्यकाल का आभास इस जगत् में बैठकर ही प्राप्त हो सकता है। नित्यकाल को तुम निर्विशेष न समझना क्योंकि निर्विशेष काल में उदय, मध्याह्न, अपराह्न आदि किसी काल का भेद नहीं रहता। मैं सविशेष काल के विषय में कह रहा हूँ। सविशेष काल भी नित्य है। इस रहस्य का अनुभव एकमात्र योगी कर सकता है। इस रहस्य का भेद न कर सकने पर नित्यलीला का अनुभव संभव नहीं होता। क्योंकि कूटस्थ में लीला नहीं है, निर्विशेषसत्ता में लीला नहीं है, शक्तिहीनस्वरूप में लीला नहीं है। इस लीला का आविष्कार ही योग की महिमा है।

सूर्य के उदयकाल में 'क' नामक द्रष्टा कलकत्ता में वर्तमान है। उसके लिए वह प्रातःकाल है। छः घंटे के बाद कलकत्ता में 'क' के लिए मध्याह्नकाल है परन्तु यूरोप के पश्चिम प्रांत में उस समय प्रातःकाल है। यदि 'क' अपनी योगशक्ति के प्रभाव से गतिशील होकर मनोवेग से अर्थात् विद्युत् से भी तीव्रतर वेग लेकर यूरोप के पश्चिमी प्रांत में उपस्थित हो, तब वह सूर्य का उदय देख सकेगा। उसके लिए उस समय वहाँ प्रातःकाल है। कलकत्ता से वह अपनी दृष्टि संचालित नहीं कर सकता है इसलिए वह मध्याह्नकाल अनुभव करता है। उस समय प्रातःकाल अनुभव नहीं कर सकता। पृथ्वी अथवा सूर्य की गति के अनुरूप गति अपने भीतर विकसित हो जाने पर किसी भी विशिष्ट काल को, लौकिक परिवर्तित अवस्था के भीतर रहते हुए भी, सर्वदा अनुभव किया जा सकता है।

यहाँ इस स्थान में मैंने अनुरूप गतिशीलता के द्वारा सविशेष काल का नित्यत्व समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इसमें और भी सूक्ष्म रहस्य है। 'क' अपनी योगशक्ति द्वारा यूरोप के पश्चिमी प्रांत में विद्युत् के वेग से उपस्थित होगा, ऐसा कहा गया है। परन्तु जगद्व्यापी सत्ता के साथ यदि 'क' अपने को युक्त कर सके तब उसको यूरोप में जाना नहीं होगा। क्योंकि व्यापक सत्ता वहाँ भी तो है और 'क' उस व्यापक सत्ता के साथ युक्त होने के कारण इच्छामात्र से अन्य-अन्य स्थानों की भाँति पश्चिमी यूरोप में भी स्फुरित हो सकता है। यदि ऐसा हो जाय तब 'क' प्रातःकाल का अनुभव करेगा, इसमें संदेह नहीं। इसके लिए उसे यूरोप जाना नहीं होगा। इसी प्रकार से अखंड व्यापकसत्ता को आश्रय करके सभी प्रकार सविशेषकाल का अनुभव किया जा सकता है। व्यापकसत्ता के अंशविशेष के साथ द्रष्टाबिन्दु का योगस्थापन ही एक विशिष्टकाल के अनुभव का मूल है।

अतीत, अनागत और वर्तमान—इस त्रिकाल के साथ साधारणतः सबका परिचय है। परन्तु वस्तुतः एक अखंड वर्तमान रूप महाकाल ही है। अतीत और अनागत अव्यक्त रूप में विद्यमान हैं। वर्तमान का प्रकाश आवरणशून्य होने पर सर्वदेश में युगपत् अभिन्नरूप से स्फुरित होता है। इसीलिए अतीत और अनागत नहीं रहता, एकमात्र महावर्तमान ही विद्यमान रहता है। यह महावर्तमान ही योगियों का क्षण है। इसी को संधिक्षण भी कहते हैं। भूत और भविष्य दोनों की संधि में उसकी उपलब्धि होती है। योगी को छोड़कर और कोई भूत और भविष्य से अलग करके इस अंतरालवर्ती क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता। सच कहा जाय तो ग्रहण सभी करते हैं, परन्तु सूक्ष्म होने के कारण लक्ष्य नहीं कर सकते।

इस क्षण के विषय में बहुत कुछ बातें कहने को हैं, आगे कहेंगे।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २०

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — ३-८-१९४४ ई०।
प्रापकर्ता — श्यामाप्रसन्न, माँ आनंदमयी आश्रम, भदैनी, वाराणसी।

विषय—**अखंड-ब्रह्म-दर्शन**

प्रिय श्यामाप्रसन्न,

किसी एक दृश्य का सर्वदा के लिए दर्शन किया जा सकता है या नहीं? यह है तुम्हारा प्रश्न। उसका उत्तर यह है कि अवश्य दर्शन किया जा सकता है। अगर ऐसा न होता तब 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इस वेदवाक्य की कोई सार्थकता नहीं रहती। सर्वदा दर्शन करने के लिए किस प्रकार की योग्यता आवश्यक है? यह है आलोच्य-विषय। हम लोग साधारणतया कहते हैं कि दृश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील है अर्थात् सर्वदा एक रूप लेकर—वर्तमान नहीं रहता। दृश्य निरंतर परिवर्तित हो रहा है इसीलिए द्रष्टा के स्थिर रहने पर भी एक ही दृश्य निरंतर दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इस प्रकार का संशय वास्तव में अमूलक है। जो लोग दृश्य का विज्ञान जानते हैं, वे इस प्रकार के संशय को निराधार समझते हैं। इसका कारण दिखाया जा रहा है।

सूर्य और पृथ्वी के बीच में किसी एक को स्थिर मानकर दूसरे को गतिशील मानने पर गणना के कार्य में कोई बाधा नहीं होती। यदि दोनों ही स्थिर होते या दोनों ही समरूप में गतिशील होते तब स्थिति और गति की उपलब्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार दृश्य को परिणामी मानकर द्रष्टा को स्थिर मानने पर विशिष्टदशा का नित्य दर्शन हो नहीं सकता। क्योंकि दृश्य के परिवर्तनशील होने के कारण जिस क्षण में जो दृश्य प्रकट है उसी क्षण में उस दृश्य का दर्शन हो जाता है। परन्तु एक ही विशिष्ट दृश्य का सर्वदा दर्शन इस प्रकार से नहीं होता।

काल का चक्र घूम रहा है। इस आवर्तन में जो वृत्त रचित होता है उसमें स्वभावतः तीन सौ साठ कलाएँ हैं। द्रष्टा जब इन तीन सौ साठ कलाओं के समष्टिरूप बिन्दु का आश्रय करके दर्शन करते हैं तब दृश्य नित्य रूप से दृश्यमान होता है। इस पूर्ण दृष्टि के सम्मुख में दृश्य का तिरोधान नहीं होता। बिन्दु में अधिष्ठित होकर द्रष्टा अखंड मंडलाकार दृश्य-दर्शन करते हैं। प्रत्येक दृश्य ही इस दर्शन में नित्य रूप से प्रतिष्ठित रहता है। क्षणिक का द्रष्टा दृश्य का क्षणिक-रूपी दर्शन करता है। दृश्य का नित्यरूप उसको दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि द्रष्टा आवर्तनकालचक्र में अधिष्ठित है। यदि परिधि से न देखकर केंद्र से दर्शन किया जाय अर्थात् बिन्दु में आसीन होकर दर्शन किया जाय अथवा तीन सौ साठ कला की समष्टि में अधिष्ठित होकर दर्शन किया जाय, तब वह दृश्य का नित्यरूप-दर्शन अवश्य कर सकेगा। इस अवस्था में उसका सर्वदादर्शन स्वभावसिद्ध है।

इस विवरण से तुम समझ सकोगे कि कालिकदर्शन क्रमबद्ध-दर्शन है। मध्यबिन्दु में अधिष्ठित होकर जो दर्शन होता है, वह कालिकदर्शन नहीं है। इसी से उस दर्शन में क्रम नहीं रहता। उसमें एक ही साथ दृश्य के समग्र अंश का विशिष्ट दर्शन निहित रहता है।

दृश्य का पूर्ण रूप पाने के लिए द्रष्टा को भी पूर्ण आधार में आसन ग्रहण करना चाहिए। परिधि व केंद्र के भीतर परस्पर संबंध यह है कि परिधि बहुबिन्दु-विशिष्ट है। यह बहु संख्या वस्तुतः अनंत का ही वाचक है और केंद्र एक अभिन्न बिन्दु है किन्तु वह एक होते हुए भी बहु अर्थात् अनंत है। इसी प्रकार परिधि भी बहु होकर भी एक ही है क्योकि वह एक ही वृत्तरूप में कल्पित होता है, एक से अधिक नहीं। बिन्दुसंख्या अनंत होने पर भी वृत्तरूप में यह अनंत संख्या उस एक के ही अंतर्गत है, दोनों में अर्थात् केंद्र और परिधि में अनंत है। इसीलिए परिधि के प्रत्येक बिंदु का अनुरूप अंश केन्द्र में विद्यमान है। इन दोनों में योगसूत्र भी विद्यमान है। सिको व्यासार्द्ध (रेडियस) कहा जाता है। परिधि से केंद्र में जाने का यही सरल मार्ग है। पक्षांतर में केंद्र से सृष्टिक्रम से यह विकीर्ण होकर परिधिरूप में आत्मप्रकाश करता है। अतएव केंद्र एक होकर के भी अनंत है और परिधि का प्रतिरूपक है। इसी से उसमें तीन सौ साठ कलाएँ विद्यमान हैं, यह स्वीकार करना पड़ेगा। अथच ये तीन सौ साठ कलाएँ एक महाकला के रूप में अद्वैतभाव से प्रकाशमान हैं। केन्द्र का एकत्व इस अद्वैतभाव के ऊपर प्रतिष्ठित है। अतएव केन्द्र अथवा मध्यबिन्दु से जब द्रष्टा दृश्य का दर्शन करते हैं तब दृश्य का एक देश दर्शन नहीं होता। एक अखण्ड दर्शन ही समग्र दृश्य या दृष्टिरूप से प्रकाशित होता है अर्थात् एक अभिन्नदृश्य-दर्शन में अनंत विशिष्टदृश्यों का विशिष्टदर्शन युगपत् विद्यमान रहता है। इसी का नाम है द्रष्टा का काललंघन।

द्रष्टा जब काल से अतीत है तब दृश्य अपरिणामी होगा, इसमें संदेह क्या है? अतएव दृश्य भी ब्रह्म ही है। इसी का नाम है ब्रह्मदर्शन, जो काल के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। यह अखंडदर्शन द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का अभेदात्मक स्वप्रकाश-चैतन्य है।

आशीर्वाद जानना।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २१

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।

दिनांक — १ फरवरी, १९४४ ई०।

प्राप्तकर्त्ता — केशव।

आलोक — केशवजी माता आनंदमयी के भक्त हैं। प्रस्तुत पत्र में इनकी कतिपय आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान कविराजजी ने किया है।

विषय—चैतन्य का विकास, आत्मशक्ति का जागरण

प्रिय केशव,

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर क्रमशः दे रहा हूँ।

(क) चैतन्य की सत्ता देह के सर्वत्र (चतुर्दिक्) समरूप में विद्यमान है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का एक विशेष केंद्र है। उस केन्द्र से शक्ति का स्फुरण निरंतर हो रहा है और उसी से देह के सर्वकार्य निष्पन्न हो रहे हैं। जिस स्थान को शक्तिविकास का केंद्र कहा जाता है, वस्तुतः देह से अतीत होने पर भी उसका देह के भीतर आभास

दिखायी देता है। देह का कार्य सँभालने के लिए पूर्वोक्त आभास ही केंद्ररूप में माना जा सकता है। शून्य को आश्रय किये बिना चैतन्य बाह्यरूप में आत्मप्रकाश नहीं कर सकता अर्थात् चैतन्य जब तक स्वरूप में विश्रांत रहता है, तब तक भीतर अथवा बाहर इस प्रकार का कोई भेद नहीं रहता। परन्तु स्वातंत्र्य से जब विश्राम भंग होता है, तब सबसे पहले स्वभाव के ऊपर एक अभाव का आरोप हो जाता है, जिसको आत्म-निषेध (सेल्फ-निगेशन) कह सकते हैं। इस अभाव का ही नामांतर है शून्य या महाशून्य। यही भविष्य-सृष्टि का भित्तिस्वरूप है अर्थात् इस महाशून्य के ऊपर ही चैतन्य अपनी कर्तृव्य शक्ति के प्रभाव से सृष्टि-रचना करते हैं। देह के भीतर इस प्रकार शून्य विद्यमान है। वहाँ से मूलचैतन्य का प्रतिभास अपना शक्तिविस्तार करते हुए काम करता है। यह शून्य मूल में एक होने पर भी अर्थात् महाशून्य होने पर भी खंडदृष्टि से बहुसंख्यक है। नाभि, हृदय, मस्तक प्रभृति स्थानों में इस शून्य की सत्ता विद्यमान है। जहाँ-जहाँ शून्य विद्यमान है, समझना चाहिए, वहीं-वहीं चैतन्यस्वरूप आत्मा का अपने कार्य संपन्न करने के उपयोगी पीठ वर्तमान है। उस पीठ में प्रतिबिंबित आत्मचैतन्य तत्तत् शक्त्यात्मक किरणरूप से विकीर्ण होकर देह की जागतिक क्रियाओं का संपादन करता है।

(ख) पहले प्रश्न के उत्तर से ही इस प्रश्न का कुछ समाधान हो सकता है। हृदयाकाश में आत्मा विराजमान है, यह सत्य बात है। मूलाधार चक्र में आत्मशक्ति सुप्त रहती है, यह भी सत्य है। इन दो वाक्यों में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं है। जब तक शक्ति अर्थात् चिन्मयीशक्ति सुप्त रहती है तब तक चैतन्य की क्रिया की उपलब्धि नहीं होती। सुप्तिभंग के साथ ही साथ ज्ञान का उदय अथवा जीवात्मा का जागरण सूचित होता है। जीवात्मा जागने पर ही शिवरूप धारण करता है। शक्ति का प्रबुद्ध भाव ही जीवात्मा का जागरण समझना चाहिए। जब तक शक्ति निद्रित है, तब तक आत्मा शिवरूप में आत्मप्रकाश नहीं कर सकता। पहले जो देहस्थित शून्यमंडलों की बात कही गयी है, वह उस अवस्था में घोर अंधकार से आच्छन्न रहता है। मन और प्राण आत्मशक्ति की प्रसुप्तावस्था में उद्दाम वेग से खेलने लगते हैं। जिन नाड़ियों से इनका संचालन होता है वे अत्यंत जटिल और परस्पर जड़ित होकर धीवर के मत्स्यजाल की भाँति समग्र देह में फैली हुई हैं। व्यष्टिदेह और समष्टिदेह अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड एक ही नियम के अधीन हैं। समग्र जगद्व्यापी इस जाल को मायाजाल कहते हैं। इसी के भीतर भाव के अनुसार तंतु आश्रय करके मन और प्राण घूमने लगते हैं। इसी का नाम है संसारभ्रमण। आत्मशक्ति जागने पर मन और वायु का वेग मंद हो जाता है। जागरण की पूर्णावस्था में दोनों ही स्तंभित हो जाते हैं और अंत में निष्क्रियभाव धारण करते है। उस समय सर्वत्र ही एकमात्र चैतन्य शक्ति काम करने लगती है। जब तक मूलाधार में स्थिति है, तब तक शक्ति निद्रित है। शक्ति के जागकर उठने पर मूलाधार में अवस्थान नहीं होता। क्रमशः अंतर्मुख गति की वृद्धि होती है, शक्ति जागने के साथ-साथ हृदयाकाश आलोक से उज्ज्वल हो जाता है। आत्मा हृदय में अपनी सत्ता का अनुभव तभी कर सकती है, जब शक्ति जागकर उत्थित हो और अंतर्मुखगति का अवसान हो जाये। हृदय से जिस गति का सूत्रपात होता है, वह ऊर्ध्वमुख-गति है। वह

जाग्रत और एकाग्रीभूत चैतन्यशक्ति की परमेश्वर के अभिमुख में यात्रा है। जब तक अपने को असंग अथवा द्रष्टारूप से या मुक्तरूप से लाभ न किया जाय तब तक भगवदभिमुखीगति का प्रारंभ नहीं होता।

अब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यह है—

साक्षीरूपी आत्मा अर्थात् जाग्रत्-जीवन्मुक्त-आत्मा हृदयाकाश में अपने को प्रकाश करता है। परन्तु जब तक उसका जागरण सिद्ध नहीं होता, तब तक हृदयसिंहासन शून्य ही रह जाता है। हृदय अंधकार से आच्छन्न रहता है। वहाँ अन्वेषण करके किसी को पा नहीं सकते और अन्वेषण का प्रयत्न करने पर अपने को खो जाने की संभावना भी रहती है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन स्वभावत: ही हृदय का आश्रय करके रहता है और नाड़ीचक्र अतिक्रम करके बाहर जाता है। परन्तु उससे लाभ क्या होता है? सुषुप्ति में मन स्थिर हो जाता है, यह सत्य है, परन्तु आत्मचैतन्य का विकास नहीं होता। यदि हृदय में प्रविष्ट होते ही आत्मा का जागरण सिद्ध होता तो सुषुप्ति और संप्रज्ञातसमाधि के बीच कोई पार्थक्य नहीं रहता। जब तक ज्ञान का उदय न हो तब तक हृदयमंदिर में स्वयं या किसी की प्राप्ति नहीं हो सकती। उस समय तक आत्मशक्ति सुप्त होकर मूलाधार में स्वयंभूलिंग को वेष्टित करके विद्यमान रहती है।

(ग) द्वितीय प्रश्न के उत्तर से इसका किंचित् समाधान हो सकेगा। मानव से जितने भी लौकिक कार्य हो रहे हैं, वे नाड़ियों की चैतन्यावस्था के कार्य नहीं हैं। मनुष्य निद्रित होने पर जैसे संस्कार के कारण स्वप्नदर्शन करता है ठीक उसी प्रकार चैतन्यशक्तिरूपा कुंडलिनी की सुप्तावस्था में मानव की जो कुछ ज्ञान या क्रिया निष्पन्न होती है, सभी स्वप्नवत् है। वह चैतन्य से नहीं होती है, आभास-चैतन्य के द्वारा होती है। कुंडलिनी जाग्रत होने पर क्रमश: यह आभास-चैतन्य अर्थात् चैतन्यरूप में परिणत होता है। उस समय यह दीर्घ संसाररूपी सब स्वप्न टूट जाता है। क्योंकि बिना निद्रा जैसे स्वप्न नहीं होता उसी प्रकार चैतन्य शक्ति सुप्त न रहने पर संसाररूप स्वप्नदर्शन नहीं होता। अतएव शक्ति के जागरण के साथ ही साथ उसी मात्रा में संसार की निवृत्ति अवश्यंभावी है। परन्तु संसार निवृत्त होने पर भी जगत् की निवृत्ति के विषय में कोई बात नहीं है। जीवसृष्टि न रहने पर भी ईश्वरसृष्टि अवश्य ही रहती है। ईश्वरसृष्टि आपेक्षिकरूप में सत्य है। परन्तु जागरण का आत्यंतिक प्रकर्ष होने पर ईश्वरसृष्टि भी नहीं रहती। उस समय समग्र जगत् ही चिदात्मा में स्वरूपशक्ति के विलासरूप में प्रतीत होने लगता है। अज्ञानकल्पित जगत् तब नहीं रहता।

(घ) काष्ठ के साथ काष्ठ का संघर्षण होने पर अग्नि उत्पन्न होती है क्योंकि काष्ठ के भीतर अग्नि सुप्तावस्था में रहती है। तीव्र संघर्षण से उसकी अभिव्यक्ति होती है। उसी प्रकार देह में चैतन्यशक्ति ओतप्रोतभाव से विद्यमान रहती है, परन्तु अव्यक्तरूप से। उसे अभिव्यक्त करने के लिए तीव्र संघर्ष आवश्यक है। यह तीव्र संघर्ष ही क्रियाशक्ति का व्यापार है। जिसको दीक्षा कहा जाता है, वह इसी का नामांतर है। दीक्षा शब्द से कोई बाह्य व्यापार नहीं समझना चाहिए। चित्शक्ति के क्रियांश का व्यापार जब तक न हो तब तक जीव की मोह-निद्रा दूर नहीं हो सकती। इस व्यापार के मूल में है शक्तिमान् परमेश्वर का स्वभावसिद्ध

अनुग्रह। उस क्रियाशक्ति का खेल किसी बाह्य आधार का आश्रय करके हो सकता है, आश्रय किये बिना भी हो सकता है, क्रमशः हो सकता है अथवा एक ही क्षण में पूर्ण रूप से भी हो सकता है, तीव्र वेग से हो सकता है और अत्यंत मंदभाव से भी हो सकता है, बाह्य या आभ्यंतरीण उपकरण सापेक्षरूप से भी हो सकता है अथवा उससे निरपेक्ष होकर साक्षात्भाव से हो सकता है। इसमें अनंतप्रकार का वचित्र्य है। असली बात यह है कि क्रिया का संघर्ष छोड़कर निद्रितशक्ति को जगाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। शक्ति जगने पर उसके अव्यर्थ प्राथमिक चिह्न ये हैं—सांसारिक आसक्तियाँ कम होने लगती हैं, जगत् के किसी पदार्थ में रुचि अथवा आनंद अनुभूत नहीं होता और सर्वदा ही न जाने किसी अभाव या आकर्षण से चित्त एक अव्यक्त या अनजान दिशा में धावित होता है। इसी प्रकार बहुत से लक्षण क्रमशः प्रकाशित होने लगते हैं। यहाँ उनका वर्णन अनावश्यक है।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २२

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २ फरवरी, १९४४ ई०।
प्रापकर्त्ता — श्यामाप्रसन्न, माँ आनंदमयी, आश्रम, भदैनी, बनारस।

विषय—**समाधि अवस्था में आत्मदर्शन**

प्रिय श्यामाप्रसन्न,

साधारणतया यह विश्वास है कि समाधि अवस्था में आत्मदर्शन होता है। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि समाधि चित्त की अवस्था विशेष है। यथार्थ आत्मदर्शन अर्थात् शुद्ध चिद्रूपी संवित् का स्व-साक्षात्कार, जब तक चित्त रहता है, हो नहीं सकता। चित्त का आत्यंतिक निरोध छोड़कर यह संभव नहीं। आत्मसाक्षात्कार वस्तुतः आत्मशक्ति द्वारा ही हो सकता है। आत्मशक्ति चित् शक्ति है, यह चित्त नहीं है। अतएव आत्मसाक्षात्कार का तात्पर्य है, आत्मा का स्वयं अपना ही अपने द्वारा साक्षात्कार कर लेना। यह वस्तुतः समाधि अवस्था नहीं है, समाधिजनित प्रज्ञा भी नहीं है। क्योंकि समाधिजनित प्रज्ञा चित्स्वरूप और सत्वगुण दोनों की ग्रंथिबद्धावस्था है। चित् और अचित् की ग्रंथि मुक्त हो जाने पर समाधिप्रज्ञा नहीं रह सकती क्योंकि सत्वगुण इस समय मूलप्रकृति में अस्तमित हो जाता है। चिद्रूपपुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। पुरुष का स्वरूप ही स्वप्रकाश है, इसीलिए साक्षात्कारात्मक है। समाधि अवस्था के बाद भाग्यक्रम से तथा भगवदनुग्रह के प्रभाव से यदि आत्मसाक्षात्कार हो, तब वह पुनः निवृत्त नहीं हो सकता है।

ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर समाधि और उत्थान—इन दोनों अवस्थाओं में कोई भेद नहीं रहता। एक क्षण के लिए भी यथार्थ आत्मसाक्षात्कार होने पर वस्तुतः वह नित्यसिद्ध हो जाता है। जब तक संस्कार का क्षय नहीं होता तब तक आत्मसाक्षात्कार होने पर भी संस्कार उद्बुद्ध होने के कारण जगद्दर्शन हो जाता है। यह दर्शन, वस्तुतः दर्शन नहीं है। यह जगत् का मिथ्यात्व प्रतिभासमात्र है। क्योंकि एक बार आत्मदर्शन करने पर आत्मा छोड़कर और किसी पदार्थ का दर्शन नहीं होता। जो कुछ दर्शन होता है, वह पूर्वदृष्ट-

जगत् का संस्कारजनित दर्शन है, वास्तविक दर्शन नहीं। आत्मा के एक बार द्रष्टा होने पर दर्शन स्थायी हो जाता है। यह दर्शन ही यथार्थदर्शन है। इस दर्शन को तब तक दर्शनरूपेण ग्रहण नहीं किया जा सकता है, जब तक संस्कार का सम्यगूरूप में क्षय न हो। वस्तुतः वही शुद्धदर्शन है। संस्कार क्षीण हो जाने पर शुद्धदर्शन का उदय होता है। परन्तु शुद्ध होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि वह पूर्ण आत्मा का दर्शन नहीं है। इस शुद्ध आत्मदर्शन अर्थात् कैवल्यावस्था में मिथ्याजगत् का भान नहीं रहता। यह केवल, अर्थात् प्रकृतिविनिर्मुक्त शुद्धात्मा का स्वरूपासाक्षात्कार है। इस अवस्था को पूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस आत्मदर्शन में सर्वभूतदर्शन अंतर्गत नहीं रहता। पूर्ण आत्मदर्शन तभी संभव है जब सर्वभूत का आत्मरूपेण साक्षात्कार किया जाता है। शुद्ध आत्मदर्शन अथवा कैवल्य के पहले जो सर्वभूतों का दर्शन हुआ था, वह अनात्मक या मिथ्या है। आत्मशक्ति या चित् शक्ति के सगुणरूप से सर्वभूत का दर्शन कैवल्य अवस्था में संभव नहीं है, उसके बाद ही हो सकता है। परन्तु यह परावस्था चित्शक्ति का उन्मेष छोड़कर असंभव है।

निंद्रा भंग होने के बाद सुप्तोत्थित पुरुष जैसे निद्राकालीन स्वप्नों का विषय स्मरण करते हैं, और आनंद अनुभव करते हैं उसी प्रकार मोहमाया में अभिभवरूप निद्रा का अवसान हो जाने पर अर्थात् आत्मदर्शन सिद्ध हो जाने पर सर्वभूत या जागतिक सत्ता का मिथ्यारूप से अनुभव होता है। इस स्थल में जो मिथ्या शब्द कहा गया है, वह जागतिक सत्ता के अनुभव की भाँति कहा गया है। आत्मनुभूति के बांद वस्तुतः जागतिक सत्ता की अनुभूति संभव नहीं है। यह सत्ता उस समय नाममात्र में पर्यवसित हो जाती है। तब समग्र जगत् ही ज्ञानी के पूर्वपरिचितरूप में स्मृतिपथ में उदित होता है। यह कहना पर्याप्त है कि यह शुद्ध आत्मानुभूति के बाद ही हो सकता है। जब पूर्ण आत्मज्ञान होता है, अर्थात् जब चित्शक्ति का उन्मेष होता है तब वह स्मृतिरूप परिहार करके अनुभूति का रूप धारण करता है। इस अनुभव में पूर्व समय का संबंध प्रतिभासमान नहीं होता। यह वर्तमानकालीन रूप में ही स्पष्ट अनुभव होता है अर्थात् आत्मा के पूर्णस्वरूप का साक्षात्कार होने पर जगत् की पृथक् सत्ता रहती ही नहीं। उस समय सभी कुछ अखंड चिदात्मा में चैतन्यमयीशक्ति के विलासरूप में प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, पूर्वानुभव के स्मृतिरूप में नहीं। अतीत और अनागत जब तक नित्यवर्तमान् अर्थात् अखंड चैतन्य में प्रतिष्ठित न हों तब तक इस अवस्था का विकास हो नहीं सकता। यही सर्वात्मभाव है। यही यथार्थ अद्वैतभाव है। इस महानुभूति में द्रष्टा से दृश्य की पृथक् सत्ता नहीं रहती। एक और अखंड-अनंत सत्ता का अनुभव होता है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है—

'यस्य सर्वे आत्मैवाभूत्, तत्र किं केन पश्यन्ति ?'

सभी वस्तु वस्तुतः आत्मा हैं, यह केवल ग्रंथ से जानने पर काम नहीं चलेगा। इसका प्रत्यक्षानुभव होना चाहिए। जब समाधिजनित प्रज्ञा, आभासमय आत्मज्ञान का, उदय होता है तब उत्थानावस्था में वह वर्तमान नहीं रहता, परन्तु उसकी स्मृति वर्तमान रहती है। इस समय साधक इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करते हैं—

''मैंने समाधि काल में क्षण भर के लिए आत्मदर्शन किया था।''

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २३

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — १८ मई, १९४५ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — डॉ० सुरेंद्रनाथ मुखर्जी।
स्थान — होमियो हीलिंग चैंबर, हाथरस सिटी।
आलोक — डॉ० सुरेंद्रनाथ मुखर्जी कविराज महोदय के गुरुभाई थे। अपने साधनाक्रम में इन्हें शब्द से ज्योति का अनुभव होता था। इसके रहस्य ज्ञान की जिज्ञासा उन्होंने कविराजजी के पास प्रेषित एक पत्र में की थी। प्रस्तुत पत्र में उसके समाधान का प्रयास किया गया है।

विषय—शब्द, ज्योति और रूप

शब्द से ज्योति और ज्योति से रूप, दृश्य प्रभृति का अविर्भाव होता है। शब्द का आश्रय किये बिना ज्योति के राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता। हम लोगों की विकल्प, चिंता, स्मृति आदि जागतिक वृत्तियाँ और विक्षिप्तताएँ सभी अशुद्धशब्द के खेल हैं। ये अशुद्धशब्द अनंत प्रकार विकल्प के रूप में हम लोगों को घेरे हुए हैं। जब विशुद्धशब्द खुल जाता है, तब क्रमशः ये सब मलिन शब्दविकार उसमें आकृष्ट होकर ईंधन जैसे प्रदीप्त अनल में दग्ध होता है, उसी प्रकार दग्ध हो जाते हैं। शुद्धशब्द के क्रमविकास में पहले अस्पष्ट आलोक, फिर स्पष्ट आलोक, तब ज्योति की अभिव्यक्ति होती है। आलोकसत्ता की वृद्धि के साथ-साथ शब्द की सत्ता शनैः शनैः क्षीण होती जाती है। क्रमशः ऐसा भी समय आता है जब शब्द सुनने में नहीं आता, एकमात्र ज्योति ही देदीप्यमान रहती है। धीरे-धीरे ज्योति थोड़ा-थोड़ा करके हल्की हो जाती है और दृश्य का स्फुरण होता है। यह दृश्य वास्तव में ज्योति से ही गढ़ा हुआ है, मानो ज्योति ही घनीभूत होकर दृश्यरूप में परिणत हुई है। बाहर में ज्योति के कुछ हल्की न होने पर यह आभ्यंतरीण घनीभूत भाव वैचित्र्यमय दृश्यरूप में आविर्भूत हो नहीं सकता। मूर्ति, मंदिर, फल, पुष्प, उद्यान, सरोवर, पर्वतादि सभी आकारों में यह प्रकाश हो सकता है। उस अवस्था में यह सब दृश्य स्वयं ज्योतिर्मय होकर भी अपेक्षाकृत हल्की ज्योति से वेष्टित रहता है। इसके बाद दीर्घसमय के अनंतर यह सब घनीभूतरूप इतना अधिक घनीभूत होता है कि एक क्षण के लिए बाहर का सब आलोक मानो उसमें अंतर्निविष्ट हो जाता है। फिर यह सब दृश्य ठीक बाह्यजगत् की भाँति ही स्पष्टरूप से प्रस्फुटित होता है। उसको घेरकर ज्योति रहती है सही परन्तु समझ में आता है कि यह ज्योति दृश्य से ही निकल रही है। दृश्य मानो ज्योति की घनीभूतावस्था ही है। इसके अनंतर वेष्टन करनेवाली ज्योति भी क्षीण हो जाती है। क्रमशः वह लुप्त हो जाती है। उस समय अनंत आकाश में चिदानंदमय दृश्य का भान होता है। फिर आकाश भी नहीं रहता। तब एकमात्र दृश्य ही रहता है और कुछ भी नहीं। वही साधक की आत्मा है, वही पूर्ण है, वही षोडशी है। जो निराधार, अव्यक्त निराकार सत्ता, उस पूर्णत्व का द्रष्टा और प्रदर्शक है, वही गुरु है। आपाततः समझो वही सप्तदशी है। परन्तु उसके भी परावस्था है।

इस समय उसकी व्याख्या नहीं करूँगा। यही स्वप्रकाशचैतन्यावस्था है। अनंत कोटि जगत्,भूत, भविष्य, वर्तमान के सहित इस स्वप्रकाश महाचैतन्य में स्फुरित हो रहे हैं।

मैं समझता हूँ, तुमने नित्यधाम का मंदिर दर्शन किया है और माता की गोदी में विश्रामसुख का कुछ आभास पा गये हो परन्तु जब तक तुम्हारा कर्म पूर्ण न हो तब तक इस विषय में अधिक नहीं कहूँगा। प्रयोजन होने पर पीछे बताऊँगा।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २४

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — १९ मई, १९४४ ई०।
प्रापकर्त्ता — डॉ० सुरेंद्रनाथ मुखर्जी।
स्थान — होमियो हीलिंग चैंबर, हाथरस सिटी।
आलोक — पूर्ववत्।

विषय—**शब्द, ज्योति और रूप**

नाम जपते-जपते ध्वनि अथवा नाद का विकास होता है, यह तुमने अनुभव किया। नाद मूल में एक होने पर भी उसमें अनंत प्रकार-सूक्ष्म वैचित्र्य है। जैसे एक ही प्रकार के आलोक में अनंतप्रकार रूप प्रकाशित होता है, उसी प्रकार एक ही महानाद में अनंत प्रकार के खंडनाद निहित रहते हैं। महानाद का आश्रय करके समस्तसृष्टि का प्रकाश हो रहा है। केवल हम लोगों का जगत् नहीं, लोक-लोकांतर-समन्वित अनंत जगत् इसी महानाद में प्रकाशित होता है। इसका एक-एक अंश, एक-एक खंड नाद रूप में वर्णित होने योग्य है। देह का आश्रय करके असंख्य चक्र घूम रहे हैं। वस्तुतः उन सब चक्रों के आवर्तन से ही देह चैतन्यमय प्रतीत होता है। छोटे-बड़े कितने चक्र इस देह में हैं, यह नहीं कहा जा सकता। कोई भी चक्र स्थिर नहीं है। सभी अपने-अपने वेग से आवर्तन कर रहे हैं। इन सब छोटे-बड़े चक्रों के घूमने का फल है हम लोगों के चित्त में नाना प्रकार वृत्तियों का उदय। वास्तव में ये सब वृत्तियाँ अथवा मानसिक भावपुंज चक्रों के आवर्तन का फलजनित अनुभव छोड़कर और कुछ नहीं है। यही हम लोगों की जागतिक अभिज्ञता है। इन सब आवर्तनों से निरंतर तरंगात्मक शब्द उठ रहा है। जैसे एक मशीन में छोटे-बड़े नाना प्रकार चक्रों के निरंतर घूमने पर शब्द का उदय होता है, वैसे ही समझना चाहिए। ये सब शब्द ध्वन्यात्मक हैं। प्रति मंत्र का शब्द भिन्न है परन्तु मंत्र बहुसंख्यक होने के कारण सब ध्वनियाँ एक साथ श्रुतिगोचर होती हैं। इन सब ध्वनियों का अनुभव बहिर्मुख मन नहीं कर सकता अर्थात् वह इनको ध्वनिरूपेण अनुभव न करके मानसिक वृत्तिरूपेण अनुभव करता है। परन्तु वास्तव में यह सब ध्वनि ही है। जिन लोगों का लक्ष्य अंतर्मुख हो गया है वे चित्त की जल्पना-कल्पना सबको शब्दरूप से ही अनुभव करते हैं। यह है अशुद्ध शब्द का खेल। इस ध्वनि में जगत् डूबा हुआ है परन्तु समझता नहीं है। योगी का एकमात्र लक्ष्य है इन

ध्वनियों को अतिक्रम करके ऊर्ध्व में उठना। गुरुदत्त नाम अथवा मंत्र यथाविधि विन्यास करने पर उससे भी ध्वनि की प्राप्ति होती है, परन्तु यह ध्वनि विशुद्ध है। योगी अशुद्धध्वनि को शुद्ध करके अपने स्वरूप में परिणत करते हैं। अशुद्धध्वनि में ध्वनि अंश से वर्णांश का प्राधान्य रहता है। इसीलिए उसमें विकल्प का उदय होता है। यह वर्णभाग क्रमशः गल जाता है और अंत में संपूर्णरूप से ध्वनि में परिणत हो जाता है। यह ध्वनि पूर्वोक्त विशुद्ध ध्वनि में विलीन हो जाती है। उस समय एकमात्र शुद्धध्वनि ही रह जाती है। यही चैतन्यशक्ति का खेल है। नामकीर्तन अथवा मंत्रजप से इस विशुद्धध्वनि का ही विकास होता है।

परंतु ध्वनि मूल वस्तु नहीं है। यह ज्योति की बहिर्मुखक्रियाजनित अनुभूति मात्र है अर्थात् ज्योति अपने में आप विश्रांत न होकर बाहर की ओर उन्मेष प्राप्त होने पर, उसके चारों ओर अखंड ध्वनिमंडल सृष्ट होता है। यह ध्वनिमंडल बहिरुन्मेष अथवा बाह्यभाव के आधिक्य से अशुद्धध्वनि में परिणत होकर वायु के सहयोग से वर्णमाला के रूप में प्रकाशित होता है। अंतर्मुख गति से, जप और ध्यान के प्रभाव से, यह वर्णमाला गलकर अशुद्धध्वनि-भाव परिहार करके शुद्धध्वनिरूप में परिणत होती है। शुद्धध्वनि श्रवण करते-करते चित्त जब अंतर्मुख हो जाता है तब ध्वनि से ज्योति का विकास होना प्रारंभ हो जाता है। चरमावस्था में ज्योति ही रह जाती है। ध्वनि फिर सुनने में नहीं आती। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्योति के बाहर ध्वन्यात्मक शब्द और ध्वनि के बाहर वर्णात्मक शब्द विद्यमान हैं। इस वर्ण-समष्टि को लेकर बद्धजीव के भाव और भाषा का निर्माण हुआ है।

चक्षु निमीलित करने से जिस अंधकार का भान (दृष्टि के साथ संबंध) होता है, वह अविद्या का स्वरूप है। चक्षु बंद करने पर वह जैसा रहता है, न बंद करने पर भी वैसा ही रहता है। किन्तु लक्ष्य बहिर्मुख रहने से बाह्यप्रकाश, प्रकाशमान होता है, इसीलिए वह व्यापक अंधकार देखने में नहीं आता, फिर भी वह रहता है, समाप्त नहीं होता। उसको दूर करने का एकमात्र उपाय है—शुद्ध शब्द के प्रभाव से ज्योति का विकास। इसकी अवस्थिति हो जाने पर पूर्वोक्त अंधकार अनंतकाल के लिए तिरोहित हो जाता है।

ज्योति में स्थितिलाभ कर सकने पर और आविर्भूत न होने पर, उसके भीतरी रूप का आविर्भाव होता है, यह स्पष्ट ही दिखायी देता है। इस ज्योति के साथ रूप का संबंध दो भाव से उपलब्धिगोचर होता है—पहले समझ में आता है मानो ज्योति ही भिन्न-भिन्न स्थान में घनीभूत होकर ज्योतिर्मय दृश्यरूप में परिणत हो गयी हो, जैसे समुद्र का जल स्थान-स्थान में जमकर बर्फ के पहाड़ के रूप में परिणत होता है, ठीक उसी प्रकार। इसके बाद एक अवस्था और आती है। अब समझ में आता है कि ज्योति घनीभूत हो गयी है, रूप नहीं है, परन्तु रूप से ही चारों ओर ज्योति विकीर्ण हो रही है। यह अत्यंत उच्चावस्था है। ज्योति के भीतर इच्छा के खेल के अनुसार इस रूप का विकास संभव होता है। जिस साधक की इच्छाशक्ति ज्योति में प्रवेश करके अस्तमित हो जाती है, वह इस महाज्योति में डूब जाता है, ज्योति से उठ नहीं सकता। वह अपनी सत्ता का पृथक् रूप से अनुभव भी नहीं कर सकता। इसीलिए उसके उठने की संभावना नहीं रहती। परन्तु सद्गुरु अथवा भगवान् उस महाज्योति के कारागार से उद्धार करके उसको अपने चरण में ले आ सकते हैं। पहले जिस अवस्था की बात कही गयी है, उसके भी परावस्था है। उस समय रूप केवल रूप ही

रहता है। उससे आलोक का निर्गम नहीं होता। उसको देखने के लिए आलोक की आवश्यकता नहीं होती। वह रूप स्वयं-प्रकाश है। उसमें शब्द प्रवेश नहीं कर सकता, ज्योति भी प्रवेश नहीं कर सकती। यही निजधाम का क्षीण आभास है। इस तत्व को मैंने संक्षेप में समझाया, शेष तुम समझ लेना।

नाम से शब्द उद्‌बुद्ध होता है, यह सत्य है, कर्म से जगता है, यह भी सत्य है, क्योंकि शब्द चैतन्य है। तीव्र आघात प्राप्त होने पर ही उसका स्फुरण होता है। वास्तव में शब्द सवर्दा जाग्रत् है। जिसके चित्त में ध्वनि नित्य जाग्रत्‌रूप से वर्तमान नहीं है, उसके लिए काम के प्रभाव से उस ध्वनि का प्राप्त होना संभव नहीं। केवल काम क्यों? तीव्र क्रोध अथवा इस प्रकार की किसी अन्य उग्र प्रवृत्ति के प्रभाव से भी ध्वनि जागती है, जिससे क्षोभ उत्पन्न होता है। उससे ही यह जाग्रतनाद साधक के अंतर में अपने को प्रकाशित करता है। वस्तुतः यह विचित्र कारण, अर्थात् कामादि के प्रभाव से ध्वनि का उन्मेष, अंतःप्रकृति और बहिःप्रकृति से संघर्ष का निदर्शनमात्र है। जिसकी अंतःप्रकृति बहिर्मुख है, वह इस प्रकार की ध्वनि उस अवस्था में उपलब्ध नहीं करता। पक्षांतर में जिसकी प्रकृति अंतरोन्मुख है, वह भी इस प्रकार की ध्वनि उपलब्ध नहीं करता। बहिःप्रकृति अंतरोन्मुख होने पर और अंतःप्रकृति तदनुरूप रहने पर जिस ध्वनि की प्राप्ति होती है, उसे स्वाभाविक क्रम से मूलस्थान तक पहुँचाया जाता है। ध्वनि-ध्वनि में भेद है, यह सत्य है। वास्तव में प्रत्येक स्वर की ध्वनि ही पृथक् है।

इस स्थान में अधिक लिखना ठीक नहीं।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २५

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — २८ जुलाई, १९४५ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — प्राणगोपाल मुखर्जी।
आलोक — प्राणगोपाल मुखर्जी देवधर (बिहार) के निवासी और उच्चकोटि के साधक थे। ये देवधर के बालानंद ब्रह्मचारी के शिष्य थे और पूर्वी भारत की विभूति माने जाते थे। अपने लौकिक जीवन में ये कई वर्षों तक भारत के पोस्ट मास्टर जनरल रहे थे। माँ आनंदमयी को बाह्य जगत् में लाने का श्रेय इन्हीं को है। उनकी जिज्ञासा निवृत्ति के हेतु लिखे गये इस पत्र में जपसाधना का कौशल एवं महत्व वर्णित है।

विषय—**जपयोग**

प्रिय,

वाचिकजप से उपांशुजप श्रेष्ठ है और उपांशुजप से मानसजप श्रेष्ठ है, यह बात शास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध है। वाचिकजप में बाह्यवायु के साथ संबंध अधिक रहता है, परन्तु उपांशुजप

में यह संबंध प्राय: छिन्न हो जाता है, फिर भी कुछ रह जाता है। यथार्थ मानसजप में बाह्यवायु का संबंध एक प्रकार से नहीं रहता। बाह्यवायु के प्रभाव से ही चित्त विक्षिप्त हो जाता है। अतएव जिस मात्रा से यह प्रभाव कम होता जाता है, उसी मात्रा के अनुसार विक्षेप भी कम होने लगता है। वाचिकजप से मानसिकजप में एकाग्रता अधिक आवश्यक होती है। इसी कारण से मानसिकजप का उत्कर्ष समझ में आता है। वाचिकजप से श्वास-प्रश्वास की गति मंद हो जाती है। श्वास की गति ह्रास हो जाने के साथ-साथ बिना चेष्टा या प्रयत्न के ही वाचिकजप उपांशुजप में परिणत हो जाता है। श्वास-प्रश्वास की गति एकांतरूप से क्षीण होने पर बिना चेष्टा उपांशुजप मानसजप में परिणत होता है। उस समय बाह्यवायु की क्रिया स्तंभितप्राय होती है, अर्थात् इड़ापिंगला नाड़ियों की क्रिया प्राय: शांत हो जाती है। जप के क्रम में जिस शक्ति का संचार अब तक इड़ा-पिंगला मार्ग में हो रहा था, उसका प्रवेश सुषुम्ना में हो जाता है। अतएव इस समय तक जो शब्द बाहर में उच्चरित हो रहा था उसका प्रवेश सुषुम्ना में हो जाता है। सुषुम्ना में शक्ति के अन्त:प्रवेश के साथ ही साथ, अर्थात् मध्यमा में वायु का प्रवेश होन पर, वह भीतर उच्चरित होने लगता है। किन्तु यह बाह्य और आभ्यंतर उच्चारण ठीक प्रकार का नहीं है। बाह्य उच्चारण बाह्यवायु की सहायता से संपन्न होता है। यह वायु इड़ा-पिंगला मार्ग में संचरण करती है। परन्तु आभ्यंतरीण उच्चारण भीतर की वायु से सिद्ध होता है, यह वायु सुषुम्ना मार्ग में प्रवाहित होता है। बाह्यवायु स्थूल है, भीतर की वायु सूक्ष्म है। सुषुम्ना में वायु की ऊर्ध्वगति होने पर यथार्थ मानसिक जप हो नहीं सकता। बाह्य वायु को इच्छाशक्ति द्वारा चालित करके ध्वनिरूप में परिणत करना पड़ता है, परन्तु सुषुम्नास्थित वायु सर्वदा ऊर्ध्वगमनशील होने के कारण वहाँ निरवच्छिन्नरूप से ध्वनि उठती रहती है। सुषुम्ना निरंतर शब्दमय है। यह शब्द नादरूप है, उसके साथ कुंडलिनी का घनिष्ठ संबंध है। दीर्घकाल तक बाह्यजप के अनुष्ठान से जब सुषुम्ना में किंचित् प्रवेश होता है, तब प्रवृत्त बाह्यजप का संस्कार, सुषुम्ना को रंजित करता है। उससे अनवच्छिन्ननाद साधक को बाह्यजप के अनुरूप ध्वनि रूप में परिणत होकर श्रुति-गोचर होता है। उस अवस्था में मंत्रजप भीतर से अपने आप होने लगता है, चेष्टा की आवश्यकता नहीं रहती। यह वस्तुत: अजपा की ही एक अवस्था है। प्रचलित मानसिक जप से इस जप का किसी अंश में भेद है क्योंकि प्रचलितजप में साधक की चेष्टा रहती है, किन्तु इस प्रकार के मानसिकजप में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं रहती।

वैखरी से मध्यमा, मध्यमा से पश्यंती और पश्यंती से परा—यही स्वाभाविक क्रम है। वाचिक और उपांशुजप दोनों ही वैखरी में होता है, परन्तु मानसिकजप मध्यमा छोड़कर हो नहीं सकता। वैखरी में शब्द और अर्थ का पार्थक्य विद्यमान रहता है। परन्तु मध्यमा में शब्द और अर्थ का परस्पर सांकर्य रहता है। पश्यंती अवस्था में शब्द और अर्थ एक सत्ता में परिणत हो जाते हैं। यही है चैतन्य का स्फुरण, आत्मसाक्षात्कार, मंत्रसिद्धि, इष्टदर्शन और अपरोक्ष दर्शन। यह सब पश्यंती अवस्था का ही व्यापार है। परावस्था अव्यक्त है, मध्यमावस्था में ही शब्द से ज्योति का आविर्भाव आरंभ होता है। हृदय का संचित अंधकार मध्यमानाद के समय ही विगलित होने लगता है। वैखरी और पश्यंती की अंतरालावस्था में

बाह्य दृश्यजगत् तिरोहित होकर स्वच्छ आलोक से आलोकित भावमय एक अनंत जागत्रूप में हो जाता है। इस जगत् के उपसंहार के साथ-साथ वह व्यापक आलोक और उससे आलोकित अनंत दृश्य विशुद्ध ज्योतिरूप में परिणत होता है। यही आत्मज्योति है। यह पश्यंतीवाक् की अवस्था है। इस ज्योति में डूबकर अपने को लीन होने न दे सकने पर, ज्योति के भीतर आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाता है। इसके भी परावस्था है। यहाँ उसका वर्णन अनावश्यक है। वर्णात्मक शब्द से ध्वन्यात्मक में प्रवेश करना पड़ता है, नहीं तो योगमार्ग नहीं मिलता। ध्वन्यात्मक शब्द ही नाद है। जब तक वर्णरूपी शब्द विगलित होकर वैचित्र्यपरिहार न करेगा तब तक नादरूपी शब्द की उपलब्धि नहीं होगी। बिना नाद की प्राप्ति के बिन्दु की उपलब्धि कैसी होगी ? रेखा जैसे गतिहीन होने पर बिन्दुरूप धारण करती है, नाद भी उसी प्रकार प्रवाहहीन होने पर बिन्दुरूप में परिणत होता है। यह बिन्दु ही पूर्ववर्णित ज्योति है। आत्मस्वरूप का यही अभिव्यंजक है।

शास्त्र और महापुरुषों के अनुभव से जप के रहस्य बहुत प्रकार से जाने जा सकते हैं, परन्तु इन रहस्यों के विश्लेषण से कोई विशेष लाभ नहीं होता। क्योंकि साधक का चित्त जब तक कृत्रिम उपाय से हटकर अकृत्रिम स्वभावसिद्ध उपाय का अवलंबन न करेगा तब तक वास्तव में विशेष लाभ की संभावना नहीं है। जब सद्गुरु कुंडलिनी शक्ति को जगाकर शिष्य के अधिकार के अनुसार किसी न किसी प्रकार से उसे दीक्षा प्रदान करते हैं तब उस दीक्षाप्रदान-व्यापार के साथ ही साथ जो विशुद्धाज्ञानमय काय अभिव्यक्त होने लगता है वह गुरुदत्तकाय ही वस्तुतः शिष्य का स्वदेह है। बीज अंकुरित होकर जैसे वृक्षरूप में परिणत होता है और यथासमय जैसे उसमें फल का आविर्भाव होता है उसी प्रकार गुरुदत्तबीज शिष्य के हृदयरूप क्षेत्र में यथाविधि पतित होकर जब अंकुरित होने लगता है तब चाहे शीघ्र हो या देर में — ज्ञानरूपदेह उत्पन्न अवश्य ही होगा। बाहर से केवल परिकर्म की आवश्यकता रहती है। गुरुदत्त बीज गुरुशक्ति या चैतन्यशक्ति के प्रभाव से शिष्य के क्षेत्र में पड़ने पर अपने आप ही विकसित होने लगता है। शिष्यकृत साधना, परिकर्मरूप से प्रतिबंधक हटाकर, उसकी अभिव्यक्ति में सहायता देती है। शिष्य की सब क्रियाएँ गुरुदत्त अथवा गुरु से अभिव्यंजित चैतन्यशक्ति की सहायता से संपन्न होती हैं। यही स्वाभाविक साधन है। कर्तृत्वाभिमानशील जीव उस साधन को कर नहीं सकते क्योंकि देहाभिमान से अतीत शुद्धचैतन्यशक्ति अथवा गुरुशक्ति अपने स्वभाव से उसका संपादन करती है। इस अवस्था में जो जपादि होता है, वह प्रचलित जपादि से किंचित् विशिष्ट है। वस्तुतः यह अजपा का ही खेल है, क्योंकि इसका मूल स्थूलदेही जीव नहीं है। परन्तु प्राकृतिक प्रभाव से जिस प्रकार वह चलता है एवं क्रमशः जिन अवस्थाओं का उद्‌भव होता है, साक्षी होकर जीव उनका अनुभव कर सकता है।

कुंडलिनीशक्ति के न जगाने से साधन का यह स्वाभाविक मार्ग आयत्त नहीं हो सकता। गुरु दीक्षाकाल में शिष्य को चैतन्यशक्ति का आभास मात्र देकर उसको साधना प्रणाली का उपदेश करते हैं। शिष्य को अपने पुरुषकार या चेष्टा के द्वारा साधन करना पड़ता है। दीर्घ समय तक साधना के प्रभाव से कुंडलिनीशक्ति जाग्रत् होकर साधक को विशुद्धचैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित करती है। उस अवस्था में जपादि किसी प्रकार का साधन चेष्टापूर्वक करना नहीं

पड़ता। केवल प्राकृतिक शक्ति के द्वारा अर्थात् पुरुष के निरपेक्ष स्वभाव के द्वारा वह निष्पन्न होता है। साधन करते-करते चैतन्य का विकास सिद्ध होने पर साधना का प्रयोजन नहीं रहता, तब आभासरूपीचैतन्य विशुद्धचैतन्यरूप में आत्मप्रकाश करता है। इस प्रकार साधक विभिन्न प्रकार कौशल अवलंबन करके वैखरीभूमि से पश्यंतीभूमि पर्यंत अग्रसर होते हैं।

जो साधक गुरु से शुद्धचैतन्य शक्ति अर्थात् कुंडलिनी का जागरण अथवा चैतन्य का आभास प्राप्त नहीं होते हैं वे चैतन्यशक्ति से संबंधहीन रहते हैं। इसी कारण से यथार्थ योगी अथवा साधक को किसी श्रेणी के अंतर्गत नहीं जाना जा सकता। फिर भी यह सत्य है कि तीव्र संवेग, उत्कट इच्छा, वैराग्य और भगवद्भक्ति के प्रभाव से ये भी चैतन्यशक्ति या उसके आभास की सहायता प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि विश्व-गुरु समस्त जगत् के उद्धार की कामना से सर्वदा ही नित्य सन्निहित रहता है। तीव्र व्याकुलता रहने पर, आधार की और किसी प्रकार की अयोग्यता रहने पर भी, साक्षात्‌रूप से न होने पर भी, परंपरा से गुरुकृपा अवश्यंभावी है। परन्तु जब तक चैतन्य का संस्पर्श नहीं होता तब तक इनके यथार्थ सफलताप्राप्ति की आशा नहीं रहती।

जप के कौशल के विषय में यदि कुछ जिज्ञासा रही तो समयांतर में आलोचना की जायेगी।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २६

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, बनारस।
दिनांक — १ सितंबर, १९५४ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — सतीशचन्द्र सेन गुप्त, कलकत्ता।
आलोक — सेनगुप्त महाशय कलकत्ता के किसी कॉलेज में प्रधानाचार्य हैं। इन्होंने अपने एक पत्र में कविराजजी से जीव के कर्तृत्वभाव को लेकर तत्वज्ञान संबंधी कुछ प्रश्न किये थे। यह पत्र उसी के उत्तररूप में लिखा गया है।

विषय—**कर्ता कौन है ?**

आपका पोस्टकार्ड अभी मिला। इसके पहले भी आपका एक पत्र आया था। विभिन्न कार्यों में व्यापृत रहने के कारण उत्तर नहीं दे सका। आपको पत्र लिखने का प्रयत्न कर रहा था उसी समय आपका द्वितीय पत्र मिल गया। मेरे अनिच्छापूर्वक विलंब के लिए आप क्षमा कीजिएगा।

आपका प्रश्न है 'हू ऐक्ट्स ? आई (विद अदर्स) ऑर ही ?' [कर्ता कौन है ? मैं (अन्यों के साथ) अथवा वह ?]। इसके उत्तर में मैं कहता हूँ कि दोनों बातें सत्य हैं। फिर भी यथार्थ सत्य जो है वह इन दोनों से अतीत है। जब तब अहंकार है और कर्तृत्वाभिमान है

अर्थात् जब तक मलिन देहात्मबोध है तब तक मैं ही कर्ता हूँ, यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी। जैसे कर्म का कर्ता मैं हूँ उसी प्रकार उस कर्म के सुख-दुःखरूप फल का भोक्ता भी मैं ही हूँ। इस अवस्था का नाम है बद्धावस्था या संसारावस्था। साधारण जीव इस अवस्था में रहकर ही निरंतर जन्म-मृत्यु के प्रभाव से चल रहा है।

जब अहंकार की निवृत्ति होती है और किसी कर्म का कर्तृत्वाभिमान अपने में नहीं रहता, तब कर्म के लिए 'मैं' उत्तरदायी भी नहीं रहता। यह अवस्था ज्ञान के उदय के समयकाल में हो जाती है। इस अवस्था में अपना कर्तृत्व नहीं रहता। इसीलिए वस्तुतः वह कर्मफल का भोक्ता भी नहीं रहता। यह ठीक संसारावस्था नहीं है। देहावस्था में इस प्रकार का स्थितिलाभ करने पर इससे क्रमशः जीवन्मुक्ति की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था में जीव के साधनसंस्कारानुसार विभिन्न प्रकार की अवांतर अवस्थाएँ हो सकती हैं। प्रकृति के गुणों से सब प्रकार के कर्म क्रियमाण होते हैं। यह हुई एक दृष्टि। यह विवेकज्ञान की दृष्टि है। जब तक अविवेक रहता है तब तक देह के साथ विशुद्ध अहंतत्व का एक तादात्म्यबोध रहता है। अविवेक कट जाने पर स्पष्ट समझ में आता है कि मैं वस्तुतः कुछ नहीं करता हूँ, करने का अभिमान मात्र मुझमें होता है। गुणमयी प्रकृति ही सब कुछ करती है।

इसको छोड़कर और एक स्थिति है। इस समय विचार में ऐसा आता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ, सब कुछ वे ही करते हैं। वे कौन हैं? जो कि प्रकृति का अधिष्ठाता अर्थात् त्रिगुण का संचालक साक्षात् परमात्मा है। यह ही ज्ञान-मिश्र-भक्ति की अवस्था है। इसके अनंतर और भी एक स्थिति है। उस समय भक्ति के विकास के साथ समझ में आता है कि परमात्मा ही सब कुछ करते हैं। यह ठीक नहीं है, वह कराते हैं और उनके द्वारा प्रेरित होकर मैं करता हूँ। परमात्मा प्रयोजक हैं, मैं प्रयुज्य हूँ। वह जैसे नचाता है, मैं ठीक-ठीक उसी प्रकार नाचता हूँ। वही इस भवनाट्य का सूत्रधार है। इस स्थिति में भक्ति और ज्ञान दोनों का विकास अधिक है। त्रिगुणमयी प्रकृति उनमें अधिष्ठित होकर कार्य करती है, साथ ही साथ शुद्धप्रकृति भी करती है। शुद्धप्रकृति के कार्य से समग्र संसार तब एक विचित्र अभिनवरूप में प्रतीतिगोचर होता है। सुख-दुःख का उदय तब भी होता है परन्तु वह वास्तव में सुख-दुःखरूप में नहीं, भिन्न-भिन्न प्रकार के रस के आकार में। यही लीलारस का आस्वादन है। ज्ञानीभक्त देह में अवस्थान करते हुए भी इस रस का आस्वादन कर सकते हैं। क्योंकि इस अवस्था में साधक में यथार्थ मलिन देह के अंतराल में विशुद्ध सत्वमय निर्मल देह का प्रकाश होता है। उस स्थिति का विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

इसके बाद और भी एक स्थिति है। इस समय साधक समझ सकते हैं 'मैं कर्ता नहीं हूँ, प्रकृति में भी कर्तृत्व नहीं है, भगवान् भी कर्ता नहीं है और वे कारयिता अथवा सूत्रधार भी नहीं हैं, फिर भी कर्म हो रहा है।' यह विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि है।

कर्म करता है कौन? इस प्रश्न का उत्तर यह है 'कोई नहीं करता है, फिर भी कर्म अपने आप होता है। इसका नाम है स्वभाव। स्वभाव से कर्म होता है। इस अवस्था में कर्म-अकर्म दोनों में कोई पार्थक्य नहीं रहता। इसके अनंतर ऐसी एक निगूढ़ स्थिति है जो मानवीय

भाषा के अगोचर है। अतएव उसकी आलोचना की चेष्टा व्यर्थ है।' संक्षेप में आपके प्रश्न का उत्तर मैंने दिया। यदि किसी अंश में अस्पष्टता मालूम हो तो अपनी शक्ति के अनुसार फिर स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। पूर्वोक्त विवरण से आप समझ सकेंगे कि आपके प्रश्न के विभिन्न उत्तर हो सकते हैं और प्रश्नकर्ता की स्थिति के अनुसार प्रत्येक का उत्तर ही सत्य है। आपाततः विभिन्न दृष्टियों में विरोध की प्रतीति देखने पर भी वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या २७

प्रेषक — बाबा सीतारामदास ओंकारनाथ।
स्थान — ओंकार मठ, ओंकारेश्वर, मानधाता (मध्यप्रदेश)।
दिनांक — १३, १२, १३६२ बंगाब्द (१९५६ ई०)।
आलोक — इस पत्र के लेखनकाल में बाबाजी ओंकारेश्वर में नर्मदा तट पर मौनव्रत धारण कर साधनारत थे।

नमोनारायण,

आपके द्वारा संपादित 'विशुद्धवाणी' के कई एक खंडों को पढ़कर कृतार्थ हो गया हूँ। जो लोग साधन-मनन लेकर जीवन बितायेंगे, उनके लिए इन सब ग्रंथों की उपकारिता भाषा द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती। साधकमात्र की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान 'विशुद्धवाणी' पढ़ने से होगा। इससे साधक नूतन उद्यम लेकर परमानंदलाभ के लिए अग्रसर होंगे, इसमें संशय नहीं है।

पूज्यपाद श्री परमहंस महाराज के दर्शनलाभ का सौभाग्य मुझे नहीं हुआ। और लोगों से इनकी शक्तियों तथा बहुत-सी विभूतियों के विषय में सुना था। कटक के श्रीमत् चिंतामणि आचार्य महाशय के हाथ में परमहंस बाबा का दिया हुआ सूर्य-विज्ञान से निर्मित अंगीयक (अंटी) और उनकी पत्नी के हाथ में एक स्वर्णालंकार मैंने देखा था। 'विशुद्धवाणी' में बाबाजी की बहुत-सी विभूतियों की बात पढ़ने में आयी। शास्त्र में अनुभूति की बातें बहुत मिलती हैं परन्तु जब तक किसी महापुरुष के वाक्यों के साथ साधना की अनुभूति का ठीक-ठीक मेल न हो तब तक साधन स्थिर रह नहीं सकता। 'विशुद्धवाणी' में आपके लिखे सब लेख साधकों के लिए आनंदप्रद होंगे। तृतीय भाग में 'विहंगम योग और महापथ', चतुर्थ भाग में कई एक छिन्न पत्र और 'सिद्धपुरुष' में सब लेख आपके लिखे हुए हैं। उनको पढ़कर मेरा बहुत उपकार हुआ। मालूम होने लगा कि श्री गुरुदेव की कृपा मूर्त होकर आपके प्रबंधरूप में उपस्थित हुई और हम लोगों का गंतव्य मार्ग आलोकित कर दिया। आपके उपकार का प्रतिदान देने के लिए इस दीन के पास कुछ है नहीं। श्री गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि आप परमानंद में सुव्यवस्थित हो जायें।

सीतारामदास ओंकारनाथ

पत्र-संख्या २८

प्रेषक — श्री सीतारामदास ओंकारनाथ।
दिनांक — १ वैशाख, १३६३ बंगाब्द (१९५६ ई०)।
स्थान — ओंकार मठ, ओंकारेश्वर, मानधाता (मध्यप्रदेश)।
आलोक — पूर्ववत्।

बाबा (परमहंस विशुद्धानंद) का जीवन चरित, तत्व-कथा आदि सब हमने पढ़ा। इस प्रकार महायोगी का विवरण और कभी हमने नहीं देखा। भाग्य में नहीं था इसीलिए परमहंस बाबा के दर्शन से वंचित हो गया हूँ, फिर भी हम लोगों के ऊपर उनकी परम कृपा अवस्थित हुई है। जिस समय मुझे पुरीधाम में श्री नामप्रचार का आदेश प्राप्त हुआ था उस दिन बाबा पुरी में ही थे। उनकी मृत्युलीला संवरण के दिन मैं कलकत्ता में हरीश मुखर्जी रोड में महामंत्र प्रचार कर रहा था। आपके द्वारा लिखी हुई बाबाजी की जीवनी से तारीख देखकर हमें इस बात का पता चला। जीव का अंतिम कर्तव्य है तारक-ब्रह्मनाम-कीर्तन करना। इसकी शिक्षा बाबाजी ने सबको दी थी। अंतिम समय में उनके शक्तिसंचारयुक्त तारक ब्रह्मनाम ने हम लोगों को बहुत शक्ति-दान किया है। आज १९ वर्ष तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में उनका शक्ति-संचारित ब्रह्मनाम असंख्य नर-नारी को परमानंद दान कर रहा है। बालक, वृद्ध, युवक, युवती नामकीर्तन में मत्त हो उठे। बाबा के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम है। बाबा की कृपा से 'विशुद्धवाणी' का बहुत प्रचार हो। सच्चे मार्ग पर जाने की इच्छावाले नरनारी मार्गप्राप्त होकर आनंद में अग्रसर हों और सिद्धिलाभ करें।

सीतारामदास ओंकारनाथ

पत्र-संख्या २९

प्रेषक — एक विशिष्ट महात्मा।
दिनांक — ८ भाद, १३६३ बंगाब्द (१९५६ ई०)।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी।

विषय—**साधक-जीवन का विकास**

महात्मन्,

आप कैसे हैं? प्रणाम जानियेगा। '—' की भूमिका पढ़कर प्राण भर गया। यह समस्त अश्रुतपूर्व विवरण पढ़कर मालूम होता है '—' देह है और आपके द्वारा लिखी हुई भूमिका उसकी आत्मा। इतने दिन बाद एक बड़े चिकित्सक का पता चला। कुछ रोग की बात निवेदन कर रहा हूँ। परन्तु रोगी स्वेच्छाचारी है, मनोमुखी है। दिन रात 'जय गुरु' 'ॐ गुरु' की नादध्वनि उसके भीतर चलती रहती है। इस स्थिति में औषध खा सकेंगे कि नहीं, बता नहीं सकता।

अनेक वर्षों से इस देह को लेकर श्री गुरुदेव खेल कर रहे हैं। जब मेरी आयु ५-६ वर्ष की थी एक दिन बाबा के पास लेटे हुए थे। घर में अंधकार था। मैंने देखा, शिव जी

पैर की तरफ खड़े हुए हैं। बाबा से कहा, 'देखो शिवजी हैं, देखो!' परन्तु बाबा के देखने में नहीं आया। शिवजी अंतर्हित हो गये। कुछ दिनों के बाद यह बात भूल गयी। इसके अनंतर १३२४ (बंगाब्द) की बात है। तब मेरी अवस्था २६ वर्ष की थी। व्याकरण की शिक्षा समाप्त कर———में पं०———चक्रवर्ती के टोल में वेदांत पढ़ने गया। हृदय में यह आकांक्षा थी कि एक दुःखशून्य अवस्था प्राप्त करें। इस समय मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। छाती के भीतर श्वास लेते समय घरघराहट का शब्द होता था। निरंतर ज्वर रहता था। प्लीहा भी थी। नाना प्रकार के रोगों का आक्रमण था। मन में आया, कदाचित् मृत्युकाल उपस्थित है। इस स्थिति में भी नित्य प्रातः, मध्याह्न, संध्या तथा अर्द्धरात्रि में चार बार बैठकर श्वास-प्रश्वास में 'ॐ गुरु' का जप करते थे। मेरी दीक्षा हुई थी राममंत्र में, परन्तु 'ॐ गुरु' मंत्र का जप क्यों करते थे, कह नहीं सकता।

गंगातट पर एक मकान था। उसकी पहली मंजिल के एक कमरे में मेरे साथ दो विद्यार्थी और रहते थे। अन्य दोनों साथियों के सो जाने पर रात्रि को बारह बजे से मैं पद्मासन होकर जप करता था। भाव यह था कि मृत्यु जब निकट में है तब भगवान् का नाम जपते-जपते प्राण छोड़ें। यह समझ कर मरने की तैयारी करते थे। १३२४ ई० (बंगाब्द) के पौष की एक रात्रि में यथानियम जप करने के बाद बद्ध-पद्मासन होकर जिस समय मैं आँखें बंद करके हृदय में ध्यान कर रहा था, उस समय देखने में आया कि दक्षिण हाथ में त्रिशूल और वामहस्त में डमरू लिए पंचमुख शिव सामने उपस्थित हैं। मैंने पूछा, 'आप कौन हैं?' वे बोले, 'मैं तेरा गुरु हूँ। तुम्हारी बाल्यावस्था में मैंने एक बार दर्शन दिया था। किन्तु तुम पहचान नहीं सके। फिर आया हूँ।' मैंने कहा, 'अगर आप गुरु हैं तो मेरे इष्टदेव का दर्शन कराइये।' यह सुनकर वे पंचमुखों से गुरुदत्त इष्टनाम का उच्चारण करने लगे। उस समय उनके स्कंध से एक नारी मूर्ति उतर कर सामने खड़ी हो गयी। मैंने उससे पूछा, 'आप कौन हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हारी माँ हूँ।' मैंने उनसे कहा, 'माँ! मुझे इष्टदर्शन कराओ।' इसके पश्चात् उनकी कृपा से मुझे अपने स्थूलशरीर के भीतर स्थित देह (स्वरूप देह) के दर्शन हुए। माँ इस नवीनदेह को अपनी गोद में लेकर बैठ गयीं और मेरे गुरुदत्त इष्टमंत्र को उसी के कान में सुनाती रहीं। शिव जी भी प्रसन्नमुद्रा में नाचते-नाचते उसी का जप करने लगे। कुछ समय बाद इष्टमंत्र का यह जप स्थगित हो गया। भीतर से केवल 'राम-राम' उच्चारण होने लगा। शनैः शनैः वह भी बन्द हो गया। फिर 'ॐ ॐ' की ध्वनि निकलने लगी। क्रमशः वह भी समाप्त हो गयी। फिर भीतर से सर्पगर्जन की भाँति कुंडलिनी का स्वर इतने जोर से होने लगा कि मुझे आशंका हुई कि उससे साथियों की निद्रा न टूट जाय। कुछ देर में आँख ऊपर की ओर उठकर भ्रूमध्य में स्थिर हो गयी। उस समय देख पड़ा कि वृत्ताकर ज्योति सामने है। चार घंटे इसी में बीत गये।

सबेरे आँख और मुख की अवस्था देखकर सब लोग समझने लगे कि मेरा माथा फिर गया है। अध्यापक महाशय से आदेश लेकर मैं गुरुदेव के पास गया। रात्रि के समय एकांत में पदसेवा करते हुए सब बातें निवेदित कीं। उस समय फिर भीतर से सर्पगर्जन की भाँति का स्वर अनुभव होने लगा। आँखें भ्रूमध्य में स्थिर हो गयीं। गुरुदेव ने आशीर्वाद देते हुए कहा, 'किसी प्रकार की चिंता न करो। तुमने परम गुरुदेव का दार्शन पाया है। सब ठीक

हो जायगा।' इसके बाद मैं पूर्वस्थान (—) को लौट गया। वहाँ फिर एक दिन मैंने देखा कि शिव मेरे भ्रूमध्य में नृत्य कर रहे हैं। उस क्षण में आप ही आप कितने प्रकार की आसन-मुद्राएँ होने लगीं। इसका प्रकाश होने पर सब लोग मुझे पागल कहने लगे।

इसके बाद एक पर्व (सरस्वती पूजा) के दिन गुरु के स्थान में पूजा करने की इच्छा लेकर गया। गुरुदेव उस समय बाहर गये थे। पूजा का भार हमीं लोगों पर था। मैं अपनी कोठरी का द्वार बंद करके प्रात:काल जप कर रहा था। मैंने देखा कि ऊपर से एक साधुमूर्ति अवतरण कर रही है। सोचा, 'ये कौन है? क्यों आ रहे हैं? दूसरे ही क्षण मेरे दोनों चक्षु अश्रु से भर गये और भीतर से कातरभाव से उच्चारण हुआ 'माँ! मुझे कभी मुक्ति न देना।' ध्यान टूट गया। यह क्या व्यापार है? जानने का औत्सुक्य हुआ। पता चला कि जिस महात्मा का स्वरूपदर्शन हुआ था, वे मेरे जन्म के पाँच-छ: वर्ष पहले दिवंगत हुए थे। रात्रि में जब गुरुदेव आश्रम को लौट आये तब मैंने कहा, 'क्या मेरा माथा खराब हो गया है?' वे बोले, 'ऐसा क्यों कहते हो?' मैंने जो कुछ देखा था कह सुनाया। शनै: शनै मुझे स्वयं भीतर से भान होने लगा और यह धारण दृढ़ हो गयी कि भगवान् का दर्शन मिलेगा। इसीलिए उनके आने का पथ देखता रहा और गान गाता रहा।

इस घटना के पश्चात् मैं ठाकुर जी के एक उत्सव में उपस्थित हुआ। उस समय मेरे मन में एक विशिष्ट भगवद्वचन (यदा यदा हि धर्मस्य) उदित होने लगा। दूसरे दिन मैं गुरु जी के पास गया। उस समय वहाँ मेरे अतिरिक्त तीन व्यक्ति और थे। हम लोग बैठ गये। सहसा मेरा हाथ ऊपर की ओर उठा। उससे भगवद्भाव का प्रकाश हो रहा था। गुरुदेव इस विचित्र घटना से अभिभूत हो गये। मेरी यह स्थिति दो-तीन दिन तक रही। उस समय मुझे चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश देखने में आया। जीवमात्र में अभेद-दर्शन होने लगा। इस भावावेश में मैंने कुत्ते के साथ भी बैठकर भोजन किया था। तब मन में संकल्प उठा, 'अब संसार को त्याग करना नहीं होगा।' किसी विशिष्ट पंडित ने गुरुदेव से कहा कि मेरा यह भाव स्थायी नहीं होगा किन्तु गुरुदेव ने इसके संबंध में अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया।

कुछ महीनों के बाद मेरा शरीर अस्वस्थ हुआ। परिवार में भी कुछ व्यक्तियों का रोग से देहांत हो गया। कालांतर में स्वस्थ हुआ, तब देखा कि वह भाव छूट गया। फिर चित्त में दु:ख का उदय होने लगा। तब गुरु का आदेश हुआ कि किसी योगी के पास जाकर उपदेश ले लो। निकट में एक महायोगी थे। उनके पास जाकर अपनी स्थिति का निवेदन किया। वे बोले, 'मैं अगर तुमको उपदेश दूँ तो तुम्हारी चित्त-वृत्ति का निरोध हो जायगा। तब तुम्हारे घर में जो परिवार है, उसकी देखभाल कौन करेगा?' यह सोचकर उन्होंने मुझे उपदेश नहीं दिया। फिर भी योग की कुछ क्रियाएँ बता दीं, जिससे नाद का आविर्भाव होन लगा। मैं पुन: उनके पास गया और पथ-प्रदर्शन की प्रार्थना की। उन्होंने पूछा, 'तुम किस वर्ण के हो?' मैंने कहा, 'ब्राह्मण हूँ।' कुछ देर विचार कर वे बोले, 'समाधि लग जायगी।' उन्होंने इसके लिए मुझे सिद्धासन सिखा दिया। उनके आदेशानुसार कुछ समय तक उसका अभ्यास किया। मैंने अनुभव किया कि भीतर में नाद चल रहा है। उस समय किसी वस्तु में मन नहीं लगता था।

उसके कुछ वर्षों बाद गुरुदेव को निमोनिया हुआ। उसके प्रकोप से वे बेहोश हो गये।

मैं उनके पास उपस्थित था। यह अज्ञानावस्था दो दिन तक रही। संज्ञालाभ करने पर उन्होंने बताया, 'मैं उस दशा में एक अपूर्व देश में गया था। वहाँ देखा, सब महापुरुष एकत्र हो गये हैं। समारोह का उद्देश्य था वर्तमान समय में सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए एक सरलमार्ग का निर्णय करना। समागत संत महात्मा वृत्ताकार बैठे थे। सब लोग अपने-अपने शास्त्रानुसार मार्ग की उपादेयता की व्याख्या करने लगे। तब मैने अपना सिद्धान्त बताया कि 'हरे राम, हरे कृष्ण' का निरंतर जप ही भवग्रस्त जीवों के उद्धार का सुगम उपाय है। मेरे गुरुदेव भी योगयुक्त होकर कहने लगे, 'द्वार-द्वार में जाकर भगवन्नामकीर्तन करना सर्वहितकारी है।'

कई साल बीत गये। एक दिन एक विशिष्ट धर्मप्रचारक से भेंट हो गयी। उन पर मेरी बड़ी श्रद्धा थी। समय निकाल कर निवदेन किया : 'मैं भ्रूमध्य में एक बिन्दु देखता हूँ। यह क्या है ? ' उन्होंने योगक्रिया से इसमें प्रवेश करने का अभ्यास करने की सलाह दी । क्रिया सीखने की इच्छा प्रकाश करने पर उन्होंने कहा : 'अपने गुरु की आज्ञा ले आओ।' गुरु ने आज्ञा दे दी किन्तु कहा : 'जो कुछ उपदेश हो वह मुझे बता देना।' योगी महाशय ने नाभि-क्रियादि सिखाने के साथ कुछ अन्य विशिष्ट रहस्यपूर्ण तत्वों का भी ज्ञान कराया । उसके अनुसार जब मैंने स्वयं अभ्यास करने लगा तो एक दिन सहसा ऐसा हुआ कि प्राण को ऊपर चढ़ाकर नीचे नहीं उतार सका। इसका कारण पूछने पर महात्मा ने बताया : 'तुमने निरंतर जप करते-करते सब कुछ समाप्त कर डाला। अब मन नीचे नहीं उतरेगा। तुम्हारे लिए योग अनावश्यक है।' इसके साथ ही मेरी योगसाधना का क्रम समाप्त हो गया।

अब पाठ-कीर्तन-जपादि चलने लगा। इन्हीं दिनों गुरुदेव का तिरोधान हो गया। मैं शास्त्रानुसार प्रातः से सायंकाल तक होम, वैश्वदेव, तर्पण, श्रद्धादि करने में लगा रहता था। कुछ दिनों बाद यह भी बंद हो गया। हाथ का जल हाथ में ही रह जाता था। इस स्थिति में संध्यादि नित्यकर्म तथा मंत्रजप भी चला गया। सब कुछ शनैः शनैः ओंकार में परिणत हो गया। इसके बाद मैंने पूर्वोपदेष्टा योगी से कहा : 'मेरी सब क्रियाएँ बंद हो गयीं, अब क्या करूँ ? वे बोले : 'हमेशा क्रिया थोड़े ही करनी पड़ती है।' एक प्रतिष्ठित पंडित से इस संबंध में पूछा गया। उन्होंने उत्तर दिया : 'यह तुम्हारे पूर्वजन्म की तपस्या का फल है। पंडित लोग तुम्हारे बारे में कुछ नहीं बता सकते। अब 'ऊँकार' ही रह गया। 'ऊँकार' जप के बाद मुझे दीवाल की घड़ी की भाँति का स्वर सुनायी पड़ने लगा। 'हरे राम, हरे राम, हरे कृष्ण' नामगान नाद के साथ समष्टि में होने लगा। फिर आकाश का आविर्भाव हुआ। एक महात्मा का नाम सुना था। उनसे मिलकर ये सब बातें बतायीं। उन्होंने कहा : 'हाँ, यह भी एक मार्ग है। अंत में वज्रनाद होता है।' फिर संतमत का परिचय प्राप्त किया, क्योंकि ये लोग नाद के उपासक हैं।

पुरी में जब आपसे भेंट हुई थी, उस समय '—' की रचना हो चुकी थी। साधारणतः मौनावलंबन करके रहते थे; इसके बाद दीर्घकाल तक मौनग्रहण करके विचरण करने लगे। एक दिन गुरुदेव का स्वप्रदर्शन किया । उन्होंने कहा : 'तुम अपने संप्रदाय का परिचय नहीं जानते हो। तुम्हारा भाव वास्तव में भक्त का है।' अब तक मैं ज्ञानी के भाव की साधना करता था अर्थात् 'अ' कार 'उ' कार 'म' कार इत्यादि प्रणव का लय करके 'ब्रह्मास्मि'

भाव में प्रवेश करता था। गुरुदेव ने कहा : 'डूबने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा। नाम प्रचार करना पड़ेगा। नाम-प्रचार में ही डूब जाओ।' फिर ऐसा आदेश हुआ कि 'यह तुम्हारे जीवन का मुख्य कर्तव्य है।' मैंने अनुभव किया कि 'ऊँकार' तक भी जप नहीं होता, केवल नाद ही होता है। एक दिन वैशाख की मध्यरात्रि में देखा कि मेरे सिरहाने के दक्षिण, पैरों में नूपुर बाँधे छोटे बच्चे के नृत्य करने जैसा शब्द हो रहा है। यह नाद सुनते ही मेरा ज्ञान चला गया। ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसमें भगवान् अपना एक विशिष्टि रूप लेकर खड़े हो गये और आदेश दिया कि जाओ सर्वत्र नामदान करो। यह सारा अनुभव ध्यान की अवस्था में हुआ। ध्यान टूटने पर शरीर रोमांचित हो गया।

इसी प्रकार अन्य उनके अवस्थाओं का अनुभव हो रहा है। इस साधना की परिणति क्या है ? यह मैं जानना चाहता हूँ। यह पत्र बहुत बड़ा हो गया। जगदंबा ने विवश करके इतना लिखाया।

(----)

पत्र-संख्या ३०

प्रेषक — पाँचू गोपाल भट्टाचार्य, कलकत्ता।
दिनांक — १७ मार्च, १९५८ ई०।
प्राप्तकर्त्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
आलोक — एक साधक व्यक्ति के भीतर रससाधनासंबंधी अलौकिक व्यापार का कविराजजी द्वारा एक पत्र के उत्तररूप में उद्घाटन।

विषय—**भोगरहस्य**

आपके दोनों पत्र मिले। अपनी अवस्था के संबंध में विशेष कुछ कहने का समय अभी नहीं आया। फिर भी आप जो कुछ जानना चाहते हैं, उस विषय में संक्षेप से कहता हूँ।

नाभिकमल खुल जाने पर आधार स्पष्ट होने लगता है। पुष्टता की मात्रा आधार के अनुसार होती है। यह आधार नाभिकमल के माध्यम से आहार्यप्राप्त होकर, जब पूर्णरूप से पुष्ट होता है, तब एक अन्य नूतन अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय साधक को लौकिकदृष्टि से निश्चेष्टवत् होकर रहना पड़ता है। भीतर में क्रिया चलती रहती है परन्तु बाहर से मालूम होता है कि एक ही अवस्था है। भीतर की क्रियापूर्ण होने पर योनिकमल खुल जाता है। उस समय से रमण शुरू होता है। सबसे पहली अवस्था में काम की वृद्धि अत्यंत प्रबल हो जाती है। परन्तु यह लौकिक काम नहीं है। यह निष्काम अथवा दिव्य काम है। यह प्रेम का ही पूर्वरूप है। कुछ दिनों के बाद लिंग के ऊपर अधिकार प्रतिष्ठित होता है। उस समय एक रसमय अवस्था की सृष्टि होती है। मालूम होता है कि आधार रस से भर गया। इस अवस्था का क्रमशः विश्लेषण, गणित की प्रक्रिया से किया जा सकता है।

आपके गुरुदेव श्री श्री परमहंस विशुद्धानंद मेरे भीतर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गये हैं। ज्ञानगंज और मनोहरतीर्थ के साथ मेरा नित्ययोग है। श्री स्वामी विशुद्धानंद ने जब व्यावहारिक दृष्टि से देहत्याग किया था तब उन्होंने अखंड ज्ञानलाभ किया था। इस विषय में आपने

पुस्तक में जो कुछ लिखा है, वह सब ठीक है। योग परिवर्तन के समय भोगरहस्य समझने पर ज्ञान की मात्रा का उत्कर्षलाभ होता है। इस स्थिति में कुल तीन विश्राम में रहना चाहिए।

इस समय मैं छुट्टी लेकर घर में बैठा हूँ। साधारणभाव से कर्म करने लिए बाहर होने पर दूसरों को कुछ असुविधा होती है, अधिक अर्थ की भी आवश्यकता होती है। आपको भविष्य में बहुत कुछ करना है। शास्त्रप्रतिष्ठा के व्यापार में आप बहुत सहायता करेंगे। मेरे परिवार में, माता, स्त्री और एक कन्या है।

आपका सर्वरंजन कुशल चाहता हूँ। मेरा साष्टांग प्रणाम लीजियेगा।

पाँचू गोपाल भट्टाचार्य

पत्र-संख्या ३१

प्रेषक — फणींद्रनाथ घोष।
स्थान — ब्लाक १।४९।४ सर्कुलर गार्डेन रीच रोड।
डाकघर — खिदिरपुर, कलकत्ता-२३।
दिनांक — १० अक्तूबर, १९६२ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी।
आलोक — घोष बाबू कविराजजी के गुरुभाई हैं। इन्हें स्वामी विशुद्धानंद से गुरुदीक्षा, कविराजजी के दीक्षा लेने के छः महीने बाद प्राप्त हुई थी। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर इन्होंने भूकैलास स्टेट, खिदिरपुर (कलकत्ता) के मैनेजर का पद ग्रहण किया। सत्संग तथा तत्वचिंतन इनकी जीवनचर्या का प्रधान अंग रहा है। विशुद्धवाणी के ८वें खंड में कविराजजी ने 'एक अलौकिक दर्शन' शीर्षक इनका लेख प्रकाशित किया था। इस पत्र में इन्होंने नाद तथा बिन्दु संबंधी अपनी कुछ जिज्ञासाओं के साथ, एक महात्मा की कृपा से उपलब्ध तद्विषयक अनुभवों का उल्लेख किया है।

विषय—**शब्द-ब्रह्म**

पहले विजया का नमस्कार देता हूँ। 'विशुद्ध वाणी' अमूल्य ग्रंथ है। वी० पी० से भेजवा दीजियेगा।

मेरे कुछ प्रश्न हैं। हो सके तो उत्तर दीजियेगा :—

(१) अनंतब्रह्मांडव्यापी ऊंकार ध्वनि और अनंत ज्योति के श्रवण-दर्शन तथा उपलब्धि के पश्चात् बिन्दु के भीतर प्रवेश करने पर किस अवस्था का उदय होता है? इस विषय का वर्णन किस ग्रंथ में है? यह जानने की इच्छा है। क्या इस बिन्दु के भीतर सप्तनादलोक हैं?

(२) क्या ँ यह बिन्दु ही ब्रह्मबिन्दु है? इसमें प्रवेश करने पर ही क्या निर्विकल्प समाधि होती है? उस समाधि के बाद इस रक्तमांस के स्थूलदेह का नाश हो जाता है या योगी उस समय इच्छामृत्यु का वरण कर सकता है?

महात्मा लालजी ने मुझे इस शब्द-ब्रह्म का दर्शन व श्रवण कराया है। बिन्दु के भीतर

प्रवेश करने व लौटकर आने का पंथ शीघ्र ही सूक्ष्म देह में आकर वे देंगे। १९९२ वि० में उन्होंने मुझे मन को चित्तवृत्तियों से निरुद्ध करके शून्य की उपलब्धि करायी थी, उसके बाद शब्द-ब्रह्म को दिखाकर व सुनाकर अनंत ज्योति समुद्र, सृष्टिक्रम और अ, उ, म की ध्वनि का बिन्दु में केंद्रीभूत होना तथा विशुद्धशुभ्रज्योति-समुद्र दिखाया था। वह आपको एक वर्ष पहले चिट्ठी लिखकर सूचित किया था। आपकी अस्वस्थता के कारण उत्तर न पा सका।

फणींद्रनाथ घोष

पत्र-संख्या ३२

प्रेषक — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।
स्थान — २ ए, सिगरा, वाराणसी।
प्राप्तकर्ता — पं० वंशीधर मिश्र, बेतियाहाता, गोरखपुर।
दिनांक — ३ फरवरी, १९६४ ई०।
आलोक — मिश्र जी कविराजजी के प्रिय अंतेवासी रहे हैं। अपने कर्मण्यजीवन में ये नेपालीकांग्रेस के कर्णधारों में अग्रगण्य थे। अब लकवा से आक्रांत होकर ये गोरखपुर में निवास कर रहे हैं। कैंसर से मुक्त होने के बाद यह कुशलपत्र कविराजजी ने उनके पास भेजा था।

चिरंजीव वंशीधर जी,

शुभाशीर्वाद ।

मैं कुशल से हूँ। तुम्हारी कुशलता की कामना करता हूँ।

बहुत दिन बाद तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर चित्त को प्रसन्नता हुई। अपने स्वास्थ्य के बारे में कुछ नहीं लिखे।

बीच में (दो साल पहले) मेरी तबियत बहुत खराब हो गयी थी। मैं बंबई गया। डाक्टरों ने कहा कि कैंसर हो गया है। फिर वहाँ ही आपरेशन हुआ। श्री श्री माता आनंदमयी की बहुत ही कृपा थी। व्यवस्था भी माँ ने ही किया था। सब सकुशल हो गया। अब एक प्रकार से तबियत ठीक चल रही है। तुमसे भेंट होने पर बात होगी। तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है ? लिखना।

शुभार्थी

गोपीनाथ कविराज

पत्र-संख्या ३३

प्रेषक — फणींद्रनाथ घोष।
स्थान — ब्लाक १।४९।४ सर्कुलर गार्डेन रीच रोड, खिदिरपुर, कलकत्ता—२३।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी।
आलोक — निम्नांकित घटना जून, १९२२ ई० के लगभग की है। उस समय फर्णोंद्र बाबू सब-डिप्टी मजिस्ट्रेट थे और चिनसुरा में रहते थे। १९२१

ई० में इनके मन में ब्रह्मदर्शन की तीव्र आकांक्षा हुई। शनैः शनै वह अत्यंत बलवती होती गयी। जिस समय (१९२२ ई०) की यह घटना है, उस समय तक इन्होंने, प्रस्तुत विषय के आकर-उपनिषद् ग्रंथों-का अध्ययन नहीं किया था। इस पत्र में इन्होंने बिंदु-दर्शन के संबंध में अपना पूरा अनुभव दिया है।

विषय—बिंदु-दर्शन

एक दिन संध्या समय मैं गुरु-उपदिष्ट योग-क्रिया अपने घर के पूजाकक्ष में कर रहा था। तीन-चार मिनट के बाद मुझे अनुभव हुआ कि दाहिनी ओर की खिड़की से एक छायामूर्ति कमरे में मेरे सामने प्रायः छः हाथ की दूरी पर आ खड़ी हुई। कमरा १५ फूट लंबा था। उसमें बाहर आने-जाने के लिए एक ही द्वार था, वह भी बंद था। पूजा के समय कोई भीतर आकर बाधा न दे इसलिए उसे मैंने अपने हाथों बंद कर दिया था। दाहिनी और बायीं दोनों ओर की दीवारों में दो खिड़कियाँ थीं, जिनमें छः फुट लंबे लोहे के चार छड़ लगे थे। उन खिड़कियों से स्थूल देहधारी किसी व्यक्ति का प्रवेश करना असंभव था। उक्त महापुरुष के आगमन के कुछ ही समय बाद मेरे चक्षु बंद हो गये। उस अवस्था में मैंने देखा कि उस दिव्यमूर्ति के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर रहा हूँ और वह दोनों हाथों से मुझे उठाकर कह रही है, 'मेरे भीतर जो विराजमान हैं, वे तुम्हारे भीतर भी हैं। इसलिए मुझको प्रणाम करने की कोई आवश्यकता नहीं है।' इन महात्मा की आकृति षोडशवयस्क किशोर की भाँति थी। दाढ़ी या मूँछ की रेखा तक न थी। मस्तक मुंडित था। बायें हाथ में करंक (कमंडल) था। शरीर में गेरुये रंग का हल्का अलखल्ला था। गौरवर्ण के अत्यंत कमनीय मूर्ति थे। बहुत जल्दी-जल्दी बातें करते थे। मालूम होता था कि उनके सर्वांग से आनंद छलक रहा है। वाणी अत्यंत मधुर थी। बोले : 'चलो, मेरे साथ चलो।' मैंने कहा : 'सूक्ष्मशरीर से जाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।' उन्होंने संकेत किया : 'मेरा हाथ पकड़ो।' इसके साथ ही उन्होंने करंक बाएँ से दाहिने हाथ में ले लिया और बायें हाथ से मेरा दाहिना हाथ पकड़ कर कहा : 'चलो आगे बढ़ें।' उनके यह कहते ही हमने देखा कि हम दोनों कमरे से बाहर निकल पड़े।

कुछ दूर जाने के बाद उन्होंने कहा : देखो! तुम लोगों की पृथ्वी नीचे किस प्रकार से घूम रही है?' मेरे देखने में आया कि पृथ्वी भीषण वेग से घूम रही है। वे फिर बोले : 'देखो तुम्हारे सौरजगत् का मंगलग्रह कैसे घूम रहा है?' उन्होंने मुझे लाल रंग के मंगलग्रह की गति तथा रूप—दोनों का दर्शन कराया । मैंने पूछा : 'कौन मार्ग से चलियेगा?' वे बोले : 'तुम लोगों का जो सूर्य है, उसके निकट से नहीं, दूसरे मार्ग से जायेंगे। चलो बहुत दूर जाना होगा।' यह कहकर वे भीषण वेग से चले। हम लोग कितनी दूर गये यह बताना असंभव है। उस समय की हमारी गति पृथ्वी के किसी वेग से तुलनीय नहीं है। कुछ देर के बाद महात्मा ने कहा : 'ठहर जाओ। जिस स्थान में हम लोग रुके, वहाँ आलोक नहीं था, अंधकार भी नहीं था, किसी प्रकार का शब्द भी नहीं था। पूर्ण शान्ति विराजमान थी। वहाँ किसी प्रकार का आलोडन भी नहीं था। मुझको यह अनुभव होने लगा कि मेरे देह से एक निर्मोक (केंचुल) अलग हो गया और मेरा सूक्ष्मशरीर अत्यंत हल्का हो गया।

महापुरुष बोले : 'चलो जितनी दूर हम आये हैं, उससे भी अधिक दूर अत्यंत वेग से जाना पड़ेगा।' इसके बाद हमारी यात्रा पुनः आरंभ हुई। महापुरुष हमको भीषण वेग से ले चले। कितनी दूर और किस गति से गये, कह नहीं सकता। एक स्थान पर पहुँच कर उन्होंने कहा : 'अब सुनो!' मन स्थिर करते ही गंभीर ओंकार ध्वनि सुनायी पड़ी। यह ओंकार-ध्वनि समस्त ब्रह्मांडव्यापित करके हो रही थी। 'अ', 'उ' और 'म' की तीन ध्वनियाँ ऊपर की ओर उठ रही थीं। मैंने देखा कि ये ध्वनियाँ ऊपर उठकर एक बिंदु में केन्द्रित हो रही हैं और उस केंद्र में बिन्दु से विशुद्धज्योति की धारा झर रही है। उस बिन्दु को घेरे हुए एक वृत्त की सीमा के भीतर एक प्रकाश हो रहा है, जो अत्यंत शुभ्र है। उसमें किसी प्रकार का रंग नहीं है। उससे निःसृत ज्योति की जो धारा नीचे बह रही है, वह तरल मालूम पड़ती है। यह केंद्रस्थ ज्योति कोटि सूर्य की आभा से भी अधिक उज्जवल थी किन्तु उसके साथ ही करोड़ों चंद्र की ज्योत्स्ना से भी अधिक शीतल और दाहभाव से सर्वथा रहित। उस ज्योतिधारा के अधोभाग में क्रमशः बैंगनी, नील और रक्तिम आभा देखने में आयी।

मैं उस ध्वनि को सुनकर और उस ज्योतिसमुद्र का दर्शन कर आश्चर्यान्वित हो गया। महात्मा से पूछा : 'वह बिन्दु और वह शब्द क्या है? मेरी इच्छा होती है उसी बिन्दु में प्रवेश करूँ। मुझे छोड़ दीजिये।' महात्मा जी बोले : 'वह शब्द ही ब्रह्म है और वह बिन्दु ही ब्रह्मबिंदु। उसको वेष्टित किये हुए जो शुभ्र अंश देख रहे हो, वहाँ सत्त्व, रज तथा तम— ये तीनों गुण साम्यावस्था में हैं। वहाँ सृष्टि नहीं है। उस स्थान से जो शुभ्रज्योति की धारा नीचे की ओर जा रही है, उसके निम्नांश में जो रंग का खेल देख पड़ता है, वहाँ से सृष्टि का बीज ब्रह्मांड में फैल जाता है। इस समय यदि मैं तुमको छोड़ दूँ तो तुम्हारा सूक्ष्मशरीर अथवा आत्मा ब्रह्मबिंदु में प्रवेश कर जायगा। परन्तु तुम उसमें से होकर बाहर आने का मार्ग नहीं जानते हो, इसलिए सूक्ष्मशरीर या आत्मा के साथ जो योगसूत्र है, वह छिन्न हो जायगा। इससे तुम्हारे स्थूलशरीर की मृत्यु हो जायगी। पृथ्वी पर डाक्टर लोग कहेंगे कि तुम मर गये?' मैंने निवदेन किया : 'तब उपाय क्या है?' वे बोले : 'आज यहीं तक रहने दो। मैं कहता हूँ कि मैं फिर आऊँगा और तब तुमको लेकर ब्रह्मबिंदु में प्रवेश करके सब कुछ दिखाऊँगा। उस समय वहाँ से होकर बाहर आने का उपाय भी बता दूँगा। समयांतर में अवश्य आऊँगा, विश्वास रखो। अब हम लोग लौट चलें—चलो।'

इसके बाद मैं ने देखा कि हम दोनों अपने चिनसुरा वाले घर के उसी कमरे में खड़े हुए हैं। मैंने नत होकर महापुरुष को प्रणाम करने की चेष्टा की। उन्होंने इसका निषेध करते हुए कहा : 'प्रणाम करने का प्रयोजन नहीं है। जो तुम्हारे भीतर है, वही हमारे भी। मैं अवश्य आऊँगा, तब फिर तुम्हें साथ ले जाऊँगा। ध्यान टूटने पर मैं कमरे से बाहर आया। नीचे के तल्ले में जाते ही मेरी भानजी सुभाषिनी बोली : 'छोटे मामा! तुमने आज डेढ़ घंटे तक पूजा की। तुम्हारी मुखाकृति से मालूम होता है कि कोई अपूर्व घटना हो गयी। तुम्हारे कपड़ों और शरीर से दिव्यगंध निकल रही है। यह इत्र या सेंट की गंध नहीं है।' इतने में मेरी माँ और रसोइया पाठक जी, दोनों आ गये। सुभाषिनी ने उनसे भी इसकी चर्चा की। तीनों मेरे कपड़े में हाथ घिसने लगे। फलतः उनके कपड़े और हाथ भी अपूर्व सुगंध से वासित हो गये। मेरे श्वास-प्रश्वास से अपूर्व गंध निकल रही थी। मैं आनंद से

आत्मविभोर हो गया। यह स्थिति सात दिन तक रही। किसी पार्थिवद्रव्य की प्राप्ति में ऐसा आनंद हो नहीं सकता। यह स्थिति अवर्णनीय है।[1]

पत्र-संख्या ३४

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
दिनांक — ११ अक्तूबर, १९५७ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
आलोक — माँ आनंदमयी को कविराजजी साक्षात् जगदंबास्वरूप पूज्य मानते हैं। इनसे उनका पत्राचार १९४७ ई० से आरंभ हुआ। १९५२ ई० तक इसकी धारा विरल रही किन्तु उसके पश्चात् वह अविच्छिन्नगति से चलने लगी। कविराजजी जो पत्र भेजते हैं उसका उत्तर माता जी अपने किसी आश्रमवासी अनुगतशिष्य द्वारा लिखाकर भेजवा देती हैं। उन्हें जब कभी इनका कुशलसमाचार जानने की इच्छा होती है, इसी प्रकार पत्र आ जाता है। माँ स्वयं पत्र नहीं लिखती हैं। पत्रलेखक, माँ के शब्द, कोष्ठक के भीतर लिखता है। माँ की भाषा अत्यन्त रहस्यमयी तथा सांकेतिक होती है। उनमें प्रायः क्रियाएँ नहीं होतीं। कविराजजी ऐसे तत्वदर्शी ही उसका मर्म समझ सकते है। उनका हिन्दी अनुवाद आचार्यपाद की सहायता से किसी प्रकार किया जा सका है। नमूने के लिए माँ की मूल बंगला-शब्दावली एकाध पत्रों से, यहाँ नागराक्षरों में उद्धृत की गयी है। इन पत्रों में माँ ने जो संवाद कविराजजी के लिए दिये हैं उनमें 'बाबा' संबोधन है और अपने लिए 'छोटो मेये' (स्वयं) का प्रयोग किया है। इनमें सामान्य रूप से जो तत्वचर्चा की गयी है, वह जिज्ञासुमात्र को दृष्टि में रखकर हुई है। कविराजजी ने इनके कुछ पत्रों से केवल दो-चार पंक्तियाँ ही उद्धृत करने की स्वीकृति दी है। अतः उनका अधूरापन क्षम्य होगा।

"आवरण विक्षेप मानाई तो विपत। सम्पद् लाभेर दिकैइ तो दृष्टि पड़ा चाइ। निजेर आवरण निजेई जे। एकला पथिक ना हइले अनंते एक, एक अनंतप्रकाश कि करिया; तुमि आमि द्वन्द्व मिटा चाइ तो। सब समय जात्री पथिक संगे राखेन ना। एक ओइ जे, सेइ प्रकाशेरजन्य आपन पथे आपनि पथिक। ताहारइ प्रकाश। तोमरा देखोना, शिशु जखन हाटिते आरंभ करे, एकला छाड़ा हय। पड़िया जाबार दिक जखन तखनइ धरा हइ।"

हिन्दी— 'आवरण-विक्षेप मानना ही तो विपद् है। संपद्लाभ की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिए। अपना आवरण स्वंय ही जो है, अकेला पथिक न होने पर अनंत में एक, एक में अनंत का प्रकाश कैसे (हो)? तुम—मैं द्वंद्व मिटना चाहिए। तो सब समय यात्री पथिक साथ नहीं रखते (अकेले ही चलते हैं)। एक वही जो है, उस प्रकाश के लिए अपने पथ में आप ही पथिक (है)। उसी का प्रकाश (है)। तुम लोग देखते हो न, शिशु जब चलना आरंभ करता है, तो

१. इस विवरण के साथ कविराजजी ने 'विशुद्धवाणी' (अष्टभाग) में 'बिदुतत्व' पर एक छोटा सा लेख भी प्रकाशित किया था। जिज्ञासु उसे देख सकते हैं।

उसे अकेला छोड़ दिया जाता है, वह जब गिरने लगता है, तभी उसे पकड़ा जाता है।'

पत्र-संख्या ३५

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — ?
दिनांक — १६ दिसम्बर, १९५७ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।

''बाबा को पत्र लिखो। बाबा का शरीर आजकल कैसा है। माँ, बंधु लोग सब ठीक हैं न ! जहाँ 'सकल' स्वयं ही कल-कारखाने के रूप में और फिर कल-कारखाने के अतीत रूप में भी (हैं)—उसमें वही। क्रमगति में जहाँ धारा पकड़ी जाए, फिर वही तो अधरा (पकड़ में न आने वाला) अधर (न पकड़ा हुआ) है। जब जिस धारा में व्याख्या, जहाँ से व्याख्या (है) रूप का प्रकाश है—क्योंकि। वही तो सब ठीक, सुंदर अनंतरूप है, भाव-अभाव रूप के 'घर' (स्थान) में ! जो नित्य नित्य (है), स्वयंभू स्वयं भोग, फिर भोग-अभोग के अतीत (है)! वही यानी स्वयं—जो (जिसका) गुरुशक्ति में प्रकाश है। अपने में आप ही प्रकाशित और विलीन है। वही तो बाबा की बात है। बाबा की बात में बाबा ही तो हैं। जो कहो वही (है)।

पत्र-संख्या ३६

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — वृंदावन।
दिनांक — १३ मार्च, १९५८ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।

''गुरुचरण में अर्पित होकर के ही न गुरुशक्ति-विकासक्रिया जागरण की ओर यात्रा (करती है)। परमचरमप्रकाश की दिशा।''

उसके बाद माँ ने कहा (बाबा ने जो लिखा है) 'बहुत-सुन्दर (है)। इसी के भीतर में सभी अनंत-अंत का गठनप्रकाश (है), जिसे सृष्टि, स्थिति, लय, महाप्रलय (कहा जाता है)। धारा[१]-अधारा[२], धरा[३]-अधरा[४]—बहुत सुंदर समावेश (है)। स्वयं ही जीव, जगत, सयात्रा[५] जो कि अखंड की दिशा (है)। उपस्थित जिस प्रकाश में प्राप्ति का हाहाकार (है),

---

१. धारा विशिष्ट मार्ग, जिसका अवलंबन करके साधक लक्ष्य प्राप्त करता है।

२. अधारा—कोई निर्दिष्ट धारा नहीं, अपने आप जो गति हो रही है उसके प्रवाह में बहते हुए साधारण स्थिति में अवस्थान।

३. धरा—धारा से चलते-चलते जिस लक्ष्य की प्राप्ति होती है, वह धरा अथवा सिद्धावस्था है।

४. अधरा—वह स्थिति जिसकी प्राप्ति किसी भी मार्ग से साधन करने पर नहीं हो सकती। जो पकड़ के बाहर है अथच जिसमें साधक पर कृपा करके भगवान् अपने आप को पकड़ा देते हैं। उपनिषद् में इसी की ओर लक्ष्य करके कहा गया है—'यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वां'।

५. सयात्रा अपने आप चलकर जो उसे पा जाते हैं।

वही न शांतस्वरूप की पताका लेकर स्वयं ही अपने में महामाया के पूर्णरूप की दिशा (हैं), जो नित्य अपने में आप (है)।'

माँ ने फिर पूछा है ''उपस्थित शरीर कैसा (है) ? शरीर का दर्द घट तो गया ?''

माँ को होशियारपुर , सच्चिदानंद आश्रम (पंजाब) के पते से उत्तर दे सकते हैं।

पत्र-संख्या ३७

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — ३ मई, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
बं० — मनटा उदास हताश राखा ना। जाँहार अनंत रूप, अनंत स्थिति, तिनिई तो एकमात्र; तद्‌भावना ते मनटा।
हिन्दी — मन को उदास-हताश, नहीं रखना (चाहिए)। जिसके अनंत रूप, अनंत स्थितियाँ हैं वही तो एकमात्र (है)—तद्‌भावना में मन (रहे)।

पत्र-संख्या ३८

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — ११ जून, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।

आत्मा के बंध की तो बात ही नहीं, चिरशाश्वत, शुद्धबुद्ध, नित्यमुक्त, तुम लोग बद्धजीव, जगत् परिभिन्न नहीं, नित्यजीव! जीवत्व तुम में ही है। जब तुममें ही तुम, वही प्रकाश—यत्र जीव तत्र शिव, यत्र नारी तत्र गौरी। वही आत्मा— ना स्त्रीलिंग, ना पुल्लिग—वही, वही, वही। रूप-अरूप, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार जो भी कहो। जहाँ इसका प्रश्न ही नहीं—स्वयं नित्य-जीव जीवत्वप्रकाश। वही ऐश्वर्य, स्वयं ही ईश्वर-रूप वही। भगवान्—भाग बनने-वाला, बनाने वाला स्वयं वही। वही जो आत्मस्वरूप, एकमात्र सबसे न्यारा। इसलिए वहाँ स्त्रीलिंग-पुल्लिग का प्रश्न ही नहीं। वही जो नित्यत्व, जिस प्रकार भगवत्तत्व अविनाशी, निर्विकार, निरंजनतत्त्व है। जो नित्य है, उसे स्वयं आत्मा ही कहो, भगवान ही कहो, ईश्वर ही कहो। जहाँ नित्यत्व है, वहीं पर अवतरण, अवतार इत्यादि हैं। अब सोचकर देखो आना-जाना विनाश-गति-रूप के बीच तुम अपने को लेकर हो, तुम नित्य जीव, खेलते हो। फिर जब उस परमस्थिति के ऊपर अपने को लेकर तुम रहो, तब क्या पाया, क्या नहीं पाया, क्या मिलता है और क्या नहीं मिलता ? इसका प्रश्न ही नहीं उठता। कौन किससे क्या कहता है ? यह सब प्रश्न वहाँ कहाँ ? इसीलिए ठीक जीवन, सिद्धजीवन, ऐश्वर्य कोटि इत्यादि अलग-अलग हैं। जहाँ अलग हो सकता है तुम्हारा रूप वहीं पर न 'अलग' शब्द द्वारा रूप की बात (कही जा सकेगी)। नित्यजीवत्व पकड़ में कब आता है, जानते हो ? परब्रह्म, परमशिवत्व का जब निरावरण उद्‌घाटन होता है।

पत्र-संख्या ३९

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — २६ जुलाई, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
बंगला — मानुषेर कठिन असुस्थतार मध्ये कष्टचिंता न हओवा। महालक्ष्य-जात्रीरइ इहा संभव। सब अवस्थाय तद्भावनाय मनटा राखार चेष्टा।
हिन्दी — मनुष्य को कठिन अस्वस्थता के बीच कष्ट-चिंता न होना (चाहिए)। महालक्ष्ययात्री के लिए ही यह संभव है। सब अवस्थाओं में, तद्भावना में, मन को रखने की चेष्टा (हो)।

पत्र-संख्या ४०

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — ६ अगस्त, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
बंगला — ए शरीर तो देहरादूने बाबार घरे बसिया एइ कथाइ बलियाछिलो— 'बाबार एइ शरीरटा जागतिक सुखभोगेर जन्य आसे नाइ'।
हिन्दी — इस शरीर ने तो देहरादून में बाबा के कमरे में बैठकर यही बात कही थी— 'बाबा का यह शरीर जागतिक सुखभोग के लिये नहीं आया है'।

पत्र-संख्या ४१

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — २२ अगस्त, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
बंगला — ए छोट्टो मेयेटा बाबा के छाडा तो नय, तद्भावे बाबा के प्रफुल्लित राखे, एइटिइ हओवा। सब समयइ तो सई सबेतेइ सबटाइ लग्न तो। अलग्न रूपेतेइ वा के?—सेइ तो। सेइटिइ हओवा।
हिन्दी — यह छोटी लड़की बाबा को छोड़कर तो नहीं है, तद्भाव से बाबा को प्रफुल्लित रखे, यही, होना (है)। सब समय ही तो सब कुछ सब किसी में लग्न है। अलग्न रूप में ही फिर कौन है? वही तो (है)। यही होना (है)।

पत्र-संख्या ४२

प्रेषक — माँ आनंदमयी।
स्थान — देहरादून।
दिनांक — २१ सितंबर, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी।
हिन्दी — जिसका चाहना है, उसी का पाना है। जिसका अप्रकाश है, उसी का स्वप्रकाश है, जो अखंड है, वही अखंड स्वयं ही (है)। नित्य ही प्रकाशित है स्वयं ही। स्वयं को लेकर स्वयं ही (है)। यह यद्यपि बहिरंग है, बाबा को ज्ञात ही है, फिर भी यह स्वभाव में स्वयं स्थित है। प्रकाशित होने का रास्ता इसी प्रकार (है) और खोलने के लिए इस ओर का प्रकाश प्रज्वलित रखकर चलना पड़ता है, स्वगति में।

पत्र-संख्या ४३

प्रेषक — भाऊ कलचुरि मेहेरबाबा के आत्मसचिव।
स्थान — मेहेराजाद, अहमद नगर।
दिनांक — २२ नवंबर, १९६६ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी।
प्राप्तितिथि — २५ नवंबर, १९६६ ई०।

प्रियवर गोपीनाथ जी,

बाबा आपके प्रेम और विश्वास से अत्यंत प्रसन्न हैं। आपका शांत एवं मौनप्रेम उन्हें बहुत आनंद देता है।

आप बाबा के अपारहृदय के निकट हैं और आपका प्रेम उनके अपारहृदय में घर कर रहा है। आपका यह घर सदैव सुरक्षित रहेगा। बाबा की कृपा से आपको अमरजीवन का गीत प्राप्त होगा, जिसे आप उस घर में बैठकर गुनगुनाया करेंगे।

बाबा के संपर्क से आपके जीवन की कड़ियाँ शिथिल होती चली हैं और यह कड़ी सारी कड़ियों को निगल कर आपको मुक्ति के द्वार के पास पहुँचा देगी, जहाँ आप 'शब्दों के शब्द' की ध्वनि सुनेंगे और अमरजीवन का बाना पहिनकर आनंद का चुंबन लेंगे।

आपके जीवन की यह कड़ी अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो जन्म और मृत्यु की सारी कड़ियों को लय कर रही है। बाबा के मौन खोलते ही आपको इस कड़ी का महत्व मालूम होगा, जो कड़ी बाबा से जुड़कर उनसे मधु पा रही है।

बाबा चाहते हैं कि आप अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें, उपयुक्त चिकित्सा करें और कोई चिंता न करें। बाबा की नजर आप पर है, वे आपके साथ हैं। आप बाबा को प्रिय हैं।

बाबा आपसे अत्यंत प्रसन्न हैं और अपना आशीर्वाद आपको भेजते हैं। जय बाबा!

स्नेही आपका
भाऊ

पत्र-संख्या ४४

प्रेषक — भाऊ कलचुरि।
स्थान — मेहेराजाद, अहमदनगर।
दिनांक — ४ मार्च, १९६७ ई०।
प्राप्तकर्ता — म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, २ ए, सिगरा, वाराणसी।

आदरणीय गोपीनाथ जी,

प्रियतम बाबा आपसे अत्यंत प्रसन्न हैं और चाहते हैं कि आप उनके स्मरण का दीप अपने हृदय में जलता रखें, जिससे प्रभात के समय आपको अपने अस्तित्व का बोध हो जाय और आप गाँठ को निकाल कर अमर जीवन का जल प्राप्त कर सकें।

बाबा आपके हृदय की प्यास को भली प्रकार जानते हैं और यह प्यास ही आपको सदैव उनके हृदय के निकट रखती है।

बाबा आपसे अत्यंत प्रसन्न हैं और अपना प्रेम-आशीर्वाद आपको भेजते हैं।

जय बाबा!

स्नेही आपका
भाऊ

❖

६

तत्त्व-विचार

कविराजजी तत्त्वद्रष्टा के रूप में सर्वत्र ख्यात हैं। अत: अध्यात्मविज्ञान के विवेचन के बिना उनकी जीवन-धारा का दिग्दर्शन अधूरा ही रहेगा। सौभाग्य से वे अभी हमारे बीच वर्तमान हैं इसलिए विचार में आया कि एतद्विषयक सामग्री उनसे प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करके ही संकलित की जाये। उनके द्वारा विरचित साहित्य का तो बाद में भी किसी समय उपयोग किया जा सकता है। इस प्रक्रिया से संगृहीत तथ्यों में मूलप्राप्तसूचना की प्रामाणिकता होगी, साक्षात् दर्शन के संस्पर्श की जीवंतता रहेगी और अनेक ज्ञात-अज्ञात ग्रंथियाँ अनायास ही खुल जायेंगी, श्री चरणों की सहज कृपा प्राप्त होने से यह मनोरथ हृदय आलोडित करने लगा। आशंका केवल यह थी कि इसे सफल बनाने के लिए रास्ता कौन सा अपनाया जाये? सीधे अपनी साधना के विषय में वे कहेंगे नहीं, मैं भी संकोचवश इस बारे में कुछ पूछ नहीं सकूँगा। उनकी आंतरिक उपलब्धियों की व्यापकता और गहराई का ज्ञान न होने से प्रश्नोत्तर की पद्धति भी अपनायी नहीं जा सकेगी। असंबद्ध और सिद्धांतच्युत प्रश्न करने पर प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न उनका सात्विकभावावेश तत्काल के लिए काम ही ठप कर देगा। इस भय से उक्त प्रणाली का त्याग करना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।

इतने में एक बात समझ में आयी। निश्चय किया कि कुछ शीर्षक बना लिये जायें और उन पर कविराजजी के विचार लिखना आरंभ किया जाये। इस प्रकार श्रीगणेश हो, आगे किन-किन प्रसंगों का समावेश होना चाहिए, इसका निर्देश आचार्यपाद से यथासमय स्वत: प्राप्त होता रहेगा। निदान साहस करके एक दिन अपनी योजना उनके सामने रखी। वे बोले : 'मैं अपने विचार लेखों, पुस्तकों और पत्रों में व्यक्त कर चुका हूँ, वहीं से लेना। पृथक् रूप से बताने की क्या आवश्यकता है।' मैंने कहा : 'आपने तत्वनिरूपण के प्रसंग में कहीं भी स्पष्टतया अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं। साधना और दर्शन संबंधी आपके लेख विभिन्न भाषाओं की नयी-पुरानी पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। उन सबको एकत्रित करना अत्यंत दु:साध्य कार्य है। प्राप्त होने पर भी मैं अपने को उनके विश्लेषण का अधिकारी नहीं समझता। साधना के गूढ़ रहस्यों और दर्शन के सूक्ष्मतत्वों पर आपके सुचिंतित तथा अनुभवसिद्ध निष्कर्षों को एक स्थान पर प्राप्तकर जिज्ञासुओं को अध्यात्मजीवन में अग्रसर होने के लिए नवीन दृष्टि मिलेगी।' मेरा यह तर्क उन्हें रुचा, यह तो नहीं कह सकता किन्तु इस अनुरोध को स्नेह का सहारा मिल गया। श्रीचरण शब्दातीत स्थिति शब्दप्रतीकों से व्यक्त करने के लिए राजी हो गये। अब समस्या उठी कि उसकी अभिव्यक्ति की पद्धति क्या हो? इसका हल सुझाते हुए वे बोले : 'परंपरया तत्त्वज्ञान प्रश्नोत्तर प्रणाली से प्रकाशित होता आया है। आप प्रश्न करें, मैं उत्तर दूँगा। उसे ही लिपिबद्ध करके काम चला लेना।'

मैंने इस पर आपत्ति की : 'अब तक इस प्रणाली से जिस तत्वज्ञान की अवतारणा हुई

है, उसके दाता और ग्राहक समशील होते रहे हैं। जिन जिज्ञासुओं ने अपनी शंकाओं का तत्त्वविद् महापुरुषों से समाधान प्राप्त किया है, विवेच्यविषय में उनकी पर्याप्त गति थी। इसके अभाव में जिज्ञासा का उदय हो ही नहीं सकता। इस श्रेणी में परिगणित होने की पात्रता मुझमें नहीं है। इस विषय में श्रद्धा रखते हुए भी मेरा सारा उत्साह साहित्यिक स्तर का ही है। साधना के अभाव में जिज्ञासावृत्ति सोयी पड़ी है, उसे जगाने की सामर्थ्य संप्रति अपने में है नहीं। कालांतर में यदि कभी तंद्रा टूटी भी तो उस समय आपकी छत्रछाया प्राप्त हो सकेगी, कौन जानता है ? इसके अतिरिक्त आपका जीवन शास्त्रानुशीलन तथा कठोर साधना में बीता है। मुझमें न शास्त्र के गह्वरों में प्रवेश करने की योग्यता है, न साधना में अभिनिवेश की शक्ति। आप विभिन्न आत्म-अनात्म-दर्शनों तथा साधना मार्गों के रहस्य-द्रष्टा हैं। इसके अतिरिक्त आपकी अपनी स्वतंत्र दार्शनिक विचारधारा भी है। मेरी अपनी पूँजी ठहरी वैष्णव-भक्ति के कुछ अंगों का छिछला वाक्यज्ञान मात्र। उसके द्वारा इतना बड़ा व्यापार कैसे कर सकूँगा ? अपनी इन सीमाओं को ध्यान नें रखते हुए मैंने कार्यसिद्धि का एक रास्ता सोचा है। कुछ शीर्षक बनाये हैं उन्हें आप देख लें और फिर यथेष्ट हेर-फेर करके अपने विचार इस प्रकार लिखा दें जिससे उनमें आपके चिरसंचित साधनापुष्ट ज्ञान का स्वारस्य आ जाये।' यह कहकर मैंने पर्चा उनके हाथ में दे दिया।

शीर्षकों पर दृष्टिपात करते हुए कविराजजी बोले, 'लिखाने में संक्षिप्तता की ओर ध्यान रहेगा। इससे बहुत आवश्यक तत्त्व छूट जायँगे। विषय के साथ न्याय नहीं हो सकेगा। फिर आपके कुछ प्रसंग तो अत्यंत व्यापकनिरूपण की अपेक्षा करते हैं। उन्हें कैसे समेटा जाएगा ? तथापि यदि आप कृतसंकल्प हैं तो किसी प्रकार व्यवस्था की ही जायेगी।' स्वीकृति मात्र की देर थी, दूसरे ही दिन से कार्य प्रारंभ हो गया। कुछ शीर्षक निकाले गये, कुछ संशोधित हुए और बहुत से नये जोड़े गये। कई महीने तक विरमते हुए पृष्ठों के पेट भरता रहा। तृप्ति न शीर्षकों की हुई, न लेखनी की। अथाह ज्ञान सागर से सोलह कलश भर लिये गये। प्राकृतजगत् में षोडशकला पूर्णावस्था की द्योतक मानी जाती है। किन्तु मेरे विचार से कविराजजी के अप्राकृत तत्वालोक के निदर्शन में वे समवेत रूप में प्रतिपदा से अधिक शक्ति नहीं रखतीं।

तत्त्वानुसंधान का उद्देश्य एवं लक्ष्य

कविराजजी के मत में तत्त्वचिंतन का परम लक्ष्य है—पूर्णत्व की प्राप्ति। यह पूर्णत्व ही परिपूर्ण स्वभाव है, जिसमें विश्व और विश्वातीत का अभेदमय समन्वय है। यह अखंड स्वरूप वस्तुत: सब तत्वों से अतीत है। परन्तु अतीत होने पर भी तत्वमात्र उसका एकदेश है।

भगवान् के पूर्ण स्वरूप में जगत् तथा जगत् से अतीत दोनों हैं—उसके एक प्रांत में समस्त तत्वातीत सत्ता समाहित है।[1] अखिल स्फुरणशील जगत् भी उसी के अंतर्गत है। प्राचीन वैदिक-वाड्मय में इसका संकेत है कि परम पुरुष की सत्ता समस्त-विश्व में व्याप्त होकर भी उसके बाहर फैली हुई है।[2] इस अखंड स्वरूप में जैसे एक चिदानंदस्वरूप

१. विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्। (गीता)

२. स भूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्। (श्रुति)

अदृश्य तथा स्वातंत्र्यमयी अर्थात् इच्छा-ज्ञान-क्रिया-सपन्न सत्ता है, उसी प्रकार अनंत वैचित्र्य भी उसी के अंतर्गत है। देशगत, कालगत, आकारगत, भावगत, संस्कारगत अनंत आकार तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण-रूप देह भी उसी के अंतर्गत है। उसमें जैसे कार्यकारण भाव का, कर्म का, अनंतशक्तिप्रभाव का तथा नियंत्रण का स्थान है, उसी प्रकार दूसरे पक्ष में महाकरुणा (केवल करुणा नहीं) तथा महाप्रेम—जिसमें अखंड अनंत सत्ता अभिन्न रूप में आस्वादन का विषयीभूत होती है—का भी स्थान है।

तत्त्वज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया

कविराजजी को इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति 'आवर्जन प्रक्रिया' से हुई। आरंभिक जीवन में साधना करते समय इनको ज्योति का दर्शन होता था। उस समय कभी-कभी इनके मन में प्रश्न उठता था कि क्या ज्योति और चैतन्य एक ही वस्तु है? तब तक इनकी इन दोनों में अभेदभावना थी। किन्तु आगे बढ़ने पर इन्हें पता लगा कि चित् का सत् से योग होने पर ज्योति का आविर्भाव होता है। सत् प्रकृति का अंश है, चित् उससे अतीत है। प्रकृतिगत सत् में चित् नहीं रहता। इसी क्रम से उच्चावस्था का लाभ करने पर इन्होंने देखा कि ज्योति के अंतर्गत दो वस्तुएँ हैं—प्राकृत सत् और अप्राकृत चित्। पहले जब ज्योतिप्रदर्शन होता था तब समझते थे कि उसके अंत:स्थ चित् विशुद्ध न होकर सत्त्वगुण से मिश्रित हैं। अब समझ में आया कि वह प्रकाश है, ज्योति नहीं। यह बोध एक विचित्र घटना के माध्यम से हुआ।

एक दिन अकस्मात् रात्रि के निबिड़ अंधकार में इन्हें एक अलौकिक महापुरुष का दर्शन हुआ। देखने में आया कि एक तेजोमय दिव्यमूर्ति सामने खड़ी है। वह दाढ़ी और केश से मंडित है। उसके शरीर में ज्योति नहीं है किन्तु लोकोत्तर प्रकाश से रोमकूप तक स्पष्टतया दिखायी दे रहे हैं। तब इन्हें अनुभव हुआ कि वह प्रकाश है, ज्योति नहीं। पीछे इस दर्शन की चर्चा इन्होंने गुरुदेव स्वामी विशुद्धानंद से की और ज्योति तथा प्रकाश का अंतर समझाने की प्रार्थना की। परमहंस जी ने उस समय तो स्पष्ट रूप में कुछ नहीं बताया किन्तु आशीर्वाद के रूप में कहा : 'कुछ दिनों बाद यह भेद तुम्हारी समझ में स्वत: आ जायगा।'

कालांतर में साधना करते-करते इन्हें यह अनुभव हुआ कि प्राकृत ज्योति से त्रिगुणात्मक-बाह्यजगत् प्रकाशित होता है, अप्राकृत ज्योति से नित्यधाम तथा अप्राकृत देहादि प्रकाशित होते हैं, किन्तु चिदात्मक स्वयंप्रकाश अथवा विशुद्धप्रकाश से विशुद्ध-स्वरूप का विस्फुरण होता है। इस विशुद्ध प्रकाश का विकिरण नहीं होता। इस बोध के साथ ही इनका सारा संशय स्वत: सर्वकाल के लिए निवृत्त हो गया। फिर तो गुरु-शिष्य अथवा प्रबुद्ध-प्रबुध्यमान भाव से आंतरिक प्रक्रिया द्वारा प्रश्नोत्तर सहज ही चलने लगा। अब इनकी समझ में आया कि शंकाओं का उदय और उनका समाधान, ये दोनों व्यापार एक ही महासत्ता के अंतर्भूत हैं—एक प्रबुद्धमान अवस्था में और दूसरा प्रबुद्धावस्था में। प्रबुद्धस्थिति में दो दशाएँ हैं—प्रथम है समभाव, जहाँ द्वितीय का स्थान नहीं है और द्वितीय से संबंध भी नहीं है। इस प्रकार की निर्लेप अथवा उदासीनावस्था ही वस्तुत: परमास्थिति है, दूसरी है उन्मुखावस्था।

जब प्रबुध्यमान सत्ता नित्यप्रबुद्ध सत्ता के उन्मुख होती है, तब नित्य प्रबुद्धसत्ता भी उसके प्रति उन्मुख होती है। यह औन्मुख्य-संपादन ही योगियों के विचार से आवर्जन-क्रिया है।

उपलब्धि का स्वरूप

इस प्रकार की दृष्टि प्राप्त होने पर इन्हें ज्ञात हुआ कि अखंडसत्ता नित्य उदासीन है यह जैसे सत्य है, उसी प्रकार आवर्जित होने पर वह परमप्रेममय है यह भी सत्य है। जिसमें किसी के प्रति प्रिय-अप्रिय भाव नहीं है, उसमें नित्य और अनंत प्रीति भी है। गीता में कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥[1]

कविराजजी की कृतियों में समन्वय का यह स्वर आद्योपांत व्याप्त दिखायी देता है। साधना और दर्शन की विभिन्न विरोधी शाखाओं में इनकी असाधारण पैठ का यही रहस्य है। इस भावना की प्रतिष्ठा के मूल कारण दो हैं—सद्‌गुरु की शुद्ध-विद्यात्मिका कृपादृष्टि का प्रभाव तथा आगमशास्त्र का परिशीलन। जहाँ तक प्रथम का संबंध है अपने जीवन-काल में तो विशुद्धानंद जी इनके साधनासूत्र का संचालन करते ही रहे, तिरोधान के बाद भी वे इनसे अपना अविच्छिन्न भावसंबंध बनाये हुए हैं। विविध साधनामार्गों के पहुँचे हुए संतों का संपर्क भी इनकी इस समन्वयदृष्टि के विकास में सहायक हुआ है। इसकी पुष्टि आगमसाहित्य के उनके जीवन-व्यापी स्वाध्याय से हुई।

आगम में शैव, शाक्त और वैष्णव, इन तीन भेदों को छोड़ देने पर जो मूलदृष्टि रह जाती है, उससे इनकी विचारधारा अत्यंत प्रभावित है। इस शुद्ध आगमदृष्टि में विविध प्रकार का वैचित्र्य रहने पर भी चिदात्मिका शक्ति का प्रभाव मुख्य है। इसी से अनंत विरोध के भीतर अविरोध का दर्शन होता है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल-नानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि परसामर्णव इव॥

(महिम्नस्तोत्र)

तात्पर्य यह कि वैदिक, अवैदिक, शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैनप्रभृति नाना प्रकार के विद्याप्रस्थान हैं। इनमें न कोई किसी से बड़ा है न छोटा, सभी समान हैं। मनुष्य की रुचि तथा अधिकार के भेदानुसार इनमें से कोई किसी के लिए उपादेय तथा हितकारी होता है, और कोई किसी के लिये। किन्तु मार्ग भिन्न होने पर भी सभी का परम लक्ष्य एक ही है। परमसत्ता में किसी प्रकार का विकल्पावरण नहीं रहता। जितने भेद विकल्पराज्य में हैं वे मार्गरूप हैं। इनके विकल्पों का अतिक्रम हो जाने पर द्वंद्वातीत अवस्था स्वतः आ जाती है।

इस उदारदृष्टि से संपन्न होने के कारण कविराजजी सभी मतों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, तत् तद् अधिकारी के लिए बुद्धि की विचारदृष्टि से विभिन्न मतों में दिखायी देने

१. गीता, ९। २९

वाली परस्पर विरोधी-भावना इस अधिकारभेद की दृष्टि से देखने पर समाप्त हो जाती है और सभी मत अपने-अपने स्थान पर सत्य प्रतीत होते हैं। यही सोपानपरंपरान्याय है। वर्तमान् जगत् में इसी दृष्टि के अभाव में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष एवं विरोध का स्फुरण हो रहा है, जैसे ज्ञानक्षेत्र में वैसे ही कर्मक्षेत्र में, जैसे व्यष्टि में वैसे ही समष्टि में। सात्विक ज्ञानदृष्टि में नाना विरोधों के बीच अविरोध-दर्शन की क्षमता रहती है। कविराजजी की यही अपनी प्रकृत दृष्टि है।

कविराजीजी ज्ञानी-भक्त हैं। एक उच्चकोटि के भावुक होते हुए भी इनका मस्तिष्क भीतर से तर्कप्रधान है। वह तर्क से सबका समन्वय करना चाहता है। इसकी पृष्ठभूमि में आप्तवचन या उच्चतर बोध रहता है। इन्होंने लौकिक रूप से ग्रंथानुशीलन तथा सत्प्रसंग द्वारा इसके लिए उपयुक्त आधार प्रस्तुत किया। तर्कणा से इसका बार-बार संघर्ष होने पर दो या तीन स्तरों के बाद इनके भीतर का ज्ञान खुल गया। यह सतर्क अथवा 'ऊहापोहपद्धति' ही इनके तत्त्वज्ञानलाभ का साधन बनी।

कविराजजी की व्यापक अंतर्दृष्टि इसी अंतःस्फुरण का प्रसाद है। योग, तंत्र, आगम, भक्ति आदि जिन विषयों में इनका वैशिष्ट्य है, वह इनकी अंतरर्जित संपत्ति है, किसी बाह्यगुरु से रिक्थरूप में प्राप्त नहीं। तंत्र और योगशास्त्र के ये विश्वविख्यात विद्वान् हैं। किन्तु आज तक इन विषयों को पढ़ानेवाले इनके किसी लौकिक गुरु का पता न तो इनकी जन्मभूमि बंगदेश में लग सका, न कर्मभूमि काशी में। इस रहस्य की व्याख्या पूर्वोक्त ज्ञानार्जन प्रणाली से हो जाती है।

इनके मत में किसी भी संप्रदाय के साधक या योगी के विचार मिथ्या नहीं हैं, यदि महालक्ष्य में समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो। कोई भक्ति को ज्ञान की जननी मानता है, कोई ज्ञान को भक्ति का मूलस्रोत। इनके विचार से दोनों ठीक हैं, फिर भी दोनों में भेद है। जैसे एक दृष्टि यह है कि कर्म या जन्मांतर के संस्कार द्वारा चित्त शुद्ध हो जाने पर अपरोक्षज्ञान का आविर्भाव होता है, उसके बाद ज्ञेयविषय में भक्ति का उदय होता है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि ज्ञान का उदय भक्ति के फलस्वरूप होता है। शास्त्रों में दोनों का निर्देश मिलता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥[1]
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥[2]

इसी प्रकार कहीं कर्म के बाद ज्ञान कहा गया है, कहीं ज्ञान के बाद कर्म। प्रथम स्थिति में ज्ञानप्राप्ति के लिए कर्म करना तो सामान्य लोगों की समझ में आ सकता है, किन्तु दूसरी का तात्पर्य ग्रहण करने में उन्हें भ्रम हो सकता है। वहाँ यह समझना चाहिए कि ज्ञान के बाद सेवा ही कर्म है, जिसमें विश्वकल्याण के लिए मुक्तजीव भी प्रवृत्त होते हैं।

---

१. गीता, १८।५४

२. वही, १८।५५

यह कर्म ज्ञान के बाद ही हो सकता है। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में भी व्यवस्था, हमारे व्यावहारिक जीवन की भाँति, अधिकारी-भेदानुसार ही होती है। इस क्षेत्र में जितनी जिसकी पहुँच है उसी प्रकार उसका अधिकार है। सभी साधक एक स्थिति में नहीं होते अत: सबको समान अधिकार भी नहीं मिलता। इसकी नियंत्रिका है भगवदिच्छा। वही सब कुछ करती है। यह इनका स्पष्ट अभिमत है।

इन निबंधों में कविराजजी के दार्शनिक विचारों तथा साधनाप्राणाली के क्रमविकास का पूर्ण तथा व्यवस्थित निर्देश तो नहीं मिलेगा किन्तु उनके क्रियाशील दार्शनिक मानस का एक बिंब अवश्य प्राप्त होगा, जिसमें दर्शन की अनुभूति संवहन करने की और उसे एक जीवंत पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है। इनमें अभिव्यक्त विचार प्रकाश की ऐसी किरणें हैं जो इनके दैनंदिन जीवन के साथ नित्य खेला करती हैं और जिनका प्रकाश भीतर ही सीमित न रहकर इनके समग्र व्यक्तित्व को आलोकित किये रहता है। आत्मा के गंभीरतम प्रदेश में प्रवेश करने के लिए इन्हें घोर प्रयत्न और परीक्षा का जीवन व्यतीत करना पड़ा है। आध्यात्मिक मनोदशाओं के विश्लेषण में जो नैसर्गिक आवेश इनमें यत्र-तत्र दिखायी देता है वह परम-सत्ता के प्रत्यक्ष और तात्कालिक बोध का ही फल है। एक स्थान पर ये स्वयं कहते हैं—

'शुद्धविद्या का उदय होने पर सर्वत्र अंहरूपेण भान होने लगता है। इदं भाव का क्रमश: ह्रास हो जाता है। तब एकमात्र अहंभाव ही रह जाता है। वह पूर्ण ईश्वर, परमेश्वर या परमाशक्ति है। शाक्तदृष्टि से यही परासंविद्, महाशक्ति अथवा जगदंबा हैं।'

(साधना का उद्देश्य, द्विविध दृष्टि)

परन्तु अन्य दार्शनिकों की भाँति व्यष्टिरूपेण साधना के द्वारा आरोहक्रम से कैवल्य अथवा निर्वाण प्राप्त कर लेना ही इनके विचार से साधकजीवन का चरम लक्ष्य नहीं होना चाहिए। एक की मुक्ति से व्यष्टिकल्याण हो सकता है, किन्तु यह संकुचित भाव है। साधना की पूर्णता तो तब है जब एक की मुक्ति के साथ सर्वमुक्ति सिद्ध हो जाये। ये इसे ही विश्व-कल्याण का प्रशस्त मार्ग मानते हैं—

'बोधिसत्व अनंत हैं बुद्ध भी अनंत हैं। ये अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं किन्तु विश्वकल्याण कहाँ?...... वेदांत में भी सर्वमुक्ति की कल्पना कहीं-कहीं दीख पड़ती है, किन्तु जिसको परामुक्ति कहा जा सकता है, जहाँ एक ही साथ एक मुक्ति सर्वमुक्ति दोनों ही संपन्न होती हैं उसका आदर्श कार्यरूप में परिणत होने का मार्ग नहीं दिखायी देता।'

(अवतार-रहस्य)

इनकी यह धारणा है कि अब तक विश्व में जिन दिव्य शक्तियों का महापुरुषों, धर्मप्रवर्तकों, सिद्धों आदि के रूप में प्रादुर्भाव होता रहा है, उनका उद्देश्य धर्मसंस्थापना के लिए सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के लिए दंडव्यवस्था तथा युगचेतना के अनुकूल ज्ञान, भक्ति एवं योग के नीवन मार्गों का उद्‌घाटन करना रहा है। इस व्यवस्था से तत्कालीन जीवन में थोड़े समय के लिए शांति स्थापित हुई अवश्य, किन्तु जीव की अंत प्रकृति में वह परिवर्तन संघटित न हो सका, जिससे पाप अथवा दुष्कर्म की वृत्ति ही निर्बीज हो जाये। इसलिए भगवान् को बार-बार अवतार लेने की आवश्यकता पड़ती रही—

'साधारणत: पूर्णरूपेण अवतार होता नहीं है, लेकिन हो सकता है।..........इनका विश्वकल्याण धर्मस्थापना रूप है।........इससे जीव के स्वरूप में किसी प्रकार के उत्कर्ष का आधान नहीं होता।..........कारण कि जीव की अन्त:प्रकृति दंड पाने पर भी शुद्ध नहीं होती। जो सिद्धपुरुष कामसिद्धि लाभ कर और काल को अतिक्रम करके, नित्यसिद्धमंडल में विराजमान हैं, वे भी विश्वकल्याण तो कर सकते हैं परन्तु आंशिकरूपेण ही। समग्र विश्व का परमकल्याण उनसे नहीं हो सकता। इसलिए साधारणदृष्टि से ऐश्वरिक शक्ति से भी व्यापककल्याण होता नहीं, जो कुछ होता है तत् तत् काल के लिए, तत् तद् देश के लिए।

(अवतार रहस्य)

कविराजजी का ऐसा अनुभव एवं विश्वास है कि इस प्रकार की व्याख्या का जिसमें एक की प्राप्ति के साथ सबकी प्राप्ति का द्वार उन्मुक्त हो जाये, एक साथ ही सबका, सब समय के लिए पमरकल्याण हो जाये, एकमात्र उपाय है अखंड महायोग का प्राकट्य। उस समय काल अथवा महाकाल का प्रभाव नहीं रहेगा, शून्य तथा महाशून्य का भेद हो जायेगा, इह-पर का भेद नहीं रहेगा, और पूर्ण अद्वैत की प्रतिष्ठा हो जायेगी। इसका यत्किंचित् संकेत उनके इन शब्दों में मिलेगा—

'पूर्णब्रह्म निरंतर अखंडरूपेण अपने रूप में विराजमान है। उसका अनुभव करने के लिए योगी को काल-राज्य का अतिक्रम करके उसमें प्रवेश करना पड़ता है। यह अत्यंत कठिन व्यापार है परन्तु संभव है..........आवश्यक है कि आरोहण का कार्य समाप्त कर महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर स्वयं महाशक्ति-संपन्न होकर योगी महाप्रेमसाधन के लिए अवतरण करे। इसमें बहुत गंभीर रहस्य है, जो प्रकाश्य नहीं है............महाशक्ति से युक्त होकर महाप्रकाशरूप ब्रह्म में प्रविष्ट होने का उद्यम न कर उन्हें लौटना पड़ता है............इस अवतरण का उद्देश्य विशुद्ध प्रेम की साधना है, वह प्रेमसाधना मनुष्यलोक में होती है, दिव्यलोकों में नहीं।'

(अखंड महायोग)

आगे इसके महत्व तथा एतद्विषयक अपनी अनुभूति की व्याख्या करते हुए ये कहते हैं—

'इस प्रकार का योग इस समय पर्यंत कभी नहीं हुआ, क्योंकि यह होने पर जगत् की इस प्रकार की स्थिति नहीं होती। इस योग में अंततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक ही प्राप्ति से सबकी प्राप्ति, चाहे पूर्ण रूप से हो या आंशिक रूप से, तभी हो सकती है जब समष्टि या महासमष्टि दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो जाए।'

(अखंड महायोग)

प्राचीन काल से यूरोप तथा मध्य एशिया के भिन्न-भिन्न धर्मसंप्रदायों का 'दि ग्रेट ईवेन्ट' के विषय में जो विश्वास है, वह इसी को लक्ष्य करके है। फरीदपुर (बंगाल) के प्रभु जगद्बंधु तथा योगिराज अरविंद का भी परमलक्ष्य यही था। कविराजजी इसके संबंध में संप्रति अधिक कुछ कहना उचित नहीं समझते।

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य

मनुष्यजीवन का परमलक्ष्य क्या है ? इस विषय में सिद्धांत है कि आत्मसाक्षात्कार ही परमलक्ष्य है। आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप है, आत्मा ही परमेश्वर है, आत्मा ही जानने योग्य है, अत: आत्मस्वरूप में ही चरमस्थिति होनी चाहिए। परन्तु इस आत्मस्वरूप के विषय में दृष्टिगत भेद दिखायी पड़ता है। एकदम नीचे से नीचे अगर देखा जाय तो इस स्थूल भौतिकदेह को ही कोई कोई आत्मा कहते हैं, कोई इंद्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि-तत्व को आत्मा समझते हैं, कोई प्रकृति को ही आत्मा समझते है, कोई निर्गुणपुरुष को ही आत्मा की संज्ञा देते हैं और कुछ ऐसे भी दार्शनिक-संप्रदाय हैं जो समग्रविश्व को ही आत्मा समझते हैं। परन्तु इस देश में अतिप्राचीनकाल से ही आत्मा को विश्व से अतीत, अलख तथा निरंजन माननेवाले संप्रदाय भी रहे हैं। वास्तव में देखने पर यह सब खंडदृष्टि है, क्योंकि अखंडसत्ता जब तक बोध में आरूढ़ नहीं होगी तब तक पूर्णदृष्टि खुल नहीं सकती। इसीलिए पूर्णदृष्टि से आत्मा विश्वात्मक होते हुए भी विश्वातीत है और विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक है, यही यर्थाथदृष्टि है साथ ही यह भी सत्य है कि इस प्रकार अखंडदृष्टि का अधिकार अत्यंत उच्च है और सर्वत्र सुलभ नहीं है। इस दृष्टि के अनुसार कोई मत भ्रांत नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मत अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य ही है।

आत्मसाक्षात्कार तथा आत्मप्राप्ति के विषय में भी यही प्रश्न है। पूर्ण अहंभाव का उदय जब तक न हो, तब तक खंडभाव छूट नहीं सकता। पूर्ण अहंभाव-प्राप्ति के लिए जो मार्ग है, वही सन्मार्ग है। इस विषय को समझने के लिए ध्यान रखना चाहिए कि मूल में एक अखंडमहाप्रकाश है, जो स्वरूपत: अनवच्छिन्न है, अपरिमित है और पूर्ण स्वातंत्र्यमय है। यह महाप्रकाश द्रष्टा तथा दृश्य रूप में देखने के योग्य है, अर्थात् द्रष्टा यही है, दृश्य भी यही है। द्रष्टारूपेण यह आत्मा है, दृश्यरूपेण यह आत्मा की शक्ति है। दोनों ही चिदात्मक हैं और अभिन्न हैं। इनमें नित्य सामरस्य है। द्रष्टा ही आत्मा है और दृश्यरूपा शक्ति ही उसका शरीर है। यह है अखंडमहाप्रकाश की स्थिति। यही पूर्णपरमेश्वरभाव है। जब तक आत्मा अपने इस अखंडस्वरूप को प्राप्त न करे तब तक इसका पूर्णतत्व नहीं माना जा सकता। इस पूर्णसत्ता में अनवच्छिन्नस्वातंत्र्य रहने के कारण नित्यनिष्क्रिय रहने पर भी यह नित्यस्पंदमय है। स्पंद-अस्पंद एक ही वस्तु है, इनमें विरोध नहीं है। स्पंद के प्रभाव से अखंड रहते हुए भी इसमें से अंशरूपेण स्फुरण होता है। वस्तुत: यह अंश निरंश का अंश है, यह न भूलना चाहिए। समस्त विश्व-प्रपंच को इस अंश के अंतर्गत समझना चाहिए। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय—यह विश्व का रूप है, इन तीनों से ऊर्ध्व में संवित् का स्वरूप है, जिसमें त्रिपुटी का विभाग नहीं है। संवित् ही महाशक्ति का स्वरूप है। कोई-कोई संप्रदाय इस संवित् के बहिर्मुखभाव को लेकर अनाख्या नाम से अभिहित करते हैं। परन्तु अंतर्मुखभाव लेकर विचार करने पर दिखायी देगा कि यह संवित् अंश होने पर भी अखंड महाप्रकाश से

अभिन्न है जिसको ज्ञेय माना जाता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर उसी को सृष्टि मानना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञान को स्थिति और ज्ञाता को संहार जानना चाहिए। अतएव अनाख्या महाशक्ति सृष्टि, स्थिति और संहार—तीनों से अतीत है।

अज्ञानी मनुष्य जब तक भगवदनुग्रहरूपी शक्तिपात्-लाभ नहीं करता, तब तक उसके लिए यह बाह्यजगत् ज्ञेयरूपी है। उन लोगों का सब प्रकार का व्यवहार इस बाह्यजगत् को सत्य मानकर उसी के आधार पर होता है। शास्त्रीय तथा लौकिक विधिनिषेध इस प्रकार की बाह्यदृष्टि के ऊपर है। व्यवहारभूमि में बाह्यसत्ता मानने पर भी परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो देख पड़ेगा कि बाह्यसत्ता कल्पित है। इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि लौकिकव्यवहार के लिए, सामाजिक तथा जातीय कल्याण के लिए, बाह्यसत्ता को उपेक्षित किया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परमस्वरूप उपलब्ध करने के लिए योगी को क्रमश: बाह्यभाव से अंतर्मुख गति देकर भीतर में प्रवेश करना चाहिए और अंत में भीतर को भी छोड़कर परम स्थान की ओर चलना चाहिए।

इस प्रसंग में दो मार्ग विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं—विवेकमार्ग और योगमार्ग। प्रथम मार्ग में चलने वाले पथिक को बाह्यसत्ता को 'नेति' 'नेति' करके क्रमश: त्याग करना चाहिए, चाहे यह ज्ञान और विचार से हो अथवा पतंजलि-उपदिष्ट योगमार्ग से। सांख्ययोग तथा वेदांतादि अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इसी मार्ग का उपदेश देते हैं। दूसरे मार्ग में बाह्य को त्याग किये बिना उसका रूपांतर साधन करते हुए अपने साथ भीतर की ओर ले चलना चाहिए। इस मार्ग के पथिक के लिए बाह्य को त्याग करना आवश्यक नहीं है, उसको रूपांतर करके ले चलना चाहिए। प्रथम-दृष्टि के अनुसार ज्ञेय का परिहार करके ज्ञान में, कर्मात्मकज्ञान का परिहार करके ज्ञाता में और अंत में ज्ञाता का भी परिहार करके विवेकख्याति की पद्धति का अवलम्बन करना पड़ता है। अंत में जब असंप्रज्ञातसमाधान होता है तब समस्त प्रकृति तथा उसके विकार से छुटकारार मिलता है और चित्स्वरूप पुरुष में स्थिति होती है। यह पुरुष या आत्मा शक्तिहीन, स्वातंत्र्यहीन चिन्मात्र है। यहाँ तक कि द्रष्टा या साक्षीभाव भी उसमें उपचरित है। दूसरा अर्थात् योगमार्ग भिन्न प्रकार का है। उसके अनुसार ज्ञेय बाह्यपदार्थ की उपेक्षा न कर उसे ज्ञानरूप में परिणत करना पड़ता है। इस स्थिति के अनुसार जिसको 'घटपटादि-पदार्थ' कहा जाता है, वह अज्ञानवश बाह्यपदार्थ रूप में प्रतीयमान होता है। जब सद्‌गुरु का अनुग्रह शुद्धक्रिया के रूप में उदित होता है, तब आत्मा की प्रबुद्धदशा का उदय होता है। उस दशा में समग्रविश्व दर्पण में दृष्यमान नगरी की भाँति अनुभव में आता है। भगवान् शंकराचार्य ने इसी परिस्थिति को लक्ष्य करके कहा था—

"विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्"

यह विश्व वास्तव में अपने स्वरूप के अंतर्गत है न कि बाहर। दर्पण में जैसे प्रतिबिंबरूप में नगर दिखायी देता है, वह जैसे दर्पणस्थ प्रकाश से अतिरिक्त नहीं है, उसी प्रकार आत्मरूपी प्रकाश से अतिरिक्त बाहर में विश्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह केवल माया का प्रभाव है कि वह बाहर अनुभव होता है—

"मायया बहिरिव उद्‌भूतम्"

शुद्धविद्या का उदय होने पर स्पष्ट होने लगता है कि सब कुछ भीतर में है, बाहर कुछ भी नहीं है अर्थात् घटपटादि वस्तुतः कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, यह ज्ञान का ही एक रूप है—

''ज्ञानं ज्ञेयरूपेण अवभासते''

शुद्धविद्या का प्रभाव यह है कि ज्ञेयरूपेण प्रतीयमान बाह्यपदार्थ ज्ञानरूपी होकर अंतर्भावरूपेण परिणत हो जाता है। इस दृष्टि से शुद्धविद्या के उन्मेषकाल में समस्त विश्व ही आभ्यंतरीण प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञेय ने ज्ञानरूप प्राप्त कर लिया। यह योगमार्ग का पहला अनुभव है। परन्तु यह ज्ञान साकार है। इसके बाद यह साकारज्ञान निराकारज्ञानरूप में परिणत हो जाता है। उस समय समग्रविश्व एक विहाट्ज्ञानरूपी चिदाकाश का रूप धारण करता है। योगी का विकास और अधिक होने पर यह ज्ञानराशि, अनंतविराट्ज्ञानराशिस्वरूप ज्ञाता में पर्यवसित हो जाती है अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में परिणत होता है, ज्ञान ज्ञाता के रूप में स्थित होता है। इसके बाद ज्ञातृभाव भी नहीं रहता क्योंकि ज्ञातृभाव संविद्रूपा महाशक्ति की अनंतकिरणरूपी रेखावली में से ही एक रेखा है। यह ज्ञातृभाव समाप्त हो जाने पर शुद्धमहाशक्ति ही रह जाती है। अनंतज्ञाता अनंतसंविद्रूपा महाशक्तिरूपी जननी की अनंतजीवरूपी संतान है।

इस प्रकार से आत्मा बाह्यजड़सत्य से उत्क्रमण करके चिदाकाश में पहले साकार, फिर निराकारस्वरूप में उत्थित होता है। उसके बाद चिदाकाश से अपने ज्ञातस्वरूप में अवस्थान करता है। इसके अनंतर जब जीव ज्ञातृस्वरूप से विश्वजननी के अंक में प्रवेश करता है, तब त्रिपुटी का अवसान हो जाता है। इस समय आत्मा मुक्त हो जाता है, त्रिताप से उत्तीर्ण हो जाता है, जन्ममृत्युरूपी कालचक्र से परित्राण-लाभ करता है। परन्तु पूर्णविलय अभी भी नहीं होता। क्यों? आत्मा महाशक्ति के अंकस्थित है, अपने परमस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है। यह महाशक्ति अखंडमहाप्रकाश के अविच्छिन्नस्वरूपयुक्त महाशक्ति का एक अंशविशेष है। दोनों के भीतर एक अनंतव्यवधान है। इस व्यवधान को अतिक्रमण करना किसी प्रकार साधन के अधीन नहीं है, साधनसापेक्ष नहीं है। न यहाँ कर्म का उपयोग है, न उपासना का, न साधनभक्ति का, न योग का और न ज्ञान का। आत्मा अकूल समुद्र के तीर में उपस्थित होकर प्रतीक्षा करने लगता है और प्रसन्न होकर अखंडमहाप्रकाश की ओर व्याकुलदृष्टि से देखने लगता है। इसके बाद किसी एक अचिंत्य महाक्षण में महाप्रकाश का आकर्षण होता है। इससे आकृष्ट होकर आत्मा महाप्रकाश में अपनी स्वरूपस्थिति प्राप्त करता है।

प्राचीनकाल में इसी व्यवधान को वैष्णव लोग विरजा अथवा कालिंदी कहकर वर्णन करते थे। किसी-किसी उपनिषद् में भी कारणसलिल अथवा महाकारणसलिलरूप में इसका निर्देश है। इसका अतिक्रम किये बिना अपने चरमस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ शैववैष्णव का भेद नहीं है, ईसाई-मुसलमान का भेद नहीं है, द्वैत-अद्वैत का भी प्रश्न नहीं है। किन्तु इस परमस्वरूप की प्राप्ति पतित आत्मा के अपने प्रयत्न से असंभव है। इसी प्रसंग में उपनिषद् का यह वचन सार्थक है—

''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥''

ऊर्ध्वगति के क्रम में अपने प्रयत्न का स्थान नहीं है, ऐसी बात नहीं। कृपा सहित प्रयत्न आवश्यक होता है—कहीं तो प्रयत्न का आधिक्य कहीं कृपा का। जब तक आत्मा में देहादिक संबंध से कर्तृत्वाभिमान रहता है, तब तक अपने प्रयत्न का प्राधान्य रहता है। परन्तु जब अभिमान छूट जाता है तब प्रयत्न का प्राधान्य नहीं रहता। उस स्थिति में भगवत्कृपा ही मुख्य हो जाती है। यह शरणागति की स्थिति है। यही यथार्थ संन्यास है।

अंत में आत्मा की निष्कर्मावस्था का उदय होता है। कर्तृत्व बिल्कुल नहीं रहता, केवल द्रष्टाभाव रह जाता है। परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही सब कुछ करती है। उसके बाद परमेश्वर के कर्तृत्वभाव और आत्मा के द्रष्टाभाव की भी पृथक् स्थिति नहीं रहती। दोनों एक हो जाते हैं। यही 'स्व-भाव' की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा ही परमेश्वर है और परमेश्वर ही आत्मा। प्रकृति-पुरुष में भेद नहीं रहता, शिवशक्ति में भेद नहीं रहता, साकार-निराकार एक हो जाता है। विश्व और विश्वातीत में अभिन्नता स्थापित हो जाती है। 'तत्' रूपी प्रथमपुरुष, 'त्वं' रूपी मध्यमपुरुष और 'अहं' रूपी उत्तमपुरुष अथवा पुरुषोत्तम—तीनों एक हो जाते हैं। इसी दशा में अखंडसच्चिदानंद आत्मारूपी स्वातंत्र्यमय स्वयंप्रकाश स्वात्मा का साक्षात्कार होता है और नित्यस्थिति होती है।

यही मनुष्यमात्र की पूर्ण परिस्थिति है। इसकी प्राप्ति के लिए पूर्णसत्ता का परानुग्रह अपेक्षित है। यथार्थयोग, महाज्ञान, अद्वयस्थिति वस्तुतः यही है। वैष्णवों की कुंजलीला के अवसान में, निकुंजलीला के भी अंत में महाक्षण में प्रवेशरूप यही परमास्थिति मानी जाती है। इस अवस्था में एक अखंड, पूर्णपरब्रह्म विराजमान रहता है, जिसमें सद्रूपी महाशक्ति का, चिद्रूपी महाज्ञान का और आनंदरूपी परम-प्रेम का अद्वैतरूप में प्रकाश होता है। यहाँ व्यष्टि से समष्टि का समष्टि से महासमष्टि का और महासमष्टि से अखंड का, सब प्रकार का आभासमान विरोध समाप्त हो जाता है।

❖

साधना का उद्देश्य : द्विविध दृष्टि

प्राचीन बौद्धों की धारणा है कि हमारे विश्व में जिसको लोकधातु कहते हैं उसके तीन विभाग हैं—कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु। इनमें कामधातु सबसे नीचे है, उसके ऊपर है रूप, फिर उसके भी ऊपर अरूप। कामधातु में बहुत विभाग हैं—सबसे नीचे है नरक और सबसे ऊपर है स्वर्ग, मध्य में हैं मनुष्य अथवा मृत्युलोक। मनुष्य के पार्श्व में हैं—दानव, असुर, प्रेतादि। मनुष्य के नीचे हैं चौरासी लक्ष योनि—कीट, पतंग, पशु आदि। संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी कामधातु के अंतर्गत हैं। स्वर्ग में भी सबसे नीचे से ऊपर तक अनेक विभाग हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के देवता रहते हैं, जो जितने ऊपर हैं उनमें उतनी ही अधिक शक्ति है। ऊपर के जीवों में चाहे वे मनुष्य हों या देव, सबमें कामना है, सबके मन चंचल हैं, सबकी भोग्यवस्तु में आसक्ति है। इसी कारण स्वर्ग में भोग्यसुख मिलता है, नरक में दुःख और मनुष्यलोक में सुखदुःख दोनों हैं। स्वर्ग में सकामपुण्यकर्म

के फल से भोग्यवस्तुएँ मिलती हैं। किन्तु इन सबमें एक दोष—सभी वासनाक्लिष्ट हैं, सबका चित्त चंचल है। मनुष्य में कुशल-अकुशल, पुण्य-पाप दोनों मिलते हैं। पुण्य के मूल में हैं दान, परोपकार, क्षमा आदि और पाप के मूल में हैं राग, द्वेष, मोहादि की वृत्तियाँ।

रूपधातु में चित्त एकाग्र है। वहाँ विक्षेप होता ही नहीं है। परन्तु कामधातु से रूपधातु में जाने के लिए यह उपाय केवल मनुष्य के लिए ही संभव है, पशु-देवतादि के लिए नहीं। कारण कि साधन या प्रयत्न के द्वारा चित्त एकाग्र कर मनुष्य ही कामनाशून्य अवस्था-लाभ कर सकता है। कामधातु में जितने जीव हैं चाहे वे मनुष्य हों, देवता या नारकी कुशल-अकुशल दोनों प्रकार के कर्म करते हैं, किन्तु रूप और अरूपधातु में अकुशल नहीं है, केवल मात्र कुशल है। इसलिए समग्रविश्व में कुशल-अकुशल फैला हुआ है, परन्तु लोकधातु के बाहर लोकोत्तर में कुशल भी नहीं है, अकुशल भी नहीं है। वहाँ निर्वाण या बुद्धत्व प्रभृति अवस्थाएँ हैं।

ध्यान प्रत्येक स्तर में हो सकता है। कामधातु से ध्यान के द्वारा ही रूपधातु में प्रवेश होता है। रूपधातु में चित्त सदा एकाग्र है। मनुष्य यदि ठीक मार्ग से चले तभी रूपधातु के उपयुक्त उच्चकोटि का ध्यान-लाभ कर सकता है। अन्य जीवों के लिए यह अगम्य है। पूर्णत्व तक जाने का अधिकार मनुष्य को ही है। उसे लोकांतर में भी जाने का अधिकार है। लेकिन इसमें क्रम है। जो मनुष्य पंचशील का अभ्यास कर नैतिक जीवन को दृढ़ कर लेते हैं, शरीर-मन को संयमित रखते हैं, एकांताभ्यास करते हैं, उनके लिए ध्यानमार्ग में चलने की सुविधा है। ध्यानमार्ग में अनेक प्रक्रियाएँ तथा अवस्थाएँ हैं। संक्षेप में, अपने व गुरु के निर्देश अथवा रुचि के अनुसार एक स्थूल आलंबन मूर्ति, शिला अथवा आकृति का ग्रहण करना चाहिए। इस स्थूल आलंबन के सम्मुख पहले बैठकर एकाग्रदृष्टि से देखना चाहिए। जैसे अन्य शास्त्रों में त्राटकादि हैं, उसी प्रकार इस आकृति को आलंबन कर अंश-अंश करके अध के ऊर्ध्व, ऊर्ध्व से अध निरीक्षण करना चाहिए। मस्तक से चरण तक क्रमशः सब अंग दृष्टि के सामने ले आना चाहिए। फिर चरण से मस्तक तक निरीक्षण का अभ्यास करना चाहिए। यदि कोई अंग दृष्टि से छूट जाय तो आँख खोलकर देख लेना चाहिए। अभ्यास के लिए गृहीत इस बाह्य आलंबन को परिकर्म-निमित्त कहते हैं।

पुनः पुनः अभ्यास करने से एक ऐसी स्थिति आती है जब बाह्य आलंबन को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चित्त में सहसा आलंबन का प्रतिरूपक अध से ऊर्ध्व तक मनोमयरूपेण जग जाता है। इस आवरण में समझना चाहिए कि मन पहले से अधिक शुद्ध हुआ, बाह्य आलंबन की आवश्यकता नहीं रही और इंद्रिय-व्यापार से मुक्त होकर केवलमात्र मन का व्यापार चलने लगा। इस समय आलंबन मानसनेत्र के समक्ष दृश्यमान होता है। सब अवयव एक साथ देख पड़ते हैं। इच्छामात्र से प्रस्तुत इस निमित्त का नाम है उद्‌गृहनिमित्त। इस अवस्था में साधक इंद्रिय जगत् का परिहार का शुद्धमनोजगत् में विहार करता है। बाह्यनिमित्त का प्रयोजन न रहने से इस स्थिति में किसी निर्दिष्टस्थान की आवश्यकता नहीं रहती। साधक निरंतर उसके साथ ही है। यह उच्चावस्था है, परन्तु एकाग्रता नहीं है। इस अवस्था में आँखों में दृष्ट आलंबन केवलमात्र मन से सम्यक्प्रकारेण सर्वदा के लिए

दृष्ट होता है। परन्तु यह दृश्य मनोराज्य का दृश्य है। यह इंद्रियगोचर दृश्य से ऊर्ध्व में है, फिर भी अत्यंत निर्मल नहीं है, क्योंकि अंत में मन को भी अतिक्रम करना पड़ेगा।

उद्गृहनिमित्त का क्रमिकविकास होते-होते किसी एक समय अचिंतित भाव से एक ज्योति अथवा प्रकाश का स्फुरण होता है। इस आलंबन से उसका कोई संबंध नहीं है। यह चित्त की सम्यक् निर्मलता के प्रभाव से आविर्भूत होता है। यह ज्योतिर्मयरूप पूर्वगृहीत आलंबन के रूप से अभिन्न होता है, ऐसी बात नहीं है। जो कुछ हो वह विशुद्धज्योति अथवा ज्योतिर्मयरूप इस समय से निरंतर प्रकाशमान रहता है परन्तु साथ ही साथ उद्गृहनिमित्तरूप मनोमयमूर्ति भी रहती है। यह मनोराज्य से अतिमानस-जगत् में उठने के लिए द्वारस्वरूप है क्योंकि उसी ज्योतिर्मय रूप को लेकर मनोराज्य से ऊर्ध्व में, जिसे बौद्ध रूपधातु कहते हैं, ज्योतिर्मय ऊर्ध्वलोक में प्रवेश होता है। इस प्रकाश के खुल जाने पर ज्योतिपूर्ण दिव्यलोक अन्तर्दृष्टि के समक्ष प्रकाशमान हो जाता है। यह मनोराज्य का संधिस्थल है। किन्तु अब भी मनोराज्यभेदन पूर्णरूप से नहीं हुआ। इस प्रकार के निमित्त का नाम है प्रतिभाग निमित्त। कामधातु में यही सबसे ऊर्ध्वस्थल का निमित्त है क्योंकि इसमें ज्योति का समावेश रहता है, परन्तु यह पूर्णज्योतिर्मय राज्य नहीं है। कारण कि पूर्वावस्था का निमित्त उस समय भी वर्तमान रहता है। यह मन और अतिमन की मध्यावस्था है। यह ज्योति कामधातु में प्रकाशित नहीं होती और चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत् आदि से विलक्षण है। यह शुद्धज्योति ही प्राकृतज्योतियों की प्रकाशिका है। इसके आविर्भाव के साथ ही कामधातु के चित्त के जो पाँच स्वाभाविक आवरण हैं वे हटने लगते हैं। इन आवरणों को नीवरण कहते हैं।

इन पाँचों आवरणों के हट जाने पर एकाग्रता का उदय होता है। इसके साथ ही साथ काममय राज्यभेद होकर दिव्यरूपमय राज्य में प्रवेश होता है। इन पाँचों आवरणों को हटाने के लिए पंचप्रकार धर्माचरण अपेक्षित है जो क्रमशः होता है। इस एक-एक धर्म का नाम योग का एक-एक अंग है। ये हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। यह पंचांग प्रसिद्ध है। इसमें से एक-एक अंग के उदय के साथ-साथ चित्त या चेतना का एक-एक प्रतिबंधक आवरण हटता जाता है। तमोगुण के कारण आवरण से चित्त जड़वत् पड़ा रहता है, ध्येयवस्तु की ओर आना नहीं चाहता। वितर्क नामक ध्यानांग प्रकट होने से वह जड़त्वरूप आवरण नष्ट हो जाता है। उस समय चित्त स्वभावतः ध्येय में लग जाता है। द्वितीय अंग विचार है। इसका आविर्भाव होने से चित्त ध्येयविषय में डूब जाता है जिससे ध्येय का स्वरूप स्पष्ट प्रतिभासमान होता है और संशय नामक आवरण हट जाता है। यह ध्यान की द्वितीयावस्था है। ध्यान रखना चाहिए कि यह मूर्तिजन्यदर्शन के वितर्क-विचार से विलक्षण है। चित्त के संशयमुक्त होने पर स्वभावतः प्रीति का उदय होता है। इसके साथ ही साथ उसका विरुद्धभाव भी विनिवृत्त हो जाता है। इसके अनंतर स्वभावतः ही सुख या आनंददशा आती है जिससे चित्त का निरानंदभाव हट जाता है, सुख का उदय होने पर चित्त स्वभावतः ही स्थिर हो जाता है। उस समय चित्त की सहज चंचलता एकदम समाप्त हो जाती है। वह पूर्णतया शांत हो जाता है। यही एकाग्रता है। इस क्रम में चलते-चलते क्रम-विकास के मार्ग में ज्यों-ज्यों अग्रसर हुआ जाता है त्यों-त्यों पूर्व ध्यानांग परवर्ती अंगों में लीन होते जाते हैं अर्थात् वितर्क लीन होकर विचार में जाता है, विचार के समय वितर्क का कोई प्रयोजन

नहीं रहता। प्रीति के समय वितर्क-विचार दोनों लुप्त हो जाते हैं। सुख की स्थिति में पूर्वोक्त तीनों—वितर्क, विचार और प्रीति का अत्यंताभाव रहता है। इसके बाद सुख भी चला जाता है। उपेक्षा आ जाती है। यही एकाग्रता है। एकाग्रता में मात्र उपेक्षा रह जाती है।

इस ध्यानक्रम में पाँच विभाग हैं। इसके पूर्वांश को उपचारध्यान कहते हैं। इसके भी पाँच अंग हैं। प्रथम परिकर्म तथा उद्ग्रह-आलंबन की अवस्था है। निम्नस्तर की सही, किन्तु यह ध्यानावस्था है। इसके बाद प्रतिभागनिमित्त द्वितीयावस्था है। उस समय अतिमानसजगत् दृष्टि में आ जाता है, परन्तु मनोमय राज्य छूटता नहीं। तृतीय आनंत्यावस्था है जिसे उपचार भी कहा जाता है। यह और भी उच्चतर स्थिति है। इसके बाद की चतुर्थ अवस्था गोत्रभू है। यह अत्यंत उन्नत स्थिति है। परन्तु इसके पर्यंत कामधातु का त्याग नहीं होता, निमित्त रहता है। इसमें पूर्ण मनोमयरूप रहता है, उसके साथ ही ज्योतिर्मयस्वरूप भी। यह अवस्था वैसी ही है जैसे कोई मनुष्य पृथ्वी का क्रमशः त्याग करते-करते समुद्र के किनारे पहुँच जाये। इसके बाद अनंतसमुद्र है जिसका नाम है अतिमानस। साधक समुद्रतीर पर खड़ा है, अभी वह भूमि पर ही है। इसके पश्चात् वह अकस्मात् समुद्र में कूद पड़ता है। यह अवस्था है कामधातु की अंतिम परिणति। इस एकाग्रावस्था का नाम है अर्पणा। अब पुराना निमित्त लुप्त हो गया, ज्योतिर्मस्वरूप ही निमित्त हो गया। इंद्रियराज्य तथा मनोराज्य दोनों ही तिरोहित हो गये। एकाग्रता का अर्थ ही है अनंतसमुद्र में प्रवेश। इसीलिए पाँच में से चार अवयव कामधातु में हैं। यही उपचारसमाधि है। पंचम अवयव अर्पणा रूपधातु में है—प्रथम चार कामधातु में।

समग्र रूपध्यान एक ही ज्योतिर्मय आलंबन का आश्रय करके विकसित होता है। रूपध्यान पूर्ण होने पर रूपजगत् में प्रवेश करना पड़ता है। वहाँ भी ध्यान है परन्तु रूपध्यान में जैसे आलंबन एक ही रहता है किन्तु ध्यान का उत्कर्ष चित्त के ऊत्कर्ष के साथ होता है, अरूपध्यान में ऐसा नहीं होता। वहाँ पर भिन्न-भिन्न आलसंबन को लेकर ध्यान करना पड़ता है। सबसे पहले आकाश या महाशून्य ही आलंबन रहता है, उसके बाद विज्ञान। अनंत आकाश के बाद अनंतविज्ञान, यही क्रम है। इसी क्रम से चलते-चलते अंत में एक ऐसी स्थिति आती है जिसका मानवीय भाषा में वर्णन कठिन है। क्योंकि इसे न संज्ञा कहा जा सकता है, न असंज्ञा ही। द्वैतनिरोध नाम की एक स्थिति इससे आगे भी है। इस अवस्था में संज्ञा तथा वेदना दोनों का निरोध हो जाता है। वेदांतादि शास्त्र में इसी को अस्पर्शयोग कहा जाता है। परन्तु यह अरूपसमाधि के अंतर्गत नहीं है।

रूपध्यान से अरूपध्यान तक साधक विश्व से संपृक्त अर्थात् लोकधातु से संबद्ध रहता है परन्तु यह स्थिति भी परमास्थिति नहीं है। परमास्थिति लोकोत्तर अथवा इंद्रियातीत है। बुद्धदेव प्राचीनपद्धति के अनुसार गुरुपरंपराक्रम से उसे नहीं पा सके थे। इसलिए उन्हें पृथग्रूपेण छः वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी थी। उसके अंत में उन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी। यही सम्यगदृष्टि है। रूपधातु से अरूपधातु के अंत तक इसका विकास संभव नहीं, क्योंकि वह विश्व के अंतर्गत है, लौकिक है, लोकोत्तर नहीं। समस्तविश्व में कर्म का संबंध और उसके मूल में है तृष्णा। कर्म के बाहर लोकोत्तर में गये बिना प्रशांति नहीं मिल सकती। कर्मजगत् में कितनी ही ऊर्ध्वगति क्यों न हो, पुनरावर्तन अवश्यभावी है। सम्यगदृष्टि प्राप्त

होने पर इस प्रत्यावर्तन की शंका निवृत्त हो जाती है। बौद्धयोगी आत्मसाक्षात्कार का लक्ष्य नहीं रखते थे, कारण कि उनका ध्येय था नैरात्म्य। किन्तु वस्तुतः वह नैरात्म्य आत्मस्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है। भगवान् बुद्ध ने सम्यक् ज्ञान लाभ किया था, क्योंकि यही आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। वे यह भी जान चुके थे कि अनंतविश्व अज्ञान से ही हुआ है और अज्ञान का कार्य है। अज्ञान की निवृत्ति सम्यग्दृष्टि से ही होती है। पूर्णनिवृत्ति का नाम ही निर्वाण अथवा निरोध् है। इस महासत्य का उन्होंने एक क्षण में साक्षात्कार किया था। इसी का नाम आर्यसत्य है।

महाज्ञान की प्राप्ति होने पर ही अनार्य अवस्था से आर्यावस्था की प्राप्ति होती है। जब बुद्ध इस महाज्ञान का जगत् को दान करने के लिए उद्यत हुए तभी से साधारण लोगों के सामने महाशांतिरूप निर्वाण का मार्ग खुल गया। इस ज्ञान का संचय सभी आधारों में किया जा सकता है। इसकी प्राप्ति होने पर पृथग्जन (काफिर) अवस्था से आर्यावस्था में आने का द्वार खुल जाता है। व्यासदेव ने कहा है—

चित्तनदी उभयतो वाहिनी,
वहति कल्याणाय वहति पापाय च।

इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर निर्वाण का स्रोत खुल जाता है और क्रमशः चार आध्यात्मिक अवस्थाओं को पार करने पर जीवन्मुक्ति मिलती है। वे हैं—स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। प्रत्येक अवस्था में दो-दो भाग हैं। चित्त में जितने बंधन या संयोजन हैं वे इस मार्ग में चलते-चलते कट जाते हैं। प्रथम अवस्था में कुछ आवरण निवृत्त हो जाते हैं। इस अवस्था में रहते हुए मृत्यु होने पर सात जन्म अथवा तीन जन्म ग्रहण करना पड़ता है, फिर मोक्ष मिलता है। परन्तु द्वितीय अवस्था में स्थिति होने के समय देह छूट जाने पर मात्र एक बार मर्त्यलोक में आना होता है। संयोजनों का नाश और भी अधिक मात्रा में होने पर अनागामी अवस्था का उदय होता है। इस दशा में मृत्यु होने पर मनुष्य को फिर जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता। ऊर्ध्वलोक में ही जन्म लेकर अवशिष्ट कार्य पूरा करना पड़ता है। अनागामी स्थिति को प्राप्त करने के अनंतर अर्हत् अवस्था का उदय होता है। अनागामी अवस्था में मृत्युलोक में जन्म तो नहीं होता, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, ऊर्ध्वलोक में एक बार होता है किन्तु अर्हत् अवस्था में प्राणत्याग करने पर जन्म होता ही नहीं—न इस लोक में, न ऊर्ध्व लोक में। इसी का नाम जीवन्मुक्त है। इस अवस्था में देह अर्थात् पंचस्कंध विद्यमान रहता है। स्कंधनिवृत्ति हो जाने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। वस्तुतः अर्हत् अवस्था निर्वाण का पूर्वरूप है। इन लोगों के मत से निर्वाणप्राप्ति की यही प्रक्रिया है। यह हुआ प्राचीन बौद्धसाधकों के लक्ष्य का विवरण। परन्तु नवीन बौद्धदृष्टि में इसका गौरव कम माना जाता है। उसमें बोधिसत्व-भाव के भीतर से बुद्धत्वप्राप्ति का आदर्श ही प्रधान है।

हिन्दू आगमशास्त्र में भी इसी प्रकार द्विविधदृष्टि तथा साधनप्रणाली विद्यमान है। एक दृष्टि के अनुसार कैवल्यभाव मुख्य है, चाहे वह पुरुषकैवल्य हो या ब्रह्मकैवल्य। दूसरी दृष्टि में भगवत्ता अथवा परशिवत्व या स्वातंत्र्यमयी परासंविद् की प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य माना जाता है। सांख्यसाधना का लक्ष्य है विवेक ज्ञानमूलक कैवल्यलाभ, जिसमें पुरुष अपने केवल स्वरूप में प्रकृति से मुक्त होकर प्रतिष्ठित रहते हैं। यह पुरुष का चित्स्वरूप है। वेदांत का

कैवल्य भी प्राय: इसी प्रकार निरंजनभाव-प्राप्ति है। भेद केवल इतना है कि सांख्य में आत्मा नाना है और वेदांत में एक। सांख्य में अचित् त्रिगुणात्मिकता प्रकृतिरूपा है और वेदांत में अनिर्वचनीयमायारूपा। आत्मा की स्वरूपस्थिति प्राय: एक ही प्रकार है। आत्मा का परमेशवरत्व अथवा पूर्णत्व उभयत्र दुर्लभ है। सांख्य का ज्ञान विवेकज्ञान है और आत्मा की स्थिति अचित् से मुक्त होकर चित्स्वरूप में है। परन्तु उसमें विमर्श नहीं रहता। वेदांत में भी प्राय: इसी प्रकार की अवस्था है। वह भी विमर्शहीन स्थिति है किन्तु उसमें आत्मा की स्वातंत्र्य शक्ति का विकास नहीं होता।

आगमिक दृष्टि में इससे भी अधिक वैलक्षण्य है। उसका भी लक्ष्य यही है, अचित् से चित् पृथक् है, यह सत्य है चाहे वह अचित् प्रकृतिरूपा हो चाहे मायारूपा अथवा महामायारूपा। परन्तु आत्मा के स्वत:सिद्ध शिवत्व का उद्बोधन उससे नहीं होता। इसीलिए चित्स्वरूप के साथ चिद्रूपा स्वरूपाशक्ति का भी विकास होना चाहिए तभी चित्स्वरूप शिवरूप में प्रकट हो सकता है। वस्तुत: शिवशक्ति अभिन्न हैं। दोनों ही चित्स्वरूप हैं तथा आनंदस्वरूप भी हैं। शिवशक्ति का सामरस्य पूर्णत्व का मुख्य द्वार है। इसीलिए मोचकज्ञान या तारकज्ञानयुक्त आत्मा चित्स्वरूप है, इतना जानना ही पर्याप्त नहीं है। चित्स्वरूपभूता शक्ति की भी उसमें स्वातंत्र्यरूप में अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसी का नाम स्वातंत्र्यमयबोध है—शैवदृष्ट्यनुसार अथवा बोधात्मक स्वातंत्र्य है शाक्तदृष्ट्यनुसार।

स्वातंत्र्य और बोध इन दोनों में परस्पर व्यबधान हो जाने पर विश्वसृष्टि होती है। इसी में अज्ञान का आविर्भाव होता है। अतएव मुख्य ज्ञान है शुद्धविद्या। सद्गुरुद्वारा इसका संचार ही जीव को शिवत्व में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है। आत्मा में आत्मबोध जैसे अज्ञान है उसी प्रकार आत्मा में अनात्मबोध भी अज्ञान है। आत्मा में आत्मबोध यही मुख्यज्ञान है। परन्तु यह न सांख्य में है न वेदांत में। इस ज्ञान का नाम है पूर्णअंहता-ज्ञान, जिससे जीव अपने को परमशिवरूपेण अथवा परमेश्वररूपेण अनुभव कर सकता है, केवल त्रिगुण से अथवा माया से मुक्तरूप में नहीं।

विवेकज्ञान द्वारा आत्मा जब अचित् से मुक्त हो जाता है, उस समय उसका चिद्रूप प्रकाशित होता है परन्तु उस चिद्रूप का विशुद्धरूपेण साक्षात्कार नहीं होता। इसलिए अविवेक निवृत्त होने पर भी आत्मा अपने को पहचान नहीं पाता। आगम के अनुसार आत्मा में अनात्मबोध भी अज्ञान है परन्तु यह विशुद्ध मायाराज्य का व्यापार है, प्रकृति अथवा मलिनमाया के ऊर्ध्व का व्यापार है। शुद्धविद्या का उदय होने पर सर्वत्र अहंरूपेण भान होने लगता है। 'इदं' भाव का क्रमश: ह्रास हो जाता है। जब इसका पूर्णरूपेण लोप हो जाता है तब एकमात्र अहंभाव ही रह जाता है। वही पूर्ण ईश्वर परमेश्वर अथवा परमशिव है। शाक्तदृष्टि में यही परासंविद् आद्याशक्ति, महाशक्ति अथवा जगदंबा है।

❖

स्वरूपप्राप्ति की प्रक्रिया

आत्मा का स्वरूप है स्वातंत्र्यमय अखंड महाप्रकाश। उसको प्राप्त करने के लिए निराकारनिगुर्ण स्वरूप को ग्रहण करना पड़ता है, उसके बाद साकार सगुण अथवा सकल को। निराकारस्वरूप विश्वातीत है परन्तु साकार विश्वात्मक। यह व्यष्टिरूपेण, समष्टिरूपेण तथा महासमष्टिरूपेण उपादेय है। इन दोनों स्वरूपों को प्राप्त करने के अनंतर परमस्वरूप का साक्षात्कार होता है, जिसमें साकार-निराकार, सकल-निष्कल, सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष प्रभृति द्वंद्वों का समाधान हो जाता है। इसके पश्चात् योगमार्ग खुल जाता है। योग भी क्रमशः घनीभूतभाव सिद्ध हो जाने पर अर्थात् सायुज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर उससे ऊर्ध्व में अद्वय-अवस्था का आविर्भाव होता है।

इस दृष्टि के अनुसार सबसे पहले विश्व को भेद करना पड़ता है। उसकी प्राप्ति दक्षिणावर्त परिक्रमा से होती है। योगी आत्मा के सम्मुख दृष्टि करके क्रमशः अपनी ज्ञानशक्तियों को निर्मल करते हुए अग्रसर होते हैं। ज्ञान जब तक मलिन रहता है, तब तक 'ज्ञेय' का भान होता है। वह जैसे-जैसे निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे 'ज्ञेय' का तिरोधान होता जाता है। अंत में 'ज्ञान' के पूर्णरूपेण स्वच्छ हो जाने पर बाहर में 'ज्ञेय' का भान रहता ही नहीं। योगिराज पतंजलि ने इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए कहा है—

''ज्ञानस्य आनन्त्याद् ज्ञेयमल्पम्''

अर्थात् ज्ञान अनंत हो जाने पर, पूर्णतया स्वच्छ एवं निर्मल हो जाने पर, उसके विषयरूपेण भासमान 'ज्ञेय' तिरोहित हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि योगमार्ग की प्रारंभिक स्थिति में ऊर्ध्वगति के साथ-साथ ज्ञान जैसे-जैसे निर्मल होता जाता है, ठीक उसी मात्रा में 'ज्ञेय' के साथ एकाकार होता जाता है। क्रमशः विश्व आकार से रहित होकर निराकार आत्मसत्ता में तादात्म्यलाभ करता है। इसी का नाम 'विश्वभेद' है।

विश्व, व्यष्टि तथा समष्टि सभी आकार लेकर बना हुआ है। यह विकास के क्रमानुसार भासमान होता है। परन्तु अग्रगति से योगी का ज्ञान निर्मल होने के प्रभाव से साकारविश्व ज्ञानरूप में आभासमान होकर अंत में निराकार आत्मसत्ता में ही पर्यवसित हो जाता है। उस समय ज्ञाता आत्मा ज्ञेयरूपेण अपने को ही पा जाता है अर्थात् जो ज्ञाता है वह स्वयं ही निराकाररूपेण ज्ञेय हो जाता है। बहुत से साधक इस निराकार आत्मदर्शन को ही साधना का परमलक्ष्य समझ कर यहीं रुक जाते हैं। परन्तु यह है आत्मा का 'पृष्ठदर्शन' मात्र। यह दक्षिणावर्तगति का चरम निष्कर्ष है। यह साधना की अनुलोमगति है।

सद्गुरु की कृपा रहने पर इस स्थान पर रुके बिना योगी सहसा मुड़कर वामावर्त गति से चलकर अपने स्वरूप के पास जाता है। इसे विलोम गति की संज्ञा दी गयी है, उस समय पूर्व दक्षिणावर्त में जो ज्ञेयरूपी विश्व ज्ञान में लय हो गया था, उसका पुनरुत्थान होता है। ध्यान रखना चाहिए कि वह पुनरुत्थान चिन्मयस्वरूप में होता है। पहले विश्व मायिक

अचित् अर्थात् जड़भावापन्न था। विलोमगति न होने पर जड़विश्व की निवृत्ति होकर निराकार आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है परन्तु गुरुकृपा से पुनर्गति होने से अस्तंगत विश्व का पुनरुद्धार होता है। किन्तु अब वह जड़ न होकर चिन्मय हो जाता है। लय होने का मार्ग समाप्त हो गया। इस स्थिति में समस्त अस्तंगत विश्व का क्रमशः पुनरुद्धार होता है। अंत में जब समस्त विश्व के चिन्मय रूप रंग का पुनरुत्थान हो गया तब विश्वात्मक आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। यह आत्मा का 'संमुखदर्शन' है। यही समस्त विश्वात्मक आत्मा का साकारदर्शन है। पहले आत्मा के निराकाररूप की प्राप्ति हुई, उस समय विश्व भी निराकार था, अब आकार का नित्य साकाररूप प्राप्त हुआ, परन्तु हैं ये दोनों परस्पर नितांत भिन्न— एक अनुलोमगति का फल, आत्मा का पृष्ठरूप और दूसरा विलोमगति का फल, आत्मा का सम्मुखरूप।

ये दोनों स्वरूप वस्तुतः एक ही आत्मा के अखंडस्वरूप के अंतर्गत हैं, जिसका दर्शन होता है सरलगति का अनुसरण करने से। उस समय गति का आवर्तन नहीं रहता—न दक्षिणावर्तन, न वामावर्तन। गति का आवर्तन न रहने से इस सरलगति का प्राकट्य होता है। इससे केंद्रस्थबिंदु का अखंडरूपेण दर्शन मिलता है। ठीक वैसे हो जैसे योगमार्ग में इंगला और पिंगला की आवर्तगति है, चाहे वह दक्षिणावर्त हो या वामावर्त और मध्यस्थित सुषुम्ना की सरलगति, जिससे आत्मा के पूर्णरूप का साक्षात्कार होता है। इससे साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण प्रभृति द्वन्द्वों का क्षोभ नहीं रहता। इस प्रकार सरलगति से पूर्णसत्ता का दर्शन तो होता है परन्तु प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि द्रष्टा और दृश्य, उपासक और उपास्य में व्यवधान अब भी रहता है। वक्रगति निवृत्त होने से पूर्णसत्य के साक्षात्कार में जो बाधक है वह निवृत्त हो जाता है। परन्तु व्यवधान हटे बिना दोनों में योग नहीं हो सकता। पूर्ण स्वरूप का निरंतर, अनिमेष भाव से दर्शन करते-करते वह व्यवधान भी हट जाता है तब पूर्ण आत्मस्वरूप के साथ आत्मा के योग की सूचना होती है—उपासक और उपास्य दोनों में योग का आरंभ होता है। उसके अनंतर योगप्रक्रिया का गाढ़त्व होने पर उपासक उपास्य में अनुप्रविष्ट हो जाता है तथा उपास्य उपासक में। तभी दोनों समरस होते हैं। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

"शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः"

यही समरसता है। शिव कहिये तो दोनों शिव ही हैं, शक्ति कहिए तो दोनों शक्ति। दोनों एक दूसरे से पूर्णतया अभिन्न हैं। इस सामरस्य को पौराणिक लोग सायुज्य नाम से वर्णन करते हैं। यह योग की पराकाष्ठा है। इसके बाद सामरस्य भी नहीं रहता। उसका अतिक्रम हो जाता है। वही आत्मा की पूर्णस्थिति है। वहाँ सब कुछ है अथच कुछ भी नहीं है। इसमें परिपक्वता होने पर आत्मा अचल हो जाता है।

❖

साधना और देहतत्त्व

साधारणत: हम लोग स्थूल अथवा पांचभौतिकदेह से ही परिचित हैं। मायिकजगत् में यह ठीक भी है। यह स्थूलदेह मातृगर्भ से उत्पन्न होकर भूमिष्ठ होता है और समय पूरा हो जाने पर मृत्युमुख में पतित होता है। परन्तु स्थूलदेह के भीतर उसके साथ अविनाभाव से संयुक्त एक सूक्ष्मसत्ता रहती है। उसको विभिन्न अवस्था में सूक्ष्म, लिंग, आतिवादिक प्रभृति नाम दिया जाता है। सूक्ष्मदेह के संबंध से स्थूल-क्रियाशील रहता है। एक दृष्टि से कहा जाय तो सूक्ष्मदेह से जो स्थूलदेह का संबंध है—वही जन्म है और सूक्ष्मदेह से स्थूलदेह का अलग हो जाना ही मृत्यु है। वास्तव में सूक्ष्मदेह स्थूल में आये बिना भोगादि किसी क्रिया में समर्थ नहीं होता। कारण कि स्थूल देह ही भोगायतन है, सूक्ष्म नहीं।

स्थूलदेह में जो कुछ कर्म या भोग आस्वादन किया जाता है, सबका संस्कार सूक्ष्मदेह में संचित रहता है। यह सूक्ष्मदेह अनादिकाल से चला आता है और जब तक मोक्ष न होगा तब तक रहेगा। परन्तु स्थूलदेह निरंतर आवागमन करता है। वह जन्ममरणरूप कालचक्र में घूमता रहता है। आत्मस्वरूप ज्ञान का उदय होने पर यह आवागमन रहित हो जाता है। कर्मसंस्कार जो संचित रहता है, वह अतीतसंस्कारों से आया हुआ है, उसकी निरंतर वृद्धि होती रहती है। अभिमानशील जीव संस्कार के कारण कर्म करके फिर अभिनवसंस्कार का उत्पादन करता है। भोग से कुछ पूर्वसंस्कार कट जाते हैं किन्तु अभिमान से कुछ अभिनवसंस्कार उत्पन्न भी होते रहते हैं। क्रियमाणकर्म अभिनवकर्म का नामांतर है। संचितकर्म उसी का फल है। इस संचितकर्म में कुछ अंश वर्तमान देहभोग के लिए अलग हो जाता है। उसको प्रारब्धकर्म कहते हैं। वह संचतिकर्म का ही एक अंश है। प्रारब्ध से जन्म, आयु और भोग की निष्पत्ति होती है। यह मृत्यु के समय में प्रकट होता है। उसी के द्वारा आगामी जन्मादि नियंत्रित होते हैं। आत्मज्ञान का उदय होने पर भी साधारणदृष्टि से अज्ञान का आवरणांश नष्ट हो जाता है, परन्तु विक्षेपांश रह जाता है। उसी को प्रारब्ध की संज्ञा दी गयी है। इसे भोग द्वारा समाप्त करना पड़ता है। हाँ, अत्यंत तीव्र ज्ञान, उत्कट भक्ति या श्रेष्ठ योगकर्म प्रारब्ध को भी समाप्त कर सकता है किन्तु यह सबके लिए संभव नहीं है।

सूक्ष्मदेह के अंतरंग में एक कारण देह है। सांख्य में इसका नामोल्लेख नहीं मिलता, किन्तु वेदांत में विस्तार से परिचय दिया गया है। इसी प्रकार न्यायवैशेषिक में सूक्ष्मदेह का यथोचित विवरण उपलब्ध नहीं होता, परन्तु सांख्य में मिलता है। यह सोपानपरंपरान्याय का व्यापार है। कारणदेह अज्ञानात्मक और अज्ञानमूलक है। वेदांत में स्थूलदेह को अन्नमयकोष, सूक्ष्मदेह को प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमयकोष को समष्टि और कारणदेह को आनंद-मय कोष बताया गया है। यही पंचकोष हैं। परन्तु परमतत्व के गंभीर अंतर्देश में प्रवेश करने पर देख पड़ता है कि देहकल्पना की निवृत्ति यहाँ भी नहीं है। यहाँ कारणदेह के ऊर्ध्व में महाकारण देह का संधान मिलता है, जो त्रिगुणातीत एवं शुद्ध सत्त्वमय है। कोई-कोई शैवाचार्य इसे बैंदवदेह भी कहते हैं। बिन्दु का नामांतर महामाया है। कारणदेह मायिक है, महाकारण देह महामायिक, परन्तु है यह भी जड़, यद्यपि अत्यंत निर्मल है। यह महाकारणदेह अचित् होते हुए भी शुद्धि की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

अंतर्दृष्टि निर्मल हो जाने पर जान पड़ता है कि महाकारणदेह के परे भी देह है। इसका परिचय संतों तथा अवधूतों की रचनाओं में मिलता है। इसका नाम है कैवल्यदेह। महाकारणदेह अत्यंत शुद्ध होने पर भी अचित् है किन्तु कैवल्यदेह चिदात्मक है। इस दृष्टि से विचार करने पर पंचदेह का परिचय मिलता है। इसका निदर्शन निम्नांकित प्रकार से हो सकता है—

देह
- तत्त्वरूपीदेह
  - चित्तत्त्वमय
    - ५. (कैवल्यदेह)
  - अचित्तत्त्वमय
    - शुद्ध अचिततत्त्वमय
      - ४. (महाकारणदेह)
    - अशुद्ध अचितत्त्वमय
      - ३. कारणदेह
      - कार्यदेह
        - २. सूक्ष्मदेह
        - १. स्थूलदेह
- तत्त्वातीतदेह

संत-साहित्य में इस पंचदेह का विशुद्ध परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तत्त्वातीत देह भी है, उसे कोई-कोई संत हंसदेह नाम से पुकारते हैं। आगम का शाक्तदेह किसी अंश में इसके अनुरूप है, क्योंकि शाक्तदेह और कैवल्यदेह चिदात्मक होने पर भी परस्पर विलक्षण हैं। हंसदेह में चित्शक्ति का खेल मालूम नहीं पड़ता किंतु शाक्तदेह में पड़ता है। इनके अतिरिक्त भावदेह, प्रेमदेह, विज्ञानदेह, रसमयदेह प्रभृति विभिन्न प्रकार के देहों की चर्चा आध्यात्मिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलती है, जिसे विशुद्धज्ञानदेह या त्रिवेदीदिव्यचक्षु नाम से कहा गया है, वह ज्ञानदेह बैंदवदेह के ही अनुरूप है, तथापि इनमें कुछ अंतर है। इसी प्रकार अन्य देहों के विषय में भी प्रत्यक्ष में वैशिष्ट्य है। स्वरूपदेह का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इसका किंचित् आलोचन मध्व-संप्रदाय के साहित्य में मिलता है। देहतत्त्व के संबंध में इसका समीक्षण अपेक्षित है। इन सब मतों में मुक्तावस्था में भी स्वरूपदेह रहता है। वहाँ 'स्वरूप' ही देह है, यह समझना चाहिए। प्राचीनवैष्णव इसी को साकार-सिद्धि कहते थे। इस अवस्था में देह और आत्मा में केई भेद नहीं रहता। 'उपनिषद्' तथा 'ब्रह्मसूत्र' में प्रकारान्तर से अनेक स्थलों में इसकी महिमा गायी गयी है। छान्दोग्य उपनिष्द् की एक पंक्ति है—

''परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते।''

अर्थात् परमज्योति अथवा ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर माया, अविद्या, कालादि के आवरण से मुक्त होकर प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। वह सच्चिदानंदमय है। सच्चिदानंद निराकार भी है, साकार भी। साकार में एक भी है, अनंत भी।

अंतर्दृष्टि निर्मल हो जाने पर जान पड़ता है कि महाकारणदेह के परे भी देह है। इसका परिचय संतों तथा अवधूतों की रचनाओं में मिलता है। इसका नाम है कैवल्यदेह। महाकारणदेह अत्यंत शुद्ध होने पर भी अचित् है किन्तु कैवल्यदेह चिदात्मक है। इस दृष्टि से विचार करने पर पंचदेह का परिचय मिलता है। इसका निदर्शन निम्नांकित प्रकार से हो सकता है—

- **देह**
  - तत्त्वरूपीदेह
    - चित्तत्त्वमय — ५. (कैवल्यदेह)
    - अचित्तत्त्वमय
      - शुद्ध अचित्तत्त्वमय — ४. (महाकारणदेह)
      - अशुद्ध अचित्तत्त्वमय
        - ३. कारणदेह
        - कार्यदेह
          - २. सूक्ष्मदेह
          - १. स्थूलदेह
  - तत्त्वातीतदेह

संत-साहित्य में इस पंचदेह का विशुद्ध परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तत्त्वातीत देह भी है, उसे कोई-कोई संत हंसदेह नाम से पुकारते हैं। आगम का शाक्तदेह किसी अंश में इसके अनुरूप है, क्योंकि शाक्तदेह और कैवल्यदेह चिदात्मक होने पर भी परस्पर विलक्षण हैं। हंसदेह में चित्शक्ति का खेल मालूम नहीं पड़ता किंतु शाक्तदेह में पड़ता है। इनके अतिरिक्त भावदेह, प्रेमदेह, विज्ञानदेह, रसमयदेह प्रभृति विभिन्न प्रकार के देहों की चर्चा आध्यात्मिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलती है, जिसे विशुद्धज्ञानदेह या त्रिवेदीदिव्यचक्षु नाम से कहा गया है, वह ज्ञानदेह बैंदवदेह के ही अनुरूप है, तथापि इनमें कुछ अंतर है। इसी प्रकार अन्य देहों के विषय में भी प्रत्यक्ष में वैशिष्ट्य है। स्वरूपदेह का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इसका किंचित् आलोचन मध्व-संप्रदाय के साहित्य में मिलता है। देहतत्त्व के संबंध में इसका समीक्षण अपेक्षित है। इन सब मतों में मुक्तावस्था में भी स्वरूपदेह रहता है। वहाँ 'स्वरूप' ही देह है, यह समझना चाहिए। प्राचीनवैष्णव इसी को साकार-सिद्धि कहते थे। इस अवस्था में देह और आत्मा में केई भेद नहीं रहता। 'उपनिषद्' तथा 'ब्रह्मसूत्र' में प्रकारान्तर से अनेक स्थलों में इसकी महिमा गायी गयी है। छान्दोग्य उपनिष्द् की एक पंक्ति है—

''परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते।''

अर्थात् परमज्योति अथवा ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर माया, अविद्या, कालादि के आवरण से मुक्त होकर प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। वह सच्चिदानंदमय है। सच्चिदानंद निराकार भी है, साकार भी। साकार में एक भी है, अनंत भी।

सृष्टि का रहस्य

भगवान् के आनंदस्वरूप से ही सृष्टि होती है। उपनिषद् का कहना है—

''आनंदाद्धि खलु इमानि भूतानि जायन्ते''

भगवान् में अनंत शक्तियाँ हैं, किन्तु उनमें मूल में पंचशक्तियाँ प्रधान हैं। इन पंचशक्तियों में तंत्र की दृष्टि से चित् और आनंदशक्ति अंतरंग हैं और इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति बहिरंग। अंतरंगशक्ति में भी चित् अतरंग है और आनंद बहिरंग। जब सृष्टि की आवश्यकता होती है तब इच्छाशक्ति का प्रयोग किया जाता है। इच्छा आनंदशक्ति का आलंबन करके बीजरूपेण अपने विषय का रूप धारण कर लेती है। मान लीजिये, योगी की इच्छाशक्ति आम को लेकर उत्पन्न हुई। आम की इच्छा के उदय के साथ ही साथ अखंड आनंद क्षुब्ध होकर बीजरूपेण आम का रूप धारण कर लेता है। यह क्षोभ आनंद में होता है, चित् में नहीं। इसीलिए चित् से सृष्टि नहीं होती, आनंद से होती है। इच्छाशक्ति के प्रभाव से वही बीजरूप आम भावरूप में प्रकटसत्ता ग्रहण कर लेता है मानो योगी का जो ज्ञान है वही आम का आकार धारण कर लेता है। परन्तु यह ज्ञानात्मक आम योगी ही देख सकता है, सामान्यतया दृष्टिगोचर नहीं है। उसके बाद ज्ञान से क्रिया का उदय होने पर ज्ञानात्मक आम अज्ञान अथवा माया में अर्थात् क्रियाशक्ति में प्रकट होता है। यही बाह्यसृष्टि है, जो इंद्रियगोचर है। इसको जैसे योगी देखता है, वैसे सभी लोग देख ही नहीं, सर्वेंद्रिय से ग्रहण भी कर सकते हैं। यह स्वनिरपेक्ष-निर्वैयक्तिक, परोक्ष सत्य (आब्जेटिक्व रियलिटी) है। यही मायिकसृष्टि है। इसमें जागतिक दृष्टि से कौन-कौन उपादान विशेष रूप से विद्यान रहते हैं, इसके जानने की आवश्यकता नहीं। प्रकृति के नियमानुसार वह स्वत: हो जाता है। इसी प्रकार उसका तिरोभाव भी हो सकता है। तिरोभाव केवल क्रियाशील के राज्य से ज्ञानशक्ति में ले जाना है। इतना ही पर्याप्त है। तिरोभाव की यह प्रक्रिया ज्ञान से इच्छा में और इच्छा से आनंद में भी क्रमश: हो सकती है। यही सम्यक् तिरोभाव है। ज्ञान के राज्य में रहने पर योगी के सामने वह ज्ञेयरूप में रहता है, किन्तु जगत् के लिए तिरोहित है। प्रयोजन होने पर योगी उसकी पुन: सृष्टि कर सकता है, ज्ञान से ज्ञेय में ले आकर। केवल इतना ही नहीं, इच्छा में संहार हो जाने पर भी पदार्थ की पुन: सृष्टि हो सकती है, उसे प्रकट कर प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किन्तु संहार की यह प्रक्रिया यदि इच्छा के बाद आनंद और आनंद के पश्चात् चित् तक पहुँच गयी हो, तो पुनरुत्थान की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

❖

माया और प्रकृति

परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों की संख्या नहीं होती, परन्तु तत्वविचार के लिए श्रेणीभेद मानकर किया जाता है। तदनुसार अंतरंगा, बहिरंगा और तटस्था—इस

प्रकार से उनके तीन विभाग किये गये हैं। परमेश्वर का स्वरूप सच्चिदानंदमय होने के कारण उनकी अंतरंगाशक्ति भी सच्चिदानंदरूपा है, सदंश लेकर के संधिनीशक्ति, चिदंश से संवित्‌शक्ति और आनंदांश से आह्लादिनीशक्ति का संबंध है। मध्य में तटस्थशक्ति है, बहिरंगाशक्ति है माया। दोनों के बीच में तटस्थशक्ति से जीव का, बहिरंगाशक्ति से जगत् का और अंतरंगा से चिदानंदमयधाम का आविर्भाव होता है। यह तो माया का स्थूल परिचय है।

महामाया और योगमाया भी इसी प्रसंग में आलोच्य हैं। योगमाया वस्तुतः चित्‌शक्ति है। उससे परमेश्वर की नित्यलीलाओं का व्यापार चलता रहता है। यह विशुद्धस्वरूपा है। माया के ऊपर एक महामाया भी है। माया के नीचे प्रकृति है। इसीलिए परमेश्वर की अचित्‌शक्ति के भी एक दृष्टि से तीन विभाग हैं—महामाया, माया और प्रकृति। यद्यपि किसी-किसी श्रौतग्रंथ (विशेषतः उपनिषदों) में माया और प्रकृति को एक मान लिया है, परन्तु यह स्थूलदृष्टि की बात है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। माया को जब प्रकृति से विलक्षण माना जाता है तब वह निर्गुण होने पर भी मलिन है। महामाया, माया की अपेक्षा शुद्ध है, परन्तु महामाया भी अचित् है। महामाया-भेद करने पर ही माया से मुक्ति मिलती है। उस समय दो प्रकार की परिस्थितियाँ संभव हैं, एक तो आत्मा की विशुद्ध कैवल्यावस्था, जिससे चित्‌शक्ति का किसी प्रकार भी संबंध नहीं है, यह चित्‌स्वरूपावस्था है। इसके बाद परमेश्वर का परम अनुग्रह रहने पर दूसरी अर्थात् उन्मनी अवस्था का उदय होता है, जिसमें आत्मा शिवरूपी होकर परमशिव की स्थिति अवस्थान करता है। उन्मनीशक्ति का आविर्भाव होन के बाद स्वतः एव तिरोभाव हो जाता है। उसके **अनंतर** आत्मा को परमेश्वर प्राप्त हो जाता है।

जो साधक विवेकमार्ग से चलते हैं, वे पहले प्रकृति से मुक्त होकर कैवल्यावस्था प्राप्त करते हैं। परन्तु माया और महामाया का भेदन न होने के कारण यह कैवल्य त्रिगुणातीत होने पर भी निम्नतम अवस्था है। विवेकमार्ग से जब आत्मा माया से भी मुक्त हो जाता है तब उच्चतर कैवल्यावस्था का लाभ होता है। यह आत्मा प्रकृति और माया दोनों से मुक्त है, जन्ममरणचक्र से भी मुक्त है, परन्तु चित्‌शक्ति का विकास न रहने के कारण, यह भी उच्चकोटि का कैवल्य नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में भी चित्‌शक्ति का उन्मेष न रहने के कारण आत्मा का स्वरूपभूत शिवभाव अभिव्यक्त नहीं होता। विवेकमार्ग का परमलक्ष्य है उत्तम कैवल्य, जिसमें महामाया का भी अतिक्रमण हो जाता है। परन्तु यह भी पूर्णत्व नहीं है। फिर भी इतना सत्य है कि इस अवस्था में आत्मा से अचित् संबंध पूर्णतया विगलित हो जाता है। चित्‌शक्ति का उन्मेष न होने पर भी यह एक प्रकार की निर्वाण के अनुरूप अवस्था है। विवेकमार्ग के यही तीन लक्ष्य हैं।

योगमार्ग इससे भिन्न है। परन्तु यथार्थ योगमार्ग, परमेश्वर के शक्तिपात बिना अर्थात् शुद्धविद्या के उदय हुए बिना मिल नहीं सकता। योगमार्ग में योगी को गुरुदत्त महामायामयदेह अर्थात् बैंदवदेह की प्राप्ति होती है। शुद्ध विद्या विशुद्ध अहमात्मकज्ञान है। मायिकजीव का ज्ञान इस प्रकार का नहीं है, क्योंकि माया भेदज्ञान का मूल है। इसीलिए प्रत्येक कायिकज्ञान में इदंभाव का अनुप्रवेश रहता है। विवेकमार्ग में इदं से अहं का पृथक् भाव हो जाता है। इदं अचित् है, अहं चित्। अज्ञान के समय में अचित् में अर्थात् देहेंद्रिय मन-बुद्धि प्रभृति में अहं अर्थात् आत्मा का तादात्म्यबोध होता है। विवेक पूर्ण होने पर भी अचित्‌भाव से शुद्ध

चिद्‌भाव अलग हो जाता है। इस स्थिति में चिद्‌भावात्मक आत्मा में अहंप्रतीति का उदय नहीं होता। यही कैवल्य है। किन्तु योगमार्ग में ऐसा नहीं होता। इसमें अहंप्रतीति का ही क्रमश: विकास होता है और उसी क्रम से इदंप्रतीति का तिरोधान अर्थात् इदं अहं में अनुवृत्त हो जाता है। अंत में जब अहंभाव पूर्ण हो जाता है और साथ ही साथ इदंभाव शून्य हो जाता है, उस अवस्था का नाम है पूर्ण-अहंता अर्थात् एकअहं ही अहं है, इदं है ही नहीं। यही परमेश्वर की स्थिति है। 'दुर्गासप्तशती' में इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहा गया है—

''एकैवाऽहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।''

अहं जब पूर्ण हो जाता है तब इदं का कोई स्थान नहीं रहता। इस समय विश्व इदंरूपेण प्रतीयमान हो रहा है, परन्तु उस समय वह आत्मस्वरूप से अभिन्न हो जाता है और अहंरूपेण प्रकाशमान होता है। यह पूर्ण अहंभाव ही, जिसमें आत्मा की अखंडशक्ति स्वातंत्र्यरूपेण अभेद से विद्यमान रहती है, पूर्णत्व है। योगमार्ग से यहाँ तक पहुँच सकते हैं, विवेकमार्ग से नहीं। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि प्रकृति, माया तथा महामाया तीनों का पर्यवसान पूर्ण अहंतारूपी संवित्‌शक्ति में है।

माया भगवान् की अचिंत्यशक्ति है। यह अघटन-घटना-पटीयसी परमेश्वर की निज शक्ति है। इसी ने जीवरूपी आत्मा को व्यामोह में कर रखा है। पशुरूपी जीव इस मायारूपा स्वशक्ति से मोहित होकर संसार में विचरण करता है। परन्तु शुद्धविद्या के प्रभाव से स्वरूपज्ञान खुल जाने पर यही माया अपने अधीन होकर आत्मा से स्वातंत्र्य का स्फुरण करती है। आत्मा की स्वातंत्र्यशक्ति खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरीरूपेण उसका अनुगमन करती है। यह आत्मा शिवरूपी आत्मा है किन्तु पशु अवस्था में यही स्वातंत्र्यशक्ति खेचरीचक्र, गोचरीचक्र, दिक्चरीचक्र तथा भूचरीचक्र बनकर उस पशुरूपी आत्मा को शृंखलित किये रहती है। वस्तुत: आत्मा अपनी शक्ति से—वह आंतरिक हो या बाह्य, अभिगत नहीं होता। वह स्वशक्ति से ही व्यामोहित होता है। यह अपनी शक्ति से स्वयं ही व्यामोहित क्यों होता है? यही इसकी विश्व-नाट्य-लीला का रहस्य है। आत्मा अपने को संकुचित करके, परिमित-प्रमाता या पशु बनकर तथा माया के अधीन होकर, कर्म से संश्लिष्ट होता है और तदनुसार सुखदु:खादि भोग करता है। कर्म से ही कारणदेह का ग्रहण तथा भोगसंपादन दोनों होता है। कर्म का मूल है माया, माया का मूल है आत्मा का संकोच और उसके मूल में है आत्मा की स्वातंत्र्यशक्ति का खेल।

❖

कृपा और क्रिया

अध्यात्ममार्ग का परमलक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। इसके लिए आरंभ में उपाय का अवलंबन करना आवश्यक होता है। जब तक साधक में देहाभिमान प्रबल रहता है और उसके मन में कर्तव्यबोध (ईगोसेंस) की क्रीड़ा चलती रहती है, तब तक उसके लिए कर्म छोड़कर

किसी अन्य मार्ग से जाना कठिन है। अपनी प्रकृति के अनुसार धारा ज्ञान, भक्ति अथवा योग—कोई भी क्यों न हो, कर्म के अतिरिक्त किसी से भी उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कर्म में प्रवृत्ति अभिमान की प्रेरणा से होती है। शरीरधारी प्रतिक्षण कर्म करता रहता है। अभिमान के राज्य में रहकर उससे मुक्त होना संभव नहीं। इसलिए कर्म के कौशल का सहारा लेना पड़ता है, ''योगः कर्मसु कौशलम्।'' कौशल यह है कि कर्म में जो बंधन की आशंका है, उससे मुक्त रहना अथच कर्म करना। बंधन का कारण है चित्त का मालिन्य, जिसका हेतु है फलाकांक्षा। साधारणतः सभी मनुष्य फल की आकांक्षा करके ही कर्म करते हैं। यह कामना या आकांक्षा चित्त को मलिन करती है। फल मिले चाहे न मिले उसकी प्राप्ति की इच्छा चित्त को कलुषित कर ही देती है। इसलिए कर्तृत्वबोध त्याग कर कर्म करना चाहिए, इसी का नाम है योगस्थ कर्म। इसमें आसक्ति नहीं रहती और सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव रहता है। यह समत्व ही योग है। इस प्रकार से कर्म करते-करते चित्त प्रायः शुद्ध हो जाता है। उस अवस्था में अभिमान शिथिल हो जाने के कारण नाना प्रकार के कर्म करने की सामर्थ्य नहीं रहती। आत्मा असमर्थता का अनुभव करती है। इस दशा में शिथिल हो जाने पर भी अभिमान लेशमात्र रह जाता है। उसे निःशेष करने के लिए भी कर्म करने की आवश्यकता रहती है। उस समय और कुछ करने में ध्यान न देकर परमेश्वर का आश्रय करना ही सर्वोत्कृष्ट कर्म होता है। इसी को शरणागति या प्रपत्ति कहते हैं अर्थात् संन्यास भी यही है।

किसी प्रकार के विशिष्टकर्म में लिप्त न होकर एकमात्र परमात्मा की ओर दृष्टि देकर उन्हीं को पकड़ कर रहना शरणागति-धर्म का नित्य लक्षण है। ऐसा होने पर शनैः शनैः कर्म छूट जाता है। जब तक साधक के हृदय में अभिमान का आभास भी रहता है, तब तक उसे कर्म करना ही पड़ता है। भगवान् को सर्वतोभावेन आश्रयरूपेण वरण करने में मन को लगा देने से शरणागत साधक का कर्तृत्वबोध निवृत्त हो जाता है। जब तक इसकी पूर्णतया निवृत्ति न हो, प्रयोज्य कर्तृभाव से छुटकारा नहीं मिल सकता। इस अवस्था को प्राप्त होकर साधक के स्थान पर प्रयोज्यकर्ता परमात्मा स्वयं हो जाता है—

''त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि''

से इसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है। साधक समझता है कि यद्यपि प्रत्यक्षतः वही सब कुछ करता है किन्तु वास्तविक प्रेरक एवं कर्ता अंतर्यामी भगवान् है। इसके अनंतर यह आभासरूप कर्तृत्व भी छूट जाता है, तब साधक निश्चिंत हो जाता है। उसका उत्तरदायित्व छूट गया, वह कर्ता रहा ही नहीं। स्वयं भगवान् कर्तृरूप लेकर स्फुरित हो गये। साधक को उस समय यह भी भान नहीं रहता कि वह किसी से प्रेरित होकर कर्म करता है। वह साक्षी या द्रष्टा रूप में परिणत हो जाता है। जब साधक द्रष्टा हो गया, तब श्री भगवान् हो गये कर्ता। साधक के ही शरीर, मन, बुद्धि आदि से जो कुछ कर्म होता है, वह अनुभव करता है कि करनेवाला भगवान् है, वह नहीं है। वह तो उसका द्रष्टामात्र है। उस समय साधक धर्माधर्म से मुक्त हो जाता है और श्रीभगवान् के चरण का आश्रित होकर उनकी विचित्र-अनंत-लीलादर्शन का अधिकारी होता है। इससे सिद्ध होता है कि साधारणदृष्टि से क्रिया का स्थान पहले है और कृपा का उसके बाद। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि क्रिया के

मूल में भी कृपा रहती है। वह कृपा गौण है। मुख्य कृपा का प्रकाश तब है जब साधक निश्चित शिशु के सदृश द्रष्टाभाव लेकर श्रीभगवान् के चरणों में स्थितिलाभ करता है।

इस विषय में आगम के दृष्ट्यनुसार प्राचीन तांत्रिक लोग निर्देश करते हैं कि सामान्य दृष्टि से उपाय का आलंबन का उपेय को प्राप्त करना होता है। आणवोपाय तब तक है, जब तक चिदणुरूपी जीवात्मा अहंकार के अधीन रहता है। देहाभिमान, इंद्रियाभिमान, प्राणाभिमान, बुद्ध्यभिमान, मनोभिमान प्रभृति अभिमान के प्रकारभेद हैं। इस अभिमान के कारण कर्म आवश्यक होता है। तत्तद् कर्म से तत्तद् अभिमान शांत हो जाता है। अभिमान शांत होने पर उसके प्रेरणामूलक कर्म स्वतः समाप्त हो जाते हैं। उस समय साधक के लिए विधिनिषेध का उपयोग नहीं रहता। प्रश्न उठता है कि यह अवस्था कौन सी है? यह वह स्थिति है, जिसमें जीव का अनुभव या पशुत्व निवृत्त होने के लिए उन्मुख है अर्थात् उसकी अंतःस्था चित्शक्ति की अनादिकाल की निद्रा भंग हो गयी। यह प्रबुद्धभाव की पूर्वावस्था है। लौकिक परिभाषा में इसी का नाम कुंडलिनी का जागरण है। जब संवित्शक्ति जागरित हो जाती है तब साधक-आत्मा को अपनी ओर से परमार्थ के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। अवश्य देहाभिमान किंचित् रहने से आभासस्वरूप कर्म भी रहता है, परन्तु नाममात्र को। शक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वमुख में बढ़ने लगती है और उसी शक्ति के प्रवाह के साथ अचित्सत्ता भी चिदात्मक रूप धारण करके चित्सत्ता के साथ मिल जाती है। गोमुखी से हिम के दुर्ग का भेदकर जब गंगा जलरूप में तरल होकर बहने लगती है तब वह अपने वेग से स्वभाव का मार्ग लेकर महासमुद्र की ओर अग्रसर होती है। साधक जीव इस महाशक्ति का आश्रय करके समुद्र की ओर जा सकता है, उसे इसके लिए अलग प्रयत्न करना नहीं पड़ना अर्थात् उसको इस समय क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता, शक्ति की क्रिया ही उसे क्रियाशील करती है।

इसी भाँति शक्ति के साथ युक्त होकर आत्मा शिव अथवा ब्रह्मरूपी महासमुद्र में पहुँच जाता है। उस समय जीव को भी शिवत्वलाभ हो जाता है, ठीक जैसे गंगा समुद्र में जाकर समुद्रभावापन्न हो जाती है। कनिष्ठ अधिकारी के लिए जैसे आणवोपाय या क्रियात्मक उपाय का अवलंबन आवश्यक होता है, उसी प्रकार मध्यम-अधिकारी के लिए शाक्तोपाय का। इसी तत्व का प्रकाश करते हुए गीता में कहा गया है—

''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥''

समुद्र में पहुँच कर जैसे समुद्र बनना संभव है, उसी प्रकार शिवत्व प्राप्त कर आत्मा शिवरूप में आविर्भूत होता है। परन्तु यहाँ भी पूर्णत्वलाभ नहीं होता। उसके लिए वस्तुतः शांभव-उपाय चाहिए। क्योंकि शिव होने पर भी तब तक पूर्णत्व नहीं होता जब तक शिव होने का बोध भी प्राप्त न हो जाय। जब बोध भी आ गया, तब पूर्णत्व की स्थिति आ गयी। वहाँ सत्ता भी है, बोध भी। जो सत्ता है, उसे बोधरूप भी होना चाहिए। सत्ताबोध के होने पर आनंद आता है। सरल भाषा में कहा जाता है कि पहले गुरु अथवा शास्त्रनिष्ठविधान के अनुसार कर्म करना चाहिए। फिर निष्कामकर्म के प्रभाव से चित्त निर्मल होने पर पारमेश्वरीशक्ति का आश्रय करके चलना चाहिए, अहंकार का नहीं। इसी का नाम कृपा है। अंत में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर स्वरूपबोध में स्थित रहना चाहिए।

इस प्रंसग में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि कृपा और क्रिया, दोनों परस्पर सापेक्ष हैं फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि आरंभ में क्रिया अथवा कर्म का प्राधान्य रहता है, अंत में कृपा का। परिपूर्ण स्थिति में न कर्म है, न कृपा ही। किसी-किसी साधक को क्रिया के अनंतर कृपा का अनुभव होता है, किसी-किसी की कृपा के प्रभाव से कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार का तारतम्य जन्मांतरीण संस्कार के प्रभावस्वरूप होता है। कृपा में भी बहुत तारतम्य है। कृपा का यह भी एक रूप है, जिसके प्रभाव से आकृष्ट होकर भक्त भगवान् के समीप में जाता है। परन्तु महाकृपा का यह वैशिष्ट्य है कि उसके प्रभाव से भगवान् स्वयं आकृष्ट होकर भक्त के पास आते हैं। बच्चे के रोने पर माँ को आना ही पड़ता है।

❖

शक्ति का विकासक्रम : कौलिकदृष्टि

शाक्तसंप्रदाय अद्वैतवादी है। शाक्तों में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण हैं, किन्तु उनमें कुलाम्नाय की दृष्टि ही विशेषरूप से उल्लेख योग्य है। इसके अनुसार विश्व के ऊर्ध्व में जो परमसत्ता है, वह अकुल नाम से प्रसिद्ध है। यह अनंत महासमुद्र है, इसमें जब तरंग का उन्मेष नहीं होता, तब विश्व तिरोधान दशा में अवस्थान करता है, ऐसा समझना चाहिए। परमेश्वर के मुख्य पंचकृत्यों में तिरोधान और अनुग्रह—ये दो प्रधान हैं। तिरोधान की अवस्था में उनका अपना स्वरूपगोपन होता है और उसी की पृष्ठभूमि में प्रमाता-प्रमेयादि-समन्वित समग्र विश्व का उद्भव होता है। इसके बाद जब तक इस विश्व का उपसंहार नहीं होता तब तक विश्वलीला चलती रहती है। अंत में उनकी अनुग्रहशक्ति का संचार होने पर तिरोधानशक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है और विश्व परमपूर्णस्वरूप में प्रत्याहृत हो जाता है।

यह जो पहले अकुलसमुद्र का नाम लिया गया है, उसे अनंत अपार बोधरूप जानना चाहिए। इसमें तरंग का उन्मेष तब तक नहीं होता, तब तक तिरोधान का खेल चलता रहता है। परन्तु जब इसमें ऊर्मि अथवा तरंग का उन्मेष होता है, तब समझना चाहिए कि तिरोधानशक्ति अब निवृत्त ही होने वाली है। यह ऊर्मितरंग अनुग्रहात्मक है। यह स्पंदरूप है। इसका स्पर्श जिस जीव अथवा पशु आत्मा से होता है उसके अनादि संसारजीवन में परिवर्तन आरंभ हो जाता है और यह परिवर्तन क्रमशः संघटित होते-होते अंत में उसको पूर्ण और परमस्थिति में पहुँचा देता है। इस स्पंद को, जो बोध-समुद्र की एक तरंगमात्र है, चित्शक्ति का उन्मेष समझना चाहिए। यह चित्शक्ति जागृत होकर समग्र संसार और उसके मूलभूत अविद्या का कार्य-विकल्प नाश कर देती है।

जीव अथवा पशु अनादिकाल से विकल्पराज्य में वास कर रहा है। जब उन्मेष-प्राप्त चित्शक्ति अनुग्रह के काल में जीव को स्पर्श करती है तब उस समय से जीव की विकल्पदृष्टि बदलने लगती है और उसकी सत्ता में परिवर्तन संघटित होने लगता है। चित्शक्ति जाग्रत

होकर सबसे पहले काल को ग्रास करना आरंभ करती है, क्योंकि काल ही जीव में विकल्पों का जनक है। इसी कारण से उस शक्ति को कालसंकर्षिणी नाम से भी वर्णन किया जाता है। काल का ग्रास जब संपन्न हो जाता है तब फिर जीव विकल्प के अधीन नहीं रहता। परन्तु यह व्यापार साधारणतया क्रमशः होता है। इस क्रमिक शुद्धिव्यापार में सबसे पहले जीव प्रमेयशुद्धि का अनुभव करता है। जब तक प्रमेयशुद्धि नहीं होती तब तक जीव का रूपांतर हो नहीं सकता। प्रमेयशुद्धि का साधारण लक्षण यही है कि उस समय यह विराट् विश्व अपने से बाहर प्रतीत नहीं होता। तब प्रमेयशुद्धि रहने के कारण अर्थात् देहात्मबोध पूर्णत्या विद्यमान रहने के कारण आत्मा समझने लगता है कि यह विश्व उसके बाहर में है और इंद्रियादि द्वारा उसे बाह्यजगत् का अनुभव करना पड़ता है। परन्तु यह जागृति का लक्षण नहीं है। जब देह से आत्मा पृथक् है, यह बोध में आयेगा, तब विश्व बाह्यरूपेण प्रतीत नहीं होगा, इसी का निाम प्रमेयशुद्धि है, बाह्य-आभास की निवृत्ति ही इसका लक्षण है।

प्रमेय शुद्ध होने पर बाह्यजगत् नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि वास्तव में बाह्यजगत् का अस्तित्व नहीं रहता। जगत् रहता है, उसका बोध भी रहता है, परन्तु वह बोध बाह्यरूपेण नहीं रहता, अपने भीतर में है, ऐसा लगता है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिभासमान पदार्थ दर्पण से अतिरिक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उससे अतिरिक्त नहीं रहता दर्पण में ही विद्यमान रहता है, उसी प्रकार चित्शक्ति के प्रथम उन्मेष या जागरण से जगत् का बाह्य-आभास निवृत्त हो जाता है। प्रमेय का बोध तो रहता है परन्तु बाह्यरूपेण नहीं। जागृत चित्शक्ति बुभुक्षुस्वरूप है अर्थात् क्षुधार्त है। सबसे पहले यह बाह्यजगत् को आत्मसात् कर लेती है। यह अनुग्रहशक्ति का प्रथम निदर्शन है, जिसके विषय में भगवान् शंकराचार्य ने कहा है—

''विश्वं दर्पणदृश्यमान नगरी तुल्यं निजांतर्गतम्
मायया बहिरिव उद्भूतम्।''

अतएव सिद्धांत यह है कि चित्शक्ति बाह्यजगत् को ग्रास करके अपने अंतर में ले आती है, प्रमेयरूपी जगत् का लोप नहीं होता है, परन्तु इंद्रियग्राह्य विषयरूपेण उसका भान नहीं होता, आत्मा के स्वरूपांतर्गतरूपेण भान होता है।

विसर्गशक्ति से विश्व आत्मस्वरूप से बाह्यरूपेण प्रतिभासमान हुआ था, फिर बिन्दु के प्रभाव से वह भीतर में आ जाता है। इस प्रकार संवित्देवी या चित्शक्ति विषयरूपेण बाह्यजगत् को ग्रहण करके तृप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया से विषय का विषयत्व निवृत्त हो जाता है। उसका फल यह है कि विषयभोग अब नहीं रहता। विषयज्ञान उस समय रागात्मक रूप धारण करता है। इस स्थिति में वह रागरूप हो जाता है अर्थात् विषयभोग ही रागरूप हो जाता है, जिसको पराशक्ति निर्विकल्पभाव से अनुभव करती है। जाग्रत्चित्शक्ति के विकास में यही है प्रथम स्तर। प्रमेयशुद्धि इसी का नाम है। उस समय विषयभोग निर्विकल्प हो जाता है, यह पहले ही कहा गया है। यह पशु अथवा बद्धजीव का भोग नहीं है। तांत्रिकदृष्टि से यही वीर का भोग है, यही यथार्थ भोग है। यह तुरीयदशा का स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों स्थितियों में इस भोग की निवृत्ति नहीं होती। इस भोक्ता का नाम है, वीरेश्वर अथवा महावीर। शिवसूत्र में भी इसी कारण से वीरेश्वर को त्रितय (जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों का) भोक्ता कहा गया है, और एक-एक पृथक् दशा का भोग करनेवाले का नाम पशु है। यही यथार्थ भगवदर्चना है।

उस समय प्रत्येक इंद्रिय से भगवान् की पूजा होती है अर्थात् जागतिक स्थूलदृष्टि से जिसका नाम चक्षु द्वारा रूपदर्शन अथवा श्रोत्र द्वारा शब्दश्रवण है यह सब व्यापार ही भगवदुपासनास्वरूप है, पूजास्वरूप है। यह जो वीरेश्वर अथवा वीरेंद्र का भोग है, यही यथार्थ भगवदुपासना है, जो सर्वावस्था में अविचलित रहती है।

यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो! तवाराधनम्।

यह शंकराचार्य ने इसी स्थिति को लक्ष्य करके कहा है। इस दशा में प्रतिकर्म ही आराधनास्वरूप है।

यह वीरभोग समाप्त होने पर तृप्ति का उदय होता है। इसके बाद ही अंतर्मुख दशा का आविर्भाव होता है। इंद्रियवर्ग अथवा करणेश्वरी-समूह विषयभोग के अनंतर तृप्त होकर चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित होकर अभिन्नता प्राप्त करता है। इंद्रियवर्ग में जब तक विषय-भोग की आकांक्षा विद्यमान रहती है तब तक इस प्रकार की आलिंगनदशा का उदय हो नहीं सकता। उस समय में विषयभोग तो रहता ही नहीं है उसकी आकांक्षा भी नहीं रहती और करणवर्ग प्रमातृस्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् प्रमाता के पद में पहुँच जाता है। इस परिस्थिति में प्राणायाम की क्रिया नहीं रहती अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। पक्षांतर में प्रमाण और प्रमेय का संबंध भी नहीं रहता। प्रकारांतर से यह कहा जा सकता है कि तत्काल के लिए इस समय में प्राण तथा मन दोनों की क्रिया निवृत्त हो जाती है।

प्रमाता मूल में एक ही है। वही परप्रमाता है। परासंवित् उसी का स्वरूप है। ऊपर जिस स्थिति का वर्णन किया गया है, प्राचीन आचार्य लोग उसको महायोग की स्थिति कहते हैं, जिसमें सूर्य तथा चंद्र दोनों ही अस्तमित हैं। चंद्र (मन) अर्थात् प्रमाण-प्रमेय का संघर्ष, सूर्य (प्राण) अर्थात् प्राणापान का संघर्ष, जिसमें तत्काल के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों ही अस्तमित हो जाते हैं, यह सामयिक स्थिति है। इस स्थिति में प्रमेय प्रमाण से मिलकर एक हो जाता है और प्रमाण प्रमाता में जाकर लीन हो जाता है अर्थात् त्रिकुटी का भेदबोध नहीं रहता। इसी प्रकार बहत्तर हजार नाड़ियों से श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी निवृत्त हो जाती है और प्राणापान का तत्काल में साम्य हो जाता है। इसका नाम है आध्यात्मिक शिवरात्रि। शिवरात्रि में जागने का नियम है। इस दशा में भी योगी को जागकर रहना चाहिए अर्थात् स्वरूपानुसंधान से च्युत नहीं होना चाहिए। यह योगी की परीक्षा का स्थान है। पूर्णस्थिति से अभिन्न होने पर भी यह अभिन्न नहीं है। क्योंकि इससे च्युति हो सकती है। स्वरूपानुसंधान न रहने से इस अवस्था से महामाया में पतन हो जाता है किन्तु स्वरूपानुसंधान अक्षुण्ण रहने पर योगी निरावरण प्रकाशरूप परासंवित् तक उठ सकता है। निरावरण प्रकाश का उदय ही जीव का परमलक्ष्य है। इस अवस्था को, जिसको आध्यात्मिक शिवरात्रि कहा गया है, उच्चकोटि के योगी लोग 'अनाख्या-दशा' कह करके वर्णन करते हैं। इस अवस्था से निरावरण प्रकाशप्राप्तिपर्यंत विकास होने पर यही 'भासारूप' में आत्मप्रकाश करती है।

अनाख्या से 'भासा' में जाने के लिए कई भूमियाँ हैं। सबसे पहले प्रमेय के संस्कार की निवृत्ति हो जानी चाहिए। फिर प्रमेयशून्य प्रमाणभाव से स्थिति होती है। इस स्थिति के पूर्णतया सिद्ध होने पर प्रमातृभाव में प्रवेश होता है। प्रमातृभाव में भी अवांतर विशेष है। अंतिम स्थिति में परप्रमातृभाव का उदय होता है। यह परमशिव की दशा है। इस ऊर्ध्वगति

में प्रमाता उत्तरोत्तर विभिन्न अवस्थाओं का लाभ करता है। आदित्यावस्था, रुद्रावस्था, भैरवावस्था इसी में क्रमशः उदित होती हैं। उसका अर्थ है प्रमेयनिवृत्ति के बाद करणरूपी प्रमाण में प्रवेश और उसके अंत में कर्तृत्वरूपी प्रमाता में प्रवेश। इसी ऊर्ध्वगति के प्रभाव से जब रुद्रावस्था के अनंतर भैरवावस्था का आविर्भाव होता है, तब पहले महाकाल-भैरव का उदय होता है। उसके बाद काल संकर्षण व्यापार पूर्ण होने पर विश्वजननी या जगदंबा परासंवित् का आविर्भाव होता है। यही परा प्रमातृरूपावस्था है। परम शिवावस्था इसी का नामांतर है। परासंवित् की दो प्रकार की स्थिति है—एक कृशा है और दूसरी पूर्णा। जैसे कालचक्र में प्रतिमास कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का आवर्तन होता है उसी प्रकार परमा स्थिति में भी एक कृष्णपक्ष के अनुरूप अवस्था है। यह महाशक्ति की कृशादशा है तथा शुक्लपक्ष के अनुरूप अवस्था उसकी पूर्णादशा है। कृशावस्था में कलारूपा महाशक्ति लगभग निवृत्त हो जाती है, एकमात्र अमाकला रह जाती है। शेष सब कलाओं का अवसान होता है। यह कृशादशा का विवरण है। पूर्णादशा में सब कलाओं का पूर्णरूप विकास होता है। चित्कला अथवा चित्शक्ति का पूर्ण विकास होने पर महाशक्ति का पूर्ण जागरण हो गया, ऐसा समझना चाहिए।

प्रमेयशुद्धि के अनंतर प्रमाणशुद्धि और उसके पश्चात् प्रमातृशुद्धि संपन्न हो जाने पर इस पूर्णादशा का आविर्भाव होता है। ज्ञानमार्गीय विभिन्न प्रकार साधक शक्तिहीन ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए अभिलाषा करते हैं। यह शक्तिहीनब्रह्म जागतिकदृष्टि से शक्तिहीन होने पर भी वस्तुतः निष्फल नहीं है, क्योंकि अमाख्या कला उसमें नित्य वर्तमान रहती है। कौलमार्गीय अद्वैत शक्तिसाधक को छोड़कर महाशक्ति की पूर्णादशा का विवरण अन्य कोई नहीं दे सकता। जागरण की पूर्णादशा में सब कुछ चिन्मय हो जाता है। प्रमेय शुद्धि से बाह्यज्ञान के चिन्मयत्व की सूचना मिलती है। इसी प्रकार प्रमेय के अनुरूप प्रमाण तथा प्रमाता भेद भी जब शुद्ध हो जाते हैं तब पूर्ण जागृतिदशा का उदय होता है, यही महाशक्ति की पूर्णावस्था है।

इतना समझने पर महाकाल के साथ महाशक्ति का क्या संबंध है, यह विदित हो जायगा। काल के ऊपर महाकाल है, महाकाल के ऊपर संवित् स्वयं है। अंत में काल की निवृत्ति हो जाती है, यहाँ तक कि महाकाल की भी निवृत्ति हो जाती है, यही पूर्णत्व है।

❖

साधक और योग-दीक्षा

अध्यात्मसाधना में गुरु का स्थान अन्यतम है। माता के गर्भ में जैसे बीजरूप से संतान निहित रहती है एवं क्रमशः विकसित होकर अंग-प्रत्यंग की पुष्टता के साथ पूर्णता प्राप्त करती है, तदनंतर प्रसवक्रिया द्वारा भीतर से बाहर निकलती है एवं इंद्रियगोचररूप में प्रकाशित होती है, ठीक वैसे ही गुरुदत्त बीजमंत्र साधक के हृदयक्षेत्र में दीक्षादि के सिलसिले में स्थापित होने और शिष्य द्वारा यथाविधि सेवित तथा रक्षित होने पर अंकुरित होता है और

आकार धारण करता है। आगे चलकर वह साकारदेवतामय सत्ता इष्टदेवता के रूप में दृष्टि के सामने बाहर प्रकट होती है। यही प्रसव के अनुरूप व्यापार है, यही इष्टसाधना का फल है। दीक्षा के अनंतर गुरुप्रदत्त कर्मों के यथावत् एवं यथाशक्ति संपादन से क्रमशः ज्ञान और ज्ञान से भक्ति का आविर्भाव होता है। साधारण जगत्प्रसिद्ध शुष्क ज्ञान से भक्ति का कोई संबंध नहीं होता। केवल शास्त्रजनित ज्ञान का भी कोई विशेष मूल्य नहीं है। उससे अपरोक्षज्ञान का उदय नहीं होता। इस प्रकृतज्ञान की उपलब्धि गुरुदत्त कर्म से ही होती है।

सद्‌गुरु शिष्य का आधार समझ कर दीक्षा देते हैं। वे अपनी अंतर्दृष्टि से आधार की योग्यता और प्रकृतिगत वैलक्षण्य देखकर ही योगदीक्षा प्रदान करते हैं। आधार दुर्बल होने पर दीक्षादान होता ही नहीं। योगी या साधक का अधिकारनिर्णय जन्म से ही होता है। ब्राह्मण के घर में जैसे ब्राह्मण उत्पन्न होता है, उसके बाद योग्यता अर्जित कर वह ब्रह्मविद् बनता है, उसी प्रकार जीव क्षण में जन्म होने पर योगी और काल में जन्म होने पर साधक बनता है। क्षण में जन्म होने पर भी अधिकार का तारतम्य रहता है।

साधकदीक्षा और योगदीक्षा में अंतर है। कुंडलिनी का जागरण दोनों का फल है। शिष्य अपने प्रयत्न से भी कुंडलिनी जगा सकता है किन्तु वह अत्यंत कठिन है। साधक की दीक्षा में उसे इतनी शक्ति मिल जाती है जिसका पुरुषकार के साथ उपयोग करने पर कुंडलिनी जग जाती है। कुंडलिनी एक शक्तिमयज्योति है। यह साधक के लिए एक स्थिति में रहती है, योगी के लिए उससे भिन्न स्थिति में। दीक्षा के अनंतर गुरुप्रदत्त नित्यकर्म करते-करते वह जाग्रत् शुद्ध-तेज क्रमशः प्रज्वलित होता है और साधक की सत्ता में जो वासना संस्कारादि का मायिक आवरण पड़ा हुआ है, उसको भस्म कर देता है। इसी प्रकार से साधक को क्रमशः उत्कर्षलाभ होता है। अंत में सिद्धावस्था में समस्त वासनाओं का क्षय हो जाता है और पूर्वोक्त जाग्रत कुंडलिनीशक्ति इष्टदेवता का रूप लेकर अपरोक्ष भाव से प्रकट हो जाती है। परन्तु उस समय साधक की देह रहती नहीं। देहावस्था में सिद्धिप्राप्ति नहीं होती। सिद्धि के आविर्भाव के साथ ही देहांत हो जाता है।

योगी का आधार इससे विलक्षण है। सद्‌गुरु दीक्षाक्रम में ही कुंडलिनी जगा देता है। किन्तु इस स्थिति में वह केवल ज्योतिरूप में प्रकट नहीं होती, जैसे साधक के विषय में होती है। वह साकार परिनिष्पन्नरूप लेकर आविर्भूत होती है। साधक समस्त साधन-जीवन के अंत में जिस इष्टरूप का साक्षात्कार करता है, उसका लाभ योगी को प्रारंभ में ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त साधक के कर्म से योगजनित कर्म में भी वैलक्षण्य रहता है। साधक ज्योति को इष्टरूपेण अपने कर्म से परिणत कर लेता है परन्तु योगी अपने कर्म से साकार इष्टस्वरूप का आराधन करने लगता है। साधक की वासना भी दग्ध हो जाती है। इसी कारण वह निराकार ज्योति का उपासक रहता है परन्तु योगी को सामर्थ्याधिक्य से वासनादिक त्याग करना नहीं पड़ता। योगी वासनादिक को निर्मल करके अरपने स्वरूप में युक्त करते हैं। यही योग है। इसीलिए वे अपनी देह में रहते हुए भी साकार इष्टदेव का दर्शन कर सकते हैं। योगी पूर्णयोग सिद्ध होने पर महाज्ञान का अधिकार प्राप्त करते हैं। मंथन से जैसे अग्नि उत्पन्न होती है वैसे योगकर्मरूप मंथन से चिदग्नि उत्पन्न होती है। यही ज्ञानाग्नि है। इस ज्ञान में शुष्कता नहीं रहती क्योंकि इसी के प्रभाव से पूर्ण भगवत्सत्ता का

प्रकाश होता है और जीव पराभक्तिस्तर में उन्नत हो जाता है। ज्ञान से भक्ति की उत्पत्ति मानने का यही रहस्य है।

संसार की प्रचलित भक्ति उन्मादिनीभक्ति है। योगी जिस भक्ति को मानते हैं उसका ज्ञान से कोई विरोध नहीं। इस भक्ति की परिपक्वावस्था ही प्रेम है। यही साधकजीवन का परिपूर्ण विकास है। इस विषय में सिद्धांत यह है कि योगी गुरुकृपा के प्रभाव से साधन-क्रिया के फलरूप में विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त करता है उन्हें योग-विभूति कहते हैं। यथार्थ योगी ईश्वर है जिसके अधीन माया है, जो अचिंत्य-शक्ति-स्वरूपा है। इसीलिए ईश्वरत्व-लाभ करने पर ही योगी का आदर्श पूर्ण होता है। तभी वह नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों का अधिकारी होता है। इनमें इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया—ये तीन शक्तियाँ प्रधान हैं। ज्ञानशक्ति पूर्ण होने पर योगी सर्वज्ञ तथा क्रिया के प्रभाव से सर्वकर्ता हो जाता है। ज्ञान और क्रिया के समन्वय से विज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। इस विज्ञानशक्ति से योगी सृष्टि आदि कार्य कर सकता है। विज्ञानशक्ति के मूल में है प्रकृति का प्राधान्य-स्वीकार। क्योंकि प्रकृति से कार्य उत्पन्न कराने के लिए उसका क्रम ज्ञानशक्ति से जानकर क्रियाशक्ति द्वारा अनुसरण करना पड़ता है। परन्तु इच्छाशक्ति इस प्रकार की नहीं है। इच्छा के प्रभाव से योगी किसी भी प्रकार का कार्य कर सकता है, किसी भी प्रकार का ज्ञेय जान सकता है। इसीलिए वहाँ ज्ञानशक्ति की आवश्यकता नहीं है। इच्छाशक्ति के उदय होने पर ज्ञान का प्रयोजन नहीं रहता, पन्तु कार्य होता है, क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता, पर कार्य होता है। इसके अनंतर योगी, इच्छाशक्ति-सम्पन्न होकर समस्त ऐश्वरिक कार्य प्रयोजन के अनुसार करते हैं या कर सकते हैं। उसके बाद एक समय आता है जब इच्छाशक्ति को महाइच्छा में अर्पण करना पड़ता है तब अनंत अपरिच्छिन्न आनंदस्वरूप में स्थिति होती है। अब योगी को किसी कार्य के लिए इच्छा करना नहीं पड़ता, उसका सब कार्य महाइच्छा से हो जाता है। योगी निरंतर परमानंद में डूबे रहते हैं। परन्तु आनंद में भी एक प्रकार की तरंग है, क्योंकि अनुकूल भाव से आनंद होता है, प्रतिकूल भाव से दुःख। योगी जब अनुकूल-प्रतिकूल का द्वंद्व भी परित्याग कर देते हैं तब चित्-शक्ति में आरूढ़ होते हैं। यही पराशक्ति का बाह्य स्वरूप है, जिसका अवलंबन करने पर समग्र विश्व का भान होता है। इस अवस्था में स्थिति होने के बाद उसका कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। तब योगी नित्यलीला में मग्न रहते हुए भी एक ओर नित्य उदासीन रहता है, तो दूसरी ओर पूर्ण स्वातंत्र्य एवं कर्तृत्वशक्ति-सम्पन्न।

❖

ध्यान योग

स्थूल दृष्टि से योग दो प्रकार का है—क्रियायोग और समाधियोग। ध्यानयोग भी समाधियोग के ही अंतर्गत है। क्रियायोग में तीन अंश हैं—तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। संक्षेप में तपस्या का तात्पर्य यह है कि यथासंभव सावधानता के साथ शरीर, मन प्रभृति को कष्ट

सहने का अभ्यास कराना। उद्देश्य उसका यह रहता है कि देह, मन आदि शुद्ध हो जायें और अंतर्मुख होकर ध्यान समाधि के उपयोगी हों। कष्ट सहन करना तपस्या है अवश्य, परन्तु इतना अधिक कष्ट नहीं होना चाहिए कि देह सहन ही न कर सके। तपस्या के प्रभाव से शरीर शुद्ध होता है, मन भी शुद्ध हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ है सद्ग्रंथों का अध्ययन, विशेष करके गुरुदत्त-मंत्र का जप। सभी मंत्र मूल में प्रणव से उद्भूत हैं, प्रणय है ईश्वरवाचक। इसका यथाविधि जप करने से ईश्वर-साक्षात्कार होता है। ईश्वर-प्रणिधान का तात्पर्य है, ईश्वर में चित् को लगाकर रखना। व्यवहारभूमि में इसके दो रूप हैं—प्रथम है कर्तव्यकर्म करके उसका फल जगद्गुरुरूपी परमेश्वर को अर्पित करना। अधिकार प्राप्त होने पर इसका स्वरूप थोड़ा भिन्न हो जाता है। उस अवस्था में ईश्वर-प्रणिधान का तात्पर्य है, परमात्मा में कर्मफल का अर्पण न करके उसके स्थान पर स्वयं कर्म को अर्पण करना। यह दूसरा रूप ही श्रेष्ठ क्रियायोग है। क्रियायोग प्रारंभिक साधन है। उसके अभ्यास से चित् अंतर्मुख होता है और क्लेशों का पाक होता है।

ध्यानयोग अथवा समाधियोग इससे ऊपर की अवस्था है। समाधि, ध्यान की ही परिपक्वावस्था है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समाधि होने पर ही योग नहीं होता अर्थात् समाधिमात्र ही योगपदवाच्य नहीं है। चित्त जब तक एकाग्र भूमि में प्रतिष्ठित नहीं होता, तब तक समाधि योग-अवस्था तक पहुँच नहीं सकती; क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ भूमि में समाधि का आध्यात्मिक उपयोग नहीं होता। इसका कारण यह है कि इन भूमियों में रजोगुण व तमोगुण का प्राधान्य रहता है। विक्षिप्तभूमि में लेशमात्र सत्वगुण रहता है अवश्य, किन्तु वह योग के लिए उपयोगी नहीं है। चित्त की भूमि जब एकाग्र रहती है, तब यदि वृत्ति भी एकाग्र हो तो उस अवस्था को योग की संज्ञा दी जा सकती है। वृत्ति की एकाग्रता नाना प्रकार से हो सकती है। अमेरिका में इधर दवा देकर भी चित्त को एकाग्र करने की व्यवस्था की गयी है । गाँजा-भाँग खाने से भी चित्त वृत्तिशून्य तथा स्तब्ध हो जाता है। द्रव्यगुण से आकस्मिकरूपेण वृत्ति एकाग्र हो जाती है। परन्तु यह योग नहीं है। क्योंकि भूमि में एकाग्रता नहीं है। योग की प्राप्ति के पूर्व अयोग अथवा पृथकत्व (सेंस ऑव वायड) तथा पीछे वियोगजन्य आकुलता का अनुभव अनिवार्य होता है। यांत्रिक साधनों से नियोजित भूमि की एकाग्रता कुयोग मात्र है, योग नहीं। कारण कि उस स्थिति में एकाग्रता की प्राप्ति भाव में न होकर द्रव्य मात्र में होती है। इस दशा में अभावबोध न होने से सर्वव्यापक होने पर भी परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता। इसके लिए आधार की शुद्धता आवश्यक है। क्रियायोग के द्वारा क्लेशादि संस्कारों का तनूकरण अथवा पाक होता है, उसके अनंतर प्रसंख्यानयोलब्ध ज्ञान द्वारा वह क्लेश दग्ध हो जाता है। क्रियायोग का लक्ष्य पूरा न होने पर समाधियोग का पूर्णफल-लाभ नहीं हो सकता।

❖

प्रेम साधना

प्रत्येक साधना का जो स्वाभाविक मार्ग है, वही श्रेष्ठ है। कृत्रिम उपायों से भी कर्म, ज्ञान एवं प्रेम अथवा भक्ति की साधना होती है, परन्तु वह आभास-रूप मात्र है। यथार्थ प्रेमसाधना के लिए पहले भाव-साधना आवश्यक होती है। भाव-साधना स्वभाव की साधना है। शास्त्र का कोई विधि-निषेध इसमें लागू नहीं होता। स्वभाव का अर्थ है निज भाव। इसकी प्राप्ति मायिकदेह में नहीं हो सकती। जब तक मायिकदेह में अभिमान रहता है तब तक प्रेमसाधना तो दूर की बात है, भावसाधना भी नहीं हो सकती। भाव माने स्वभाव। माया के आवरण से हमारा स्वभाव आच्छन्न हो गया है। सबसे पहले इस आच्छादन या मायिक आवरण को हटाना पड़ेगा। इसके लिए नाना उपाय विद्यमान हैं, परन्तु उनमें मंत्रशक्ति प्रधान है। प्रारंभ में नामसाधन अथवा अन्य प्रकार का कोई साधन करते हुए चलना चाहिये, जब तक सद्गुरु का संबंध न हो। यह प्रारंभिक साधन यथार्थ साधन नहीं है क्योंकि जब तक सद्गुरु का संबंध न हो तब तक अंतरात्मा में प्रवेश नहीं होता। निरंतर नाम-जप से अथवा प्रकारांतर से भी सद्गुरु की कृपा हो जाती है। गुरुप्राप्ति होने पर मंत्रादि किसी क्रम से दीक्षा होती है। दीक्षा के अनंतर किसी न किसी प्रकार की उपासना का कार्य चलता है। उपासना से भौतिक देह की शुद्धि होती है, चित्त की भी। उसी शुद्धि के प्रभाव से माया का आवरण हट जाता है। इस आवरण से प्रत्येक आत्मा का अपना भाव अथवा 'स्वभाव' ढका हुआ रहता है। आवरण हटते ही 'निजभाव' खुल जाता है। इसी का नाम 'स्वभाव' की प्राप्ति है। गुरु, शास्त्र, उपदेश, दृष्टांत आदि सभी कुछ इस आवरण को हटाने के लिए हैं। आवरण हटने पर क्या होगा? इसका पता गुरु या शास्त्रों से नहीं लग सकता। यह अभावात्मक व्यापार है और निजभाव का खुल जाना भावात्मक। यह भाव प्रत्येक आत्मा का अलग-अलग होता है। 'क' के लिए जो स्वभाव है वह 'ख' के लिए नहीं। इसी प्रकार 'ख' के लिए जो स्वभाव है, यह आवश्यक नहीं कि वह 'ग' के लिए भी हो।

भाव का वैशिष्ट्य यह है कि ज्ञान आदि के सदृश उसमें भी दो कोटियाँ हैं—एक है भाव का आश्रय या आधार (सब्जेक्ट) और दूसरा है भाव का विषय या आधेय (आब्जेक्ट)। भाव, आश्रय में विषय का आलंबन करके स्फुरित होता है। भाव का जो आश्रय है, उसी का नाम भक्त है। यह भक्त देहधारी आत्मा है परन्तु यह देह मायिकदेह नहीं है, न स्थूल देह है, न सूक्ष्मदेह और न कारण देह। इसीलिए कहा जाता है कि वस्तुतः यह भावदेह मायिक नहीं है। देह रहने से आत्मा का उसमें अभिमान होता है। जैसे आत्मा का स्थूलदेह में अभिमान रहता है उसी प्रकार भाव के जागरण के अनंतर उसी आत्मा का भावदेह में अभिमान होता है। इस स्थिति में साधक का स्थूलदेह किसी प्रकार विक्षेप नहीं कर सकता। यदि ऐसा करे तो समझना चाहिए कि जागतिकभाव शुद्ध नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, एक अस्सीवर्षीय वृद्ध का भावदेह १० वर्ष के बालक के अनुरूप हो सकता है। दृष्टांतरूप में कहा जा सकता है कि वृद्ध भी जब माँ की उपासना करते हैं तब भावरूप में वे भी शिशु हो जाते हैं। यह भावदेह अमूर्त नहीं है, आकारविशिष्ट है। इसी आकार में आत्मा का अहंरूपेण अभिमान होता है। जब तक भावदेह में अभिमान नहीं होता तब तक भावसाधना

हो नहीं सकती, क्योंकि यह विचार का विषय नहीं है। भावदेह प्राप्त होने पर जैसे एक पक्ष में भावुक या भक्त का स्वाभाविक स्फुरण होता है, उसी प्रकार किसी न किसी समय पक्षांतर में भाव के विषय का भी आविर्भाव होता है। भाव के आश्रयरूप भावदेह के प्रकट होने पर, उसी के साथ-साथ 'धामप्रभृति' का भी प्राकट्य हो जाता है। परन्तु विषय का प्राकट्य तब तक नहीं होता जब तक भाव की परिपक्वता न हो जाये। भाव की परिपक्वता का उपाय भावसाधना ही है।

भाव परिवक्व होने पर प्रेमं के रूप में परिणत हो जाता है। इसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी पुष्प में सुवास या सुगंध की। यही गंध जब परिणत होकर रस का रूप धारण कर लेती है, मकरंद मधु में परिणत हो जाता है, तब वह प्रेमपदवाच्य होता है। पुष्प में मधु अथवा रस का उद्‌गम होने से जैसे भृंग को आकर्षित नहीं करना पड़ता, वह आप ही आप आता है, उसी प्रकार भाव के प्रेमरूप में परिणत हो जाने पर उसका विषय भगवत्स्वरूप स्वत: आविर्भूत हो जाता है, उसे बुलाना नहीं पड़ता। क्रियात्मिका भक्ति से भावभक्ति की यही विलक्षणता है। क्रियात्मिका भक्ति भी अंत में जब तक भावरूप में परिणत नहीं होती और भाव का जब तक परिपाक नहीं होता, तब तक भाव के विषय, श्री भगवान् का दर्शन नहीं मिल सकता। दृष्टांत रूप में यदि मातृभाव को लिया जाये तब समझना चाहिए कि भावदेह-रूपी शिशु भाव की परिपक्वता के प्रभाव से प्रेमदेह प्राप्त होने पर ही मातृस्वरूप विषय का आविर्भाव होता है, पहले नहीं। यह एक प्रकार से प्रेम की सिद्धि है, क्योंकि प्रेमाधार और प्रेमाश्रय समानाधिकरण हो गये अर्थात् माँ के अंक में शिशु ठठकर बैठ गया। परन्तु यह प्रेम ही चरमविकास नहीं है। जैसे भाव का विकास प्रेम है, उसी प्रकार प्रेम का विकास रस है। भावदेह में द्वैत रहता है उसमें संतान और माता दोनों का युक्त अनुभव होता है। परन्तु माँ के साथ संतान की और संतान के साथ माँ की अभेद उपलब्धि नहीं होती। प्रेम गाढ़ होने पर 'गलनात् द्रुति:' के अनंतर जब रस रूप में परिणत होता है, तब संतान तथा जननी दोनों ही रसमय हो जाते हैं। उस समय दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। यही रसमय तनु परमेश्वर की दिव्यलीला में प्रवेश के योग्य होता है। क्रियात्मिका भक्ति के प्रभाव से यह संभव नहीं है। भावभक्ति का भी रसपर्यंत विकास न होने पर इस दशा की प्राप्ति असंभव है। तनु रसमयी होने पर ही वह भगवान् की नित्यलीला का परिकर बन सकता है। यह है भक्ति-साधना में माधुर्य के विकास की चरमस्थिति।

इसके अतिरिक्त भक्तिसाधना की एक अन्य धारा ऐश्वर्य के विकास की भी है। उसके विकासकाल में भक्त और भगवान् अथवा संतान और जननी में व्यवधान रहता है। यही भेदभक्ति है जिसके कारण भक्त भगवान् के अनंत ऐश्वर्य से अभिभूत हो जाता है। माधुर्य के पूर्ण आस्वादन में यह पद्धति बाधक होती है। इस प्रसंग में भक्तों की दृष्टि के अनुसार चतु:षष्टि (६४) गुणों का परिचय आवश्यक है। इन्हें गुण या कला किसी भी नाम से कहा जाय, बात एक ही है। इस दृष्टि से जीव स्वरूप का चरम विकास प्राप्त होने पर मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति का अधिकारी होता है। ४९ सहायक गुण और एक महागुण मिलकर पूर्ण मनुष्य का स्वरूप निर्देश करते हैं। नरोत्तम संज्ञा इसी की है। आत्मा, मनुष्य देह में उत्तम कोटि में अवस्थान करने पर भी परमात्म-स्तर में उत्थित नहीं हो सकता। परमात्मा

और आत्मा, स्वरूप में एक ही हैं, परन्तु गुणों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से परमात्मा ऊपर है, आत्मा उसके नीचे। कोई-कोई भक्त भक्तिमार्ग से चलते-चलते पंचाशत गुणों का विकास प्राप्त होने पर नरोत्तम के रूप में परिणत होने के योग्य होते हैं। परन्तु उत्तम होने पर भी है यह जीवकोटि ही। ५१ से ५५ तक गुणों का विकास होने पर आत्मा परमात्मारूपेण योग्यता लाभ करता है। इन दोनों आत्माओं में भेद यह है कि मायाशक्ति परमात्मा के अधीन रहती है और जीवात्मा माया के अधीन, फिर भी हैं दोनों स्वरूप में एक ही आत्मा, केवल विकास का तारतम्य है। ५६ से ६० गुणों तक विकास प्राप्त होने पर परमात्मभाव से भी ऊर्ध्व में उठकर जीव भगवद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे जीवात्मा परमात्मा एक ही वस्तु हैं परन्तु एक होने पर भी जीवात्मा अधीन है परमात्मा अधीश, उसी प्रकार परमात्मा और भगवान् तत्वत: एक हैं परन्तु भगवान् की अवस्था में माया का संबंध छूट जाता है। अधिष्ठातृरूपेण भी भगवान् का माया के साथ संबंध नहीं रहता अर्थात् भगवद्-भूमि में माया को स्पर्श या क्षुब्ध करना तो दूर की बात है, वह दिखायी तक नहीं पड़ती। यही भगवदवस्था ईश्वरावस्था है, परन्तु मायाधिष्ठाता परमात्मा से ऊर्ध्व में। भगवान् स्वरूप शक्ति से तादात्म्य-संबंध रखते हैं। संधिनी और संवित् की पूर्ण अभिव्यक्ति भगवदवस्था में होती है, परन्तु ह्लादिनीशक्ति का आभाससमात्र होता है भगवद्भक्त लोग इस आभास को अनुभव करते हैं और उसी को ऐश्वर्य भक्ति नाम से प्रकाश करते हैं। भगवान् में अनंत योगशक्तियाँ विद्यमान हैं। ऐश्वर्यमयी ह्लादिनीशक्तिप्रधान भक्ति के द्वारा भगवत्स्वरूप का ऐश्वर्य अनुभव किया जा सकता है। यहाँ भगवान् ऊर्ध्व में है और भक्त अध: में, क्योंकि इस प्रकार के संबंध के बिना ऐश्वर्य उत्पन्न नहीं होता।

आत्मा में जब ६१ से लेकर ६४ तक गुणों का विकास होता है, तब भगवद्भाव से भी ऊर्ध्व अथवा अंतरंग प्रदेश में स्वयंभगवान्-अवस्था का उदय होता है। उसमें माधुर्य का प्राधान्य रहता है। इस अवस्था में ऐश्वर्य पूर्णतया रहने पर भी वह माधुर्य से अभिभूत रहता है। साधारण मनुष्य के सम भाव भगवान् में प्रकाशित हो जाता है। ब्रह्मभाव इन तीनों से अभिन्न है, आत्मभाव से भी, परन्तु उसमें गुणों का प्रकाश नहीं रहता, यही वैशिष्ट्य है। इसी से स्वयंभगवदवस्था को ही पूर्ण ब्रह्म कहा जाता है। स्वरूप में ब्रह्म तथा स्वयंभगवान् में भेद न होने पर भी स्वरूपशक्ति की महिमा के कारण स्वयंभगवान् का चरम उत्कर्ष माना जाता है। प्रेम का आश्रय किये बिना, विशेष करके रागमयी भक्ति के प्रभावसंप्रसूत प्रेम के आश्रय बिना, स्वयं भगवान् तक परमतत्व के हृदय में नहीं पहुँचा जा सकता।

❖

अवतार रहस्य

विश्वकल्याण के लिए भगवत्सत्ता के अवतरण विषय में विभिन्न समय में विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का उदय होता है। इस विषय में स्पष्टरूप से विभिन्न दृष्टिकोण से सब विषयों का विवरण देना संभव नहीं है। साधारणत: भारतवर्ष में जो अवतारवाद माना

जाता है, उसके बीज श्रीभद्भगवद्-गीता में श्रीकृष्ण के इन वाक्यों में निहित हैं—

(१) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥
(२) परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यहाँ पहले अवतार के विषय में संक्षेप में दो-चार बातें कहकर फिर अवतार-रहस्य की विवेचना होगी।

गौड़ीय वैष्णवों की दृष्टि के अनुसार—और इस दृष्टि के साथ सांप्रदायिक अथवा असांप्रदायिक विषयों का विरोध भी नहीं है, परमात्मा का ही अवतार होता है, जो कि माया का अधिष्ठाता है। परमात्मा से चित्-शक्ति तथा मायाशक्ति दोनों का ही संबंध है, परन्तु चित्-शक्ति में ह्लादिनी-भाव का प्राधान्य नहीं है। इसलिए इस चित्शक्ति से तदस्थ होने के कारण, निरंतर जीव का आविर्भाव हो रहा है। स्मरण रखना चाहिए कि मायाशक्ति के अधिष्ठाता भी परमात्मा ही हैं। उनसे भी निरंतर प्राकृत जगत् के उपादान की सृष्टि हो रही है। जीव उभयक्षेत्रों में परमात्मा का अंशरूप है। परमात्मा द्वारा अधिष्ठित माया से जीव का आविर्भाव होता है, इसलिए जीव को भिन्नांश कहा जाता है। परन्तु परमात्मा का स्वांशरूपेण भी अवतरण हो सकता है। माया का प्रभाव न रहने पर ही इस स्वांश को अवतार माना जाता है। यह नरदेहधारी अवतार, चाहे आंशिकरूपेण हो चाहे पूर्णरूपेण, परमात्मा का ही स्वरूप है। यही अवतार-पद-वाच्य है।

साधारणतः पूर्णरूपेण अवतार होता नहीं है, लेकिन हो सकता है। इनका विश्वकल्याण -धर्म-संस्थापन-रूप है, जिससे धर्म का रक्षण तथा अधर्म का तिरस्कार होता है। इस धर्मरक्षण व्यापार से जो जीवकल्याण होता है, वह तत्काल के लिए है, क्योंकि इससे जीव के स्वरूप में किसी प्रकार के उत्कर्ष का आधान नहीं होता। कारण कि जीव की अंत:प्रकृति, दंड पाने पर भी शुद्ध नहीं होती और यह सामयिक भी है। यह प्रायः कर्मजगत् का विषय है।

जीव भी, ब्रह्मज्ञान-प्राप्त होकर, जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानोपदेश करते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष, ब्रह्मसाक्षात्कार के फल से अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान प्राप्त होकर और जीवन्मुक्त अवस्था में उपनीत होकर, तत्वज्ञान के उपदेश से जगत्-कल्याण कर सकते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त में अविद्या का लेश रहता है। जाति, आयु और भोग रूप में प्रारब्धकर्म का प्रभाव जीवन्मुक्त को भी भोग करना पड़ता है। जीवन्मुक्त की शक्ति सीमित है। अतः उनका विश्वकल्याण भी तदनुरूप सीमित ही है। समग्र विश्व का कल्याण करना उनसे संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त जीवन्मुक्त की सामर्थ्य भी परिच्छिन्न है। जो सिद्धपुरुष कार्यसिद्धि लाभ कर, काल को अतिक्रम करके, नित्यसिद्धमंडल में विराजमान हैं, वे भी विश्वकल्याण तो कर सकते हैं परन्तु आंशिकरूपेण ही। समग विश्व का परमकल्याण उनसे नहीं हो सकता। इसीलिए साधारण दृष्टि से ऐश्वरिक शक्ति से भी व्यापक कल्याण होता नहीं, जो कुछ होता है, तत्तद् काल के लिए, तत्तद्देश के लिए।

भक्तिमार्ग में भाग्यवान् उच्चाधिकारी परमभक्त को प्रेमभक्ति का लाभ होता है और

उससे भगवान् के नित्यरास मे प्रवेश होता है। परन्तु उनके द्वारा भी समग्र विश्व का व्यापक कल्याण नहीं होता। सिद्ध-मंडली, अपने-अपने अधिकार एवं जगत् की स्थिति के अनुसार, यथासंभव जगत् की सेवा करती है। समग्र जगत् का व्यापक कल्याण उनका इष्ट भी नहीं है, उनके द्वारा साध्य भी नहीं है। क्योंकि यह व्यापक कल्याण, जब तक काल अथवा विश्वमाया की निवृत्ति न हो, तब तक हो नहीं सकता। बौद्ध धर्म के प्राचीन पथ (हीनयान) में व्यक्तिगत निवार्ण ही लक्ष्य था, व्यापक विश्वकल्याण उनकी कल्पना के बाहर की बात थी । श्रावक-रूपी साधक पुद्गल नैरात्म्यसाधन करके निवार्ण के अभिमुख में चलते थे। उनकी करुणा परिच्छिन्न थी, सामर्थ्य भी परिच्छिन्न थी। श्रावक की बात को क्या, कोई भी बुद्ध विश्व-कल्याण के योग्य नहीं था। महायान-प्रस्थान में जीव-सेवा का आदर्श उन्नत हुआ था; ज्ञान का आदर्श भी उन्नत हुआ था, क्योंकि श्रुतचिंता-भावनात्मक-ज्ञान अब भूमि-प्रविष्ट-ज्ञान-रूप में परिणत हो गया। श्रावक अब परार्थ जीवन को उत्सर्ग करनेवाला बोधिसत्व रूप में परिणत हो गया। जीवन का उद्देश्य ही परार्थ हुआ। विश्वहित का आदर्श बहुत ऊपर उठ गया। निवार्ण से भी बुद्धत्व का आदर्श अधिकतर श्रद्धा के साथ गृहीत होने लगा। इस प्रकार बोधिसत्व का आदर्श तो बड़ा हुआ, फिर भी वह परकाष्ठा तक जाने के लिए समर्थ नहीं हुआ। पारमितामार्ग से प्रज्ञा का लाभ संभव हुआ। यही प्रज्ञा भगवत्ता के विकास के साथ-साथ महाबोधिरूपेण परिणत हुई। अतएव बुद्ध भगवान् का आदर्श हुआ बोधि और भगवत्ता दोनों का एकत्र समावेश। मात्र बोधि होने से भगवत्ता का या महाशक्ति का संबंध नहीं रहता और केवल भगवत्ता लाभ होने पर बोधि का उदय अनिश्चत रहता है। इसीलिए एकाधार में बोधि और भगवत्ता दोनों का मिलन अर्थात् केवल मात्र बोधि ज्ञान नहीं, केवल मात्र ऐश्वर्य भी नहीं, दोनों का सामरस्यरूपेण समन्वय आवश्यक है। शैवागम और शाक्तागम में जैसे पूर्णत्वलाभ के लिए शिवशक्ति का सामरस्य माना गया है, ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए। परन्तु बोधिसत्व दशम भूमि में बुद्धत्वलाभ कर जीवसेवा में प्रवृत्त होते हैं। बोधिसत्व असंख्य हैं, बुद्ध भी अनंत हैं। ये अनादिकाल से प्रयत्नशील हैं, किन्तु विश्वकल्याण कहाँ? इन सब उपायों का उपयोग है, परन्तु इनसे भी व्यापक सिद्धि संभव नहीं हो सकी।

वेदांत में भी सर्वमुक्ति की कल्पना कहीं-कहीं देख पड़ती है, किन्तु जिसको परामुक्ति कहा जा सकता है, जहाँ एक ही साथ एकमुक्ति सर्वमुक्ति दोनों ही संपन्न होती हैं उसका आदर्श कार्यरूप में परिणत होने का मार्ग नहीं दिखायी देता। इसीलिए किसी-किसी आचार्य की दृष्टि से ईश्वर-सायुज्य का लक्ष्य निबद्ध रहता है। यह सब अधिकारी पुरुषों की जल्पना-कल्पना है। उनमें परस्पर मतभेद है, दृष्टिगत भेद भी है।

इन सब दृष्टियों से किसी-किसी महात्मा ने कल्पाना की है कि जब तक ठीक-ठीक अवतरण न हो, तब तक इस दिशा में प्रगति होने की संभावना नहीं है। यहाँ अवतरण का तात्पर्य है अनुलोम तथा विलोम गति का पूर्णतापूर्वक समन्वय। केवल अनुलोमगति से विश्व-कल्याण हो नहीं सकता, अनुलोम गति से आत्मा का मायिक आवरण धीरे-धीरे खुल जाता है और अंत में ब्रह्मस्वरूप में प्रविष्ट होकर तादात्म्यलाभ हो जाता है। परन्तु ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होने के अनंतर जब तक ब्रह्मस्वभाव लेकर फिर मूल पर्यंत अवतरण न हो

तब तक निम्नभूमि का हितसाधन कैसे होगा? यही प्रश्न है। लक्ष्यस्थान में पहुँचने के बाद यदि ऐसा हो कि निर्गम का प्रश्न ही न रह जाय, उस परिस्थिति से जगत् का कल्याण कैसे होगा? होना ऐसा चाहिए कि प्रवेश भी हो फिर वहाँ से निर्गम की सामर्थ्य भी हो। परन्तु जहाँ जाने पर—

"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

की स्थिति हो जाय, तब निर्गम की संभावना नहीं रहती। इसलिए लक्ष्यशोधन आवश्यक होता है अर्थात् लक्ष्य में जाकर, लक्ष्य की शक्ति से संपन्न होकर, शक्ति युक्तावस्था में क्रमशः अधोभूमि तक अवतरण।

अति प्राचीनकाल में इस रहस्य का ज्ञान किसी-किसी महानुभाव को था। इसीलिए ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् एक ही महासत्ता के तीन विभाग की प्राप्ति के लिए ज्ञान, योग तथा भक्ति मार्ग की ध्येयरूपेण परिकल्पना हुई थी। तदनुसार वर्तमान युग में भी कोई-कोई महापुरुष ब्रह्मभाव प्राप्त होकर योगभाव और योगभाव प्राप्त होकर भगवद्भाव के साधन में तत्पर हुए हैं। ब्रह्मभाव से योगभाव में संचरण का तात्पर्य यही है कि ज्ञान का कार्य संपन्न करके ज्ञानदृष्टि से अद्वैत सत्ता सिद्ध करके योगमार्ग में उसी को परमात्मरूपेण प्राप्त किया जाता है। ब्रह्मभाव-प्राप्त विदेहस्थिति में आत्मा का बाह्यदेह-संबंध रहता नहीं, यदि देह-संबंध माना भी जाय तो वह स्वरूपदेह मात्र है, तांत्रिक लोग जिसको शाक्तदेह कहते हैं। परन्तु यह भी शोधित लक्ष्य के स्थल में ही है, अन्यत्र नहीं। वहाँ अचित् से कोई संबंध नहीं है, एकमात्र चित् ही चित् है। किन्तु परमात्मभाव में, परमात्मा से, प्रकृति के अधिष्ठाता होने के कारण उसके उपासक योगी का देहसंबंध रहता है। यह एक प्रकार मनोमयदेह कहा जा सकता है। योगावस्था में आत्मा परमात्मा का स्वांश है। योग का उत्कर्ष संपन्न होने के साथ-साथ आत्मा ही क्रमशः परमात्मरूपेण आत्मप्रकाश करता है। यह परमात्मभाव अभेद में भेद का स्फुरण है, परन्तु मनोमय स्तर में। आत्मा परमात्मा का अंश होने पर भी भिन्नांशमय माना जाता है। योग का पूर्ण विकास होने पर आत्मा का योगमार्ग में पूर्ण विकास होता है और आत्मा ही परमात्मरूपपेण दिखलायी देता है, किन्तु यह देहाधिष्ठित अवस्था है, ब्रह्मभाव के सदृश विदेहावस्था नहीं है। है तो राज्य मनोमय परन्तु भूतात्मा ने स्वीकाया चित्शक्ति के द्वारा मनोमय-सत्ता को चिन्मय रूप में परिणत किया है। उस समय अपना मन भी चिन्मय है और मनोगम्य विषय भी चिन्मय है। यह अचित् होने पर भी चित्-शक्ति के प्रभाव से चिन्मय हो जाता है। मन का पूर्ण विकास होने पर योगावस्था से निर्गम होता है और भक्तिराज्य में प्रवेश होता है। जैसे मातृगर्भ से संतान अधोदर से निकलते हैं, ठीक उसके विपरीत क्रम से यहाँ योगी योगभूमि में पूर्ण होकर हृदय के ऊर्ध्वोदर से निकलते हैं। जैसे शिशु मातृगर्भ में अवस्थान करके पुष्टिलाभ करता है और गर्भ में से निकलने के योग्य बनता है, उसी प्रकार आत्मा योगावस्था में परमात्मगर्भ में रहकर विकास प्राप्त-होता है और वहाँ से निकलने की योग्यता-लाभ करता है। ब्रह्मावस्था में एक ही सत्ता है। जो आत्मा है वही ब्रह्म है। परमात्मावस्था में सत्ता एक होने पर भी अंशाशिभाव है—आत्मा अंश है, परमात्मा अंशी। योगावस्था से निकलने के पश्चात् ही आत्मा बाह्यावस्था में आविर्भूत होता है। यह बाह्यवस्था इंद्रियगोचर दृश्यजगत् की स्थिति है। आत्मा योगावस्था

में परमात्मा से युक्त रहता है, परन्तु योगावस्था से निकलने पर आत्मा भगवद्भूमि में प्रविष्ट होता है। ज्ञानी के निकट जो अपने से अभिन्न ब्रह्म था, योगी के निकट वही परमात्मा है, जो इससे अभिन्न नहीं है, भिन्न भी नहीं है, अपना अंशरूप है और योगभूमि से निकल कर भक्तिराज्य में प्रवेश करने पर भगवद्रूपेण वह अपने स्वरूप से भिन्न है। आत्मा वहाँ ज्ञानी नहीं, योगी भी नहीं किंतु भक्त है, जो पहले ब्रह्म था, वह बाद में परमात्मभाव में प्रकाशमान हुआ, अब वही भगवद्रूपेण प्रकट होता है। आत्मा भक्त है, भगवान् उसका उपास्य है। आत्मा भक्ति का आश्रयावलंबन है और भगवान् उसी भक्ति का विषयावलंबन, किन्तु दोनों ही नित्यसंबद्ध हैं। दोनों अलग-अलग होने पर भी एक दूसरे को छोड़कर रह नहीं सकते।

इस अवस्था में जगत् का अचित्-भाव नहीं रहता, मनोमयत्व भी नहीं रहता। चिन्मयत्व तो रहता ही है, परन्तु साथ ही आनंदमयत्व भी। उस समय उसके लिए समग्र विश्व ही चिदानंदमय स्फुरित होता है और उसका अपना शरीर भी, जिसको पहले पांचभौतिक जड़स्वरूप समझते थे, चिदानंदमय हो जाता है मानो समग्र विश्व ही नित्य-वृंदावन का एक रूप बन जाता है। उस समय देशकाल का बंधन रहता नहीं है, किसी प्रकार नियति का शासन भी नहीं रहता। सर्वत्र पूर्णस्वातंत्र्य का उल्लास होता है। उनकी दृष्टि में मानो समग्र जगत् प्रेममय बन गया। फिर भी इस अवस्था में उनकी जो प्राप्ति है, वह उन्हीं की प्राप्ति है, जो दिव्यस्थूलरूपेण प्रकाशमान हैं। उनके अभिन्नहृदयमित्र भी उसको देख नहीं सकते। उनकी कृपामयी-इच्छा होने पर जब कृपापात्र की दृष्टि खुल जाती है, तब वे भी उसका स्थूलरूपेण दर्शन कर पाते हैं। इसके लिए साधन आवश्यक नहीं होता। जब तक भक्ति का उन्मेष होकर स्थिति न हो तब तक यह दर्शन स्थायी नहीं होता। यह अत्यंत उच्चावस्था है। परन्तु इससे भी विश्वकल्याण होता नहीं। क्योंकि प्राप्ति जो हुई वह व्यापकरूपेण, स्थूल, सूक्ष्म कारण और तदतीत को लेकर एक ही को हुई। जिसको हुई उसी को हुई। दूसरे की प्राप्ति ठीक उनके सदृशरूपेण हो नहीं सकती। हाँ, उनकी कृपा से दर्शन आदि हो सकता है। इसका एकमात्र कारण है, ब्रह्मभाव से भगवद्भाव तक अवतरणमार्ग में प्राप्ति तो उन्हीं ही हुई दूसरे की नहीं, क्योंकि वही लक्ष्यशोधन के अनंतर ब्रह्मशक्तिरूपा चित्शक्ति प्राप्त करके क्रमशः परमात्मभूमि और भगवद्भूमि में उन्नत हुए। परमात्मभूमि अर्थात् योगभूमि में अंतर्जगत् या मानसजगत् ने अचित् भाव को त्याग कर चिद्भाव को प्राप्त किया और ज्ञानी आत्मा योगीरूपेण प्रतिष्ठित हुआ। उसके बाद परमात्मभूमि से भगवद्भूमि में संचार होने के कारण समग्र इंद्रियगोचर स्थूलजगत् इंद्रियरूपी करणवर्ग और पांचभौतिक देह, चिन्मयमात्र नहीं, चिदानंदमय रूप में परिणत हुआ। देश-काल का बंधन छूट गया। नित्यलीलाभूमि में नित्यानंद की लहर खेलने लगी। हुआ यह सब परन्तु उन्हीं का। यह संपत्ति उनकी अपनी निजी संपत्ति है। उनकी कृपा से दूसरे को इसका दर्शन संभव है। एक बार नहीं, पुनः पुनः दर्शन भी संभव है और पुनः पुनः दर्शन होने पर दिक्काल की स्थिति भी हो सकती है, फिर भी यह उसके लिए परकीयाशक्ति है स्वकीया नहीं, क्योंकि यह उनकी अपनी वस्तु नहीं है। यह अतुल ऐश्वर्य और माधुर्य उनके अनुभव में आ सकता है परन्तु उनकी अपनी संपत्ति नहीं हो सकता। इसीलिए समग्र विश्व का चरमकल्याण इससे भी पूर्ण नहीं होता, जब तक न्यूनता का परिहार न किया जाय।

इस विषय में किसी-किसी महापुरुष का सिद्धांत है कि, आत्मा का आरोहक्रम शोधित लक्ष्य में समाप्त हो जाने के अनंतर, अवरोह या अवतरण के पहले समष्टिरूपी के साथ समष्टि या महासमष्टि के साथ अपना तादात्म्य संपन्न करना आवश्यक है। इस तादात्म्य-संपन्नता के मूल में है प्रेमभाव। इसके बाद आत्मा का अवतरण यथाविधि पूर्ण होना चाहिए, अर्थात् भूतत्व तक होना चाहिए। इस अवतरण का प्रभाव अत्यंत विशाल है। इसके पूर्ण होने के बाद जब स्वातंत्र्यशक्ति के उन्मेष का अवसर आता है तब विश्वकल्याण का सफलमार्ग खुल जाता है। स्वातंत्र्यशक्ति का उद्‌बोधन क्रम से होने पर भी वास्तव में क्षणभर में हो जाता है। क्योंकि आरोह के अंत में शुद्धलक्ष्य में स्थिति के समय सत्वरूपी स्वरूप में अंतर्भुक्त चित् और आनंद अभिव्यक्त हो जाते हैं। इसके बाद इच्छा का उन्मेष होता है, फिर ज्ञान का भी। अंत मे जब क्रिया का उन्मेष होता है, तब स्वातंत्र्य का उन्मेष पूर्ण हो गया, यह समझ में आता है।

इस अवतरण में मूल आत्मा की प्राप्ति के साथ विश्व की भिन्न-भिन्न आत्माओं की प्रप्ति हो जाती है, कारण कि व्यष्टि आत्मा का समष्टि अथवा महासमष्टि आत्मा के साथ तादात्म्य हो चुका है। इसी से एक की प्राप्ति के साथ सभी की प्राप्ति समझनी चाहिए। परन्तु प्राप्ति सब आत्मा की होने पर भी प्रारंभ में प्राप्ति का बोध अवतरणकारी मूल आत्मा में ही होता है। अन्य आत्माओं में एक ही साथ प्राप्ति तो हो जाती है किन्तु बोध क्रमशः होता है। मूल आत्मा की ओर अभिमुख रहने पर धीरे-धीरे बोध भी खुल जाता है। इस बोध का पूर्ण विकास होने पर मूलात्मा से किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती, तब सर्वत्र एक अखंड आत्मा का ही स्फुरण रहता है। असंख्य अनंत आत्मा एक ही आत्मरूपेण स्फुरित होते हैं। देशकाल का सर्वप्रकार आवरण हट जाता है। जागतिक पदार्थों के अनंतभेद निवृत्त हो जाते हैं। अथच एक अखंड अद्वैत आत्मस्वरूप में सर्वात्मा का अहंबोध परिसमाप्त होता है और जगत् का वैचित्र्य अनंत रूप में प्रकाशमान रहता है। यह वैचित्र्य और तन्मूलक लीला तथा आनंदविलास रहने पर भी एक अखंड आत्मस्फूर्ति ही सर्वत्र विद्यमान रहती है। इसी का नाम स्वयंप्रकाश पूर्णब्रह्म की नित्यव्यक्त आत्मलीला है।

❖

अखंड महायोग

अखंड महायोग का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं? यह विषय अत्यंत गुह्य है और सर्वत्र प्रकाशयोग्य भी नहीं है। मैंने अपने 'अखंडमहायोग' नामक ग्रंथ में इसका दिग्दर्शन मात्र कराया है। सिद्धमंडली और व्यापक गुरुसंप्रदाय ने इस विषय को अब तक गुप्त ही रखा है । जहाँ तक मैं जानता हूँ, आंशिक रूप से इसकी चर्चा विभिन्न स्थानों में हुई है। वर्तमानयुग में भी प्रभु जगत्‌बंधु, श्री अरविंद प्रभृति मनीषियों ने किसी न किसी अंश में इसका उल्लेख किया है। श्री अरविंद की दृष्टि के अनुसार जो अतिमानस

अवतरण (डिवाइन डीसेंट) है वह इस महायोग का एक अंश मात्र है। प्रभु जगद्बंधु के 'चंद्रपात' आदि ग्रथों में इसी के किसी न किसी अंश का विवरण है। भारतवर्ष से अन्यत्र भी आंशिकरूपेण इसकी चर्चा यदाकदा होती रही है।

महायोग का तात्पर्य है अनंत प्रकार अयुक्त और विक्षिप्त भावों का एक सूत्र में संयोजन और तादात्म्य-स्वरूप में प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक-लोकांतर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग इत्यादि सभी महायोग के अंतर्गत हैं। यह योग जब अखंडसत्तारूपेण निष्पन्न हो तब कुछ शेष नहीं रहता, क्योंकि उससे सब प्रकार के अभावों का सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है।

काल, महाकाल और खंडकाल में भेद लक्षित होता है। महाकाल अखंड अथच निरंतर सृष्टिशील है और खंडकाल अतीत, अनागत और वर्तमान रूप में त्रिधा विभक्त है। अनादि काल से यह काल का स्रोत चला आ रहा है। रूपक दृष्टि से कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरंतर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। परन्तु ऐसी भी स्थिति है जहाँ त्रिकाल नहीं है। एक ही मात्र नित्यवर्तमान अखंडकाल विद्यमान है, जहाँ सभी वस्तुएँ नित्य प्रकाशमान हैं, वहाँ परिणाम नहीं है।

प्रश्न होता है कि यह पूर्ववर्णित महायोग की अवस्था वर्तमान् जगत् में प्राचीन काल में क्या कभी हुई थी और इसके लिए मनुष्य का या सिद्धों का क्या किसी प्रकार का उद्यम आवश्यक है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस प्रकार का योग इस समय पर्यंत कभी नहीं हुआ। क्योंकि यह होने पर जगत् की इस प्रकार की स्थिति नहीं होती। इस योग में अंततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से ही सबकी प्राप्तियों का नित्य संबंध लगा रहता। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक मुक्ति से सर्वमुक्ति, एक की प्राप्ति से सबों की प्राप्ति चाहे पूर्ण रूप से हो चाहे आंशिक रूप से, तभी हो सकती है जब समष्टि या महासमष्टि दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो। इस विषय में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। मैं एक ही धारा को लेकर कुछ कहूँगा।

अखंड महायोग की साधना में तात्विकदृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्णतम अपेक्षा है—एक है मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरी है परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिए चाहिए पुरुष्कार और एकीकरण। जब तक उसमें कर्तृत्वाभिमान रहे तब तक तत्त्वभेद की प्रक्रिया से निम्रतत्त्व से ऊर्ध्वतत्त्व का ग्रहण आवश्यक है। यह सब तत्त्व मायिकजगत् में व्याप्य-व्यापक रूप से अध-ऊर्ध्व भाव से अवस्थित हैं। पुरुषकार के द्वारा तत्वों का लय करना पड़ता है। इससे योगी के अधिकार का प्रसार होता है। निम्नतत्त्व से ऊर्ध्वतत्त्व में आरूढ़ होने के साथ ही साथ निम्नतत्त्व का व्यापक मंडल ऊर्ध्वतत्त्व के अधिकतर व्यापक मंडल में परिणत हो जाता है। दृष्टांत रूप से समझ लीजिये कि यह सब तत्त्व पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यंत विस्तृत हैं। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। उसी प्रकार अंतिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्यतत्त्व से व्यापक तत्त्व में

उत्थान का एकमात्र उपाय है कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मंडल का अधिगम होता है। इसी प्रकार अंतिम तत्त्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है क्योंकि वही समग्र विश्व का केंद्र है। पुरुषकार अवलंबन करके इसी प्रकार से क्रमशः तत्त्वभेद करते हुए सर्वोच्च शिखर में उठकर समग्र विश्व का अधिष्ठान किया जा सकता है। यह योगसाधना की एक धारा है।

योगसाधना की दूसरी धारा है, परमेश्वर की महाकरुणाप्राप्त होकर अपनी आश्रितसत्ता को अनुगृहीत करना। परन्तु परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत अथवा ज्ञानगत योग्यता से निरपेक्ष है। कर्म का फल ऐश्वर्य है, ज्ञान का फल कैवल्य है। यह महाकृपा का उद्बोधक नहीं है। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव के ऊपर परमेश्वर के स्वातंत्र्य से होता है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में जो मलरूप आवरण पड़ा हुआ है, काल के प्रभाव अथवा दूसरे कारण विशेष से उसका विपाक होते-होते शिथिल हो जाने से, परमेश्वर की कृपा का संचार होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति ही काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि परमेश्वर के कृपा करने पर जीव के कर्तृत्वाभिमानमूलक कर्म का अभाव हो जाता है, क्योंकि कृपा के प्रभाव से पूर्णज्ञान का संचार होता है और क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ आवरणमुक्त होने पर परमशिवत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव से तत्त्व से तत्त्वांतर की जय और क्रमशः ऊर्ध्वगति होती है, उसका अवसान हो जाता है। यह एक विचित्र प्रहेलिका है।

कर्म में, अर्थात् अभिमानमूलक कर्म में, उत्कर्ष न होने पर भी परमकृपा का उदय हो सकता है और पक्षांतर में परमकृपा का उदय न होने पर भी अभिमानमूलक कर्म के उत्कर्ष से तत्त्व से तत्त्वांतर की जय और क्रमिक ऊर्ध्वगति निष्पन्न हो सकती है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जीव गुरु नहीं है, ईश्वर ही गुरु है। जीव अपने कर्मबल से कितना ही उत्कर्ष-संपन्न क्यों न हो जाय, जगत् का गुरु नहीं हो सकता, यहाँ तक कि जिस तत्त्वप्रदेश का वह अधिष्ठाता है, उसका भी वह गुरु नहीं हो सकता क्योंकि ऐश्वर्य होने पर भी जीव, जीव ही रहता है, वह ईश्वर भी नहीं है, गुरु भी नहीं है। पक्षांतर में अति निम्नतत्त्व में रहनेवाला जीव भी यदि मलपाक के निबंधन अथवा कारणांतर से परमेश्वर की कृपाप्राप्त हो, तब वह उसी तत्त्व में जीव होते हुए भी शिवभावापन्न और गुरुपदवाच्य हो जाता है। अभिमानमूलक कर्मगत उत्कर्ष के अनुसार जितना स्थान उनके अपने अधिकार के अंतर्भुक्त हो गया ठीक उतने स्थान पर वह समग्र जीवों का गुरुरूपेण उद्धार कर सकते हैं, अधिक नहीं। मान लीजिए, कोई योगी अपने कर्मबल से चार तत्त्वों का अधिष्ठाता हुआ है। यदि उस समय उसमें भगवदनुग्रह-शक्ति का संचार हो तब वह योगी शिवरूपी होकर इन चार तत्त्वों से निर्मित विश्व का गूरुरूपेण उद्धार कार्य कर सकता है, लेकिन उसके बाहर नहीं। इसीलिए वह गुरु होने पर भी जगद्गुरु नहीं हो सकता, क्योंकि समग्र जगत् तक उसका तादात्म्य सिद्ध नहीं हुआ है।

पूर्वोक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि जगद्गुरु होने के लिए जीव को माया की अवधि पर्यंत तत्त्वजय क्रम से अधिकार में ले आना चाहिए और साथ ही साथ भगवत्कृपाशक्ति का भी अधिकारी होना चाहिए। कृपाशक्ति का समागम न होने से उनका जगत् के ऊपर ऐश्‍वर्य तो रहेगा परन्तु गुरुत्व नहीं आयेगा। ऐश्वर्य के लिए तत्त्वजय आवश्यक है और जीवोद्धार के लिए भगवत्करुणा की प्राप्ति अत्यावश्यक है। दोनों का समन्वय हुए बिना एक की प्राप्ति से औरों की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह है कृपा और कर्म का परस्पर मिलन। यह कर्म व्यष्टिरूपेण हो सकता है और समष्टिरूपेण भी हो सकता है। व्यक्तिरूपेण होने पर भी यदि करुणा का समावेश रहे तब उसके मात्रानुसार समष्टि से भी संबंध हो सकता है। परन्तु समष्टिरूपेण होने पर समष्टि की प्रगति में वैलक्षण्य का अवसर रहता है।

प्राप्ति और अनुभव एक भाव नहीं हैं। यह हो सकता है कि एक है किन्तु दूसरा नहीं है, अर्थात् प्राप्ति हो परन्तु प्राप्ति का अनुभव न हो अथवा प्राप्ति का अनुभव हो किन्तु प्राप्ति न हो। पूर्णत्व के लिए दोनों ही आवश्यक हैं—सत्ता भी और सत्ता का बोध भी। समष्टि के अनुग्रह के प्रभाव से तादात्म्यमूलक प्राप्ति हो सकती है, परन्तु प्राप्ति का अनुभव तब भी अपेक्षित रहता है। जब तक यह अनुभव न हो तब तक पूर्णता नहीं होती।

अखंडमहायोग का उद्देश्य है गुरुशक्ति के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खंड रूप से यह अनादिकाल से होती चली आ रही है। किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्णरूप सरे निष्पन्न नहीं होता। जितने महापुरुष और सिद्धपुरुष प्राचीनकाल में हो चुके हैं, उनमें से जो परार्थप्रवण हैं उन्होंने इस विषय में प्रयत्न किया है और कर रहे हैं, परन्तु महापुरुषों अथवा सिद्धों के प्रयत्न से यह अखंड -महायोग निष्पन्न हो नहीं सकता, जब तक उसका आवश्यक पूर्वांग सम्यक् रूप से निष्पन्न न हो।

पूर्णब्रह्म निरंतर अखंडरूपेण अनपे स्वरूप में विराजमान है। उसका अनुभव करने के लिए योगी को कालराज्य अतिक्रम करके उसमें प्रवेश करना पड़ता है। यह अत्यंत कठिन व्यापार है, परन्तु संभव है। ऐसा होने पर भी जिस महान् कार्य के विषय में कहा जा रहा है वह निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि कालचक्र भेदकर पूर्णब्रह्म में प्रविष्ट होकर, स्वयं पूर्णब्रह्म के साथ अभेदप्राप्त होकर योगी स्थिति लेते हैं, उनका अवतरण होता नहीं, न हो ही सकता है। नियम यही है—

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

(गीता)

इसीलिए आवश्यक है कि आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपनी तादात्म्यसिद्धि कर, स्वयं महाशक्ति-संपन्न होकर, योगी महाप्रेमसाधन के लिए अवतरण करे। इसमें बहुत गंभीर रहस्य है, जो प्रकाश योग्य नहीं है। महाशक्ति से युक्त होकर, महाप्रकाशस्वरूप परब्रह्म में प्रविष्ट होने का उद्यम न कर, उन्हें लौटना पड़ता है क्योंकि उसमें प्रवेश करने के बाद पृथ्वी में लौटकर आना संभव नहीं अथच उसको प्राप्त हुए बिना पृथ्वी में पूर्णत्व की अभिव्यक्ति कैसे होगी? यह जटिल प्रश्न है। इसीलिए योगी को शुद्धमार्ग में महाशक्ति से तादात्म्य लेकर, वहाँ से अवतीर्ण होना पड़ता है।

इस अवतरण का उद्देश्य विशुद्धप्रेम की साधना है। जब इस प्रेम की साधना पूरी हो जाय, तब योगी का स्वरूप बदल जाता है। यह प्रेमसाधना मनुष्य लोक में होती है, दिव्यलोकों में नहीं। प्रेमसाधना पूरी होने पर महाशक्ति के साथ योग हो जाता है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह महाशक्ति, महाशक्तिस्वरूपा नहीं है। मनुष्य की आरोहक्रम से अपने साधनबल से महाशक्ति से तादात्म्य-लाभ करता है। इसके बाद महाशक्ति-भावापन्न-सत्ता और महाप्रेमसिद्ध-सत्ता दोनों मिल जाती हैं, फिर प्राकृत विश्व में अनुप्रवेश होता है। परन्तु इस अनुप्रवेश से पहले ही महाप्रकाशरूप परब्रह्म में प्रवेश हो जाता है। पहली स्थिति में महाशक्ति से महाप्रेमसिद्धि के पूर्व परब्रह्म प्रविष्ट होने पर, उनके द्वारा जगत् का कार्य-निर्वाह हो नहीं सकता। प्राचीनकाल में इसी से बुद्धदेव ने भी महाबोधि प्राप्त कर निर्वाण में प्रवेश नहीं किया था, बुद्धत्व ग्रहण किया था। यह रहस्य सामान्य लोगों के समझने के अगोचर है। प्राकृतजगत् में प्रवेश से पहले, प्रकाशरूप ब्रह्म में प्रवेश होता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि क्या साक्षात् महाशक्ति से महाप्रकाश में प्रवेश होने पर सत्ता का पुनरुन्मेष संभव है? वहाँ अनंतकाल के लिए विलय अवश्यंभावी है, क्योंकि महाशक्ति अवस्था में पूर्ण ऐश्वर्य रहने पर भी महाप्रकाश का साम्य नहीं होता, इसीलिए स्वातंत्र्य नहीं रहता। इसी कारण से परब्रह्म में मग्न होने पर पुनरुद्धार संभव नहीं होता, परन्तु महाप्रेमावस्था सिद्ध हो जाने पर महाप्रकाश के साथ साम्य आ जाता है। साम्य आने पर लीन होने का डर नहीं रहता। छोटे और बड़े में संबंध होने पर बड़ा छोटे का ग्रास कर लेता है परन्तु दोनों के बराबर होने पर इस ग्रास की संभावना नहीं रहती, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और स्वातंत्र्य रहने के कारण अलग भी हो सकते हैं। इसी कारण से सिद्ध लोग भी महाप्रकाश का परिचय तो जानते हैं, स्वरूप का भी बोध कर सकते हैं, परन्तु उसमें प्रवेश नहीं करते, क्योंकि प्रवेश करने से लीन हो जायेंगे। सिद्धमंडली में भी प्रेम का अभाव है, ऐश्वर्य का प्राचुर्य है। इसीलिए वे लोग पीछे से सहायता कर सकते हैं, साक्षाद्र् कोई काम नहीं कर सकते। प्रेमसिद्धि के अनंतर महाप्रकाश में प्रविष्ट होने के बाद फिर प्राकृतिक तत्त्वों में प्रवेश करके अंतिम तत्त्व अर्थात् निम्नतम भूमि तक पहुँचना पड़ता है।

इसके अनंतर स्वातंत्र्यशक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है। उस समय क्रमशः कालराज्य गुरुराज्य के अंतर्गत हो जाता है। कालराज्य पूर्णतया निवृत्त होने पर गुरुराज्य की भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि गुरु का कार्य ही है काल से रक्षा करना। तब एकमात्र आत्मा ही अखंड, अनंत, आनंदरूपेण अनंत वैचित्र्यमयस्वरूप में अपने आप ही लीला करता है, उस समय एक भी रहता है, अनंत विशेषमय बहु भी रहता है, किन्तु दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। कालसंकर्षिणी-शक्ति की क्रिया पूर्ण हो जाने पर काल तो रहता ही नहीं है, न अविद्या रहती है न माया, अथवा लीलारूप में सब रहता है। यही पूर्ण अद्वैत स्वरूप है, पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है। वह अनंत प्रकार से आनंदमयी लीला करता रहता है, फिर भी लीलातीत नित्यसाक्षीरूप में प्रतिष्ठित रहता है। उस समय इस प्राकृतजगत् का कुछ भी नहीं रहता, फिर भी सब कुछ रहता है। इस महायोग को अखंड इसीलिए कहा जाता है कि यह खंडित

नहीं होता। प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु का अभेद प्रतिष्ठित होता है, फिर भी अपना स्वरूप नष्ट नहीं होता। त्रिकाल रहता नहीं है, एकमात्र नित्य वर्तमान रहता है। काल नहीं रहता, अतः कालकृत परिणाम भी कहाँ रहेगा?

यह अवस्था अनादिकाल से विद्यमान है। व्यष्टिरूपेण जीव के अधिकारी होने पर इसमें प्रवेश मिलता है। परन्तु एक के प्रवेश तथा प्राप्ति से अवशिष्ट जीवों का कुछ नहीं होता, क्योंकि वह खंडावस्था है अखंड नहीं। श्रीभगवान् की जो रासलीला है, वह भी यही है। युग-युग में जो रासलीला होती रहती है वह परिच्छिन्न है, सबके लिये नहीं है। है तो योग, परन्तु महायोग नहीं है, अखंडमहायोग तो दूर की बात है।

❖

मानव-जीवन की पूर्णता

सभी देशों के धर्मसंप्रदायों न समवेतकंठ से यह घोषित किया है कि मानवजीवन अत्यंत दुर्लभ है। चौरासी लक्ष स्थावर तथा जंगम देहों के उपरांत ही प्रकृति के क्रम-विकास के नियमानुसार मनुष्यदेह की प्राप्ति होती है। इन चौरासी लक्ष योनियों में अन्नमय तथा प्राणमय कोष का ही विकास संपन्न होता है। मनोमयकोष का उपादान अल्पमात्रा में संचित होने पर भी यथार्थ मनोमयकोष की रचना उस समय होती नहीं। मनोमयकोष की रचना एवं मनुष्यदेह की रचना प्रकृति के नियमानुसार एक ही साथ अभिन्नरूप से संपन्न होती है। मनोमयदेह का पूर्वाभास मनुष्यशरीरप्राप्ति के पूर्व ही हो जाता है यह बात सत्य है, लेकिन यथार्थ मनोमयकोष का आविर्भाव पशु-अवस्था में कदापि संभव नहीं। मनुष्यदेह के आविर्भाव के साथ ही प्रकृति के नियम के अनुसार मन का भी आविर्भाव होता है। प्राणमयकोष के विकास की चरमदशा में मन की सत्ता का पूर्वाभास अवश्य ही प्राप्त होता है। वस्तुतः यह यथार्थ मन नहीं किन्तु प्राण की ही मनोन्मुखदशामात्र है। यथार्थ मन विवेक या विचारधर्मी है यद्यपि उस विवेक या विचार शक्ति में प्राथमिकस्तर पर प्राण का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है, तो भी उसे मनोमयकोष के निम्नस्तर के रूप में मान लिया जा सकता है। योगियों ने जिसका षड्चक्रों के संस्थानरूप में वर्णन किया है और जिसे भेदकर विज्ञानमयकोष में प्रवेश करना मनुष्य-जीवन का प्राथमिक उद्देश्य बताया है, एकमात्र मनुष्य शरीर में ही उनका अस्तित्व होना संभव है, अन्य शरीरों में नहीं।

प्रथमदशा में मनुष्य, आकृति से मनुष्य प्रतीत होने पर भी, प्रकृति से पशु ही रहता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि वह मन पाकर भी मन को प्राण के नियंत्रण से मुक्त नहीं कर सकता है। वासना, कामना, संस्कार तथा नाना प्रकार की अवचेतन शक्ति का प्रवाह—केवल अवचेतन नहीं चेतन शक्ति भी इसके अंतर्गत है—ये सभी प्राणमयकोष की प्रधानता के उपलक्षण हैं। प्रचलित भाषा में चित्तशुद्धि का अभाव इनमें लक्षित होता है।

जन्मजन्मांतर के भावतीय संस्कार इन अवचेतक शक्तिवर्गों के अंतर्गत हैं। इन संस्कारों के मूल में इंद्रियसमूहों को तृप्त करने के उपयुक्त कामना तथा वासना भी अंतर्गत हैं। संक्षेप में इन सभी वासनाओं को समष्टिभूत काम शब्द से अथवा आत्मेंद्रियतृप्ति नाम से वर्णित किया जा सकता है। पहली दशा में इस प्रकार कामनामूलक संस्कार के प्रभाव से चित्त को शुद्ध करना नितांत आवश्यक है। इस कार्य के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय का अवलंबन किया जा सकता है लेकिन इसका एकमात्र उपाय जो वर्तमान है उसका रहस्य जानना आवश्यक है। स्मरण रखना चाहिए कि कर्म का त्याग उपाय नहीं है, न तो कामना-त्याग ही उपाय है, क्योंकि वास्तविक स्थिति में वैसा करना मनुष्य के लिए असंभव है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि कर्म करना पड़ेगा और साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि उस कर्म के साथ अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या कामना का कोई भी संबंध न रहे। अपने को छोड़कर विश्व के लिए जो कामना की जाती है वह कामना रूप में परिगणित नहीं होती। इसी का नाम है निष्काम कर्म। अपनी व्यक्तिगतवृत्ति को तृप्त करना ही दूषणीय है। योगस्थ रहकर व्यक्तिगत सफलता तथा निष्फलता की ओर लक्ष्य न रखकर कर्तव्य के बोध से जो कर्म किया जाता है वही चित्त शुद्ध करने का प्रकृष्ट उपाय है। चित्तशुद्धि हो जाने पर कर्म का बंधन पूर्णतया न कटने पर भी उसकी ग्रंथि शिथिल हो जाती है। इस समय चित्तशुद्धि किंचित् मात्रा में प्रकृष्ट रूप से संपन्न होती है और चित्तशुद्धि के प्रभाव से भूतशुद्धि होने लगती है। उस समय क्रमश: विभिन्न प्रकार के अवचेतनादि जड़स्तरों से अपनी चित्सत्ता को पृथक् रूप में अनुभव किया जा सकता है। विषययात्मक जड़जगत्, इंद्रियवर्ग, प्राण, मन, अहंकार, बुद्धि आदि से चित्सत्ता को विविक्तरूप में प्राप्त किया जाता है। यह चित्सत्ता ही आत्मसत्ता है। अचित् के संबंध से मुक्त हो जाने पर यही ब्रह्मसत्ता है।

इस दशा में एक विलक्षणभाव का उदय होता है। जिन साधकों को साक्षात् या असाक्षात् रूप से परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति नहीं होती, वे इस अखंड चित्सत्ता को स्वात्मस्वरूप ब्रह्मसत्ता के रूप में उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं और एक हो जाते हैं। वे स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर उस स्वरूप में मग्न रहते हैं। परमेश्वर के विशेष अनुग्रहमूलक परमपद की प्राप्ति जब तक न हो तब तक पूर्वोक्त कर्म ही ज्ञानमार्ग से ब्रह्मजिज्ञासु के लिए प्राप्य हैं। इससे अचित् या जड़ संबंध से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध अपरिच्छिन्न चिद्रूपेण प्राप्त होता है और प्राप्त होकर पूर्वोक्त ब्रह्मस्वरूप में तल्लीन हो जाता है। लेकिन जिनके ऊपर विशिष्ट भगवत्कृपा रहती है वे इस आत्मा तथा ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होकर ब्रह्म की स्वरूपशक्ति या चित्शक्ति को भी प्राप्त करते हैं और अपने को न केवल ब्रह्मरूप में अनुभव करते हैं वरन् उस चिद्रूपा स्वरूपशक्ति के क्रमिक विवर्तन के प्रभाव से विश्वात्मक रूप में भी अनुभव करने लगते हैं।

ब्रह्मभाव विश्वातीत है परन्तु चित्शक्ति की प्राप्ति के अनंतर तथाकथित चैतन्य सत्ता के द्वारा तथाकथित् अचित् सत्ता का चिन्मयत्व-संपादन-रूप क्रमिक विवर्तन होता है। यह प्रेम का मार्ग है जिसमें समस्त विश्व अपना रूप हो जाता है। इसकी सभी दशाएँ विश्वात्मक हैं। चित् शक्ति संघिनी, संवित् तथा ह्लादिनी रूप में पृथक् अनुभूत होने पर भी उसके मूल

में एक ही शक्ति वर्तमान है। इसका मुख्य कार्य अचित् सत्ता को चिद्रूप में और निरानंद दु:खमयी सत्ता को आनंदरूप में परिवर्तित करना है। यह रूपांतर सबसे पहले सत्ता-अंश में संपन्न होता है, इसीलिए चित्सत्ता-संवलित ब्रह्मसत्ता के प्रथम साक्षात्कार के उपरांत महाशून्य कट जाता है एवं महाकाल के वक्ष पर अखंड अनंत सत्ता नित्यसिद्धविश्व के रूप में प्रतीतिगोचर होने लगती है। यह विश्व परिणामशील काल के अधीन नहीं है और न इसमें अतीत, अनागत तथा वर्तमान आदि रूप में कोई आवर्त ही है। इसमें खंडकाल नहीं रहता और वह महाकालरूप में आभासित होता है। उसी प्रकार इसमें खंडदेश न रहने के कारण किसी प्रकार का दिग्बंधन भी नहीं रहता। एक ही बिन्दु में सब देश, सब काल की सत्ता वर्तमान् रहती है। अब तक इस स्वरूप में अर्थात् आत्मस्वरूप में अंशांशिभाव का स्फुरण नहीं हुआ। जब शक्ति का विकास अधिक मात्रा में पुष्ट हो जाता है तब निरंश आत्मसत्ता में, अर्थात् निष्कल ब्रह्मसत्ता में, अखंड ब्रह्मभाव के साक्षात्कार के साथ ही साथ अशांशिरूप में आत्मस्फुरण अनुभूत होता है। इस स्थान में आत्मा परमात्मारूप है एवं जीव उसी का अभिन्न अंश है। जीव परमात्मा का अंश होते हुए भी स्वरूपत: उससे भिन्न नहीं है, तब परमात्मा विश्व का अधिष्ठाता है और जीव भी निजदेह का अधिष्ठाता है। ब्रह्मावस्था में जैसे जीव न था वैसे जीव का भी स्वकीय देह न था, लेकिन जाग्रत् चित्शक्ति के बल से अब विश्व का उदय हुआ एवं आत्मा भी परमात्मा के रूप में उसका अधिष्ठाता है, इसका भान हुआ, साथ ही साथ देह भी प्रकट हुआ और उसका अभिमानी जीव परमात्मा का ही स्वांश है, इसकी अनुभूति हुई। ब्रह्मोपलब्धि होने के पहले मायिकजगत् में ऐसी दशा न थी, क्योंकि उस समय जीव परमात्मा का भिन्नांश था। तब मायाशक्ति का प्रभाव था और अब चित्शक्ति का प्रभाव है। इसलिए इन दोनों स्थितियों में यह अंतर है। इस अवस्था में भी चित्शक्ति का क्रमविकास चलता रहता है। इसके प्रभाव से जीव अभिन्नांश होकर भी क्रमश: अभेद की अधिक से अधिक मात्रा की उपलब्धि करता रहता है और अंत में परमात्मा के साथ योगयुक्त हो जाता है। यह योगयुक्त-अवस्था ब्रह्मलय के सदृश कोई स्थिति नहीं है, क्योंकि तब चित्शक्ति थी नहीं, लेकिन अब चित्शक्ति का जागरण हो चुका है। चित्शक्ति का विकास इतनी दूर तक संपन्न हो जाने पर मन, बुद्धि, चित्त आदि सभी चिन्मय हो जाते हैं और सभी अप्राकृत रूप धारण कर लेते हैं। मनोमयभूमि तक पूर्णरूप से चिन्मय हो जाने पर इंद्रियराज्य का परिवर्तन होना आरंभ हो जाता है। इधर चित्शक्ति के विकास के साथ-साथ ह्लादिनीशक्ति का भी विकास प्रारंभ होता है। चित्शक्ति का विकास मनोमयभूमि से उच्छ्वसित होकर प्राण, इंद्रियादि भूमि में अवतरित होता है। इसी का नाम उल्लास है।

मनोमय जगत् के पूर्ण विकास के अनंतर विज्ञानमय तथा आनंदमय कोष के विकास के संबंध में शास्त्र में उल्लेख पाया जाता है। व्यष्टिरूप से देखने पर पहले बतलायी गयी प्रणाली को विज्ञानमय तथा आनंदमय कोष का ही विकास जानना चाहिए। समष्टिरूप में होने पर इसे ही पूर्णब्रह्म का अवतरण कहा जाता है। वस्तुत: अवतरण नाम से कोई शब्द नहीं। अवरोह ही अवतरण है।

मनोमय स्तर में जो परिणाम होता है वह केवल चिन्मय है। स्थूल स्तर में भी परिणाम होता है, वह होता है चिदानंदमय। इस समय चित्शक्ति निरंतर ह्लादयुक्त रहती है। इंद्रियों का

भी शोधन या परिवर्तन (ट्रांसफॉर्मेशन) संपन्न हो जाता है। यहाँ जड़तत्त्व की निवृत्ति हो जाती है तथा शरीर भी वैसा ही होता है। जड़ इंद्रिय तथा जड़देह तब नहीं रहता। इंद्रियों के चिन्मय और ह्लादिनीशक्ति से प्रवाहित हो जाने से उनकी विषयीभूत सत्ता भी चिदानंदस्वरूप में प्रकाशित होती है अथच है यह स्थूल सत्ता ही। उसकी विशेषता यह है कि उस एक ही सत्ता में एक ही साथ पंचकल्याण-गुणों का प्रकाश होता है अर्थात् एक ही साथ रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द इन पाँचों का आविर्भाव होता है। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि चक्षु के द्वारा जिसका दर्शन होता है उसमें एक ही साथ एक ही समय अचिंत्य रूप, अचिंत्य सुगंध, अभूतपूर्व स्पर्श, अमृतास्वादन, संगीतमय ध्वनि—ये सब (उद्भूत) होते हैं। इसी का नाम भगवद्-अनुभव है। इस प्रकार के अनुभव में दिव्य रस, दिव्य गंध आदि सब प्रकार के संवेदनों का अंतर्भाव है। यह अप्राकृतक तथा नित्यसिद्ध वस्तु है। इस दिव्य भगवदनुभूति को केन्द्र मानकर विश्व-जगत् उस समय उन्मुख अवस्था के प्रभाव से ठीक उसी प्रकार की दशा को प्राप्त करता है। उस समय काल का संकोच नहीं रहता, परिणाम तथा मृत्यु की लीला समाप्त हो जाती है, अखंड प्रेम के विस्तार से समस्त विश्व आप्लावित हो उठता है। तब अखंड-अद्वैत के भीतर सूक्ष्म द्वैतमय भावजगत् एवं स्थूल द्वैतमय अभाव का जगत् अखंड महायोग से युक्त होकर प्रकाशित होता है। एक व्यक्ति को इस अवस्था की प्राप्ति होते ही एक ही समय समस्त विश्व में इसकी प्राप्ति अवश्यंभावी है। यह पूर्णब्रह्म का आत्मप्रकाश अथवा प्रेममय श्रीभगवान् का आविर्भाव है। यहाँ काल की क्रमधर्मी कोई वस्तु नहीं है। इसका आविर्भाव होते ही काल सर्वदा के लिए शांत हो जाता है तथा काम-वासानादि भी अखंड महाप्रेम में उज्जीवित हो उठते हैं। इस प्राथमिक विवर्तन में आरोह तथा अवरोह उभय का ही स्थान है और परिणाम में आरोह भी नहीं है, अवरोह भी नहीं है। अचित् से चित् को मुक्त होने के लिए आरोहक्रम की आवश्यकता है और जब चित् मुक्त हो जाने से अपनी शक्ति के द्वारा तथाकथित् अचित् के रूपांतर या चिन्मय करने के लिए अवरोह अपेक्षित है, सेवाकार्य के लिए इसकी आवश्यकता होती है। सेवाकार्य के अनंतर जब समस्त विश्व का अभाव दूर हो गया तब सरल गति का प्रकाश होता है। । इसके साथ ही उसको अनादि अनंत दिव्यधाम का अनुभव हो जाता है और बाहर में मानसिक अथवा कालजगत् अनंत दुःखमग्न प्रतीत होने लगता है। इन दोनों के परिणामस्वरूप पूर्णानंद का विकास होता है। इस विकास में जैसे एक की सत्ता है वैसे ही सृष्टि के अंतर्गत अनंत वैचित्र्य के प्रतिकण की ही सार्थकता है। आरोह तथा अवरोह, अनुलोम तथा प्रतिलोम ऐसे दो क्रममात्र हैं अर्थात् काल की वामावर्तिनी तथा दक्षिणावर्तिनी दो गतियाँ मात्र हैं। इसके अनंतर आवर्तगति नहीं रहती और रह भी नहीं सकती, क्योंकि काल का अभाव और दिव्यजीवन का आविर्भाव हो गया है। उस समय सरलगति और नित्यलीला है। इसी के एक प्रांत में लीलातीत महाबिन्दु की स्थिति है जो सर्वसाक्षीस्वरूप है।

किसी व्यक्ति को इस दशा की प्राप्ति होने पर समस्त विश्व के लिए इसकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है। कारण कि तब उन्मुखभाव रहने पर बाधा देनेवाली कोई भी विरुद्ध शक्ति नहीं रहती। समग्र विश्वकल्यांण इसमें निहित है। प्राचीनकाल के महापुरुष या धर्माचार्यगण

जिस कल्याण के संबंध में बताते आये हैं, वह आंशिक कल्याणमात्र है, क्योंकि उसमें काल को शेष नहीं किया गया है। काल-संकर्षिणी शक्ति का भी यही खेल है।

इस वर्तमान सृष्टि के मूल में है काम, और सृष्टि की समाप्ति होती है प्रेम में। यही रासलीला है, महारास है जो अब तक हुआ नहीं। यही वास्तविक जनतंत्र और सच्चा आध्यात्मिक साम्यवाद है।

❖

आत्मा की तीन यात्राएँ

परमपूर्ण आत्मस्वरूप, भगवत्सत्ता या परात्पर ब्रह्मसत्ता से निर्गत हुआ है। उसके मूल में पूर्णपरब्रह्म के आत्मप्रकाश का संकल्प समझना चाहिये। भगवान् ने जब अपने जानने के लिए संकल्प किया अथवा भगवत्सत्ता में जब अपने को जानने का संकल्प उदय हुआ तभी क्रम-क्रम से आत्मा का तथा विश्व का आविर्भाव हुआ। अखंड, विराट्, अनंत सत्ता से आत्मा सबसे पहले 'अहं' रूपेण स्फुरित हुआ और साथ ही साथ उसकी प्रतिद्वंद्वी प्रकृति 'इदं' रूप से प्रकट हुई। कोई-कोई आचार्य इसको पुरुष-प्रकृति के नाम से भी वर्णन करते हैं। क्रमशः आत्मारूपी पुरुष प्रकृति से युक्त होकर क्रम-विकास मार्ग में अग्रसर होता है—आत्मा चिद्रूप, प्रकृति अचिद्रूप। अभिव्यक्तावस्था में चित् और अचित् अविविक्तरूपेण प्रकाशमान होता है। अचित्तत्त्व, अहं-रूपी आत्मा के देहरूपेण कल्पित होता है, पहले अस्पष्ट रूप से, बाद में क्रमशः अधिकतर स्पष्ट रूप से प्रकृति देहादि रूप लेकर भोक्ता आत्मा के साथ मिल जाता है। यही चौरासी लक्ष योनियों के क्रमविकास की धारा है। इस धारा में स्थावरसत्ता से जंगमसत्ता की उत्पत्ति होती है। स्थावर में भी क्रम है, जंगम में भी क्रम है। अंत में मनुष्य की उत्पत्ति होती है। यही प्रकृतिरूपा शक्ति का प्रथम क्रमविकास है।

इस क्रमविकास मार्ग में पहले अन्नमयकोष का उद्‌भव होता है, उसके बाद क्रमशः प्राणमयकोष का विकास होता है अर्थात् अन्नमयकोष में प्राणमयकोषरूप से प्राण का विकास होता है, उसके बाद प्राणमयकोष से मनोमयकोष का विकास होता है। मनोमयकोष का प्राथमिक विकास मनुष्येतर जीवों में लक्षित होता है। परन्तु उसका पूर्ण विकास जब होता है, तभी मनुष्य देह की उत्पत्ति होती है। मनुष्येतर जीव में ठीक मन नहीं है, मन का आभास है, प्राण है। मनोमयकोष का विकास और मनुष्य-देह की उत्पत्ति प्रकृति के विवर्तन का सर्वप्रथम मुख्य फल है। इस मनुष्यदेह में यह प्रतीति स्पष्टरूप से खुल जाती है। मन के लीलाक्षेत्ररूप से षट्‌चक्रों का विकास होता है और विवेक होने के कारण कर्म करने का अधिकार आता है।

नैतिकजीवन मनुष्यदेह में ही संभव है। पशु-पक्षी आदि इतर जीवों में नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वहाँ विवेक का विकास नहीं रहता। मनुष्यदेह उत्पन्न होने पर मनोमयकोष का पूर्णविकास हो गया, यह माना जा सकता है। धर्माधर्मरूप कर्मसंस्कार

इसी देह में सभंव है और अपने आपेक्षिक स्वातंत्र्य का विकास भी इसी देह में होता है। मनुष्य जब कर्म करता है तो उसके प्रवर्तक रूप में कर्तृत्वाभिमान रहता है। इसलिए उस कर्म का फलभोग मनुष्य को ही करना पड़ता है। धर्माधर्मरूप कर्म का फल सुखदु:ख का अनुभवरूप जानना चाहिए। चौरासी लक्ष योनि में आत्मा कर्ता नहीं था, भोक्ता भी नहीं था। परन्तु मनुष्यदेह पाकर आत्मा कर्ता बन जाता है, भोक्ता भी। कर्ता होकर कर्म करता है और भोक्ता बनकर उसका फलभोग करता है। वास्तव में इच्छा का उदय मनुष्यदेह में ही संभव है किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्यदेह प्राप्त होने पर सबसे पहले मनुष्य-आकृति का विकास होता है, मनुष्य-प्रकृति का विकास होने में देर लगती है। यह पशुभाव है, वीरभाव नहीं है। जब आकृतिगत मनुष्य प्रकृतिगत मनुष्यभाव प्राप्त हो गया तब पशुभाव, वीरभाव अथवा यथार्थ मनुष्यभाव में परिणत होगा। यह मनुष्यदेह भगवत्वप्राप्ति के लिए उपयोगी है, क्योंकि मनुष्यभाव का पूर्ण विकास ही भगवद्भाव है।

पशुभाव से साक्षात् भगवद्भाव का उन्मेष होना संभव नहीं है, मनुष्यदेह प्राप्त करने के बाद यथार्थ मनुष्यत्व का जब तक लाभ न हो तब तक मनुष्य कर्म के अधीन रहता है। स्वकृत कर्म का फलभोग करने के लिए वह पुन: पुन: जन्म ग्रहण करता है और लोकलोकांतर में परिभ्रमण भी करता है। कर्म के प्रभाव से मनुष्य पशु-पक्षी आदि का रूप भी फलभोग करने के लिए धारण कर सकता है अथवा देवयोनि में भी जा सकता है। कर्मफलभोग समाप्त हो जाने पर फिर मनुष्यभाव में पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार से कोटि-कोटि जन्म मनुष्यदेह में बिताने पर मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान शिथिल हो जाता है। उस समय क्रमश: वह समझने लगता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, प्रकृति के गुण से प्रभावित होकर मैं कार्य करता हूँ, वास्तव में मैं कर्ता नहीं हूँ। और भी आगे चलने पर उसकी समझ में आता है कि वास्तव में कर्ता है प्रकृति का अधिष्ठाता, स्वयं भगवान्। वही सब कुछ करता है। अभिमान से युक्त होकर जीवात्मा समझता है, मैं कर्ता हूँ। इसके बाद जीव का कर्मसंन्यास हो जाता है। उस समय पहली स्थिति में मनुष्य यह समझता है कि परमात्मा करानेवाला है और उनसे प्रवर्तित होकर मैं करनेवाला हूँ। अंत में समझता है कि परमात्मा ही करने वाला है, मैं साक्षिमात्र हूँ।

इस प्रथमयात्रा में आत्मा, भगवत्सत्ता में लीन ज्ञानहीन अवस्था से उद्बुद्ध होकर, ज्ञान प्राप्त कर, प्रकृति के क्रमविकास के अनुसार चौरासीलक्षयोनि में भ्रमण करने के अनंतर मनुष्यदेह प्राप्त करता है। इसे प्राप्त कर फलभोगकाल तब तक है जब तक मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान पूर्णरूप से विगलित न हो। सबसे पहले कर्तृत्वाभिमान का उदय होता है, यही मनुष्य देह का वैशिष्ट्य है। इसी को नैतिक जीवन कहते हैं। इसके बाद कर्तृत्वाभिमान छूट जाता है, साथ ही साथ नैतिक जीवन (मॉरल लाइफ) का भी परिहार हो जाता है। यह होगा अध्यात्म जीवन (स्पिरिचुअल लाइफ) का आरंभ अर्थात् स्वयं कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होकर और कर्मसंन्यास प्राप्त करके द्रष्टाभाव में स्थितिलाभ करना। यहीं प्रथम यात्रा का अवसान समझना चाहिए। भगवान् से मनुष्य तक (फ्रॉम गॉड टु मैन) जो पहली यात्रा है, यही उसका स्वरूप है।

इसके बाद दूसरी यात्रा प्रारंभ होती है। इसका उद्देश्य होता है मनुष्यत्व से भगवतत्त्व तक उत्थान (जरनी फ्राम मैन टु गॉड)। इस यात्रा के आरंभ के पूर्व वैराग्य आ जाता है। जागतिक पदार्थों का आकर्षण छूट जाता है। गुरुरूपेण ईश्वर की कृपा आती है, विवेक और ज्ञान का विकास होता है। यह मनुष्य से भगवान् पर्यंत जाने के मार्ग में आरोहण है। इस मार्ग में, प्रारंभिक अवस्था में, गुरुनिर्दिष्ट अथवा अपने हृदयस्थ अंतर्यामी के द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली से चलना पड़ता है। क्रमश: ऊर्ध्वगतिलाभ होता है। स्थूलदेह तथा स्थूलजगत् से वियोजन (सेपेरेशन) होता है। सूक्ष्मदेह तथा सूक्ष्मजगत् और कारणदेह तथा कारणजगत् से (आत्मा का) वियोजन होता है। सर्वांत में मन से भी वियोजन होता है। पहले मनोमयकोष का अतिक्रम होता है, फिर विज्ञानमय का। अंत में व्यापक मन से संबंधरूप बंधन छूट जाता है। इधर क्रमश: ऐश्वरिकशक्ति का तथा ऐश्वरिकप्रेम का विकास होता है। अंत में मन तथा महामन की पूर्ण निवृत्ति होने पर भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में साधक या योगी अपने को भगवद्रूप करके समझने लगता है। यह भगवत्प्राप्ति की अवस्था है। इस समय आत्मा को अनुभव होता है, 'मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही भगवान् हूँ, विश्व जगत् का अधीश्वर हूँ।' इस स्थिति में भगवद्भावापत्ति पूर्ण हो जाती है। मनोमयकोष का पूर्णविकास होने के बाद जब नैतिक-जीवन का पूर्णत्व हो जाता है तब विज्ञानमयकोष के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन का आरंभ होता है। आध्यात्मिक जीवन का विकास पूर्ण होने पर आनंदमयकोष में जाकर दिव्यजीवन (डिवाइन लाइफ) का प्रारंभ होता है। इस दिव्यजीवन का पूर्णत्व ही है भगवद्भाव की प्राप्ति—यहीं दूसरी यात्रा समाप्त होती है। इन दोनों यात्राओं के पूर्ण होने पर आत्मा या जीव की भगवत्प्राप्ति स्थायी हो जाती है। परन्तु कोई यह न समझे कि यह जीव की स्थायीदशा है। स्थितिशील दशा इससे अलग है। उससे इसका कोई संबंध नहीं है।

जगत् गतिशील है। इसीलिए इसके बाद भी आत्मा की गति अनिरुद्ध रहती है अर्थात् जीवात्मा जीवभाव त्याग करते हुए भगवद्भाव तक प्राप्त करके उसी भगवत्स्वरूप में निरंतर चलता रहता (जरनी विदिन गॉड) है। इसमें पहले भगवत्स्वरूप से च्युतवत् होकर मनुष्यादिरूप लेकर आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इसके अनंतर मनुष्यस्वरूप से पुन: भगवत्स्वरूप में पुनरावर्तन होता है। अंत में भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट होकर अनंतकालपर्यंत उसी में संचरण करता रहता है।

पहली यात्रा में जड़त्व त्याग कर मनुष्यभाव की प्राप्ति होती है, द्वितीय यात्रा में मनुष्यभाव त्याग कर विज्ञानमय तथा आनंदमय मार्ग का अवलंबन करते हुए भगवद्भाव में पहुँचना होता है, तृतीय यात्रा में भगवद्भाव में मग्न होकर उसके अनंत वैचित्र्य का संधान चलता है। भगवत्स्वरूप अनंत वैचित्र्यमय है। मनुष्य स्वयं भगवत्तालाभ कर उसका आस्वादन करता है। यह वैचित्र्य ही भगवान् की महिमा है। इसको स्थितदृष्टि से भी देखा जा सकता है और गतिशील दृष्टि से भी। गतिशील दृष्टि से देखने पर अनंतस्थिति में अनंतगति का अनुभव होता है। यही तृतीय यात्रा का रहस्य है। सिद्धमहात्मा मेहेरबाबा प्राचीन सूफी महात्माओं के आदर्श से कभी-कभी इस तृतीय यात्रा का विवरण देते हैं। साधारणत: प्रचलित दार्शनिक

संप्रदाय द्वितीय यात्रा के बाद स्थिति मानते हैं परन्तु अद्वैत-शाक्त दार्शनिक महाशक्ति के भीतर इस परमस्थिति का भी परमगतिरूपेण दर्शन करते हैं।

❖

मृत्यु के अनंतर साधक-जीव की गति

उपासक आत्मा है, उपास्य भी आत्मा, परन्तु समझने के लिए प्रारंभ में दोनों का पार्थक्य आवश्यक होता है। उपासक आत्मा गुरुकृपा से विद्ध होने पर इतर आत्माओं से कुछ वैलक्षण्य-लाभ करता है। दृष्टांतस्वरूप मान लिया जाय कि उपास्य आत्मा विष्णुरूपी है और उपासक आत्मा जीवविशेष है। साधारणतः मृत्यु के अनंतर यह जीव अपने देहकोष से निर्गत होकर स्वकर्मानुसार अध, ऊर्ध्व अथवा तिर्यक् गति प्राप्त करता है। इसी गति के क्रम में इसका भोग तत्तद् भुवनों में संपन्न होता है। तदनंतर अवशिष्टकर्म भोगने के लिए (कर्मानुरूप) देह का आश्रय करना पड़ता है। इसके लिए मातृगर्भ में प्रवेश आवश्यक होता है। इसी का नाम संसार है। परन्तु सद्गुरु की दीक्षा के प्रभाव से उपासक आत्मा में कुछ विलक्षण शक्ति का संचार होता है। यह गुरुदत्त शक्ति है, जो उसके कर्मों से संबद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ, सद्गुरु ने उपासक के अधिकारानुसार उसमें विष्णुशक्ति का संचार किया, यह शक्ति तेजविशेष है। यह तेज आध्यात्मिक है। विष्णुशक्ति विष्णु का स्वाभाविक तेज है। उसका आकर्षण कर सद्गुरु जब उपासक में अनुप्रवेश करते हैं तब उनका दीक्षा-कार्य संपन्न होता है। मृत्यु के समय यह शक्ति आत्मा को खींचकर स्वस्थान में ले जाती है।

विष्णुशक्ति का स्वस्थान है विष्णुलोक। उस समय कर्मशक्ति का प्रभाव आत्मा के ऊपर पड़ नहीं सकता, क्योंकि विष्णुशक्ति उससे प्रबल है। आत्मा चिदणुरूपी है। विष्णुशक्ति के आकर्षण से देह छोड़कर यह आत्मा स्वभावतः ही विष्णुलोक में पहुँच जाता है। वहाँ जाने पर अणुरूपी आत्मा को पहले विष्णुज्योति की प्राप्ति होती है और जीव उससे तादात्म्यलाभ करता है। यह ज्योति प्रकृतज्योति नहीं है। यह विष्णु की स्वरूप ज्योति है। इसी का नाम आलोक है। इस अवस्था को प्राप्त होने ही का नाम है विष्णुलोक की प्राप्ति, जिसका शास्त्रीय नाम है सालोक्य अर्थात् चिद्णुरूपी आत्मा ज्योतिरूपेण विष्णुलोक में अवस्थान करता है। यह जानना चाहिए कि प्रत्येक लोक में एक स्वाभाविक आवर्तनक्रिया चलती रहती है। जैसे पृथ्वी सूर्य का परिक्रमण करती है उसी प्रकार विष्णुलोक के सभी सत्व केन्द्रस्थ विष्णुसत्ता का परिक्रमण करते हैं। यह प्ररिक्रमण सहजभाव से निरंतर होता रहता है। जैसे मनुष्यादि जन्म के अनंतर क्रमशः बाल, पौगंड, किशोर, यौवन, प्रौढ़ तथा वृद्धभाव प्राप्त करते हैं उसी प्रकार इस परिक्रमणगति में भी निर्दिष्ट क्रम है।

सालोक्य के अनंतर सारूप्य अपने आप प्रकट होती है। जैसा कि योगियों को परिज्ञात है ''ज्योतिरभ्यंतरे रूपम्''। उसी प्रकार ज्योति का विकास पूर्ण होने पर उसको भेद कर रूप का आविर्भाव होता है। विष्णुलोक में वैष्णवज्योति है। उसी प्रकार विष्णु के उपासक

को जिस रूप की प्राप्ति होती है वह वास्तव में विष्णुरूप ही है। चिदणु-जीवात्मा वैष्णव ज्योति से एकात्मता स्थापित कर विष्णुरूप प्राप्त करता है। यही सारूप्यमुक्ति है। परिक्रमा की समाप्ति अभी नहीं हुई। आगे चलकर रूप के विकास के अनंतर शक्ति का विकास होता है। उसका नाम है सार्ष्टि। केवल विष्णुरूप प्राप्त कर सम्यक् विकास तब तक नहीं माना जाता जब तक विष्णु की शक्ति भी आयत्त न हो। इसीलिए उपासक जीव को सारूप्य प्राप्त होने के बाद विष्णुशक्ति लाभ कर सार्ष्टि-अवस्था को प्राप्त होना पड़ता है। इसके पश्चात् शक्ति के अधिगम के प्रभाव से उपासक-उपास्य का व्यवधान हट जाता है। इस समय उपासक जीव उपास्य विष्णु का सामीप्यलाभ करता है। यह सार्ष्टि से भी उच्चावस्था है। परन्तु प्रक्रिया अब भी समाप्त नहीं हुई।

अंत में विष्णु के साथ योग हो जाता है। ज्योति, उसके बाद रूप, उसके बाद शक्ति, फिर सान्निध्य और सबके बाद मुक्तावस्था का उदय होता है। इसका नाम है सायुज्य। इस अवस्था में उपासक का उपास्य के साथ सर्वात्मना युक्तभाव होता है। दोनों में उपास्य-उपासक भेद रहने पर भी साम्यभाव आ जाता है, परन्तु उस साम्य में अंशांशिभाव रहता है। उपास्य विष्णु है। उपासक भी उस समय विष्णु से अभिन्न है। परन्तु उपास्यविष्णुअंशी है और उपासकविष्णु उनका अंशरूप। अंशांशी अभिन्न होने पर भी वस्तुतः एक नहीं है। अवतरणादि समय में साधारणतया विष्णु के ही अंश का अवतरण होता है। विष्णु वैकुंठलोक में यथावत् स्थिर रहते हैं, परन्तु यह अंशावतरण भी विष्णु का ही अवतरण माना जाता है। वैष्णव लोग उसे स्वांश, निज अंश अथवा अभिन्नांश नाम से वर्णन करते हैं। यह अंश अवतार कोटि के अंतर्गत है परन्तु स्वांश या अभिन्नांश के अनुरूप विष्णु का भिन्नांश भी हो सकता है। यही प्राकृत जीव है। जैसी विष्णु के वैसी ही शिवादिक अन्य देवताओं के उपासकों की गति के विषय में भी समझना चाहिए।

❖

७

स्वात्मसंवेदन

स्वात्मसंवेदन का अर्थ है—जीवन के महालक्ष्य से संबद्ध अनुभवों का स्फुरण। कविराजजी ने अब तक इन्हें प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखा है। इस विषय पर कुछ भी प्रकाश डालने से वे बराबर इनकार करते रहे हैं।

कविराजजी के अध्ययनकाल में 'पत्रालोक' की सामग्री खोजते हुए एक दिन अकस्मात् मेरी दृष्टि एक सजिल्द मोटी कापी पर पड़ी। सुंदर बंगाक्षरों में लिखे उसके सैकड़ों पृष्ठ भरे थे। विषयतत्त्व के बारे में जिज्ञासा करने पर कविराजजी ने बताया, 'इसमें मेरी अनुभूतियाँ अंकित हैं। ये प्रकाश्य नहीं हैं।' मैंने पूछा, 'इस प्रकार की अनुभूतियों के स्फुरण का सूत्रपात कब से हुआ? इनके अवतरण का स्वरूप क्या रहा है?' जो विषय ही उनकी दृष्टि में रहस्यपूर्ण था, उसके उद्गम और स्वरूप का निरूपण वे कैसे करते?, कुछ क्षण मौन रहकर बोले, 'अभी इसे रहने दो। फिर कहेंगे।' कुछ दिनों बाद स्मरण दिलाने पर वह कापी ढूँढकर निकाली गयी। 'विनयप्रेम-बस' होकर श्रीमूर्ति ने कुछ इनी-गिनी अनुभूतियों को लिखने की अनुमति दे दी। उसके हिंदी अनुवाद का श्रम भी स्वयं ही वहन किया। यह सब हो जाने के बाद मेरे पूर्व प्रश्नों के उत्तररूप में उनका इतिहास भी बता दिया। वह संक्षेप में इस प्रकार है।

१९१६ ई० में ये काशी से अपने एक मित्र नृत्यगोपाल भट्टाचार्य से मिलने रेवाड़ी (राजस्थान) गये। नृत्यगोपाल बाबू जयपुर में इनके अध्ययनकाल के अभिभावक मेघनाद भट्टाचार्य महाशय के ज्येष्ठ पुत्र थे और रेवाड़ी में इंजीनियर के पद पर नियुक्त थे। एक दिन ये अकेले ही संध्या समय स्टेशन की ओर घूमने गये। दिव्यानुभूति का प्रथम स्फुरण यहीं हुआ। चार वर्षों तक इसकी आवृत्ति लंबे व्यवधानों के साथ होती रही। १९२० के पश्चात् उसका नियमित क्रम चला। स्फुरण के तत्काल बाद ये उसमें अभिव्यक्त संदेश नोट कर लिया करते थे। देरी हो जाने पर विवरण विस्मृत हो जाता था। इस भय से ये अपनी जेब में सदैव पेंसिल और नोटबुक रखे रहते थे।

इस दिव्यानुभव की यह विशेषता थी कि आध्यात्मिक विषयों पर साधनाक्रम में इन्हें जिन तत्त्वों के संबंध में संशय होता था, कालांतर में उनका समाधान इसी माध्यम से प्राप्त हो जाता था। समाधान प्राप्त होने की कोई अवधि नहीं होती थी। स्फुरण कब होगा, इसका पूर्वाभास भी नहीं होता था। कभी शंका उदय होने के एक ही घंटे के बाद स्फुरण हो जाता

स्फुरण हो जाता था, कभी दस दिन बाद होता था और कभी-कभी समाधान आने में छ:-छ: महीने लग जाते थे किन्तु आता अवश्य था।

इसके अवतरण का स्वरूप भी विलक्षण होता था। इसमें शौच-अशौच का प्रतिबंध नहीं था। शरीर किसी भी स्थिति में हो, घर पर हों या बाहर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, यात्रा करते, सहसा आँखों के सामने का प्राकृत आवरण हट जाता था, और दिव्य अनुभूति प्रकाशित होने लगती थी। कभी-कभी तो वह इतनी सस्वर होती थी कि शब्दों के माध्यम से स्पष्ट सुनाई देती थी। भीतर से शब्द विद्युत्प्रकाश की भाँति प्रस्फुटित होते थे। उनकी गति इतनी तीव्र होती थी कि पकड़ पाना कठिन हो जाता था। इस अवस्था का अवसान होने पर स्मृतिपटल पर जो कुछ अंकित रह जाता था, वही हाथ लगता था।

प्रस्तुत प्रकरण में इस प्रकार की कुछ अनुभूतियाँ इस उद्देश्य से संकलित की गयी हैं कि साधनमार्ग के पथिक इन वातायनों से कविराजजी के भावलोक की झलक पा सकें। इनका स्फुरण उनकी जिज्ञासानिवृत्ति के निमित्त हुआ है। अत: जिज्ञासु साधकों को अपने अनेक प्रश्नों का उत्तर भी इनके अंतर्गत अनायास ही प्राप्त हो जायेगा। बंगला की मूलप्रति में शीर्षक नहीं थे। इस हिन्दी रूपांतर में, पाठकों की सुविधा के लिए प्रतिपाद्य विषय के आधार पर इन पंक्तियों के लेखक ने ही उनका यहाँ समावेश कर दिया है।

पुरीधाम

२८-५-१९३७

गुरु-स्तोत्र में है 'शिवतत्त्वप्रबोधाय ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिन:'। यहाँ शिवतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व में तथा प्रबोधन और प्रकाशन व्यापार में भेद किया है। प्रबोधनव्यापार परिणामक्रम से होता है। इसके पूर्ण होने पर भाव तैयार हो गया, यह कह सकते हैं। इसके बाद प्रकाशनव्यापार का कार्य आरंभ होता है। अतएव पहला कर्तव्य है सुप्तिभंग या जाड्यनिवृत्ति (रिमूवल ऑव मैटेरियलिटी)। इसका फल है चिन्मयभाव का विकास। दूसरा कार्य है आवरणभंग। इसका फल है अपने निकट भाव की प्रकाशमानता। कर्म करते-करते विकासव्यापार पूर्ण होता है। परन्तु आवरण न हटने से यह विकास जानने में नहीं आता। मातृगर्भ में विकास होता है, भूमिष्ठ होने पर प्रकाश होता है, अवश्य स्थूलरूप से। विकास होने के साथ ही साथ प्रकाश हो सकता है अथवा विकास होने के बाद प्रकाश हो सकता है। जब तक प्रकाश न हो, तब तक अनुभव में नहीं आता। विकासभिन्न से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। विकास होने पर प्रकाशभिन्न से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रकाश होने पर भी विकास का कार्य चलता ही रहता है, यांत्रिक रूप से। उसकी गति अव्याहत है। प्रतिबंधक न रहने से उसका कार्य अबाधरूप से होता रहता है। बीच में प्रकाश हो जाने पर विभिन्न कारणों से विकास का पथ रुद्ध हो सकता है। विकास पूर्ण होने पर प्रकाश बाधक नहीं होता क्योंकि उस समय विकास तो शेष नहीं है, इसीलिए प्रकाश में भय नहीं रहता। अतएव विकास के साथ ही साथ एक पुट लगा रहता है। विकास जितना भी हो, पुट रह जाता है। संपूर्ण विकास होने पर पुट अपने आप टूट जाता है। कोई यदि उसे तोड़ दे तो उसमें भी हानि नहीं है।

शक्ति का क्रमिक जागरण ही विकास है, यह होता है कर्म से। चरम अवस्थिति में

पुट को हटाया जाता है। यह ज्ञान से होता है। कर्म करते-करते ज्ञान का उदय स्वत: होता है। कर्म करने से होता है विकास। विकास पूर्ण होने से होता है ज्ञान और ज्ञान का फल है प्रकाश। विकास के प्रभाव से सद्भाव की प्राप्ति होती है और प्रकाश के प्रभाव से चिद्भाव की, क्योंकि सत् ही प्रकाशमान होता है। उसके बाद है आनंद या आस्वादन। क्रम यही है—कर्म, ज्ञान और भक्ति। आनंद के बाद ही स्वभाव में स्थिति होती है। अत: बीज चाहिए, क्षेत्र भी चाहिए। बीज न होने पर किसका विकास होगा?

पुरीधाम ३०-५-१९३७

पहले होती है साधारण कृपा। यह आश्रितमात्र व्यक्ति के ऊपर कार्य करती है। अनाश्रित के ऊपर यह कृपा नहीं करती। वहाँ कर्मफल का नियम है, कार्यकारणभाव का क्रम चलता है। साधारण कृपा ज्ञानबीजसंचार से ही प्रारंभ होती है। उसके पश्चात् आश्रित के पक्ष से तीव्र पुरुषकार आवश्यक है। इसी का नाम आज्ञापालन है। उसके लिए जो चेष्टा करनी पड़ती है वही नियमानुवर्तिता है। इस अवस्था में गुरुवाक्य ही आज्ञा अथवा नियम समझना चाहिए। इसी के पालन का नाम है कर्म। यह करते-करते कर्म कट जाता है। तब पूर्णज्ञान की स्थिति आती है। उस समय असाधारण कृपा का उदय होता है। इस अवस्था का नाम है स्वच्छंदाचार। यही इच्छाशक्ति की अवस्था है।

अपनी इच्छा को उसकी इच्छा के अनुकूल न करने पर अपनी इच्छा की पृथक् सत्ता नहीं रहती, एकमात्र उन्हीं की इच्छा रहती है। वही इच्छा मेरे भीतर से कार्य करती है। यहाँ तक कि वह मेरी अपनी इच्छा के रूप में प्रकाशमान होती है। वह इच्छा अबाधित है, पूर्ण हुए बिना रह नहीं सकती। इसका फल है आनंद। मेरे उनमें लीन हो जाने के बाद वह मुझमें विशुद्ध-अहंरूपपेण प्रकाशित होंगे। यदि मैं उनमें आत्मसमर्पण करूँ या करने का प्रयत्न करूँ तब वे भी मुझमें आत्मसमर्पण करेंगे, उस समय वे (परमात्मा) अहंरूपेण प्रकाशमान होंगे। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मैं उनमें आत्मसमर्पण स्वयं कर सकता हूँ? इसका उत्तर है 'नहीं कर सकता' अथच मेरे न करने पर वे मुझमें आत्मसमर्पण करेंगे नहीं। पक्षांतर में क्या वे ही पहले आप ही आप आत्मसमर्पण कर सकते हैं, अगर मुझमें कुछ वैशिष्ट्य न रहे? परन्तु मुझमें वैशिष्ट्य रहेगा कहाँ से? उनको छोड़ देने पर मैं होता हूँ शून्य, मेरे न रहने से वे कुछ नहीं कर सकते। अत: वे और मैं दोनों ही एकाकी अपूर्ण हैं। तात्पर्य यह कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। मूल में किसके ऊपर कौन अपेक्षा करता है? नहीं कहा जा सकता। असली बात यह है कि मैं और वे जहाँ से नि:सृत हैं वह है पूर्ण। पूर्ण से जो शक्ति का उन्मेष होता है, वही यथार्थ कृपा है। वह होती है अहेतुकी। वह मेरे भीतर कर्म रूप से प्रकाशित होती है, और परमात्मा में फलरूप में। मुझसे वे कर्म कराते हैं और परमात्मा से फल दिलाते हैं। मुझसे आत्मसमर्पण कराते हैं, उनसे भी आत्मसमर्पण कराते हैं। वह स्वयं निरपेक्ष और स्वतंत्र हैं।

मेरी इच्छा शून्य होने पर जैसे उनकी इच्छा ही मेरी इच्छारूपेण प्रकाशमान होती है, उसी प्रकार उनकी इच्छा शून्य होने पर मेरी इच्छा ही उनकी इच्छारूपेण प्रकाशमान होती है अतएव प्राप्ति का प्रकार यह है—

(क) पहले इच्छाशून्यपूर्ण में यदि मैं इच्छा को लेकर अवगाहन करता हूँ तब पूर्ण के स्पर्श से मेरी इच्छा उनकी इच्छारूप में अर्थात् इच्छाशक्तिरूप में प्रकाशित होगी। यह योगियों का व्यापार है।

(ख) भक्तों का व्यापार इससे विलक्षण है—ठीक इसके उलटा। मेरे इच्छाशून्य होकर इच्छामय पूर्ण में अवगाहन करने पर उनकी इच्छा मेरे भीतर से मेरी इच्छा के रूप में प्रकाशित होती है। ये दोनों विभूतियाँ एक प्रकार की नहीं हैं—एक का नाम योगविभूति है, यह सकामचित्त के लिए है। दूसरी का नाम लीलाविभूति है, यह निष्कामचित्त के लिए है। इच्छा के साथ इच्छाविहीन का मिलन दोनों में है। जब मैं इच्छायुक्त होता हूँ उस समय वह इच्छाहीन है और जब मैं इच्छाहीन होता हूँ तब वह इच्छामय है।

दुःखनिवृत्ति और आनंदलाभ का उपाय क्या है? उनके साथ मेरा मिलन। इस समय वे नहीं हैं इसलिए दुःख है। वे इच्छामय हों या इच्छाहीन, मैं इच्छायुक्त हूँ या इच्छारहित, इसमें क्या है? ये विभिन्न विकल्प इस प्रकार के हैं :—

(क) वे इच्छामय और मैं इच्छायुक्त, इसी का नाम संसार या दुःख है।

(ख) वे इच्छामय परन्तु मैं इच्छाहीन, इसी का नाम भक्ति है।

(ग) वे इच्छाहीन और मैं इच्छामय, इसी का नाम योग है।

(घ) वे इच्छाहीन मैं भी इच्छाहीन, इसी का नाम ज्ञान या कैवल्य है।

पहली अवस्था में दोनों इच्छाओं के संघर्ष से दुःख की उत्पत्ति अवश्यंभावी है। चतुर्थ अवस्था में इच्छा नहीं है, इसीलिए दुःख भी नहीं है, आनंद भी नहीं है। तृतीय अवस्था में दुःख की स्मृति है, इसलिए आनंद है। अपनी इच्छापूर्ति ही इस आनंद का स्वरूप है। द्वितीय अवस्था में अपनी इच्छा नहीं है अथच उनकी इच्छा है, इसीलिए लीलानंद अथवा प्रातिरस है। यही श्रेष्ठ है।

जो लोग कर्मदेवता हैं उनका आनंद उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार तृतीय प्रकार का है, जो आजान-देवता हैं उनका आनंद द्वितीय प्रकार का है। यह द्वितीयावस्था दो प्रकार की है—

(१) जब भक्ति प्रधान और ज्ञान सहकारी रूप में रहता है, इस स्थिति में द्रष्टारूप में भगवल्लीला के दर्शनमुख का भोग होता है।

(२) जब भक्ति प्रधान और कर्म सहकारी रूप में रहता है, इस अवस्था में अभिनेता होकर भगवल्लीला में भाग लिया जा सकता है।

ये दोनों ही पक्ष लीला के अंतर्गत हैं—एक प्रेक्षक और दूसरा नटरूपेण। द्वितीय अवस्था ईश्वरकोटि की है। पहली तथा तीसरी अवस्था जीवकोटि की है। चतुर्थावस्था ब्रह्मकोटि की है। क्रम यह है—

(१) प्रथम + प्रथम
(२) तृतीय + तृतीय
(३) चतुर्थ + द्वितीय
(४) द्वितीय + चतुर्थ

पहला मार्ग भक्त के लिए है, दूसरा ज्ञानी के लिए।

नवद्वीप ५-६-१९३७

१. देवता के आविर्भूत होने पर साधक पहले अंतर्देह की ज्योतिमात्र देख सकते हैं। इसके बाद दीर्घकाल तक ज्योतिदर्शन करके चक्षु अभ्यस्त हो जाने और अपना उपादान उस सत्ता में सत्तावान् हो जाने पर रूपदर्शन होता है। यही क्रम है। देवता या सिद्धपुरुष ज्योतिसंहरण करके भी रूपदर्शन कर सकते हैं, परन्तु उससे साधक अभिभूत हो जाता है। अधिक तीव्र होने से मर भी सकता है। ''शिवो भूत्वा शिवं व्रजेत्'' का यही तात्पर्य है।

देवता का तेज आत्मसात् करते-करते अंत में उसका दर्शन होता है। और भी रहस्य है। मान लीजिये 'क' और 'ख' दो व्यक्ति हैं, जिनमें 'क' साधकजीव है और 'ख' सिद्धपुरुष अथवा देवता। उनका परस्पर सान्निध्य होने पर पहले 'क' की प्रभा 'ख' की प्रभा से अभिभूत होती है। धीरे-धीरे जप, ध्यान, उपासना प्रभृति होती है। उसके बाद 'ख' की प्रभा देखने में आती है, तब यह पुनः देख पड़ती है। उसके फलस्वरूप 'क' की प्रभा और भी अभिभूत होती है। पुनः पुनः देखते-देखते 'ख' का रूपदर्शन होता है। उस समय 'क' 'ख' के प्रभामंडल के अंतर्गत आ जाता है। इसी का नाम है सालोक्य। परन्तु यह स्थिति सामयिक है। इसके बाद मृत्यु होने पर भी उसी लोक में 'क' की गति होती है, यह निश्चित है। किन्तु स्थूलदेह जब तक रहेगा तब तक कितना ही अग्रसर क्यों न हो, स्थायी सालोक्य नहीं होता। देह रहते-रहते और भी उन्नति होने पर देवता का रूपदर्शन होता है। सालोक्य स्थायी होने पर 'क' की छायामय प्रभा सदा के लिए अभिभूत हो जाती है। अपनी प्रभा रहती नहीं है। प्रभा स्वयं ही रूप हो जाती है। यही दास्यभाव की सूचना है। 'तुम प्रभु मैं दास' यहीं से सूचित होता है। सारूप्य होने पर तत्-लोकवासी साधक उसके प्रभामंडल के अंतर्गत हो जाते हैं। परन्तु उन सब साधकों के ऊपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। रूप से शक्ति में जाने पर—सार्ष्टि मुक्ति होने पर, ये सब साधकशक्ति के अधीन होते हैं, किन्तु यह आपेक्षिक है। इसके बाद शक्ति से सत्ता का लाभ होता है, यही सायुज्य है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो साधक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ से निर्गुणरूप का आरंभ होता है। सामीप्य वस्तुतः सालोक्य और सायुज्य की मध्यवर्ती अवस्था है। लीलावादी भक्तगण सामीप्यलाभ करना चाहते हैं। परन्तु यहाँ विरह है। बिना सारूप्य के विरह निवृत्त नहीं होता। कहना चाहिए कि सारूप्य में मिलन भी नहीं है। सारूप्यावस्था में केवल रूपदर्शन मिलता है। किन्तु सामीप्यावस्था में उसकी सेवा भी करने को मिलती है—मंजरी और सखी के रूप में। सामीप्यावस्था में ही दास्यभाव नाना प्रकार से परिस्फुट रहता है। ज्योतिदर्शन बाहर से होता है, रूपदर्शन भीतर से। रूपदर्शन होने पर समझना चाहिए कि साधक ने इष्टधाम में स्थान प्राप्त कर लिया है, क्योंकि किसी स्थान से किसी निर्दिष्ट कोण से यह दर्शन होता है। पूर्णावस्था के पहले अथवा रूपदर्शन के बाद मृत्यु होने पर साधन के अनुरूप दिव्यावस्था का लाभ होता है, चाहे सालोक्य हो, सामीप्य या सारूप्य। इनमें से जिस अवस्था का लाभ होता है, उसी अवस्था में दीर्घकाल तक रहना पड़ता है, अतिदीर्घकाल तक। भक्त सालोक्य प्राप्त करके वहीं से सारूप्य ठीक समय में प्राप्त करते हैं। परन्तु स्थूलदेह रहने पर सालोक्य से सारूप्यावस्थालाभ में बहुत देर नहीं लगती, यदि

परिश्रम किया जाय तो। हम सब लोग कहते हैं, 'मैं तुम्हारा दास हूँ' किन्तु इस प्रकार कहने मात्र से दासपद की प्राप्ति नहीं हो जाती। केवल ज्योतिदर्शन से दास्यभाव नहीं आता। हम तब तक दास हो ही नहीं सकते, जब तक उनका रूपदर्शन न कर लें।

२. आँख बंद करने से जो अंधकारदर्शन होता है, वही साधक का छायामय प्रभामंडल है। यह अविद्या वासनादिमय आवरणस्वरूप है। जपध्यानादि से यह आलोकित हो जाता है, कारण कि जप करते-करते क्षुद्र-क्षुद्र तड़ित् कण संचित होते हैं, जब घनीभूत होते हैं तब अंधकार दूर होता है। ध्यान से भी ऐस ही होता है। परन्तु जप तथा ध्यान दोनों के मूल में दीक्षाव्यापार रहना चाहिए, क्योंकि साधारण जप और ध्यान कल्पित शब्द और रूप का अवलंबन करके होता है, यदि वह अकल्पित शब्द और रूप का प्रतिरूपक हो, तब दीर्घकाल में जप और ध्यान से अंधकार दूर होगा। इसी का नाम ज्येतिदर्शन है। क्रमवृद्धि से चारों ओर केवल ज्योति का ही विकास दिखाई देता है, तब भी रूप का दर्शन नहीं होता।

इसके बाद रूपदर्शन होता है। यहाँ अकल्पित शब्द मिलता है। रूप भी अकल्पित है। यही मंत्रचैतन्य की अवस्था है। इस अवस्था का शब्द चेतन है, रूप भी चेतन है। इसी का नाम सूर्योदय है। बीच-बीच में मेघ आकर सूर्य को आच्छादित करता है। इसलिए धामवासी भक्तमंडली भी देवदर्शन सदा नहीं पाती, जब पाती है तब भी ठीक से नहीं पाती। पूर्णभाव से सम्यक् दर्शन हो जाने पर मेघ का आवरण नहीं रहेगा।

३. यथार्थ ध्यान रूपदर्शन के बाद होता है। रूपदर्शन हौंने पर स्वभावत: ही ध्यान आयेगा। ध्यान टूट जाने पर बाह्यावस्था आती है। तब फिर जप करना पड़ता है, फिर रूप का आविर्भाव होता है, तब ध्यान। ऐसा पुन: पुन: होने लगता है। अंत में परमरूप का आविर्भाव होता है। तब सब कुछ स्तंभित हो जाता है।

४. ज्योति का आश्रय करके ध्यान हो सकता है। रूपाश्रय करके भी हो सकता है। बाहर के रूपाश्रय से जो ध्यान होता है, वह ठीक नहीं है। ज्योतिर्ध्यान के बाद ही निर्गुण में प्रवेश होता है। अंतररूपध्यान के बाद भी ऐसा ही होता है, परन्तु ये दोनों अवस्थाएँ एक नहीं हैं।

५. हम लोगों का यह स्थूलजगत् जागरण का जगत् है, लिंगजगत् स्वप्न का जगत् है और कारणजगत् निद्रा का जगत् है। फिर भी उपर्युक्त तीनों में से प्रत्येक दशा में तीन-तीन अवस्थाएँ हैं। साधना के प्रभाव से ऐसी स्थिति आती है, तब अधिकांश समय में लिंगजगत् में संचरण होता है, कदाचित् कारणजगत् में विश्राम होता है, कभी-कभी स्थूलजगत् में उतर आते हैं। देवतादि इसी अवस्था में रहते हैं। विश्रामकाल में कारण में मग्न होते हैं तथा अवतरणकाल में स्थूल में विकास पाते हैं। उच्चभूमि के देवता और ऋषि-मुनि कारणजगत् में योगनिद्रा अथवा समाधि में रहते हैं। वे प्रयोजन के अनुसार स्थूल या सूक्ष्मजगत् में उतर आते हैं, फिर अपने आप ही लौट जाते हैं।

६. साधक आँख बंद करने से जो अंधकार देखते हैं, वही उनका जगत् है। देवता चक्षुबंद करते नहीं हैं। उनका चक्षु निमीलित नहीं होता। वे जो प्रकाश देखते हैं, वही उनका लोक है। साधक साधनबल से जब चक्षु बंद करने पर भी अंधकार नहीं देखते हैं,

तब समझना चाहिए कि उनका दिव्यचक्षु खुल गया। उस चक्षु का निमीलन नहीं होता। उस समय उस दिव्यचक्षु के प्रकाश से जो देख पड़ता है, वह सब कुछ उनका अंगीभूत है। देवता जो कुछ देखते हैं, वह अपना लोकस्य है।

७. चार अवस्थाएँ हैं—

(क) जब साधक देवता को देखते नहीं। देवता भी साधक को नहीं देखते। यह संसारावस्था है।

(ख) जब साधक देवता को देखते नहीं परन्तु देवता साधक को देखते हैं, यह दीक्षा की परवर्ती साधकावस्था है।

(ग) जब साधक देवता को देखते हैं, देवता भी साधक को देखते हैं। यह सिद्धावस्था है।

(घ) जब साधक देवता को देखते हैं, देवता साधक को देखते नहीं हैं। साधक उस समय ईश्वरभूमि में है, देवता भी वहीं है, परन्तु साधक द्रष्टा और जाग्रत है और देवता मोहग्रस्त तथा समाहित।

कलकत्ता १२-६-१९३७

१. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त। आँख बंद करने पर जो अंधकार दिखाई देता है, उसका जो द्रष्टा है वही जीव है। यह प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है। इस अंधकार को दूर किये बिना यदि स्थूलसत्ता को कोई भूल सके अथवा स्थूल देहात्मबोध दब जाय, तब स्वप्नदर्शन होता है। इस अंधकार को दूर किये बिना यदि स्थूल देहात्मबोध रह जाय तभी जाग्रत् अवस्था होती है, इंद्रिययुक्त रहे चाहे न रहे। इस अंधकार को दूर किये बिना यदि स्थूल को कोई भूल सके अथच मन स्थिर हो जाय, तब इसका नाम सुषुप्त है। स्वप्नावस्था में मन स्थिर नहीं रहता। उस समय अंधकार का जगत् दिखाई देता है, परन्तु अंधकार देखने में नहीं आता, जगत् देखने में आता है। यही वासनामय स्वप्न जगत् है। जाग्रत् अवस्था में अंधकार दिखाई देता है वृत्ति अंतर्मुख होने पर, परन्तु बाह्य स्मृति रहती है अथवा जगत् दिखाई देता है, अंधकार के भीतर आलोक के ऊपर। वृत्ति बहिर्मुख है—जाग्रत्-स्वप्न दोनों अवस्थाओं में मन क्रियाशील रहता है। जाग्रत् में इंद्रिय भी काम करती है। द्रष्टा अवश्य ही रहता है परन्तु प्रत्यभिमर्श नहीं होता। सुषुप्त में मन नहीं काम करता, इंद्रिय भी नहीं, द्रष्टा काम करता है, परन्तु प्रत्यभिमर्श नहीं होता। द्रष्टा देख रहा है, वे यह नहीं समझ सकते। जाग्रत् अवस्था में देख सकते हैं। स्वप्न में सुषुप्त की भाँति प्रत्यभिमर्श होने का मार्ग नहीं है। इसीलिए जाग्रत् श्रेष्ठ अवस्था है। यहाँ से ज्ञानप्राप्ति का उपाय मिलता है।

जब चक्षु बंद करने पर भी अंधकार मिट जायगा, उसी समय देहात्मबोध चला जायगा। स्थूल से पृथक् भाव होगा। पूर्ववर्णित प्रत्यभिमर्श जाग्रत् में जब बढ़ जाय, तब यह होता है। इसी का नाम है ज्ञान। इस समय द्रष्टा आलोक में देखेगा और बोध करेगा कि वह देख रहा है। यही चाहिए।

२. चित्ताकाश में देवदर्शन होता है, चिदाकाश में गुरुदर्शन। देवदर्शन होने के पहले चित्ताकाश निर्मल होकर आलोकित हो जाता है। चित्ताकाश से चिदाकाश में जाने का जो

मार्ग है, उसी का नाम ब्रह्मनाड़ी है। वास्तविक तथ्य यह है कि चिदाकाश से आलोक आकर ही चित्ताकाश को अंधकारहीन करता है और उसके बाद उसको देवरूप में देदीप्यमान करता है। यह गुरु को छोड़कर और कौन दिखायेगा? वस्तुतः गुरु ही गुणक्षेत्र में देवरूप में आविर्भूत होते हैं। जो प्रवाह चिदाकाश से उतर कर आ रहा है वही लौटकर चित्ताकाश में स्थिति लेता है। अतः देवता ही गुरु सन्निधान में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार सगुण निर्गुण में पर्यवसित होते हैं।

३. सूर्योदय के पहले आकाश निर्मल होता है। इसके बाद सूर्य का उदय होता है। जो सूर्य देर में उदित होने वाला है, उसी के प्रभाव से पहले पूर्वाकाश प्रकाशमान होता है, अंधकार हट जाता है। इसी प्रकार देवता के आविर्भाव के पहले चित्ताकाश प्रकाशमान होता है। वस्तुतः वह भी देवता की ज्योति से ही होता है। इसलिए कोई-कोई कहा करते हैं कि चित्त शुद्ध करके देवदर्शन करना चाहिए, किन्तु यह ठीक नहीं है, असार बात है, क्योंकि चित्त का शोधक तो उस देवता की ही ज्योति है। परन्तु एक बात है। रात्रि का अंधकार और मेघ का अंधकार—अंधकार के दो प्रकार हैं। सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंधकार कट जाता है किन्तु मेघांधकार कटता नहीं है। जीव में भी ऐसा होता है। गुरु की सामान्यकृपा के प्रभाव से क्रमशः जीव का हृदयांधकार, जो अनादि काल से है, कट जाता है। केवल इतना ही नहीं, देव-सूर्य उदित होते हैं और क्रमशः अग्रसर होते हैं। फिर भी स्थूलदेह के आश्रय से जो आवरण मेघ के सदृश रह जाता है, उसी से जीव प्रकाश या प्रकाशक किसी का अनुभव नहीं कर सकता। कर्मरूप वायु के द्वारा यह आवरण हटाना पड़ता है, तब सब कुछ समझ में आता है। मृत्यु के अनंतर यह मेघ नहीं रहता। इसीलिए उसी प्रकाश में प्रवेश हो जाता है। क्योंकि रात्रि बीत गयी, देहात्मबोध समाप्त हो गया। अतएव जीवकृत कर्ममेघ हटाने के लिए मेघ के न रहने पर प्रकाश मिल जायगा। इस कर्म से रात्रि का अंधकार दूर नहीं होता। उस अंधकार की निवृत्ति आलोक के प्रभाव से ही होती है।

कलकत्ता १३-६-१९३७

१. चित्ताकाश में देवता का आविर्भाव होता है। पहले रूप का आविर्भाव होता है, उसके बाद वह चेतन होता है अथवा चेतनरूप का ही आविर्भाव होता है। यह होता है ऊपर से ज्योति के अवतरण होने के अनंतर। अवतरण होता है कहाँ? हृदय में, आज्ञाक्षेत्र में, चित्ताकाश में। पक्षांतर में नीचे से पंचभूत का सारांश ऊपर उठने लगता है। इन पंचभूत के अंशों को आविर्भूतज्योति में अर्पण करना पड़ता है, आहुति की भाँति। तब वह ज्योति पुष्ट होकर ऊपर लौट जाती है। यह जो अर्पण है, इसी का नाम भोगदान है, निवदेन है, चाहे जो कुछ कहो। इसके बाद प्रणाम या आत्मसमर्पण होता है। साधक अंत में अपने को उस ऊर्ध्वगामी प्रवाह में अर्पण कर देता है। वह प्रवाह ऊपर जाकर शांत होता है। इसी का नाम है अद्वैतस्थिति। इसके बाद जब उसका वेग क्षीण हो जाता है, तब साधक नीचे उतर आता है। कौन-कौन वस्तुएँ उठती हैं—गंध उठता है, रस उठता है, तेज उठता है,

वायु उठती है और शब्द उठता है। देवता में गंध नहीं है। उसी गंध के योग में सुगंध होती है। देवता गंध से आच्छन्न हो जाते हैं। फिर रस या जल से अभिषेक होता है। यही यथार्थ स्नान है, ज्योति से उद्भासन होता है, यही यथार्थ आरती है। वायु से हिंदोल होता है, यही चामर-व्यजन है और शब्द घंटादि ध्वनि रूप से प्रकाशमान होता है। यह सब होता है। अंत में प्रणाम के साथ-साथ सब कुछ उसी में लीन हो जाता है, साधक स्वयं भी। इसी का नाम ध्यान, समाधि और स्थिति है।

२. चैतन्य निराकार तथा साकार दोनों ही है। निराकार इसलिए कहा जाता है कि उसके आकार का निर्णय नहीं है, निर्विकल्प है। सब आकार में ही है । यह जो निराकार चैतन्य है, उसी का नाम शिव है, साकार चैतन्य शक्ति है। यह आकार अनंत है, फिर महाशक्तिरूप में एक ही है। इस अनंत आकाश का प्रति-आकार ही एक साधारण इकाई है, सांयोगिक इकाई नहीं। जो कुछ हम देखते हैं, सब कुछ उस मूल इकाई का आरोप-निबंधन है। धीरे-धीरे क्रम लेकर के मूर्तिगठन नहीं होता। यह भ्रांत धारणा है। मूर्ति एक संश्लिष्ट वस्तु है, उसका कोई अंश नहीं है। क्रम कहाँ होगा? इसलिए बद्धजीव कल्पना के द्वारा मूर्तिगठन नहीं कर सकता। दृष्टांत रूप में मान लीजिए—एक गुलाब का फूल है, वह चिन्मय गुलाबरूपी संश्लिष्ट वस्तु है। वह जब हृदय में प्रकाशमान होता है, तब सत्त्वगुण तदाकार में आकारित होकर प्रस्फुटित होता है। उसी का नाम आदर्श गुलाब या गुलाब का लिंग है। उसी को बाहर करने से, महाकाश में अवतारणा करके भौतिक आवरण गुलाब के आकार से प्रकराशमान होता है। इसी का नाम है स्थूल गुलाब। किन्तु यथार्थ गुलाब है वही चिन्मय गुलाब जो शक्तिस्वरूप है। भौतिक और सत्त्वगुण का अंश हट जाने पर शक्ति या चिन्मय गुलाब चैतन्य-समुद्र में मग्न होता है। उसकी विविक्तता रहती नहीं है, अस्तित्व नष्ट नहीं होता। उसको गुलाबरूपेण मानने का कोई उपाय नहीं रहता। ब्रह्मसमुद्र में डूबने पर ऐसा ही होता है।

काशी १८-८-१९३७

जिसको इस समय जड़शक्ति कह रहे हैं, थोड़ा उठने पर देख पड़ेगा कि वह भी किसी चेतनपुरुष की इच्छारूपा है। इस अवस्था में 'मैं भी चेतनपुरुष हूँ' यदि मैं अपनी इच्छा के द्वारा इस इच्छा का विरोध कर सकूँ। कोटि-कोटि पुरुषों की इच्छा जड़शक्ति रूप में खेल रही है। अगर मैं किसी से प्रबलतर होकर उस शक्ति को स्पर्श करूँ तब इसका अवरोध कर सकता हूँ। दुर्बलावस्था में वह शक्ति हमें अभिभूत कर लेगी। तब उसका प्रभाव मानना ही पड़ेगा। उन सब शक्तियों के भीतर, जो प्रबलतम पुरुष की इच्छारूपा है, मैं कभी उसका खंडन नहीं कर सकूँगा। जैसे सूर्य का पूर्व में उदय, जगत् का नश्वरत्व इत्यादि समझना चाहिए। यह सब ईश्वरेच्छा है। किन्तु अन्य शक्तियों का योगबल से परिवर्तन किया जा सकता है। और थोड़ा ऊपर उठने पर समझ में आता है कि वह सब अपनी ही इच्छा है। ऐसा लगता है कि मेरी इच्छा ही जगत् में नाना आकार में खेल रही है, जो कुछ भी मैं देख रहा हूँ। परन्तु यह इच्छा प्राचीन इच्छा है। इस समय मेरी इच्छा नहीं है। इस

समय मैं साक्षीमात्र हूँ। इसके बाद ही है अनुग्रह। इसके फलरूप में मैं इच्छामय होता हूँ। इच्छा उस समय वर्तमान है। चैतन्य और इच्छा—शिव और शक्ति, उस समय एक साथ हैं। यही अद्वैतावस्था है, यही पूर्णत्व है।

विंध्याचल

१२-१-१९३८

जहाँ तक काम है, वहाँ तक जगत् है। काम लंघन करने पर ही अर्थात् पूर्ण होने पर ही, आप्तकामावस्था में आत्मलाभ होता है। जिसकी इस प्रकार स्थिति होती है, उसे अभाव नहीं रहता। इसी का नाम मुक्ति है। मुक्त दो प्रकार के होते हैं—

(क) केवली—इन लोगों का घट पूर्ण है। काम नहीं है। ऊर्ध्व-दृष्टि भी नहीं है। बहिर्दृष्टि भी नहीं है अर्थात् ईश्वर-जगत् दोनों का उन्हें भान नहीं होता। अपने में आप तृप्त हैं।

(ख) ऊर्ध्वद्रष्टा—इनके भी दो भेद हैं—

(१) जिनको जगत् का दुःखस्मरण रहता है—ये लोग मुक्त होने पर भी भगवान् का भजन करते हैं। इसके प्रभाव से भागवतशक्ति अवतीर्ण होती है। अपने को कुछ लेना नहीं है। इसीलिए वह उच्छलित होकर जगत् में फैल जाती है। इसी का नाम परोपकार है। वस्तुतः भगवान् ही शक्ति देते हैं और फिर कंगाल, दीन बनकर जगत्‌रूप में वे ही उसको ग्रहण करते हैं। कृपालु, भक्त निमित्तमात्र बनकर धन्य होता है। भगवान् की इस दुःखविमोचनलीला का निमित्त है भक्त। यही है गुरुस्वरूप, करुणास्वरूप।

(२) जिन लोगों के मन में जगत् की स्मृति लुप्त हो जाती है, आत्मस्मृति तो पहले ही लुप्त हो गयी थी, यही यथार्थ भजन है, जिसमें आत्मा और जगत् का लक्ष्य नहीं रहता। इसका फल प्रेम-रसास्वादन है, लीला का अनुभव है। इस पूर्णनिष्कामता की स्थिति में अन्य कोई बात स्मरण में भी नहीं आती अथच भजन चल रहा है। उसी स्थान में यह प्रेमलीला संभव है।

काशी

१७-४-१९३८

पहले जब आत्मदर्शन होता है तो वह अपने स्थूल देह के अनुरूप भाव से ही होता है। स्थूलदेह में आविर्भाव या तादात्म्यबोध न होने पर आत्मदर्शन होता नहीं। वस्तुतः यह प्राथमिक आत्मदर्शन लिंगरूपी आत्मा का दर्शन है। लिंग ज्योतिस्वरूप है। आत्मा या कारण लिंग का आविर्भावस्थल है। कारणरूपी आत्मा की ज्योति को, जो चारों ओर विकीर्ण होती है, लिंग कहते हैं। देह रहने पर भी वह ज्योति कभी-कभी दृष्टिगोचर होती है। जब इस ज्योति में प्रवेश होता है तब पहले देह के आकार में ही ज्योति प्रतिभासमान होती है, क्योंकि उस समय देहस्मृति न रहने पर भी दैहिक संस्कार प्रबल रहता है। दीर्घकाल के बाद आत्मा का निजरूप दर्शन में आता है। द्रष्टा उस समय भी लिंगज्योति में है, इसमें संदेह नहीं, परन्तु अंतर्मुख है। जब तक बहिर्मुख रहता है स्थूल का प्रतिबिंब लिंगरूप में प्रकाशित होता है। वह लिंगज्योति ही इस स्थूलदेह के ज्ञान और क्रिया का जागतिक व्यापार संपादन करता है। उस ज्योति का आभास देह में न रहने से, अथवा रहने पर भी

निष्क्रिय रहने के कारण, यह देह शव अथवा शववत् हो जाता है। वह ज्योति कारण से आती है, वही आत्मा है, अवश्य यह पूर्ण अथवा परम आत्मस्वरूप नहीं, जिसको महाकारण कहते हैं। स्थूलदेह की इंद्रिय-प्राण-मन प्रभृति सब वही ज्योति ही है। इसलिए करणवर्ग की एकाग्रता के प्रभाव से उस ज्योति का पुनरुद्धार होता है। साधारणतया जिस आत्मा व कारणतत्त्व का रूपदर्शन होता है, वह वस्तुतः आत्मा की सालोक्यावस्था में आत्मज्योति में रहकर होता है। देह में रहने से आत्मा का रूपदर्शन नहीं होता, केवल ज्योतिदर्शन होता है। चक्षु बंद करने पर आलोक में सब उज्ज्वल प्रकाशमय दिखाई देता है, अंधकार हमेशा के लिए हट जाता है। यह आलोक ज्ञान का आलोक है। यही आत्मज्योति है। वास्तव में यह आत्मा का लिंग है। इसमें समग्र जगत् विलीन रहता है। सब कुछ इसी के भीतर दिखाई पड़ता है। विश्वास या इच्छानुरूप दर्शन होता है। यही कार्य-ब्रह्म अथवा आदि-जीव है। यही जन्य ईश्वर है जिसका उस ज्योति में जाकर रूपदर्शन होता है। यही वैश्वानर है। ब्रह्मलोक से अधोलोक पर्यंत सब इसी रूप में प्रतिभासमान होता है। यही आत्मा का निज रूप है।

काशी

१८-४-१९३८

इसके बाद उस रूप में और कुछ देखा नहीं जाता। केवल वही है। यही पराशक्ति अर्थात् शिवशक्ति की अवस्था है। फिर दोनों में मिलन होता है। तब वह दृश्यमान नहीं होता। उस समय सब कुछ अंहरूपेण बोध में आता है। तभी आत्मरूपेण अपरोक्षबोध होता है। यहाँ शिवशक्ति दोनों समान हैं। इसी को साम्य कहते हैं। इस अवस्था में पूर्णकृपा का उदय होता है जिसके प्रभाव से एकत्वलाभ या पूर्णता प्राप्ति होती है। देवता की उपासना में भी यही भाव है। जो कारण आत्मा है वही देवता है, लिंगज्योति है, वही देवलोक है। अतएव देवलोक में गमन और स्थूलदेह त्याग करके लिंगदेह में अवस्थान वस्तुतः एक ही व्यापार है, अथच ठीक-ठीक एक भी नहीं है। क्योंकि आत्मलिंग का विस्तार अनंत है। उसी के एकदेश को लेकर देवलिंग है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप या कारणरूपी आत्मा का एक-एक भाव एक-एक देवता है। इसलिए किसी देवता के साथ सायुज्य होने पर भी आत्मा का एकभावविशेष मात्र आयत्त होता है । पृथक् रूप से देखने पर कहना पड़ेगा कि आत्मा का अनंत भाव है। अतएव महाभाव का आश्रयग्रहण अनिवार्य है। ऐसा न होने पर भाव से भावातीत में जाने का उपाय नहीं है। फिर उसी भाव में रहना पड़ता है। इस महाभाव में जाने का क्रम है। उसी के अनुसार क्रमोन्नति होती है। गोलोक में महाभाव का प्रकाश है, उसके बाद भावातीत। देवता के साथ सायुज्य होने पर जब तक देवता का अधिकार अर्थात् लिंगज्योति अथवा लोक है तब तक सब कुछ अहंरूपेण बोध में आता है। यह भी अपरोक्षदर्शन है परन्तु परिच्छिन्न । इसके फलरूप में जो आत्मस्थिति है वह भी परिमित है। जैसा इस समय इस शरीर में अहंबोध होता है उससे भी अधिक स्पष्टरूप में समग्र देवलोक को अहंरूपेण अनुभव किया जाता है। उस समय इस लोक में द्वैतबोध नहीं रहता। अब जैसा पृथग्दर्शन कर रहे हैं, उस समय ऐसा नहीं होता। अभिन्नरूप से दर्शन होता है।

अभेददर्शन ही आत्मदर्शन है। इसके बाद महाभाव की अवस्था में किसी विशिष्ट लोक का नहीं, समग्र विश्व का अहंरूपेण बोध होता है। उस समय विश्व ही अहं हो जाता है अथवा अहं ही विश्वरूप में प्रतिभासमान होता है। यही अद्वैतदर्शन है। यही कार्यब्रह्मरूपी आत्मा का दर्शन है। इसका फल उसमें स्थिति है। यही आत्मा का विराट्‌रूप है।

पुरीधाम

६-७-१९३८

जीव का निग्रह अनादि है और अनुग्रह अनंत। निग्रह का अंत और अनुग्रह का आदि समकालीन है। वस्तुतः अनुग्रह का सूत्रपात होने पर ही निग्रह घटने लगता है। इसके पूर्व जीव विशुद्ध स्वरूप में पूर्णचैतन्य के अंशरूप में अवस्थित था। पूर्णचैतन्य के एकांश में नित्य ही गुणमयी माया रहती है। मायावच्छिन्न जीव चैतन्य का अनंत अंश है। एक-एक अंश अणुरूप एक-एक जीव है। ये सब अणुरूप चिन्मात्र हैं, दुःखहीन और गुणातीत हैं। माया के भीतर सब जीव अनादिकाल से महानिद्रामग्न हैं। निद्रित रहने के कारण उनका माया के साथ कोई संबंध रहता नहीं। इसीलिए आत्मा विज्वर और निर्गुणरूप से वर्णित होता है। यद्यपि वह पूर्ण में ही है, फिर भी सुषुप्त है। इसलिए पूर्ण के साथ मिल नहीं सकता और पूर्णानंद आस्वादन नहीं कर सकता।

भगवान् पूर्ण चैतन्यस्वरूप हैं। उसके तीन भागों में माया नहीं है। एक भाग में माया है। मायाहीनांश अविकृत है। जिस अंश में माया है, वह भी अविकृत है, परन्तु माया के प्रभाव से विकृत प्रतीत होता है। उसी का आश्रय करके माया विकृतजगत् और विकृतजीव सृष्ट करती है। जीव भगवदंश है। यह सृष्टि के पहले उस माया के भीतर प्रसुप्त था। तब इसको स्व या पर का बोध नहीं था। उस समय यह भी विशुद्ध ही था, क्योंकि विशुद्ध का अंश है न। माया का आवरणमात्र था। शुद्ध जीव की प्रसुप्ति क्या है? शुद्धजीव मायावृत होकर भी माया की क्रिया से रहित है। यही उसकी सुप्ति है। पूर्ण चैतन्य के मायाधिकृत अंश में ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय पुनः पुनः चल रहा है। भगवावन् अविकृत नित्य चैतन्य हैं। वे सुप्तजीव के अंतर में ज्ञान का संचार कर उसको जगाते हैं। जीव जागकर पूर्ण अथवा मूलचैतन्य की ओर लक्ष्यदृष्टि दे सकता है। इसकी पहली स्थिति में मायायुक्ति ही फल है। द्वितीय में मायाबंधन फल है। जीव जागकर संधि में अवस्थान करते हैं। एक ओर पूर्ण प्रसुप्ति और दूसरी ओर जागरण, यह संधिस्थान ही इसकी मुक्ति तथा बंधन का केंद्र है। इसमें स्थिति ही सांध्य-स्थिति है। इस स्थिति से जीव ऊर्ध्व कोई ओर लक्ष्य करके, मायामुक्त होकर मुक्तिलाभ करते हैं। उस समय सांध्य-स्थिति अमृतवत् हो जाती है। लक्ष्यवेध से वह अमृतरूप हो जाती है। किन्तु अधोदशा में लक्ष्य होने पर यह मायाबद्ध होकर संसारी होता. है। इस स्थल में वह स्थिति विषतुल्य हो जाती है, व्याधि का कार्य करती है। पूर्णचैतन्य स्वभावतः करुणापरायण है। वह सुप्तजीव को नाद के द्वारा जगाकर चेतन कर देता है, जिससे जीव जागकर उनकी ओर अभिमुख हो सके, उनसे मिल सके, मुक्त हो सके, सुखी हो सके। इस प्रकार जीव जागता तो है सही, परन्तु जागकर अपनी धारणा नहीं कर सकता, पूर्ण चैतन्य की भी धारणा नहीं कर सकता। जागने का अर्थ है चेतन होना। प्रसुप्तावस्था में

चिन्मात्र था, चेतन नहीं था। चेतन होकर के भी धारणा नहीं कर सकता। क्यों? इसका कारण है जीव का अणु होना। इसीलिए वह स्वरूपानुभूतिहीन है। धारणा न होने का यही हेतु है।

पक्षांतर में प्रबुद्ध जीव पूर्ण चैतन्य को ही स्वकीयस्वरूप समझते हैं। इसी ज्योति को ब्रह्म समझते हैं अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बोध उनको आता है। यही सर्वप्रथम अहंभाव का आश्रय है। यही अशुद्ध-जीवभाव है। शुद्धदृष्टि अपने प्रतिबिंब में पतित होकर मलिन प्रतिबिंब सृष्ट करती है। तभी से वह अपने को मलिन समझने लगता है। 'एकोऽहं' यह भाव ही ब्रह्मज्ञान है। किसी-किसी दृष्टि से यही प्रमाद है। विशुद्ध जीव दीपकलिका है अर्थात् धनज्योति है और ब्रह्म उस दृष्टि के अनुसार दीप-प्रभा या प्रकाश है। वह है बिंब, यह है प्रतिबिंब या छाया। अतएव इस दृष्टि के अनुसार ब्रह्म है विशुद्धजीव की प्रसरित अवस्था।

विशुद्धजीव भगवदंश होने के कारण विशुद्ध, धीर तथा स्थिर चैतन्यरूप है। वह रसरूप है, अस्तिरूप है। रसरूप में उसका अस्तित्व है यह सर्वावस्था में अर्थात् आस्वादित, अनास्वादित—दोनों स्थितियों में अनिर्वचनीय होने के कारण रसरूप में वर्णित होता है। स्व-स्वरूप में वह अस्तित्वरूप में बोधगम्य है। वह एक भी नहीं है, नाना भी नहीं है। उसकी सत्ता में ब्रह्म की सत्ता है। ब्रह्म की सत्ता में जीव की सत्ता। वस्तुत: दीपकलिका और उसका प्रकाश या प्रभा की भाँति दो नहीं है, भिन्न नहीं है, किन्तु दीपकलिका या शुद्धजीव, चेतन होकर अपने प्रकाश को दूसरा समझते हैं और तद्गत होते हैं। इसके प्रभाव से स्वरूपच्युत होकर बहुस्थान अधिकार करते हैं। इसी से उनका बहुरूप है। विशुद्धजीव का स्वरूप मनुष्यरूप है, नररूप है। पूर्ण-चैतन्य का स्वरूप वही है। पहला अंश है दूसरा अंशी, यही भेद है। यह मनुष्यरूप स्थिरतासम्पन्न है। मुक्तावस्था में यह स्थिति मिलती है। हम लोग जो मनुष्य देखते हैं, वह स्थायी नहीं है। जन्मग्रहण से बदलता है। यथार्थ मनुष्यत्वलाभ करने अथवा मुक्त होने पर वह बदलता नहीं है। आदि मनुष्यरूपी जीव ब्रह्मरूप भास प्राप्त होकर नाना वाणी प्रकाश करते हैं, वह असार है। मूलमनुष्य आदिपुरुष है। यह गुरु (प्रकाशविशिष्ट) है, यही हंस है, यही राम है, क्योंकि सब जीवों में रमण करता है। यही चैतन्य है, शुद्ध जीव है, आत्मा है। मनुष्य के भ्रम से ही सब कुछ होता है। उधर ब्रह्म, इधर जगत्, ब्रह्म भी कल्पित, जगत् भी कल्पित; जीव ही मूल वस्तु है। (संतमत)।

पुरीधाम

७-७-१९३८

यदि हम अग्नि को अग्निरूप से न जानें, विश्वास न करें और उसमें हाथ डालें तब भी हाथ जलेगा। द्रव्यशक्ति बिना विचार से अपना कार्य करेगी। मेरे विश्वास-अविश्वास से कुछ नहीं होगा। परन्तु इस प्रकार की अवस्था भी है, जब स्पर्श करने पर भी हाथ दग्ध नहीं होता। उस समय द्रव्यशक्ति काम नहीं करती। क्यों? प्रतिबंधक के कारण से। प्रतिबंधक कौन है? कोई भी हो, इसके मूल में है प्रबल विश्वास, विरुद्ध द्रव्य, मंत्र अथवा इच्छाशक्ति। अतएव सिद्धांत यह है कि द्रव्यशक्ति भी किसी के विश्वास से उद्भूत है। अपने से प्रबल कोई पुरुष यदि किसी द्रव्य में कोई शक्ति स्वीकार करता है, इच्छा करता है, मानता है तब

उससे दुर्बल जीव के लिए वह नियतिरूप हो जाता है। उसका विश्वास रहे चाहे न रहे, इससे कोई संबंध नहीं। मान लीजिए 'क', 'ख' और 'ग' तीन व्यक्ति हैं। इनमें 'क' बड़ा योगी है, उसने इच्छा की कि अग्नि दग्ध करे। इसके फलस्वरूप अग्नि दग्ध करेगी। यदि 'ख' 'क' से दुर्बल हो तो वह कितना ही विश्वास क्यों न करे कि अग्नि दग्ध नहीं करेगी, फिर भी वह करेगी। प्रबल की इच्छा के सामने दुर्बल की इच्छा से अग्नि की सत्ता और क्रिया नष्ट नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में विश्वासी अथवा अविश्वासी कोई भी क्यों न हो अग्नि उसको दग्ध करेगी ही। परन्तु 'ग' यदि 'क' के बराबर या उससे श्रेष्ठ हो, तब अग्नि उसको दग्ध नहीं करेगी। हाँ, यदि उसकी इच्छा दग्ध न करने की हो तो।

और एक बात है। 'ख' यदि 'क' का अथवा उससे श्रेष्ठ किसी योगी का भक्त हो तब 'ख' के दुर्बल होने पर भी 'क' की भक्ति अथवा उस योगी की इच्छा के प्रभाव से अग्नि दग्ध नहीं भी कर सकती है। अत: इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यशक्ति भी मूलत: इच्छा का फल है। दुर्बल जगत् के मंगल के लिए महान् इच्छाशक्ति संपन्न योगी इसी प्रकार प्रयोजनानुसार वस्तुओं में शक्ति का आधान कर गये हैं। अवश्य यह भेद दृष्टि के अनुसार है, नहीं तो ईश्वर की इच्छा मानने पर और किसी की इच्छा मानने का प्रयोजन ही नहीं रहता। परन्तु पहले ही ईश्वर की इच्छा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सब लोग उसकी धारणा नहीं कर सकते। 'क' की इच्छा से यदि कोई वस्तु श्वेतरंग धारण कर ले तब 'ख' की इच्छा से वह लाल रंग की भी बन सकती है, यदि 'ख' श्रेष्ठतर हो तो किन्तु 'ग' यदि 'ख' से भी बड़ा हो तो वह उस वस्तु को पुन: श्वेतरंग में परिणत कर सकता है अथवा दूसरे रंग में भी बदल सकता है। सर्वत्र ही ईश्वरेच्छा मूल है, परन्तु उपाधि है इसलिए पहले ही ईश्वरेच्छा मानना ठीक नहीं । हाँ, अंत में तो उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। ईश्वरेच्छा का अनुभव होने पर दूसरी इच्छा से उसका परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि सभी इच्छाएँ ईश्वरेच्छा के नीचे हैं, उसका प्रतिबिंब मात्र हैं। ईश्वरेच्छा साधारणत: अत्यंत गुप्त रहती है। इसलिए वस्तु का यथार्थ स्वरूप भी गुप्त रहता है। दूसरी इच्छा जैसे-जैसे प्रबल होती है, उसी अनुपात में वस्तु की प्रतीति होती है। अथच अंतराल में ईश्वरेच्छाजात वस्तुरूप अप्रतिहत रहता है। रूपांतर कितना ही क्यों न हो, मूलरूप कभी नष्ट नहीं होता। परन्तु वह भी हो सकता है, यदि ईश्वरेच्छा बदल जाय। ईश्वर स्वतंत्र है, बदलेगा या नहीं बदलेगा, कोई कह नहीं सकता। बदल सकता है, नहीं भी बदल सकता। और यदि पूर्ण का स्वातंत्र्य मान लिया जाय तब ईश्वरेच्छा भी नहीं रहती, क्योंकि वह भी तो स्वातंत्र्य का ही विलास है।

अतएव वस्तुशक्ति तीन प्रकार की है—पूर्ण की इच्छा से संजात, ईश्वर की इच्छा से संजात और योगीजीव की इच्छा-से संजात। सहजशक्ति और आधेयशक्ति का भेद इस आलोचना से समझ में आयेगा। सहजशक्ति वस्तुसृष्टि के साथ-साथ वर्तमान रहती है। वही वस्तु की स्वाभाविक शक्ति है, वही ईश्वरेच्छाजनित शक्ति है। वस्तु और उसकी शक्ति का आविर्भाव समकालीन है। तिरोभाव भी ऐसा ही है। सृष्टि से प्रलयपर्यंत जब तक वस्तुसत्ता रहती है तब तक शक्ति रहती है। आधेयशक्ति जीवकृत है। वह परवर्ती है और अल्पकालस्थायी है। इससे भी लोगों का उपकार होता है, क्योंकि बड़े के संकल्प से छोटे लोग शक्ति पाते हैं

परन्तु यदि छोटा आधान करनेवाले बड़े के बराबर हो, तब वह शक्ति काम नहीं करेगी। उस समय सहजशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। जीव जब ईश्वरभावापन्न होता है, तब सहजशक्ति उसकी अपनी शक्ति या इच्छा के विकासरूप में परिणत होती है। फिर भी, नित्य-ईश्वर और कार्य-ईश्वर की इच्छा में भेद है। इसीलिए सहजशक्ति, कार्य-ईश्वर की इच्छा से स्तंभित होने पर भी नष्ट नहीं हो सकती। सतंभन भी सर्वदेश और सर्वकालगत नहीं हो सकता।

विश्वास से ही शक्ति का आधान होता है। सहजशक्ति और आधेयशक्ति न रहने पर भी विश्वास के बल से वस्तु में कभी-कभी अभीष्ट शक्ति का आधान होता है। परन्तु दुर्बल मनुष्य के विश्वास में बल नहीं रहता। अत: उसके लिए वस्तुनिष्ठ शक्ति, चाहे सहज या आधेय, आवश्यक होती है। प्रत्यक्ष कितना ही क्यों न हो, विश्वास की आवश्यकता रहती ही है। किसी की शक्तिमात्र मैंने देखी, उससे क्या हुआ ? मेरा उद्धार करने की शक्ति उसमें है या नहीं, यह मैं कैसे समझूँगा ? जो दो सेर उठा सकता है, वह दस सेर उठा सकेगा, इसका कोई निश्चय नहीं है और पूर्णशक्ति है या नहीं इसकी तो कोई परीक्षा हो ही नहीं सकती। मान लीजिये, हमने किसी महापुरुष की दया का अनुभव किया। किन्तु इससे क्या होता है ? मुझ पर दया करेंगे या नहीं, यह हम कैसे समझेंगे ? दस व्यक्तियों पर मानो उन्होंने दया की है, फिर भी अपने विषय में संदेह तो रहेगा ही। सर्वजीव पर दया है या नहीं, यह जानने का उपाय नहीं है। सर्वज्ञता भी इसी प्रकार की है। अतएव कितनी ही विभूतियों का दर्शन क्यों न हो, फिर भी विश्वास की गुंजाइश रह ही जाती है। जीवभाव की परीक्षा है, भगवद्भाव की परीक्षा नहीं होती, हो भी नहीं सकती। जिसको मैं परीक्षा या विचार से समझ सकूँ, वह वस्तु भगवान् नहीं हो सकती, वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, जीवामात्र है। तात्पर्य यह कि विश्वास का इस स्थिति में भी स्थान है। विश्वास ही उनको प्राप्त करने का प्रधान साधन है।

विंध्याचल ११-१-१९३९

घट पूर्ण होने पर यदि ऊपर से धारा गिरती है, तो जल बाहर चला जाता है। इसका कारण यही है कि घट की स्थिति है, इसीलिए अतिरिक्त धारा से उसकी विस्तृति होती है। मान लीजिये 'क' कला में घट की स्थिति है। अत: 'क' कला होने पर ही घट स्थिर हो जायगा। इसके बाद उसकी कामना निवृत्त हो गयी। फिर भी कामना रहती है। यही महाकामना या कारण है। यह कामना दूसरे के लिए समझना चाहिए। उस समय में पर ही निज हो जाता है। इसलिए बृहत् निज की कामना शेष रहती है, अत: परोपकार संभवपर है। वस्तुत: वह भी आत्मोपकार है। लक्ष्य उस समय ऊपर की ओर रहता है। इस समय धारा उतर कर चारों ओर फैल रही है। उसके प्रभाव से निजसत्ता व्याप रही है अथवा व्यापक निज सत्ता की प्राप्ति हो रही है। कैसे ? दान के द्वारा, स्वाभाविक दान के द्वारा। 'क' के चतुर्दिक् जगत् है, ऊपर में परमात्मा। जितना ही 'क' व्याप्त हो रहा है उतना ही परमात्मा का दूरत्व कम हो रहा है। क्रमश: एक समय ऐसा आ जाता है, जब 'क' सर्वव्यापी

हो जाता है, तब परमात्मा और उसके बीच का व्यवधान नहीं रहता, अथच रहता है। उस समय 'क' का भीतर बाहर नहीं है, 'क' उस समय जगदात्मक है। इस स्थिति में करुणा नहीं रहती। 'क' परम तृप्त है। अब उसके लिए वास्तव में जगत् है ही नहीं। वह और जगत् एक ही वस्तु हैं। अत: यह उसकी महास्थिति है। कुछ समय के लिए अगर यह मान लिया जाय कि व्यवधान है, तब ऊर्ध्वदृष्टि अथवा भजन है। शक्ति का अवतरण होता है, उसका फल प्रेमलीला है। यह अद्वैतज्ञान तथा करुणा ऊपर की वस्तु है।

स्थिति अथवा महास्थिति दोनों स्थानों से प्रेमलीला में प्रवेश होता है, परन्तु पार्थक्य है। स्थिति से प्रेमलीला में प्रवेश करने पर उस (लीला) में सर्वदा अवस्थान नहीं भी हो सकता है। क्यों? करुणा के प्रभाव से। जगत् का दु:ख दूर करने से उनका फिर जगत् में आना संभव हो सकता है। परन्तु उसी भाव से अपनी व्याप्ति पूर्ण करके लीला में प्रवेश करने पर स्थायी होता है। यही महास्थिति है। इसमें जो जाते हैं, उन्हें फिर लौटना नहीं रहता। प्रेमलीला में अनन्त कलाओं का खेल होता है, स्फीति में निर्दिष्ट कलाओं का व्यष्टि, मध्यस्थिति में भी निर्दिष्ट कला समष्टि। क्योंकि व्यष्टि की भी तो लीला है। जितनी दूर तक जगत् है उतनी दूर तक व्याप्ति होती है। जगत् के बाहर में अनंत कला है।

आसनसोल : रेलवे प्रतीक्षालय २८-११-१९४१

१. पहले लपेटना पड़ता है। जिस स्तर में जो रहता है उसे उसी स्तर में लपेटना पड़ता है। लपेट करके बिन्दु में आना पड़ता है। उसके बाद चलना पड़ता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस लपेटने से स्तरभेद नहीं होता। एकाग्रता का उदय अवश्य होता है। स्तरभेद चलने से होता है। चलने के समय लपेटने का प्रश्न उठता नहीं है। उस समय प्रतिस्तर के केन्द्र से गति होती है। एक बात है। यह गति स्वभावत: ही सरल है, वक्र नहीं। परन्तु यदि कोई स्तरभेद करते-करते किसी स्तर में ठहर करके बहिर्मुख हो जाता है, तब सरलगति बंद हो जाती है। वह विशिष्ट स्तर उस समय भोगस्थान के रूप में उसके सम्मुख खुल जायगा, फिर उसको लपेटना पड़ेगा, सीधे नहीं जा सकते। जब तक लपेटा न जाय तब तक पहलेवाली सरलगति नहीं मिलेगी। इसीलिए पहले एकाग्रता आवश्यक है, उसके बाद अविच्छिन्न या सरलगति। ऐसा होने पर विक्षेप नहीं आयेगा। इसीलिए फिर एकाग्रता की आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु बात यह है कि इस सरलगति के समकाल में किसी प्रकार का दृश्यदर्शन नहीं होगा। दृश्यदर्शन गति के स्तंभित और दृष्टि के बहिर्मुखी होने पर हो सकता है; किन्तु वह विघ्न है। अतएव इस गति के दो ही प्रकार हैं—एक है समकेंद्रिक (कंसेंट्रिक) और दूसरा समक्ष अथवा सरल। सब स्तरों का मध्यबिन्दु एक ही रेखा में ग्रथित है। उसी सरलरेखा को पकड़ कर सरलगति चलती है। परन्तु पहले तो केंद्र में जान ही पड़ेगा। यही लपेटने का फल है।

२. विकार का हेतु रहने पर भी जिसके चित्त में विकार नहीं होता, वही धीर है। यही धैर्य है। विकारशील विषय के सान्निध्य से यदि इंद्रिय अविकृत रहे, तब उसी इंद्रिय का धैर्य है, यह समझना चाहिए। विषय का काम है विकारोत्पादन। परन्तु इंद्रिय में सात्त्विक तेज रहने पर वह अपने को सँभाल सकती है। विषय के संस्पर्श से उसका विकार या रूपांतर

नहीं होता। परन्तु इंद्रिय विकृत होने पर भी यदि मन अविकृत रहे, तब मानना चाहिए कि वह मन का धैर्य है। यह कठिन है किन्तु असंभव नहीं। मन में बलाधान से यह हो सकता है। इस बल का नाम ही धैर्य है। परन्तु मन भी यदि विकृत हो तब बी बुद्धि स्थिर रह सकती है। मन में विकल्प का उदय होने पर भी विचार में विकल्प नहीं उठता। बुद्धि के बल या तेज के कारण ही यह संभव है। बुद्धि में भी यदि विकार हो तब भी आनंद स्थिर रह सकता है। बुद्धि का विकार क्या है ? निश्चय का विपर्यय। आनंद में भी यदि विकार हो, तब भी द्रष्टा में विकार नहीं उत्पन्न होता। आनंद में विकार होने से ही दु:ख होता है, जगत् होता है, द्वैत होता है। परन्तु यह द्रष्टा को स्पर्श नहीं कर सकता। उसी स्थान में यथार्थ द्रष्टा को पा सकते हैं, क्योंकि उसका आनंद तथा निरानंद में समभाव है। जिसका पूर्णबल समभाव में विकसित हुआ है, वह प्रत्येक स्तर में विकृत रहता है। किसी स्तर का विकार उसे स्पर्श नहीं करता। इसी का नाम ब्रह्मकर्म है। यही बिंदुसिद्धि है। इस बल को लाभ करना और उसका उपयोग करना-इसकी दो दिशाएँ हैं। पहले अपने को तूफान के भीतर भी स्थिर रखना और दूसरे अपने बलप्रयोग से तूफान को प्रकट होने न देना। पहले की सिद्धि होने पर भी दूसरे की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रथम की प्राप्ति ज्ञान से होती है, द्वितीय की योग से। परन्तु इन दोनों से ऊपर एक तृतीय अवस्था भी है। यह है तूफान को अलग न समझना, क्योंकि तूफान भी तो अपना ही रूप है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह समझने पर तूफान की विभीषिका कट जाती है, क्योंकि अपने से अलग किसी द्वितीय वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं। यही विज्ञान की अवस्था है।

काशी

२८-५-१९४३

१. सभी प्रकार से पूर्णतया विचारहीन हो सकने पर, एक ही क्षण के भीतर केवल लक्ष जप क्यों, असंख्य जप चल सकता है, लेकिन विचार रहने पर नहीं। जब तक विचार बुद्धि से रहित न हो तब तक सीमा का बंधन अनिवार्य है, अवश्यंभावी है। निर्विचार होने पर कोई नियम नहीं है। यह असंख्य जप होता है युगपत्। इसमें क्रम नहीं रहता। क्रम का अस्तित्व क्षण में नहीं, काल में रहता है। विचार रहने पर क्रमलंघन असंभव है क्योंकि उस समय 'भूमा' नहीं रहती; 'सीमा' दृष्टिगोचर होती है।[1]

शक्तिचक्र घूम रहा है। विभिन्न चक्र विभिन्न प्रकार के वेग को लेकर घूम रहे हैं। मध्यचक्र का वेग अनंत है, असीम है। इस आवर्तन में जो कुछ डाल दिया जाय, वह भी आवर्तित होता है। मान लीजिए, अंतरतम चक्र 'क' है, इसकी गति असीम है। दूसरा चक्र 'च' है, इसका आवर्तन एक कोटि है। तीसरा चक्र '.छ' है, इसका दस लाख है। इसी प्रकार 'ज' का एक लाख, 'झ' का दस हजार और 'ञ' का एक हजार है। इसी भाँति गुरुशक्तिचक्र घूम रहा है। मैं जिस मात्रा में अहंकाररहित, विचारहीन तथा विश्वासवान् रहूँगा, उसी मात्रा में उन विभिन्न चक्रों में से किसी न किसी शक्तिचक्र के प्रभाव के अधीन रहूँगा। किंतु मैं यदि एकांतरूप से विचारहीन हो जाऊँ तो अंतरतमचक्र के अधीन रहूँगा। जिसका

१. अक्षय बाबू (अक्षयकुमारदत्त गुप्त) को पत्र लिखने के समय (२७-२८ मई, १९४३ ई०) इस तत्त्व का प्रकाश हुआ और इसे उस पत्र में लिख भी दिया।

अवलंबन करके मैं अहंकारहीन हो जाऊँगा, वह भी तदनुरूप बृहत्ता लाभ करेगा। यह जो आश्रय करना, ग्रहण करना या पकड़ना है, इसी का नाम एकाग्रता है। अतएव एकाग्रता के साथ यदि एक बार भी नाम लिया जाय तो, विचारहीनता की मात्रा के अनुसार, वही एक नाम सहस्रलक्ष अथवा कोटि के बराबर हो जायगा। संपूर्ण विचारहीन होने पर अंतरतमचक्र का कार्य होता है। इस स्थिति में एक बार नाम लेने पर असंख्य नाम का फल होता है। यही संवेग का रहस्य है। योगसूत्र में कहा गया है—

'तीव्र संवेगानामासन्नः'

इस सिद्धांत से कालविशेष, स्थानविशेष तथा अवस्थाविशेष में किया हुआ छोटा-सा काम भी, बृहद, बृहत्तर तथा बृहत्तम रूप में परिणत होता है। यही गुरुशक्ति का खेल और शक्तिचक्र के आवर्तन का फल है। परन्तु यदि बिल्कुल नाम न लिया जाय तो कुछ नहीं होगा। इसीलिए कर्म का इतना महत्त्व है। थोड़े कर्म से भी बहुत विराट् कर्म का निर्माण हो सकता है। एक पैसे का दान भी असंख्य धनदान के बराबर हो सकता है। इसी प्रकार बृहत् वस्तु को भी छोटी किया जा सकता है। परन्तु छोटी चाहे कितना भी करें, उसे शून्य में परिणत नहीं किया जा सकता। योगी दूसरे का भोग्य दुःख पर्वत समान विशाल होने पर भी घटा करके सरसों के बराबर बना सकते हैं, परन्तु सरसों रहेगा, एकदम भोग नष्ट नहीं किया जा सकता। कुछ न मिलने पर उसे बढ़ाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार बृहत् वस्तु को छोटी किया जा सकता है, परन्तु शून्य नहीं। अतः विचाहीन रहकर गुरु के साथ योगस्थ होकर अर्थात् गुरुवाक्यानुसार अल्प कर्म करने पर भी, वह बृहत्-कर्म-रूप में परिणत हो जाता है। गुरुवाक्य छोड़ने पर ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शक्तिचक्र के आवर्तन की सहायता न पाने पर एक बहु होगा कैसे? जो सम्पूर्ण विचारहीन है, उसमें गुरु की अनंतशक्ति अबाधित रूप से खेलने लगती है। विचार रहने से बाधा आती है। विचारहीन होना ही आधारशुद्धि है। आधारशुद्धि का अर्थ है, पूर्णतम विश्वास के भाव में अवस्थान। वहाँ एक ही अनंत हो जाता है। क्रिया एक है, परन्तु होती है अनंत और निर्भरावस्था में क्रिया है शून्य। उस समय शिष्य होता है द्रष्टा। तब वह गुरु की अनंत-शक्ति का स्वामी हो जाता है। उस स्थिति में कर्म न करने पर भी, वह पूर्णतमकर्ता है। गीता में भगवान् ने ऐसे पुरुष को 'कृत्स्न-कर्मकृत्' कहा है। वह कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म का दर्शन करता है। इस स्थिति को पहुँचा हुआ योगी एक टुकड़े रोटी से सहस्रों की क्षुधापूर्ति कर सकता है। संशय-विचार-रहित इस दशा का नाम है विश्वास, यह अत्यन्त दुर्लभ व्यापार है।

२. कर्म से शुद्ध देह नहीं मिलती, इसकी प्राप्ति गुरुकृपा से होती है। उसके बाद कर्म चलता है। कर्म से उस अग्नि को प्रज्वलित रख सकते हैं। उसके प्रभाव से अशुद्धि नष्ट होती है। शुद्धदेह पाने पर अशुद्धि नहीं रहेगी, ऐसी बात नहीं है। कर्म से अशुद्धि का नाश होने पर शुद्धदेह का प्रकाश होता है। इतना ही है। इस लोक में कर्म समाप्त कर सकने पर, उस पार में जाकर फिर कर्म करना नहीं पड़ता। कर्मक्षेप होने पर ही माँ की गोदी में बैठने का अधिकार मिलता है। वहाँ भी कर्म है, परन्तु दूसरे प्रकार का। क्योंकि माँ की गोदी छूटती नहीं। वह कर्मातीत कर्म है, योगी का खेल है, मुक्तपुरुष का कर्म है। वह पृथक् वस्तु है। यहाँ कर्मक्षेप न होने पर, ज्ञान के राज्य में कर्मक्षेप करना पड़ता है। वहाँ समय

अधिक लगता है। यहाँ शीघ्र होता है। कर्म द्वारा ही कर्मक्षेप करना पड़ता है—अर्थात् मल को नष्ट करना पड़ता है। कर्म करने से ही गुरुशक्ति अथवा कृपारूप-अग्नि प्रबल होकर जलती है, उसमें अज्ञान, कर्म, अशुद्धि सब जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। केवल मात्र शुद्धदेह के द्वारा कर्म नष्ट नहीं होता। बीज रह जाता है। उसके लिए भोक्ता आवश्यक होता है। यहाँ कर्म ही प्रधान है भोग अप्रधान। उस पार में भोग प्रधान है, कर्म अप्रधान।

३. शुद्धदेह न पाने पर भी कर्मक्षेप का उपाय है। परन्तु उसमें विदेह कैवल्य अवश्यंभावी है, जो योगी के लिए काम्य नहीं है। यह है ज्ञान के द्वारा कर्मक्षय। दोनों में पार्थक्य है। ज्ञान के द्वारा कर्मक्षय होने पर देह छूट जाने पर कैवल्यमुक्ति होती है। इस समय देह नहीं रहता। उसके लिए दीक्षा आवश्यक होती है, किन्तु कैवल्य के लिए दीक्षा आवश्यक नहीं होती।

काशी

११-१-१९५६

मनुष्य का तृतीय नेत्र ढका हुआ है, परन्तु ब्रह्मद्वार ढका नहीं है। चक्षु में ही आवरण है। नवद्वाररोध होने पर शब्दबोध होता है। इसके बाद पर्दा हट जाता है। उस समय चक्षु का उन्मीलन होता है। अब उसका कार्य समाप्त हो जाता है। 'तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः' में इसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है। यहाँ तत्पद का तात्पर्य है परमपद। गुरु इसको उसे दिखा देते हैं। चक्षु खुल जाने पर दृष्टि द्वारा गति होती है, परन्तु वह भी कर्म है, दर्शन के बाद का कर्म है। देह के गुरु अंतिम समय में मातृगर्भ में चक्षु खोल देते हैं। वही गर्भदीक्षा है। आवरण हटाना, यह केवल संस्कारमात्र है। यह आवरण ही वैष्णवीमाया है जो नालोच्छेद के बाद आ जाती है। इसके पूर्व मातृगर्भ में जीव ब्रह्म से सबद्ध रहता है। उस समय नेत्र ढक जाता है, कर्तृत्वाभिमान आ जाता है और कर्म करने की योग्यता होती है।

नेत्र का आवरण खुल जाने पर ही शिवत्व का मार्ग खुल जाता है। नाभिद्वार खुल जाने पर माँ के साथ योग होता है, अर्थात् कर्तृत्व का उदय होता है। उस समय इच्छा का आविर्भाव होता है। नाभि खुलने पर भी सूर्यमंडल भेद किया जा सकता है। उसके न खुलने पर ही ब्रह्मरंध्र-मार्ग में देवयानगति लेकर शून्य में जा सकते हैं, परन्तु सूर्यभेद नहीं किया जा सकता। नाभि के मार्ग में माँ की प्राप्ति होती है। माँ सुमंगला इच्छाशक्तिरूपा नाभिपद में विलासिनी है। उस समय लीला का मार्ग खुल जाता है। यही रसब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। मस्तक का मार्ग खुलने पर परमात्मा या कूटस्थ अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह सदा जागृत है। इच्छा के मूल में है आनंदरसास्वादन की लीला। वस्तुतः इच्छा ही लीलाचक्र की नायिका ललिता है।

लौटने के समय कालरात्रि से मोहमाया में प्रवेश होगा। इसका अतिक्रम करना पड़ेगा। इसी को शतभेद कहते हैं। उस समय शेष रहता है महामाया का भेदन-मात्र।

काशी

८-५-१९५७

शक्ति का खेल है, अंतर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों प्रकार चल रहा है। यह जीवभाव के प्रथम स्फुरण अर्थात् अनात्मभाव के ग्रहण के प्रथम क्षण से, जीवभाव के अवसान अर्थात् अनात्मभाव त्याग के पूर्ण क्षण तक, निरंतर चलता है। एक बार शक्ति का संकोच होता है, किन्तु मेल होता है। चेतन फैली हुई अवस्था में न रहकर संकुचित हो जाती है। उस समय

सुप्ति अथवा प्रलय का काल समझना चाहिए। फिर शक्ति का प्रसारण होता है, बिंदु का क्षोभ होता है। चेतना व्यापक रूप में फैल जाती है। उस समय होता है जागरण अथवा सृष्टि। गति एक बार एक की ओर होती है, फिर बहु की ओर, एक बार अनंत की ओर होती है, फिर सांत की ओर, एक बार केन्द्र की ओर होती है, फिर परिधि की ओर, एक बार अंतर्मुख होती है, फिर बहिर्मुख। अंतर्मुख गति से एक में लय होने पर एक ही रहता है, उसमें भेद नहीं रहता, अर्थात् भेदसंस्कार दबा हुआ रहता है। फिर जागने पर नानात्व का आविर्भाव होता है, संस्कार क्रियाशील होता है।

इसी प्रकार से जीवन का विकास होता है, चेतना का विकास होता है। एक होने पर भी सभी एक, एक प्रकार नहीं है, क्योंकि जागने पर संस्कारभेद के कारण, वैचित्र्यगत भेद होता है। संस्कारों की समष्टि मात्रा और गुणगत भेद से व्यक्तित्व होता है। परन्तु यह भेद क्यों? संस्थान भिन्न क्यों होता है? इसीलिए जानना चाहिए कि मूल में भी भेद है, कारण कि अणु अथवा चिदणु ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। मनुष्यस्तर में अणु क्षणभेद से अभिव्यक्त होकर विशिष्टकर्मपुंज प्राप्त होते हैं। उसके बाद विशिष्ट मायिककलाओं का संस्थान पाते हैं। योनिवर्ग की कला शरीर है। वास्तव में अणुभेद क्या है? पशुत्व क्या है? स्वातंत्र्यहीन बोध, यही चिदणु है, बोधहीन स्वातंत्र्य—यह है अचित् अणु, महामाया की कला अथवा माया की कला। पहले एक ओर चिदणु महामाया के कलारूप शुद्ध अचिदणु में जड़ित रहता है। इसी अवस्था को विज्ञानकला कहते हैं। दूसरी ओर शुद्ध अचित् अणु शुद्ध चिदणु के आभास से आभासमान रहता है। इसके बाद वह मायाजड़ित चिदणु माया में गिर पड़ता है, अर्थात् अशुद्ध अचित् अणु के साथ मिल जाता है। यह हुई एक ओर की बात। दूसरे पक्ष में अशुद्ध अचित् अणु अथवा माया की कला पूर्वोक्त चिदाभास को धारण करती है। चिदणु माया में गिरने के समय उसके साथ अभिन्न कर्मसंस्कार से जड़ित होता है। उसी के अनुसार कलादेह प्रभृति माया की विकारमय देह की प्राप्ति होती है। चिदणु बोधात्मक है, परन्तु बोधमान नहीं। इस स्थिति में आत्मा में आत्मबोध नहीं रहता। महामाया कलाजड़ित है सही, परन्तु उसमें आत्मबोध नहीं है। उसका अस्तित्व एक प्रकार से है ही नहीं, यह कह सकते हैं। माया में गिरने पर अनात्मा में आत्मबोध खुलने लगता है, इसी का नाम है संसार-जीवन। पहले होता है, शून्य में आत्मबोध, इसी का नाम सुषुप्ति है। उसके बाद होता है प्राण में आत्मबोध, यही स्वप्न है। सर्वांत में होता है बुद्धि में आत्मबोध, यही जाग्रत् दशा है।

पहले है मूढ़ दशा, उसके पश्चात् है क्षिप्त दशा। यहाँ तक चौरासी लक्ष योनियों का व्यापार है, फिर है विक्षिप्त दशा, यह मनुष्यभाव है। इस समय एकाग्रता तथा निरोध संभव है। मनुष्य में चौरासी लक्षों की मूढ़ता और क्षिप्तता अवश्य है, परन्तु विक्षिप्तता नामक वैशिष्ट्य है। इसी से एकाग्रतादि भी हो सकती है। यह जो अंतर्मुख गति है उसी का नाम समाधि है और बहिर्मुख गति का नाम है व्युत्थान। काल के प्रभाव से, प्रकृति की प्रेरणा से अथवा निज उद्यम से, जहाँ जैसा हो, दोनों ही सत्य हैं। यह चौरासी लक्ष योनियों में भी है; परन्तु चेतना का प्रसार वहाँ अपूर्ण है। संसारी मनुष्य में भी यह है, किन्तु चेतना का प्रसार

यहाँ पूर्ण है। शुद्ध विद्या प्राप्त अतिमानुष साधक अथवा योगी में भी यह है, परन्तु चैतन्य का प्रसार वहाँ अत्यंत पूर्ण है। सर्वत्र भूमिगत भेद है।

विंध्याचल ४-१-१९५८

दिव्यज्ञान से अणु जैसे महान् को महान् देखते हैं, यद्यपि वे परस्पर अभिन्न हैं। अणु देखते हैं कि वे महान् में आश्रित हैं और सभी उनमें आश्रित हैं। सभी चिद्रूप हैं, फिर भी उन्हीं के अभिन्नांश हैं। महान् भी देखते हैं कि सब अणु ही उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि चिदात्मक हैं, परन्तु उनके आश्रित हैं। वे प्रत्येक का वैशिष्ट्य देख सकते हैं। उसी प्रकार दिव्यज्ञानसंपन्न अणु भी अपना तथा दूसरे का वैशिष्ट्य देख सकते हैं। प्रत्येक के अनुरूप वैशिष्ट्य महान् में है। यद्यपि महान् सामान्य है, परन्तु है सविशेष। अनंत विषय उनमें हैं। महान् के साथ प्रति अणु का संबंध है। सबके साथ भिन्न-भिन्न संबंध है। सब अणुओं का स्वामी है महान्। सब अणु ही महान् को आश्रय करके अपने-अपने भाव में विद्यमान हैं।

सामान्य दृष्टि से एक चित्-मात्र है जो अविभक्त, अखंड और सामान्य है, किन्तु विशेष दृष्टि से वैचित्र्यपूर्ण है। इस वैचित्र्य का ही नामांतर है स्वभाव। सामान्यदर्शन के अनंतर विशेष का प्राकट्य होता है। यह सामान्यदर्शन ही प्राचीन ब्रह्मवादियों की 'संपत्ति' अथवा ब्रह्म के साथ एकीभाव है। यह 'संपत्ति' ब्रह्मभाव की परमज्योति की है। इसके बाद होता है स्वरूप का आविर्भाव या अभिनिष्पत्ति।

दिव्यज्ञान शिवज्ञान है। आगम में इसी पर जोर दिया गया है। यही अपना परमस्वरूप है। अणुभाव बाह्य स्वरूप है। प्रत्येक जीव स्वयं ही महान् अणुभाव के ऊर्ध्व में है, ऐसा समय देखने में आता है कि समग्र विश्व ही स्वात्मकल्प अर्थात् अपनी सत्ता का ही अंश है और वह स्वयं भी ऐसा ही है। यह अणु महान् होना नहीं चाहता। आगम के अनुसार, जब वह महान् होता है शिव होता है, तब देखने में आता है कि सभी निजसत्ता के ही रूप हैं। अणुभाव में भक्ति का स्थान है। आणवभाव को छोड़कर महान्भाव पाने पर भी, यहाँ तक कि शिवभाव आने पर भी, भक्ति का स्थान है, क्योंकि शिव होने पर भी परमशिव तो नहीं है, महान् होने पर भी वह परममहान् तो नहीं है। किन्तु चरम-परम में शिव ही लक्ष्य है।

विंध्याचल ३-११-१९५८

सृष्टि होती है अणुरूप से। कोई अंतर्मुख होकर सृष्ट होते हैं, कोई बहिर्मुख होकर। अन्तर्मुख होकर सृष्ट होने वाले सभी अणु प्रकाश के भीतर उसके साथ विद्यमान रहते हैं। ये अंतर्मुख अणु निष्क्रिय रहते हैं। जो बहिर्मुख होकर सृष्ट होते हैं, वे माया या अधंकार के भीतर उसके साथ अभिन्न रूप से रहते हैं। ये भी निष्क्रिय होते हैं। इसके बाद द्वितीय बार आघात से क्रिया का उन्मेष होता है। अंतर्मुख अणु सभी दिव्य जीव हैं, दिव्य सूरि हैं, ज्योतिर्मय हैं। ऐंजिल या फरिश्ता इन्हीं की संज्ञा है। वेदों में इन्हीं को परमपद का द्रष्टा कहा गया है :

'यद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यति सूरयः'।

इन लोगों का भगवद्विषयक ज्ञान, भक्ति और सेवा स्वभावसिद्ध है। इसीलिए इन्हें किंकर कहते हैं।

बहिर्मुख अणु संसारी हैं। ये सब अंधकार से निर्गत होते हैं। यह अधंकार ही अविद्या का आवरण है, जिसका नामांतर सुषुप्ति है। बाहर होते हैं, यही विक्षेप हैं। अधंकार है कारण, उसका बाहर होना ही कार्यरूप धारण करना समझना चाहिए।

समझ में आ रहा है कि इन दोनों से अतिरिक्त भी एक प्रकार केअणु हैं, ये हैं तटस्थ अणु। ये कभी अंतर्मुख नहीं होते, न बहिर्मुख ही होते हैं, सदैव संधि में नियत रहते हैं। ये नित्यकेवली अथच अणु हैं। निष्क्रिय अथच बहु हैं। ये शुद्ध द्रष्टामात्र हैं, नित्यमुक्त हैं। ये न नीचे उतरते हैं, न ऊपर जाते हैं। ये सब संसार को पहचानते नहीं, भगवान् को भी नहीं पहचानते, केवल अपने को जानते है। उनको विश्व और उसके कर्त्ता के साथ अपने भेद अथवा अभेद, किसी प्रकार का बोध नहीं है। अंतर्मुख अणु के ऊपर यदि बहिर्मुख अणु का दबाव पड़े, तब अतर्मुख अणु नीचे उतर आते हैं। आते हैं बाहर, किंतु रहते हैं तब भी अंतर्मुख ही। इसी प्रकार जब कभी बहिर्मुख अणुओं पर भी अंतर्मुख अणुओं का दबाव पड़ता है, तब ये बहिर्मुख रहने पर भी भीतर चले जाते हैं, फिर भी रहते हैं बहिर्मुख। इससे जान पड़ता है कि अंतर्मुख-अणु बाहर आने पर भी साधारणतया अविद्यामार्ग से नहीं आते। इसीलिए बाहर (संसार में) आने पर भी उनमें बद्ध जीवभाव नहीं रहता।

संसारी-अणु जब सुषुप्ति में रहते हैं, तब अंधकार में डूब जाते हैं परन्तु रहते हैं बहिर्मुख । इसीलिए जब सुषुप्ति भंग हो जाी है तब वे बहिर्मुख या विक्षिप्त हो जाते हैं। सुषुप्ति है कारण, उसको भेद करने का नाम ही है ज्ञान अर्थात् तुरीय। यह उसी समय हो सकता है जब जो बहिर्मुख है वह अंतर्मुख हो जाय—इंद्रिय अंतर्मुख, मन भी अंतर्मुख। उस समय इंद्रिय निष्क्रिय और मन भी निष्क्रिय रहता है, प्रकाशमात्र जागृत रहता है। इसी का नाम है ज्ञान का आविर्भाव। यह है कर्म का मार्ग, परन्तु कृपा के फल से यदि ऊपर से प्रकाश खुल जाए तो, इंद्रिय तथा मन के अंतर्मुख न होने पर भी, अकस्मात् अंधकार कट जाता है अर्थात् ज्ञान का उदय होता है। उस समय मन तथा इंद्रिय अंतर्मुख न होने के कारण मन रहता है। तत्त्वविचार से अकस्मात् प्रकाश खुल जाता है। इससे भी इसी प्रकार का फल होता है, परन्तु जीवन्मुक्ति नहीं होती, तत्त्वज्ञान अवश्य होता है, जीवन्मुक्ति की संभावना भी नहीं रहती। अवश्य इस प्रकार ज्ञान होने पर इंद्रिय तथा मन शुद्ध हो सकता है, फिर भोग के पूर्ण होने पर भी जीवन्मुक्ति हो सकती है। किन्तु उपासना मार्ग में ऐसा नहीं होता। पहले चित्त अंतर्मुख तथा एकाग्र होता है। फिर अज्ञान का भेद होता है। यह अपने कर्म से उद्‌भूत है। यही श्रेष्ठ है। इसका फल जीवन्मुक्ति है। जो उपासक नहीं हैं, उनके लिए यह असंभव है। चित्त अंतर्मुख होने से एकाग्र होता है और बहिर्मुख होने से बह्वग्र। एकाग्रता का फल है ज्ञान, यह उत्कृष्ट है। परन्तु ऊपर से जिस ज्ञान का अवतरण होता है, वह दूसरे प्रकार का है। उस समय उस ज्ञान के प्रभाव से बह्वग्र टूट करके एकाग्रता का आविर्भाव होता है। ज्ञान भी दो प्रकार का है—एक प्रकार का ज्ञान ऐसा है जिससे अणु समझ जाता है कि वह भी महान् महान् है, वस्तुतः एक ही है। उस स्थिति में वह अपने को अणुरूप में नहीं देखता और महान् को भी महान् के रूप में नहीं देखता। देखता है केवल चिद्‌भाव को, जो दोनों में समानरूप से विद्यमान है। कैवल्य इसी का फल है। परन्तु जब देखता है कि स्वयं अणु है और वह महान् है, स्वयं अंश है, वह अंशी है, तब दिव्यज्ञान

का उदय होता है। इसी समय भक्ति की सूचना होती है। भेद निवृत्त होने पर ही भक्ति संभव है। उस समय 'त्वं' रहता है अंशीरूपेण और 'अहं' रहता है अंशरूपेण। 'मैं तुम्हारा हूँ' इस भाव की प्रतिष्ठा हो जाती है। यही यथार्थ भक्ति है। उन्मादिनी भक्ति यह नहीं है। शंकराचार्य ने इस भाव को प्राप्त करके कहा था :

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।'

क्लिष्ट अज्ञान कट जाने पर भेद कट जाता है, फिर भी 'त्वं'-'अहं' का भाव बना रहता है, किन्तु महाज्ञान का उदय होने पर 'त्वं' का बोध नहीं रहता, अक्लिष्ट अज्ञान भी नहीं रहता। पूर्ण अहं मात्र रहता है। यही पूर्णत्व है। इसके दूसरे पृष्ठ में अव्यक्तस्वरूप मात्र है। वह अप्रकाश है—वाक् या शब्द से अतीत है।

विंध्याचल २५-७-१९६२

प्रकाश आभास अथवा प्रकाशात्मक विश्व अहंरूप से भासमान-यही साभास चैतन्य है और प्रकाश है परन्तु आभास नहीं है-यह है निराभास चैतन्य। प्रथम विश्वातीत है, अथच विश्वात्मक है। यह परम शिव है, द्वितीय विश्वांतर्गत है। विश्व उसके साथ अभिन्न होने पर भी एकांश में है, शेष अंश अतीत है। किन्तु बुद्धि की दृष्टि से वास्तव में दोनों एक ही हैं, अखंड हैं। जिसको अतीत कहा गया है वह निमीलन-समाधि का गोचर है और जो विश्वात्मक कहा गया है, वह उन्मीलन-समाधि का गोचर है। विश्व है=सर्व अर्थ है। स्वरूपावस्था-बिंदुरूप है। इच्छा के प्रभाव से उसकी सृष्टि होती है। इसी का नाम विसर्ग है। जो भीतर में है, विसर्ग होने पर वह बाहर स्फुरित होता है। प्रकाश को लेकर ही विश्व अभिन्नतया भासमान होता है और प्रकाश को लेकर ही वह भिन्नतया भासमान होता है। जब अभेद में भासमान होता है तब यह भाव अहंरूपेण होता है; किंतु भेद में भासमान होता है इदंरूपेण। प्रश्न यह उठता है कि जब बाहर में भासमान होता है तब किसके निकट? उसका उत्तर है मितप्रमाता जीव के निकट। अमितप्रमाता की दृष्टि से सब कुछ भीतर ही है। बाहर में देखने के लिए जो अमित है, वह मित हो जाता है। उस समय मितप्रमाता के निकट जो बाह्य सत्य है, वह इदं है। इसी का नाम है विश्व। इसका तात्पर्य है कि क्षणिक विकल्परूप अर्थ निरंतर उत्तरोत्तर भासमान हो रहा है।

मितप्रमाता की पूर्ववर्ती स्थिति क्या है? मितसृष्टि में क्रम से महासृष्टि का उन्मेष है, अथच यह नित्य है। क्रम जो है बुद्धि के निकट है, निष्कलसत् जो है, यही बुद्धि के निकट असत् रूप में है, क्योंकि वह उसे ग्रहण नहीं कर सकती।

$\frac{\text{सत्} + \text{चित्}}{\text{सत्} + \text{चित्}}$ = आनंद। इस प्रसंग में वाक् तत्त्व आलोच्य है। वस्तुतः मन तथा प्राण भी मूल में है। चिदात्मक सत्+परावाक्=गुरु (वाचस्पति या बृहस्पति)। गर्भाधान=गर्भ में आनंद, यही आत्मा के द्वारा अर्थ्यमान, इच्छित अथवा अभिलषित है। शब्द से ही सृष्टि हुई। अब अंतःस्थ आनंद का पता चल गया। 'आनन्दाद्धि इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति', इत्यादि। अंतःस्थित आनंद अभिन्नरूप से विद्यमान है। इसके बाद उसका प्रसव होता है। अब आनंदकण बाहर आ गया। जब आनंद भीतर में था उस समय इच्छा

नहीं थी, एषणा नहीं थी, अन्वेषणा भी नहीं थी। यह आप्तकाम स्थिति थी। अब आवर्तित हुई एषणा या इच्छा, इसका विषय है आनंद। इसी का नाम इष्टदेवता है। यह एष्यमान है (इट इज़ बींग डिज़ायर्ड)। इच्छा पहले अकर्मक रहती है, फिर सकर्मक हो जाती है। पहले का भाव है 'कुछ चाहता हूँ।' क्या चाहता हूँ? यह मालूम नहीं। इसके बाद बाहर में अन्वेषण आरंभ हुआ। अन्वेषण तो आरंभ हुआ, परन्तु अभी तक उन्मेष नहीं हुआ। इसके अनंतर उन्मेष या ज्ञान का आविर्भाव होता है। यह आलोकरूप है। परन्तु निराकारालोक। इच्छा स्पष्ट होती है एष्यरूपेण। यहाँ भी आकार है परन्तु अव्यक्त। किन्तु ज्ञान में होता है उन्मेष। उस समय आकार नहीं होता। यह निराकार स्थिति है। इसके पश्चात् ज्ञान सकर्मक होता है अर्थात् साकार हो जाता है। पहले जो निराकार ज्ञान था, वही साकार हो गया। तब ज्ञेयरूपेण आकार का आविर्भाव होता है। जो पहले एष्यमान था अर्थात् इच्छा का विषय था वह उस समय ज्ञान के विषयरूपेण भान होने लगता है। यह ज्ञेय ज्ञान के भीतर ही विद्यमान है, क्योंकि ज्ञान साकार है। इसके बाद आया आवरण। जब आवरण-भेद हुआ, उस समय ज्ञान से ज्ञेय अलग हो गया, साथ ही साथ क्रिया का आविर्भाव हुआ। यही है मायिकजगत की सृष्टि। पहले भेद नहीं था, क्रिया भी नहीं थी। अब ज्ञेयसत्ता बहिर्भूत होकर घनीभूत होने लगी। क्रमश: परिमितविसर्गशक्ति का आविर्भाव हुआ। क्रिया का चरम अथवा अंत है निवृत्ति। पहले प्रसरण हो रही थी प्रवृत्ति, क्रम से अब आ गया निवृत्ति का उदय। अब संमुखगामी धारा समाप्त हो गई, प्रत्यावर्तन शुरू हुआ। इसी का नाम है अ, आ, इ, उ, ए, ऐ, ओ, औ। अ=अनुत्तर अथवा चित्त, आ=आनंद, उ=उन्मेष (ज्ञान), ए ऐ, ओ, औ=क्रिया। ई=इच्छा की ही घनीभूत स्थिति। ऊ=उन्मेष अथवा ज्ञान का ज्ञेयरूप में आभासन। अब प्रत्यावर्तन शुरू हुआ। पंचमकला चतुर्थकला में मिल गयी, चतुर्थ तृतीय में, तृतीय द्वितीय में और द्वितीय पहली कला में लीन हुई। इस प्रकार से सभी कलाएँ एकीभूत होकर, बिन्दुरूप धारण करके अ अथवा अनुत्तर में लीन हो गयीं। यही विभु है कलाओं की साम्यावस्था। जो पहले अ था अब अं रूप में परिणत हुआ। यही बिन्दु है जिसको लौकिक भाषा में अनुस्वार कहा जाता है।

इसके पश्चात् तत्त्व सृष्टि का उदय होगा। कलासृष्टि आगम की महिमा है। बिन्दु में सब कलाएँ हैं—साम्यावस्था में। अब नाना प्रकार से साम्यभंग होने लगा साथ ही साथ तत्त्वों का उदय शुरू हुआ। वर्ण से जैसे पद की सृष्टि होती है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न कलासन्निवेश के प्रभाव से विभिन्न तत्त्वों का आविर्भाव होता है। उसका नियामक है प्रयोजन। तत्त्वसृष्टि का अंत है 'ह'। पहले की भाँति तत्त्वसृष्टि के समाप्त होने पर तत्त्वों का प्रत्यावर्तन होता है बिन्दु अर्थात् 'अं' में, उस समय स्फुरण होता है 'अहं' का। सत् में 'अहं' नहीं है। चित् अथवा चित्-कला में भी अहं नहीं है, बिन्दु में भी अहं नहीं है। बिन्दु के प्रत्यावर्तन के फलरूप में अहं का उदय होता है।

अब इसके अनंतर 'इदं' का आविर्भाव होगा। यही है महासृष्टि अथवा विश्वकला के कलन से महाकाल का व्यापार। यह महासृष्टिपर्यंत चलता है। यहाँ त्रिकाल नहीं है। सांख्यदृष्टि के अनुसार तत्त्वांतर परिणाम तथा धर्म-परिणाम यहाँ तक है। लक्षण तथा अवस्था-परिणाम त्रिकाल के भीतर है। इसके बाद खंडसृष्टि का व्यापार है। महासृष्टि शाक्तसृष्टि के भी ऊर्ध्व

में है। यहाँ विश्व परप्रमाता में अहंतामय है। परन्तु शाक्तसृष्टि में विश्व में इदंता का स्थान है—अहंता के अंगरूप में। इसके पश्चात् सदाशिव से शुद्धविद्यारूप में इसका प्रकाश होता है। आत्मा में अनात्मा का स्फुरण यही है। फिर माया आती है, जिसमें अहंता ढक जाती है। शुद्धमाया की सृष्टि एक प्रकार से शाक्तसृष्टि है। अशुद्धमाया की सृष्टि मायांड प्रकृत्यगु तथा ब्रह्मांड है। परन्तु महासृष्टि का भी संहार होता है। यही यथार्थ महाप्रलय है। यह सृष्टि तब भी रहती है, उससे फिर शाक्त-सृष्ट्यादि का आविर्भाव होता है। महासृष्टि अंडात्मक नहीं है, वह शक्त्यतीत कला में है। वह आवरण नहीं है, इसलिए अंड भी नहीं है, परन्तु कला है। निष्कलस्थिति में महासृष्टि भी नहीं है।

एक और रहस्य अनुभव में आता है। संकोच के प्रभाव से मिलता है मितप्रमाता तथा प्रमेय अर्थात् जीव एवं जगत्—जीव अहं, जगत् इदं। जगत् के मूल में है शून्य। उसके बाद क्रमिकस्फुरण होता है। समग्र जगत् शून्य से विद्यमान है। मितप्रमाता बहिर्दृष्टि है, बाहर में है शून्य। परावाक् की क्रिया से उसमें निरंतर, प्रतिक्षण विकल्पों का उदय और संचार हो रहा है। यह सब कुछ होता है मितप्रमाता अथवा आदिजीव की दृष्टि के सामने। यह मितप्रमाता ही चित्त है। उत्तोत्तर अनंत विकल्प चित्त में आ रहे हैं और जा रहे हैं। यह सब परावाक् का खेल है। शून्य का अर्थ यह है कि चित्त की अविकल्पभूमि आच्छन्न हो जाती है। यही मूल-अज्ञान की लयावस्था है। इसके बाद विकल्प का संचार होता है, यही उसकी विक्षेपावस्था है। फिर इस विकल्प में अहं का अभिनिवेश होता है। इसी का नाम है अहंकार। यही जन्म का बीज है। योनि में प्रक्षिप्त होने से पहले इतना व्यापार हो जाता है, उसके बाद योनि में प्रक्षेप होता है, तब क्रमशः स्थूलदेह बनता है। अहं-अभिमान दोनों से ही रूप-रसादि तन्मात्राओं का आकर्षण होता है। इंद्रियों का उन्मेष होता है, गर्भ में देह की रचना होती है।

असली बात यह है कि पहले है अस्मि। चिदणु अथवा महत्-अस्मिमात्र बोध-विशिष्ट है। परन्तु अस्मि क्या है? यह उसमें नहीं रहता अथवा इसका भान नहीं होता है। सभी विकल्पों का उत्तरोत्तर भान हो रहा है। जिस विकल्प में अभिनिवेश होता है, उसी को पकड़ लेते हैं। तब होता है अहंकार। अब देह-रचना की सूचना होती है। मन और इंद्रिय साथ ही साथ प्रकृति के सत्त्व तथा रज अंश से आ जाते हैं। तम अंश से आती है तन्मात्रा। मातृगर्भ में जाने के बाद पंचभूत का योग हो जाता है। यह जो देह में अहंबुद्धि है, यही अनात्मा में आत्मबोध है। यह भी शब्दशक्ति के प्रभाव से ही होता है। यह प्रत्ययों का शब्दानुगम है। जैसा जीव उसी प्रकार का जगत् है। शिव जीव बनते हैं या जीव शिवांशरूप में नित्य वर्त्तमान है—दोनों बातें सत्य हैं। परन्तु पहले नित्यजीव की सत्ता नहीं जान सकते, परमशिव को जानने पर नित्यजीव और नित्यजगत् को नहीं जान सकते। पहले समझना चाहिए कि परमशिव ही स्वातंत्र्यबल से जीव बनता है, उसके बाद शक्तिपात की पूर्णता होने पर जीव समझता है कि वही शिव है। उस समय वह अपने को शिवरूप में पहचान सकता है, क्योंकि अब उसकी स्मृति जग ज़ाती है। उसके स्मरण में आता है कि वह पहले भी था मानो वह अपने घर में अपने को पुनःप्राप्त अनुभव करने लगता है। लगता है जैसे फिर वहीं लौट आया है। उस समय समग्र विश्व ही उसको अपना घर मालूम पड़ने लगता

है। उसको यह बोध होता है कि विश्व के सभी लोग उसके निज जन हैं। यही आनंद की अवस्था है। पहले उसका आस्वादन नहीं कर सके थे, संसार से लौटने के बाद यह अनुभव मिलता है।

इसकी भी परावस्था है, वही परमशिव है और यह परमशिव जीव स्वयं ही है। वह एक ओर अद्वितीय है, पूर्ण अहं है। आत्मा के साथ शक्ति का संबंध है। आत्मा में सब शक्तियाँ हैं। सब अप्रतिहत हैं। वही प्रमाता है, वही प्रमाण है, वही प्रमेय भी है। प्रमाता के रूप से वह सर्वज्ञाता है, सर्वकर्त्ता है, सर्वेच्छ है, सर्वास्वादक है, सर्वत्र चेतन और सर्वत्र अस्तित्ववान् है। चित् जगत् में सर्वदा-सर्वत्र स्वाधीन रूप से खेल रहा है। जिन शक्तियों से यह होता है, उनका नाम खेचरीशक्ति है। उसके प्रमातृत्व के मूल में ये सब शक्तियाँ हैं। ये सभी उसके अधीन हैं। इसीलिए उसका प्रमातृभाव परम है और अव्याहत है। जिन शक्तियों से वह अंतर्जगत् का सब कुछ कार्य करता है जैसे संकल्प, निश्चय, अभिमान, स्मरणादि वे सब उसकी दिक्चरी शक्तियाँ हैं। उसके मन, बुद्धि, अहंकार और चित् नहीं हैं अथच इनका कार्य वह इन्हीं शक्तियों से कर लेता है। इसी स्थिति को लक्ष्य करके शास्त्रों में कहा गया है :

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृंणोत्यकर्णः।'

जिन शक्तियों के द्वारा वह दर्शन, स्पर्शन, कथन, चलन, ग्रहणादि करता है वे उसकी गोचरी शक्तियाँ हैं। इस प्रकार इंद्रियरहित होने पर भी वह इनके द्वारा उनका कार्य कर सकता है। यह हुई प्रमाण के ओर की बात। इसके पश्चात् है प्रमेय, जिसमें समग्रविश्व ही उनका देहरूप है, ऐसा वह अपनी भूचरीशक्ति के द्वारा अनुभव करता है।

❖

परिशिष्ट १

परलोक-वार्ता

पारलौकिक विश्व के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में कविराजजी की अभिरुचि बाल्यावस्था से ही रही है। जिन दिनों ये ढाका में जुबिली स्कूल के विद्यार्थी थे, उसी समय से इस विषय पर ढूँढ़-ढूँढ़ कर पुस्तकें पढ़ा करते थे। आगे चलकर जब जयपुर में महाराजा कालेज में प्रविष्ट हुए तो वहाँ इन्होंने दो वर्षों तक देश-विदेश में प्रकाशित एतद्विषयक प्रचुर साहित्य का अध्ययन किया। कालांतर में थियोसाफिकल सोसाइटी द्वारा प्रचारित अनेक आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण ग्रंथ पढ़े।

साहित्यानुशीलन के साथ-साथ इस विषय में संत-महात्माओं से भी प्रश्नों के द्वारा ये यथेष्ट ज्ञानार्जन करते रहे। विद्यार्थी-जीवन में ही परलोक-विद्या के प्रसिद्ध अन्वेषी महात्मा शिशिरकुमार घोष से इन्होंने देवधर में साक्षात्कार किया था। इसके बाद उनकी प्रेरणा से लिखी हुई 'परलोकेर-कथा' पढ़ी। इसी ग्रंथ में ग्रंथकार ने परलोकगत आत्माओं से सम्पर्क स्थापित कराने की शक्ति से संपन्न[१] एक बंगीय महिला—मग्नमयी देवी का परिचय दिया था और यह लिखा था कि वे कलकत्ता में रहती हैं। अपने दिवंगत संबंधियों के विषय में जानकारी चाहने वाले व्यक्ति उनसे मिल सकते हैं। सुविधा के लिए उन्होंने उस ग्रंथ में उनका पता भी दे दिया था। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् १९३८ ई० की मई में कविराजजी अपनी जिज्ञासा-निवृत्ति के लिए इन देवी जी से मिलने कलकत्ता गये। वहाँ अपने पुराने मित्र तथा गुरुभाई अक्षयकुमारदत्त गुप्त के घर पर, ६२ लेक-एवेन्यू में ठहरे। इन्होंने देवी जी के संबंध में 'अक्षय बाबू' से पूछा। वे बोले, 'आप जिन महिला से मिलना चाहते हैं, उनके साथ मेरा साधारण परिचय है। थोड़ी ही दूर पर वे दक्षिणी कलकत्ता में रहती हैं। उनके पति बंकिमचंद्र कलकत्ता हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध वकील थे। वे सर आशुतोष मुखर्जी के सहपाठी थे। कहा जाता है कि इन महाशय की आत्मा से देवी जी का निरंतर संपर्क रहता है।' कविराजजी ने इस बीच दिवंगत आत्मा को आह्वान करने के इनकी सामर्थ्य के बारे में एक घटना सुनी। कुछ समय पूर्व महाराष्ट्र के कोई सज्जन इनकी ख्याति से आकृष्ट होकर अपनी दिवंगत पत्नी की आत्मा के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से कलकत्ता आये थे। वे स्त्री-वियोग से अत्यंत व्याकुल थे। अत: किसी भी प्रकार उसकी आत्मा से संपर्क स्थापित करना चाहते थे। देवी जी ने कहा : 'यदि वह आत्मा आ भी जाय तो तुम्हें यह कैसे विश्वास होगा कि वह तुम्हारी परलोकवासी स्त्री की ही आत्मा है? इसके लिये

---

१. कहा जाता है कि अन्य बंगीय महापुरुष वरदा मजूमदार में भी यह शक्ति थी। वे आत्मा के दो-चार घंटे के लिए बुला सकते थे, किन्तु उसे छूने नहीं देते थे। दिलीपकुमार राय सर्वप्रथम उन्हीं के पास गये थे। योगिराज अरविंद के संपर्क में वे बाद को आये।

यह आवश्यक है कि तुम उसकी कोई पहचान निश्चित कर लो। तुम कहते हो कि वह पढ़ी-लिखी थी। अत: उसकी हस्तलिपि से तुम अवश्य ही परिचित होगे।' आगंतुक सज्जन ने स्त्री के हाथ का लिखा एक पत्र दिखाया। तब देवी जी बोलीं, 'बस, यदि तुम्हें इसी हस्तलिपि में अपने प्रश्नों का उत्तर मिल जाय तो संतुष्ट हो जाओगे न?' इसके बाद मग्नमयी देवी ने उस व्यक्ति की पत्नी की आत्मा का आह्वान किया। आत्मा आयी और अपने पूर्व लोक-जीवन के पति के द्वारा पूछे गये कतिपय प्रश्नों का उत्तर देवी जी के माध्यम से अपनी हस्तलिपि में लिखाकर लुप्त हो गयी। उसे देखकर आगत सज्जन स्तब्ध रह गये।

इस प्रकार की अनेक घटनाओं के विवरण वहाँ के लोगों से कविराजजी ने सुने, जिनसे यह सिद्ध होता था कि देवी जी दिव्यलोक की आत्माएँ बुला सकती हैं और उनसे बात करा सकती हैं। आवश्यकतानुसार उनसे यथेष्ट प्रश्नों का उत्तर भी लिखा सकती हैं। इतना ही नहीं, उनके पास ऊर्ध्वलोक से फल-फूल भी आते थे। उनमें बहुत-सी रहस्यमयी शक्तियाँ थीं।

अक्षय बाबू ने अपने छोटे भाई अमूल्यकुमार दत्त गुप्त को कविराजजी के साथ कर दिया। देवी जी ने इन लोगों का बहुत स्वागत-सत्कार किया। कविराजजी के पूछने पर अपने पूर्वजीवन के संबंध में उन्होंने कहा; 'यह शक्ति मुझे बाल्यावस्था से ही प्राप्त थी किन्तु इसका विशेष प्रकाश पतिदेव की मृत्यु के अनंतर हुआ। उस समय से मेरे जीवन में आकस्मिक परिवर्तन संघटित हो गया । मैं बहुत पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। फिर भी स्वामी जी की आत्मा से जो परलोक-विषयक विवरण मुझे मिला है, उसे लिख लिया है। आप चाहें तो देख सकते हैं।' कविराजजी के अनुरोध करने पर वे एक कापी उठा लायीं जिसमें 'स्वामीर-आत्मार-कथा' (स्वामी की आत्मा की कथा) शीर्षक के अंतर्गत कुछ लिखा था। कविराजजी ने थोड़ी देर तक उसको वहीं देखा किन्तु इससे इनकी तृप्ति नहीं हुई। अत: देवीजी से उसे कुछ दिनों के लिए माँग लिया, साथ ही उसकी प्रतिलिपि करने की भी अनुमति प्राप्त कर ली। इस विवरण की प्रतिलिपि इन्होंने अमूल्यकुमारदत्त गुप्त से करायी। फिर मूल प्रति वापस कर दी। इसमें मग्नमयी देवी के दिवंगत पति बंकिम बाबू की आत्मा द्वारा लोक-लोकांतर में प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं एवं व्यक्तियों का विवरण दिया गया था। कविराजजी के पास वह प्रतिलिपि सुरक्षित है। नीचे उसी का हिन्दी रूपांतर दिया जाता है।

एक परलोकगत आत्मा का अनुभव-वर्णन

मैं जब रोगशय्या पर पड़ा था तब कितनी बार अत्यंत खेदपूर्वक मैंने देवताओं को पुकारा, कितना दोषारोपण किया। तब नहीं समझा था कि यही हमारा अंतिम समय है। जीने की बहुत आशा थी। कितने लोगों से कितनी बातें कहीं। वे लोग समझ गये कि मेरी मृत्यु आसन्न है। मेरी सेवा-सुश्रूषा में कोई त्रुटि नहीं हुई; किन्तु पीड़ा शांत होती कैसे? वह तो हमारा मृत्युरोग था। कितनी रातें जागते ही बितायीं, कितना आर्त्तनाद किया। सोचता था कि थोड़ी भी शांति मिले तो सो जाऊँ। खाँसी की यंत्रणा से प्राण छोड़ने की इच्छा होती । बोलने की इच्छा होते हुए भी खाँसी के कारण बोल नहीं पाता था। अंतत: एक दिन उसके शमन का समय आ गया। मैं शांति की निद्रा में डूब गया। वह मृत्युकालीन अज्ञान की निद्रा थी। जागने पर देखा कि मैं देह से अलग हूँ।

जब लोग मुझे चारपाई से नीचे उतार रहे थे तो हम यह कहना चाहते थे कि अभी देरी है, मुझे बाहर मत करो। परन्तु बोल नहीं सका। जब नीचे उतार दिया तबमुझेठंढक का अनुभव हुआ। उस समय समझ में आया कि मेरी लड़की, लड़का, स्त्री, भाई-भतीजे सभी शोक में डूबे हुए हैं। परन्तु सभी शांत थे। शोक में कोई चिल्लाता नहीं था। केवल हरिनाम की ध्वनि मेरे कान में पहुँचती थी। उससे बहुत शांति मिलती थी। सामने देखा कि मेरे इष्टदेव बाबा विश्वनाथ मेरे सिर पर अपना पादपद्म रखकर कह रहे हैं, 'मेरे पास आ जाओ। अपने शांतिमय क्रोड़ में तुमको स्थान दे रहा हूँ। यहाँ कोई भय नहीं है। रोगयंत्रणा नहीं रहेगी। यहाँ केवल शांति ही शांति है।' इसके बाद दूसरे ही क्षण मैं चिर-निद्रा में डूब गया।

अब मैंने देखा कि मेरे चारों ओर शांति ही शांति है। मैं जैसे दूसरे देश का मनुष्य हो गया। नीचे देखा कि मेरे लिए स्त्री-पुत्र, पुत्रवधू सभी शोक में लीन हो गये। स्त्री के चक्षु से झर-झर करके अश्रु गिर रहा था। तब हमारे मन में आया कि इन लोगों के साथ हमने इतने दिन संसार में वास किया। ये लोग हमारे साथी रहे। पृथ्वी में इनकी सहायता से स्वच्छंदतामय जीवन बिताया। मेरी मृत्यु से इनके कष्ट की सीमा नहीं रहेगी। जो समझती थी कि मेरा देहांत हो जाने पर उसके लिए समस्त संसार मिथ्या हो जायगा, उसको अकेली छोड़कर यहाँ आ गया हूँ। पुत्र-कन्या पितृहीन हो गये। मेरे अभाव में उनको अपार कष्ट होगा, यह सोचकर मेरी आँखों में आँसू आ गये।

दूसरे क्षण में मन बदल गया। सोचा कि एक दिन मैं इन बच्चों का पिता था, ये हमारी संतान थे, किन्तु आज मैं इनका कोई नहीं हूँ। वे भी हमारे कोई नहीं हैं। दो दिन का परिचय मात्र था। सभी को इसी प्रकार एक दिन छोड़कर आना होगा, कोई पहले, कोई देर में। उस समय अपने मन को स्थिर करके मैंने पुकार कर कहा : 'मेरे लिये शोक मत करो। देखो आज हमने पुराना जीर्णदेह छोड़कर दिव्यदेह धारण किया है और शांति में हूँ। इस समय मुझे कोई कष्ट नहीं है। रोगयंत्रणा भी नहीं है। तुम लोग रोओ मत। दुखी मत हो, अपना कर्तव्य करो।' यह सब हमने चिल्लाकर कहा, किन्तु किसी ने सुना नहीं। तब अपनी स्त्री को पुकार कर सब समझा दिया।

जब मेरी आत्मा देर से विच्छिन्न हो, बाहर आकर खड़ी हो गयी, तब हमने देखा कि कितनी ज्योतिर्मय आत्माएँ मेरे लिए उस लोक में प्रतीक्षा कर रही हैं। इधर ताक करके देखा कि सभी मेरे कुटुंबी हैं, उधर देखते हैं तो वे आत्माएँ भी मेरे दिवंगत भ्राता, भागिनेय, कन्या, भ्रातृवधू, चाची, पितामही तथा अन्यान्य संबंधियों की हैं। किसी ने मेरा हाथ पकड़ा, तो कोई मस्तक पर हाथ रख करके आशीर्वाद दे रही है। फिर हम सभी मिल करके हरिनाम-गान करने लगे। इस प्रकार का आनंद जीवन में एक दिन भी नहीं पाया था। सोचा, कितने आश्चर्य की बात है! लोग मरने पर क्या इसी प्रकार शांति पाते हैं? ये लोग भी क्या इसी प्रकार आनंद पा रहे हैं? क्या यह शान्ति हमेशा रहेगी? जैसे शरीर में रहते हुए प्रतिदिन मृत्युयंत्रणा भोग करता था, ठीक उसी प्रकार अब महाशांति अनुभव में आ रही है। दु:ख क्या है? तुम लोग भगवान् के निकट प्रार्थना करना कि सदैव इसी प्रकार की शांति रह जाय और मैं यहाँ रहकर तुम लोगों की शुभकामाना कर सकूँ।

इसके बाद हरिध्वनि के साथ मेरे शव को उठाया गया। मैं भी उसके साथ श्मशान की ओर चला। वहाँ पहुँच कर देखा देह का क्या परिणाम है। और लोगों का भी यह (अंतिम संस्कार) देखा था, अपने शरीर का भी देखा। जिस शरीर के लिए इतना यत्न किया, जिस शरीर में तनिक भी चोट लगने पर कितना कष्टानुभव होता था, जिस शरीर को कोट-पैंट-गाउन[1] से नित्य सजाता था, नित्य साबुन तथा गंधतेल लगाकर जिस देह को सुन्दर बनाता था, उसका यह परिणाम! उसको तोड़-तोड़ कर लोगों ने लकड़ी पर डाल दिया और आग लगा दी। अंत में उसके भस्मीभूत हो जाने पर वे हरिध्वनि करते हुए लौट आये।

यह सब देखकर मुझे बहुत कष्ट हुआ। उन लोगों के साथ मैं भी पुराने घर को लौट आया। देखा सारा घर सूना है। एक मेरे चले जाने से घर मानो शून्यमय हो गया। घर के सभी लोगों में अवसादभाव था। क्षण-क्षण में हाहाकार उठता था। मैं वहाँ खड़ा नहीं हो सका। अपने इस लोक में कुटुंबियों को त्याग कर नूतन देश के लिए प्रस्थान किया। जैसे समुद्र में लहर उठती है मैं उसी भाँति तरंगों के ऊपर तैरता हुआ चलने लगा। सामने आनेवाले विविध रंगों के विभिन्न लोकों को पार करता हुआ ऊपर उठता गया। उस समय 'शांति' का यह गान मुझे याद पड़ा—

सम्मुखे राङ्गा मेघ करे खेला,
ओगो तरणी बेये चलो नाहीं बेला॥[2]

मैं भी तैरता हुआ आलोक के देश में चलने लगा। नीचे झाँककर देखा, किसी को देख नहीं पाया। जो आत्माएँ मुझे ले जा रही थीं, जाते-जाते कहा, 'चलो तुमको एक इतिहास-प्रसिद्ध आत्मा का दर्शन करायें। अभी यदि इन लोगों को न देख लोगे तो फिर शीघ्र देखने का अवसर नहीं पाओगे।' मैं उनके साथ आकाशमंडल में और भी ऊपर उठने लगा। कोटि-कोटि सूर्यचंद्र उदित होने पर भी कदाचित् इतना प्रकाश न हो जितना उस देश में है। घर, पेड़, पक्षी, मनुष्य सभी आलोकमय। इन आत्माओं को उन्होंने मुझे दिखाया। फिर बोलीं, 'यह देखो रानी भवानी।[3] उनका लड़का, कन्या, पति, जामाता और लड़कपन की सखी शिवानी—सभी यहाँ हैं।' उन्हें देखकर मेरे मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। उन लोगों ने मुझे आदर के साथ पुकारा, बुलाकर बैठाया, उपदेश दिया, नाना प्रकार धर्मकथाएँ सुनायीं। वहाँ कुछ समय रहकर वायु-तरंगों पर तैरते-तैरते दूसरे स्थान में जाकर रुक गया। वहाँ पहुँचने के एक मिनट बाद एक महान् आत्मा मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उन्होंने पूछा, 'तुम आ गये?' वहाँ क्या-क्या किया? मुझे एक-एक करके बताओ।' मैंने कहा : 'मैं निद्रा से उठकर नित्यक्रिया से निवृत्त हो अपना काम करता था। इसके बाद भोजन करके कचहरी जाता था। वहाँ (हाईकोर्ट में) मिथ्या मुकदमा करके अर्थोपार्जन कर घर आता था। भगवान् का नाम लेने की इच्छा करने पर भी ले नहीं सका। भविष्यचिंता, लड़कों का परिणाम, अर्थचिंता, शरीर-चिंता आदि में जीवन का अधिकांश बीत गया। अंत में

---

१. बंकिम बाबू कलकत्ता हाईकोर्ट में वकील थे। अत: गाउन उनके वृत्तिकवेश का एक अनिवार्य अंग था।
२. भाषार्थ—सामने रक्तवर्ण बादल खेल रहे हैं, हे कर्णधार, नौका लेकर जल्दी चलो। समय नहीं है।
३. बंगाल की प्रसिद्ध धर्मप्राण राजमहिषी, जिन्होंने काशी में दुर्गाकुण्ड तथा दुर्गामंदिर की स्थापना की थी।

भगवान् का नाम थोड़ा जप रहा था, तभी महाकाल ने आक्रमण कर दिया और वह क्रम बंद हो गया। भयंकर रोगयंत्रणा से विश्वनाथ! विश्वनाथ! करके पुकारा। अंतिम समय में बाबा विश्वनाथ ने कृपा करकें अपने शांतिमय क्रोड़ में मुझे उठा लिया। उसके बाद मैं यहाँ आ गया।'

मेरी बातें सुनकर महापुरुष ने कहा : 'तुमको और कष्ट पाना नहीं होगा। अब तुम स्वच्छंद हो। अंत में भगवान् का नाम सुनते-सुनते तुम मुक्त हो गये। उसी समय तुम्हारा सब पाप-ताप दूर हो गया।' यह कहकर उस महापुरुष ने एक लाल रंग के कागज में कोई रंगीन वस्तु खाने को दी। उसे खाकर मुझे अत्यंत शांति मिली। बहुत दिनों की क्षुधा-तृषा दूर हो गयी। एक बात और देखी। अपने पुत्रपुत्री तथा अन्य कुटुंबियों के लिए प्राण में जैसे पहले कष्ट का अनुभव करता था, वह माया उसी द्रव्यगुण से कम हो गयी। लौकिक माया-मोह में मैं और लिप्त नहीं रहा, फिर भी पृथ्वी की ओर थोड़ा आकर्षण बना रहा, ठीक जैसे चुंबक-लौह का आकर्षण होता है। इसीलिए दिन में ही एक बार पृथ्वी पर आता रहा। सुरेश[१] जब पितृपक्ष में क्षीरजल मुझे देते थे तो उसे आनंद परितोषपूर्वक ग्रहण करता था। मृत्यु के समय चारपाई से जिस स्थान पर मुझे उतारा गया था, उसी स्थान पर जाकर बैठता था। अभी सुरेश के मस्तक में हाथ स्पर्श करके गोपालगंज[२] से आ रहा हूँ। कभी-कभी (संस्कार के प्रभाव से) कलकत्ता वाले अपने प्रिय बैठकखाने में जाकर रोशनी खोलकर कापी-किताब झाड़ देता हूँ।

एक बात है। जब मेरा रोग बढ़ गया था और रक्त गिरने लगा था, बिछौने पर पड़े-पड़े मैं एक बात सोचने लगा। एक दिन सुरेश घर में गाना गा रहा था—मैंने उसे बरामदे में आते-आते सुना था। वह गान इस प्रकार था—

'अगाध जले मीनेर आश्रय,
जले जाल फेलेछे भुवनमय।
से जखन जाके मने करे,
तखन तारे घोरे आने ॥[३]

डॉक्टर के डर से, लोगों की बातों से, मृत्यु भय से, उस समय सुरेश के निकट आकर मैं फिर भागा। मन में ऐसा भाव आया कि मनसा देवी के औषधगुण से रोग आरोग्य होगा। परन्तु धीवर ने भुवन-व्यापक जाल फेंक दिया था। मैं नहीं समझ पाया था कि मृत्युभय से भीत होकर किसी भी स्थान में आश्रय नहीं मिल सकता। उसी मृत्यु ने मेरे साथ-साथ आकर गोपालगंज में मुझे पकड़ लिया। मृत्यु ही लोक की शांति है, बन्धु है। उसी मृत्यु ने हमें दारुण रोगयंत्रणा से मुक्त किया। अब कोई चिंता नहीं रह गयी।

इस प्रकार धाम में आकर मैं सभी स्थानों में घूमता रहता हूँ। जिधर दृष्टि जाती है देखता हूँ कि यहाँ शांति छोड़कर अशांति नहीं है, सुख छोड़कर दुःख नहीं है। जिधर दृष्टि

१. बंकिम बाबू का ज्येष्ठ पुत्र।

२. कलकत्ता के समीपस्थ एक कस्बा, जहाँ सुरेश काम करता था।

३. भावार्थ—महाकालरूप धीवर ने समग्र विश्व में जाल फेंक रखा है। मछलियों का आश्रय अगाध जल है। उनमें से जिसको जब चाहे खींच लेता है। समग्र विश्व कालाधीन है।

डालता हूँ उधर ही देख पड़ता है देवगण, आत्मागण, योगिनीवेश में स्त्रियाँ—सभी धर्मचर्चा कर रहे हैं। सबके मुख पर स्वर्गीय-आलोक देख पड़ता है, शांति से सबका मुख प्रसन्न है। यह सब देखकर आनंदलाभ होता है। यह जानकर तुम लोगों को भी सुख होगा। पहले समझते थे कि मरने के बाद किसी अज्ञात देश में चला जाना पड़ता है। वहाँ किसी से भेंट नहीं होगी। यह सब सोचकर मृत्यु से डर जाता था। अब देखता हूँ कि पृथ्वी की अपेक्षा यह अनंतधाम कितना अधिक शांतिमय है। यहाँ अपने बंधु-बांधव, आत्मीयजनों से कितना अधिक आदर पाता हूँ। यहाँ अधंकार नहीं है, सब कुछ आलोकमय है। देहावस्था में वैकुंठपुरी का वर्णन पढ़ा था। वह अब सत्य ही देखने में आ रहा है। चारों ओर जो भवन, वृक्ष, पक्षी, मनुष्यादि दिखाई दे रहे हैं—सभी ज्योतिर्मय हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती है, प्रकाश ही प्रकाश है। यह आलोक का राज्य है। जब तक कोई इसे देखता नहीं, तब तक विश्वास नहीं कर सकेगा।

जब मुझको बाहर निकाला गया था तब सबका मुख विषादमय था। परन्तु सतीश के मुख पर दृष्टि डालने पर पता चला कि वे काय-मन-वाक्य से मेरे आत्मकल्याण के लिए अपने गुरुदेव तथा बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना कर रहे हैं, जिससे मैं उन्नतिमार्ग में शीघ्र उठ सकूँ। उनका हर्ष-विषाद से भरा मुख देखकर मैंने प्राण में बहुत शांति का अनुभव किया और उसी स्थान पर खड़े होकर उनको आशीर्वाद दिया कि उन्हें सुदृष्टि लाभ हो जाये।

जब मैं समझ गया कि सत्य ही मेरे जीने की कोई आशा नहीं है, तब मेरे मन में भीषण भय हुआ। अपनी स्त्री को गले लगाकर कहा, 'मैं मर रहा हूँ। ऊपर से (कोठे पर से) उन लोगों को बुलाओ। भय लग रहा है।' स्त्री ने कहा, 'भय क्या है? भगवान् को पुकारो। वे ही शांति देन वाले हैं।' तब उनके चक्षु में जल देखकर मैंने पोंछ दिया था। मैंने सोचा कि जब इनकी आँखों में भी जल आ गया है, तो मेरी मृत्यु निश्चित है।[१] अब तक ऐसी आशा थी कि बच जायेंगे। अब देख रहा हूँ कि यह सब मिथ्या है। स्त्री-पुत्रादि सभी आत्मीयों को छोड़कर जाना होगा। जीवन में तो कोई पुण्यकर्म किया नहीं। अब मेरा उद्धार कैसे होगा? यह सब चिंता करते-करते मैं हताश हो गया। अकस्मात् एक क्षीण आशा मन में उदित हुई मानो कोई कह रहा है : 'तुम्हारा समय समाप्त हो गया। अब सब छोड़कर जाना होगा। परन्तु तुम दुखी क्यों होते हो? ये लोग तुम्हारे कौन हैं? कोई कुछ नहीं है। अब तुम परलोक में चलो। वहाँ जाकर देखोगे, तुम्हारे आत्मीय ज्योतिर्मयस्वरूप में हैं। यहाँ तुम कितना कष्ट पा रहे हो? वहाँ शांति ही शांति है। मरने में कोई डर नहीं है। वहाँ देखोगे कि मृत्यु में कितनी शांति है।' ये शब्द देववाणी की भाँति मैंने सुने। इससे भरोसा हुआ। दुर्बल देह में बल आ गया। अब अनुभव करता हूँ कि वस्तुतः मृत्यु से ही मुक्ति मिली।

रोगशय्या में पड़े-पड़े कभी-कभी सोचता था कि इस कठिन रोग (कैंसर) से कोई बचता नहीं। अब हमारी मृत्यु का दिन दूर नहीं है। परन्तु मृत्यु शब्द सुनते ही चित्त भयभीत हो जाता था। बाबा विश्वनाथ! बाबा विश्वनाथ! कह-कहकर रोता था। उन्होंने मेरा कातर

१. बंकिम बाबू की स्त्री मग्नमयी देवी अत्यंत उच्च आध्यात्मिक स्थिति लाभ कर चुकी थीं। इसलिए उन्हें विश्वास था कि साधारण आपत्ति से वे कभी अधीर नहीं हो सकतीं।

क्रंदन सुनकर अपनी गोद में उठा लिया और सभी यंत्रणाओं से मुक्ति दे दी।

मैं लोकालय से इस समय बहुत दूर हूँ। परन्तु संसार का आकर्षण एकदम छूटा नहीं है। इसलिए नित्य दो बार पृथ्वी में जाना पड़ता है। बाल-बच्चों का मोह एकदम कटा नहीं है। परन्तु इस शांतिमय भूमि को छोड़कर आने में अस्थिर हो जाता हूँ। कब इस अस्थिरता से मुक्ति मिलेगी? भगवान् जाने।

जिस समय लोग तुलसी वृक्ष के नीचे मेरे शव को ले गये थे, उस समय मेरी आत्मा सूक्ष्मतर और पुण्यतर व्योम में नि:श्वास ले रही थी। अनुभव होता था कि मेरा भूतदेह मेरे पदतल में पड़ा हुआ है। उसी को लेकर सब लोग रो रहे थे। उस समय शव से दो फीट की दूरी पर मैं खड़ा हुआ था; किन्तु तब मैं अनंत का जीव हो चुका था, अनंत में वास कर रहा था। पार्थिव वस्तु उस समय मेरी इंद्रिय की ग्राह्यशक्ति के बाहर थी। उन्होंने मेरे नूतन आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में सहायता की थी।

मत समझो कि मृत्यु ही जीवन की सीमा है और उसके बाद कुछ नहीं है । अवश्य मृत्यु परिवर्तन ले आती है; परन्तु वह परिवर्तन जीव के व्यक्तिगत चरित्र और स्वभाव का आमूल विनाश अथवा आमूल परिवर्तन नहीं कर सकती। प्रत्येक आत्मा अपने पार्थिव-जीवन के कर्म के अनुसार विचार लाभ करती है और सभी कृतकर्म का फल भोग करते हैं। पुण्यकर्म करने पर ब्रह्मलोक में वास करते हैं। यह न्याय-विचार देखकर मैं बहुत संतुष्ट हुआ। मैंने अपने जीवन में किये गये कार्यों में कभी न्याय-अन्याय का विचार नहीं किया था। कितने हत्यारों को, अर्थलोभ से, झूठ बोलकर मुक्त करा दिया था। उसे देखते हुए यहाँ आने पर मुझे दंड कम ही मिला, क्योंकि मैंने पृथ्वी में रहते हुए बहुत कष्ट भोग लिया था। विशेष करके गत एक वर्ष में जितना कष्टानुभव मैंने किया उससे बहुत कुछ प्रायश्चित हो गया। बाबा विश्वनाथ की कृपा से दंड का परिमाण कम हो गया। तुम लोग भगवान् के निकट मेरे लिए प्रार्थना करना कि मैं शीघ्र ब्रह्मलोक में उनके पादपद्म में पहुँच सकूँ। मेरे लिए किसी प्रकार सोच न करना। तुम्हें यह जानकर आनंद होगा कि मैं यहाँ बहुत शांति में हूँ। तुम लोगों की मंगल कामना करता हूँ।

सुरेश ने मेरी बहुत सेवा की है। अर्थ और सामर्थ्य से, जहाँ तक हो सका उपचार किया। प्राणमय से सुश्रूषा की। परन्तु नियति का लंघन नहीं होता। प्रफुल्ल को संपूर्ण प्राण से आशीर्वाद दे रहा हूँ कि उसने मृत्युशय्या पर मेरी जैसी सेवा की थी उससे उसकी मनोवांछा पूर्ण हो और धर्म में गति रहे। अर्थ देकर किसी की सहायता करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। परन्तु मेरी आत्मा का आशीर्वाद तुम लोगों की सहायता करेगा। बहुत दिनों तक इन विषयों में मेरा ज्ञान नहीं था। अब थोड़ा-थोड़ा हो रहा है। मेरे यहाँ आने के बाद कई एक नूतन आत्माएँ आयी हैं। उनमें दो साहब हैं, तीन हिन्दुस्तानी हैं और दो बंगाली हैं। इन लोगों में मेरे परम बंधु प्यारीशंकरदास गुप्त भी हैं।

यहाँ पुस्तक पढ़ने की चर्चा अधिक नहीं है। प्राय: धर्मज्ञान की ही चर्चा होती है। इसके लिये हम लोगों ने एक सभा की। उसमें केशवबाबू, कविवर कालिदास और मधुसूदन, महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी, नरेन्द्रनाथ, शिवचौधरी, रास बिहारी घोष, महात्मा बिल्वमंगल आदि बहुत लोगों ने योगदान किया और हमको सभापति निर्वाचित किया। यहाँ की सभी

आत्माएँ मेरा व्याख्यान सुनकर संतुष्ट हुईं। बहुत जगह मैं ऐसा व्याख्यान देता हूँ। पृथ्वी में रहने के समय मेरा व्याख्यान सुनने के लिये बहुत लोग उत्सुक रहते थे, यहाँ भी महात्मा लोग मेरा प्रवचन सुनकर आनंदित होते हैं। पृथ्वी में अंधे की भाँति मिथ्या मुकदमा करके मिथ्या व्याख्यान देकर मैं सबको मोहित करता था, परन्तु यहाँ महात्माओं के बीच ज्ञानधर्मविषयक चर्चा करते-करते मेरा ज्ञानचक्षु खुल गया है। इस शांतिमय धाम में ज्ञान का आलोक पाकर मैं धन्य हो गया हूँ। बाबा विश्वनाथ ने मेरी आशाएँ पूर्ण की हैं। मेरी अब और किसी प्रकार की इच्छा शेष नहीं रही है।

यहाँ विभिन्न प्रकार के देश हैं, परन्तु उनमें रहनेवाले लोगों की अवस्था कैसी है, यह समझना कठिन है। एक-एक स्थान में एक-एक प्रकार की आत्मा का वासस्थान है। द्वितीय श्रेणी में आत्माओं की संख्या अधिक है। नाना प्रकार के पाप-पुण्य का दंड-भोगादि यहीं होता है। इसी स्थान में सब निजकृत कर्म का फलभोग कर रहे हैं। कोई कह रहे हैं 'क्षमा करो! अब ऐसा काम नहीं करेंगे।' कोई कहते हैं, 'हे पिता! यदि जन्म हो तो तुम्हारी सेवा काय-मन-वाक्य से करूँगा, कभी अवज्ञा नहीं करूँगा अब सहा नहीं जाता, क्षमा करो!' कोई-कोई ऐसा कहते हैं, 'दूसरों के गले में छुरी देकर उनका सर्वस्वापहरण नहीं करूँगा।' यह सब हृदयविदारक दृश्य देखकर आँख में आँसू आ जाता है। यही जीवन का परिणाम है। मरने के बाद भी इन लोगों की रक्षा नहीं है। पृथ्वी में किये हुए कर्मों का फल यहाँ भोग रहे हैं।

कभी-कभी मैं इन सब निम्नश्रेणी की आत्माओं के निकट जाकर बैठता हूँ। मुझको देखकर ये लोग आनंद में जयध्वनि करते हैं। यह दृश्य देखने से आनंद होता है। बीच-बीच में हरिनाम गान करता हूँ। उससे इन लोगों को भी आनंद होता है। कभी-कभी इनके मस्तक में कर-स्पर्श करता हूँ और सांत्वना देता हूँ। यह सुनकर ये बहुत प्रसन्न होते हैं। सत्य बात सुनो। यहाँ फल-फूलों से सब वृक्ष सदा अवनत रहते है। कभी-कभी इच्छा होने पर दो-एक फल ले लेता हूँ। बिना खाये काम नहीं चल सकता, ऐसी बात नहीं है। हम लोग पुष्प के बिछौने और पुष्प की तकिया पर विश्राम करते हैं। इस लोक में निद्रा नहीं है। पृथ्वी में सूर्योदय और सूर्यास्त के समय जैसा रक्तिम प्रकाश चतुर्दिक् होता है, यहाँ सभी समय उसी प्रकार की आभा रहती है। पृथ्वी से आने पर मुझे सूर्य का तेज सहन नहीं होता। यहाँ का स्निग्धशीतल आलोक हम लोगों को प्रीति देता है। ज्योतिर्मय पुरुष महात्मा रामकृष्ण देव कभी-कभी आकर धर्मज्ञान-भक्ति-विषयक उपदेश देते हैं। कितना मधुर उनका व्याख्यान है, कितनी मधुर मूर्ति है मानो साक्षात् सदानंद शिव हैं। देखकर मन-प्राण में शांतिलाभ होता है साथ ही साथ मेरा समस्त सूक्ष्म देह आश्चर्यरूप में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए उनको भगवान् कहने में भी अत्युक्ति नहीं होगी। इन्होंने मुझको दीक्षा दी है। शिव की भाँति ये भी जगद्गुरु हैं। ये ब्रह्मलोक में वास करते हैं। इच्छानुसार सभी लोकों में विचरण कर सकते हैं। इच्छा करके कभी-कभी सप्तम श्रेणी में आते हैं। इनकी भी मृत्यु हुई थी। इन्होंने भी विषय-रोग की यंत्रणा भोगी थी। देह धारण करने पर उसका भोग ग्रहण करना ही पड़ता है। व्याधिगत यंत्रणा तो है ही, उसके बाद मृत्यु। मृत्यु शब्द सुनने से ही भय होता है; किन्तु वह वस्तुतः भयप्रद नहीं है। जिन लोगों के ज्ञानचक्षु हैं वे आवरण भेद करके इसे

देख सकते हैं कि मृत्यु कितनी शांतिमय है। जो लोग यह नहीं कर सकते वही अंधकार में डूबे रहते हैं और भय से हाहाकार करते हैं, जैसे मैंने किया था।

जब श्रद्धा का दिन निकट आता है, तब पितामह, पिता और अन्यान्य पितृगण पुत्र से श्राद्ध तर्पण का जल पाकर आनंद लाभ करते हैं। उस समय वे वहाँ उपस्थित रहकर श्राद्धकार्य का निरीक्षण करते हैं। जो पितृ लोगों के लिये श्राद्धादि का अनुष्ठानादि करते हैं वे इह और परलोक में सर्वत्र ही सुख पाते हैं। पितृपुरुषगण महासुखशांति एवं तृप्तिलाभ कर दोनों हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं और शुभकामना करते हैं। वे लोग हाथ नीचा कर पिंड ग्रहण करते हैं। यदि कोई श्रद्धा वर्जन या अवहेलना करके न करे तो पितृ-पुरुष-गण अशांति भोग करते हैं। पुत्रों को निरयगामी होना पड़ता है, अशांति भोग करना पड़ता है। अतएव पितरों को श्राद्धतर्पण करने में त्रुटि न हो।

बहुत दिन हुए तुमसे कुछ कहा नहीं और कहें भी क्या? यहाँ की बातें सब समय कहना हमारे लिए संभव नहीं है। यहाँ जो महात्मा लोग हैं उनकी कार्यावली अद्भुत है। एक-एक समय एक-एक प्रकार का परिवर्तन देखते हैं। कभी धर्म की बातें कहते हैं, कभी आध्यात्मिक, तो कभी एकदम बच्चों की भाँति बातें करते हैं। उनके इन सब कार्य-कलाप का मैं वर्णन नहीं कर सकता। जो कुछ बातें समझता हूँ—अच्छी तरह से, वही आकार तुमसे कहता हूँ। जो हम लोगों की सभा हुई उसके विपिन सभापति हुए थे। विपिन सब समय हमारे पास न रहते हुए भी कभी-कभी एकत्रित होने पर मिल जाते हैं। आज स्वेच्छापूर्वक तीन महात्माओं ने जन्मग्रहण किया है—संसार के उपकार के लिए। पृथ्वी पाप से परिपूर्ण है। संसारी लोग पाप की सीमा पार कर रहे हैं। पृथ्वी में आते ही मैं देखता और सुनता हूँ कि कितने ही लोग प्रलोभन से आत्मा को कलुषित कर रहे हैं। धर्म-जीवन नष्ट करके अधर्म में लिप्त हो जाते हैं। कितने मिथ्या वचन से अर्थोपार्जन करते हैं, इसकी सीमा नहीं है। यह सब कार्य देखकर मुझे आश्चर्य होता है। क्योंकि मैं इस समय सत्यदेश की आत्मा हूँ। एक दिन मैं स्वयं पृथ्वी में रहकर इनकी भाँति कार्य करता था। एक समय मैंने भी इस पाप-संश्लिष्ट जगत् में रहकर शारीरिक और मानसिक कष्ट पाया है।

शांति छूट गयी। नाना प्रकार रोग से, शोक से संतप्त हुआ। कैसे इन लोगों को धर्मपथ में लाया जाय मुझे यही चिंता है।

इस समय मुझे एक बात से कुछ अशांति होती है और बीच-बीच में गुप्तरूप से आकर उसको लक्ष्य करता हूँ। मेरी स्त्री मानसिक कष्ट से शांतिहीन होकर कष्ट पा रही है। यह स्वाभाविक ही है। स्वामिहीन स्त्रियों का है ही क्या? परन्तु उनको (मग्नमयी देवी को) नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्मरण करते ही हमारा दर्शन पा जाती हैं। तब उन्हें स्वामी के लिए शोक करना उचित नहीं है। वास्तव में उनकी दृष्टि में तो मेरी मृत्यु हुई ही नहीं। जब वे इच्छा करते ही मुझे देख सकती हैं तब शोक करने का कारण क्या है? मुझे मृतात्मा समझ कर यदि उन्हें शांति न मिले तो उनके पास जो लोग कातर होकर आते हैं उन्हें कैसे सांत्वना मिलेगी। ये लोग जानते हैं कि मृत्यु होने से सब कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु वास्तव में आत्मा की मृत्यु नहीं होती, इससे वे अनभिज्ञ हैं। अज्ञानांधकार में पड़े हुए ये लोग हाहाकार कर रहे हैं। यहाँ इस समय इन लोगों की स्थिति कुछ अनुभव में आयी।

पृथ्वी में जो आत्मा को पहचानती है, उस स्त्री (मग्नमयी देवी) के पास सब लोग सांत्वना के लिए आते हैं। यदि वही दुखी रहेगी तो उन्हें ढाढ़स कौन बँधायेगा? पृथ्वी में रहते समय मैं उनका पति था। मैं अब भी वर्तमान् हूँ। साधारण लोगों की दृष्टि में मृत हूँ। उनकी दृष्टि में मृत नहीं, जीवित हूँ और सदा ऐसा ही रहूँगा। मैं उनके निकट मृत नहीं हूँ। इसीलिए दो-तीन बार आकर उनको धर्मकथा सुनाता हूँ सांत्वना देखकर शक्तिसंचार करता हूँ। तब फिर क्यों इतनी अशांति?

पृथ्वी परीक्षा का स्थान है। यहाँ दुःख को सिर नीचा कर म्लान वदन से सहन करना पड़ता है। यह जो कर सकता है, वह इस परीक्षा से उत्तीर्ण होकर अंतिम समय में ब्रह्म या शक्तिलोक में स्थान प्राप्त करता है। परन्तु यह कितने लोग कर सकते हैं? मैंने देखा कि वे (स्त्री) शोक से कभी-कभी धैर्यच्युत हो जाती हैं। इसका कारण धर्मचिंता की शिक्षा-प्राप्ति के अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। धर्म की बातों को सुनते-सुनते मन की ज्वाला, दुःख और कष्ट का उपशम होता है। मन में धर्मभाव आने से आनंद होता है। परन्तु उसका संघटन नहीं हुआ। इसीलिए दैवीशक्ति काम नहीं करती। अत: मैंने ऐसा संकल्प किया है कि दो-तीन बार आकर उनको ज्ञानधर्म की शिक्षा दूँगा। इससे उनके मन-प्राण में शक्ति आयेगी। तब वे स्वयं समझ सकेंगी कि जीवितावस्था में मैं इनका पति जैसे था वैसे ही अब भी हूँ। तब मृत्यु का कष्ट नहीं होगा। उस समय यह सब अधिकार आ जाने पर वे अन्य शोकातुर लोगों को भी शांति दे सकेंगी।

मृत्यु के बाद सब समाप्त नहीं होता। आतमा रहती है। धर्मजीवन होने पर उसका शक्तिलोक में वास होता है और परम शांति मिलती है। अतएव शोक-दुःख भगवान् की ही दी हुई वस्तुएँ हैं। इन्हीं के द्वारा वे मनुष्य की परीक्षा करते हैं। अगर तुम लोग हृदय से यह शोक-दुःख-भाव छोड़कर भगवान् में पवित्र रति स्थापित कर सको तो निस्संदेह अपार आनंद भोग कर सकोगे। कोई दुःख नहीं रहेगा। जो लोग ज्ञानी हैं, उनके लिए सब विषय समान हैं। उनके हृदय में रागद्वेष तथा हिंसा का स्थान नहीं, न निज या पर का भाव ही है। सब एक भगवान् की सत्ता है, ऐसा वे लोग समझते हैं। उसी प्रकार सभी यदि ऐसी चेष्टा करते तो पृथ्वी स्वर्ग हो जाती और संसार में शांति का राज्य होता। इस स्थिति में धर्मोपार्जन में विघ्न न होता। राग, लोक का परम शत्रु है, विशेषत: स्त्रियों के लिए अत्यंत हानिकर है। प्राय: लोग इसी के वश में हो ज्ञानशून्य होकर आत्महत्या करते हैं। हृदय निर्मल-शुद्ध-पवित्र शीशे की भाँति होना चाहिए और अंत:करण सरल। अंतर्जगत् के प्रथम सोपान में खड़े होने और स्वर्ग की आत्माओं की भाँति पवित्रतालाभ का अधिकार तभी मिलता है।

तुम लोग जो परिमल के विषय में सूचना चाहते थे, उसको ढूँढ़ने में मुझे थोड़ी परेशानी हुई। उसका पता लगाने के लिए मैं दो बड़े महात्माओं के साथ बाहर हुआ था। बहुत खोजने पर उससे भेंट हुई । यह धाम अनंत और असीम है। कहाँ कौन आत्मा रहती है, यह बताना कठिन है। जैसे पर्वतों पर प्रतिस्तंबक में मकान बने रहते हैं, यह स्थान किसी अंश में उसी प्रकार का है। जब हम लोग वहाँ पहुँचे तो बहुत-सी आत्माएँ हमारे सम्मुख आकर खड़ी हो गयीं। ऐसा ज्ञात हुआ कि इन सभी आत्माओं ने जल में डूबकर शरीर छोड़ा था। यह इन्हीं लोगों की भूमि है। 'परिमल' कहकर मेरे पुकारते ही एक गोरा लड़का

मेरे निकट आया। उसकी आयु प्राय: ११-१२ वर्ष की है। मैंने कहा : 'तुमसे कई बातें पूछनी हैं। इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। ठीक-ठीक उत्तर देना।' यह सुनकर वह बोला : 'यदि आप लोगों से उस विषय में कुछ अधिक जानकारी होगी, तो आप तो कुछ पूछेंगे उसका ठीक-ठीक उत्तर दूँगा?' मैंने पूछा : 'क्या तुम्हारा मकान बोगरा (पूर्वबंग) में था? क्या वहाँ रहनेवाली अपनी बहन के माध्यम से तुम नाना प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हो?' उसने कहा : 'हाँ'[1] मैंने पूछा : 'सुना है तुमने मिट्टी देकर मकान तैयार किया है। वह मकान कैसा है?' यह सुनकर वह बालक और अन्यान्य आत्माएँ हँसने लगीं। फिर बालक ने कहा : 'आपसे मकान बनाने की बात कहता हूँ। उसका अर्थ आप समझ सकेंगे, परन्तु पृथ्वी के तत्वज्ञानहीन लोग इसे समझ नहीं सकते। उनमें शक्ति नहीं है कि इसका मर्म ग्रहण कर सकें। ज्ञान, भक्ति, कर्म, विश्वास—यह लेकर ही मनुष्य का श्रेष्ठ जीवन है। यह धर्म का घर है। भक्ति से उसके प्राचीर और विश्वास से वातायन का निर्माण हुआ है। ज्ञान-भक्ति-विश्वास—यह सब एकत्र करके भगवान् को पुकारने का उपाय करना पड़ता है, यही हमने किया है। किसी-किसी समय भगवान् का ध्यान किया जाता है। इसको निर्धारित करने के लिये मैंने मनरूप घड़ा तैयार किया है। आप लोग महात्मा हैं, अंतर्यामी हैं, आप तो जान सकते हैं कि ज्ञान-भक्तिपूर्वक हृदय-भवन में भगवान् को पुकारने से प्राप्ति हो जाती है।' यह सुनकर मैं अत्यंत आश्चर्यान्वित हुआ। इतने छोटे अबोध बालक के मुख से ज्ञानधर्म के ये उपदेश वाक्य!

यहाँ एक मंदिर है। उसमें एक तेजस्वी संन्यासी रहते हैं। वे परिमल को बहुत प्यार करते हैं। यह सब उन्हीं के उपदेश का फल है। इस स्थान में पर्याप्त परिमाण में फूल-फल हैं। जब इच्छा होती है, स्वयं लेकर खाते हैं। मैंने देखा, उसने (परिमल ने) फूल लेकर गद्दा, तकिया तैयार किया है। यहाँ किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। मन में हुआ, अच्छा शांतिमय स्थान है।

वहाँ से हम लोग दूसरे स्थान में जाकर उपस्थित हुए। हम लोगों को देखकर बहुत आत्माएँ आ गयीं। एकत्र होकर चिल्लाने लगीं। उनके शरीर ज्योतिहीन हैं, अत्यंत कृश हैं। शरीर का रंग पीला है। हम लोगों से पूछने लगीं, 'आप कहाँ से आये हैं? आप लोगों को देखकर प्राण में बहुत आनंद हो रहा है। क्या आप कह सकते हैं कि कितने दिन में हमें शांतिलाभ होगा? क्या अन्य लोगों की भाँति हमारे शरीर से भी ज्योति निकलेगी? हम लोग इस अशांति के स्थान से शांतिधाम में कब जा सकेंगे?' हमने कहा : 'तुम लोगों ने आत्महत्या करके देहांत किया है। इसलिए तुम्हारी मुक्ति में अभी देर है। परन्तु यदि तुम मन-प्राण से भक्तिपूर्वक भगवान् को पुकार सको तो वे अवश्य इच्छापूर्ति करेंगे और तुम लोगों को उद्धार का मार्ग दिखा देंगे, तभी ज्योतिर्मय, आनंदमय तथा शांतिमय धाम में जा सकोगे।' यह सुनकर वे सभी आत्माएँ जयध्वनि द्वारा कोलाहल करने लगीं।

हम लोग वहाँ से थोड़ा और ऊपर उठने लगे। उस लोक में भी इसी प्रकार बहुत सी आत्माएँ है, परन्तु वे अधिक उन्नत हैं। उनमें से २२-२३ वर्ष का एक युवक बाहर निकल कर हमारे पास आया और नमस्कार करके हमारे मुख की ओर देखने लगा। मैंने कहा :

---

१. पूर्वबंग का एक दिवंगत बालक।

'क्या तुम हमको पहचान सकते हो?' वह बोला : 'पूर्वजन्म में मालूम पड़ता है, आपको कहीं देखा है। कहाँ देखा? यह भलीभाँति स्मरण नहीं हो रहा है।' मैंने पूछा : 'पूर्वजन्म में तुम्हारा घर कहाँ था? बताओ।' उसने उत्तर दिया : 'मूलचर (पूर्व बंग) में।' तब हम उसे पहचान सके। तुम लोग भी कदाचित् समझ सके हो। मैंने कहा : 'मुझको तुम क्यों नहीं पहचानते हो? मेरे घर पर तुम कितनी बार आये थे। थोड़े दिन हुए मैं भी भवधाम को छोड़कर इस अनंत धाम में आ गया हूँ।' यह सुनकर उसने कहा : 'क्या आप बंकिम बाबू हैं?' यह कहकर वह चौंक उठा और बोला : 'हा भगवान्! तुम किसी को भी छोड़ते नहीं हो? सभी तुम्हारे निकट बराबर हैं।' मैंने कहा : 'तुम उन्नति नहीं कर सके, क्यों?' उसने उत्तर दिया : 'शिक्षा के अभाव से। आप लोग हमको ज्ञानधर्म के विषय में शिक्षा दीजिए और शीघ्र शांतिधाम में, शांतिमय भगवान् के चरण में पहुँचने का उपाय बताइए जिससे उनको हृदय से पुकार कर उन्नत हो सकूँ और उनकी स्नेहमय गोद में आश्रय पा सकूँ। ऐसा उपदेश देकर हमारा इस अशांति के देश से उद्धार कीजिए।' मैंने कहा : 'क्या चिंता है? अनाथशरण भगवान् को पुकारने पर ही सब ज्वालाओं से मुक्त हो जाओगे। मैं बीच-बीच में आकर तुम लोगों को ज्ञानधर्म के विषय में शिक्षा दूँगा। तुम लोग एक स्वर से भगवान् को पुकार कर कहो, 'हे भगवान्! किस प्रकार से पुकारने पर हम श्रीचरण में पहुँच सकेंगे और तुम्हारे शांतिमय अंक में स्थान-लाभ कर सकेंगे, बताइए। हम लोग आश्रयहीन हैं, कृपा कर आश्रय दीजिए।' वे करुणामय हैं, तुमको आश्रय देंगे। उनके श्रीचरणों में तुम्हें स्थान मिलेगा। यह कहकर हम लोग अपने स्थान को यह सोचते हुए लौट आये कि इन लोगों की उन्नति में अभी बहुत देरी है। आज यहाँ तक है, फिर आगे होगा।

दूसरे दिन हम लोग एक और स्थान में गये। वहाँ भी प्रकाश है, कई आत्माएँ रहती हैं। धर्म की आलोचना होती है। हम लोग एकत्र होकर धर्म के विषय में बात-चीत करने लगे। यह स्थान बड़ा सुंदर है। थोड़ी देर बाद दिखाई पड़ा कि एक आत्मा हमारे निकट उपस्थित है। उसको जब हम जीवित थे, पुत्र की भाँति स्नेह करते थे। बीमारी तथा जीवन की अन्य सभी अवस्थाओं में मैं सहायता पाता था। वह हम पर पिता की भाँति भक्ति करता था। उसका नाम है सुरेश सर्वाधिकारी।[१] उसको देखकर बहुत आनंद हुआ। फिर जज रमेशचंद्र, तिनकरीपाल और अतुल बाबू भी वहीं मिल गये। इन्हें देखकर मैंने सोचा, 'बड़े आनंद और शांति का स्थान है। कभी जिनके साथ एक दिन नहीं रह सका, रोग हुए बिना जिस डॉ० सुरेश को बुला नहीं सका, उसी के साथ आज हम लोग एक स्थान में वास कर रहे हैं। भगवान् तुम्हारी क्या लीला है? लड़कपन में रमेश बाबू को देखा था—आज वे भी हमारे साथ इस अमरलोक में वास कर रहे हैं। हा मृत्यु! तुम कितनी शांतिमय हो । लोग न समझ करके ही तुमसे डरते हैं। इन लोगों ने आकर हमसे हाथ मिलाया और मेरा नाम लेकर कहा : 'बंकिम बाबू! तुम अच्छे हो न? तुम्हारे संबंध में हम लोग प्रायः चर्चा करते हैं। तुम और कुछ दिन पृथ्वी में रहते तो लोगों का बड़ा उपकार होता। असमय में ही तुम आ गये।' मैंने उत्तर दिया : 'क्या मृत्यु को समय-असमय का कुछ विचार है? जब भी प्रभु कहते हैं या स्मरण करते हैं, तभी यह कार्य सिद्ध हो जाता है। पृथ्वी में जितने दिन रहा

१. कलकत्ता के एक सर्वप्रसिद्ध डॉक्टर। इनके भाई कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे।

जाय उतना ही लोग कुसंग और कुकार्य में लिप्त हो जाते हैं। उसके फलस्वरूप स्वर्गद्वार रुद्ध हो जाता है। हम ठीक समय पर आये हैं। आप लोगों की ही मृत्यु असमय हुई है। डॉक्टर सुरेश के आने से कलकत्ता में बहुत हानि हुई है। कुछ दिन और रहते तो अच्छा होता। उनके अभाव में ही रोग के भय से हमारी शीघ्र मृत्यु हो गयी। इस मृत्यु ने ही मुझे मुक्ति दी है।' यह सुनकर वे हँसने लगे और परिहास करते हुए बोले : 'अब बीमार होने पर तुम्हें मृत्युभय नहीं रहेगा, क्योंकि डॉक्टर सुरेश सशरीर तुम्हारे पास उपस्थित हैं।' मैंने कहा : 'हमें अब मृत्युभय नहीं है। हम लोग अब अनंतधाम के मुक्त जीव हैं, यहाँ डॉक्टर का प्रयोजन नहीं है। भगवान् का नामगान ही जीवन का महौषध है। मैंने देखा, उन लोगों की आत्मा ज्योतिर्मय है और उनके मुख पर शांति की छाया है। इससे हमें बहुत आनंद हुआ। डॉ॰ सुरेश को कुछ दिन पहले ही पता लग गया था कि उनकी मृत्यु निकट है। इसीलिए उन्होंने वसीयतनामा लिखकर रख दिया था। अपने एक छात्र से उन्होंने यह कह भी दिया था, किन्तु उन लोगों की समझ में बात आयी नहीं। मृत्यु का पूर्वाभास इने-गिने लोगों को ही मिलता है। प्यारी बाबू को भी इसका ज्ञान हो गया था। परन्तु मैं अंतिम समय पर्यन्त समझ न पाया कि मेरी मृत्यु इतने निकट है। जीने की आशा बनी ही रही।

मैंने यहाँ आकर पहले की माया का उच्छेद करने की चेष्टा की परन्तु कर नहीं सका। इसीलिए भगवान् को पुकारा कि मायाबंधन कट जाय। उन्होंने मेरी प्रार्थना सुन ली है। मैं अत्यंत शीघ्र ही सब मायामोह, स्नेह-प्रेमादि के संबंध से मुक्त हो गया हूँ। आज पौष का चौथा दिन है, ठीक ऐसे ही दिन मेरे सभी कष्टों का अवसान हुआ था। मैं भवधाम छोड़कर अनंतधाम का जीव बना। भगवान् विश्वनाथ ने अपनी स्नेहमयी गोदी में मुझे उठा लिया। इससे मेरी शांति हुई, परन्तु जिस देश से इस देश में आया हूँ उस देश में हाहाकार उठ रहा है। मैं उन लोगों को चिरजन्म के लिए छोड़कर आया हूँ। अब मेरी कोई कामना या वासना नहीं है। सब विषयों से अतीत हो गया हूँ। अब सब कुछ स्वप्रवत् प्रतीत होता है। पहले समझते थे, किसी अपरिचित स्थान में जाऊँगा और मृत्यु के बाद किसी को देख नहीं सकूँगा। ऐसा भाव उठा था कि कुछ न कुछ दंड अवश्य मिलेगा। यह समझ कर व्याकुल हो जाता था; परन्तु अब देख रहे हैं कि इससे अधिक शांति और कहीं है ही नहीं। हे भगवान् ! तुम्हारी लीला अपार है।

यहाँ अनंत कोटि जगत् हैं। उनकी संख्या नहीं हो सकती। बायस्कोप के चित्र की भाँति सभी आत्माएँ चलती-फिरती हैं। मैं देखता हूँ कि ये सभी आत्माएँ ही मानो मेरी अपनी हैं। अथच वस्तुतः मेरी कोई नहीं हैं। पूर्वजन्म की स्मृति मानो आँख के सामने जाग उठती है। मैं आत्महारा हो जाता हूँ। तुम लोगों के सामने क्या कहूँ? कभी-कभी मैं समझ नहीं पाता हूँ कि यह कैसा स्थान है? सभी आत्माएँ कहती हैं कि यह शांतिलोक है। वस्तुतः यहाँ बहुत ही शांति मिलती है। स्त्री-पुत्र-कन्या, जिनके ऊपर इतना स्नेह था और जिनके बीमार होने पर चक्षु में अंधकार आ जाता था, भगवान् को पुकारता था, आज हम उनसे बहुत दूर हैं। लेकिन फिर भी उनके प्रति आकर्षण है। उस माया से मुक्त होना चाहता हूँ। फिर उसमें बद्ध न हो जाऊँ। आत्मीय, स्वजन, भाई—सबको छोड़ यहाँ आकर किस प्रकार शक्तिलाभ किया, यही आश्चर्य है। डर होता है कि बार-बार नरलोक में जाने से फिर माया

में प्रबद्ध न हो जाऊँ! इसीलिए यहाँ आते ही महात्मा ने द्रव्य खिला दिया था, जिससे माया अथवा मोह में लिप्त न हो जाऊँ, और फिर जन्म लेना पड़े। हे भगवान्! इसी प्रकार हमारी रक्षा करना और श्रीचरण में स्थान देकर शांति प्रदान करना।

यहाँ की सभी आत्माएँ कहाँ और कैसे रहती हैं यह समझा दूँगा। पृथ्वी में जैसे अनंत ब्रह्मांड हैं, उसी प्रकार यहाँ भी अनंत कोटि जगत् हैं। कहाँ किस महात्मा का अवस्थान है? कहाँ कौन रहता है? यह अभी तक जान नहीं पाया हूँ और बता भी नहीं सकता। जब उन लोगों से मिलते हैं तब उनके मुख से थोड़ा-थोड़ा सुन पाते हैं। मैं नूतन आत्मा हूँ, नूतन देश में आया हूँ। कुछ दिन वास करने पर ही उन लोगों का कर्म ग्रहण करूँगा, तब तुम लोग जान सकोगे।

अब भीतर की बात कहता हूँ। जिस समय मेरे मस्तक का रोग बढ़ गया उस समय समझा कि कोई दैवी औषध हो अथवा देव-वाणी हो, उसी से मेरा रोग हट जायगा। मेरी स्त्री चक्षु के लिये दैव औषध पाकर आरोग्य हो गयी थी, यह समझ कर रात्रि में चक्षु बंद करके सो जाता था, परन्तु औषध नहीं पाया। उनके (स्त्री के) निकट कुछ गंभीर आवाज सुनकर मुझे सिहरन हुई। तीसरे दिन देखा कि एक आदमी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके मुखपर्यंत सर्वांग में क्षत (अल्सर) था। उसे देखते ही मैं काँपने लगा। डर के मारे आँखें बंद कर लीं। सोचने लगा कि यह क्या है? भगवान् ने कौन दृश्य दिखाया! फिर देखने में आया कि कोई आभासयुक्त देवता उपस्थित है। अवश्य इसका कोई तात्पर्य होगा। अंत में जब यह स्वप्न-दर्शन यथार्थ सत्य हो गया, तब मैंने समझा कि स्वप्न में संन्यासी या और कोई देवता न देखकर क्यों उस क्षतपूर्ण देवता को देखा। प्रतीत होता है कि इसी प्रकार कुछ देखकर के मेरी मृत्यु अनिवार्य है।

इस स्वप्न का फल एक दिन मिल गया। उस समय सोचकर कष्ट पाता था, आज देखता हूँ शांति ही शांति है। जो विपद्ग्रस्त होने वाले हैं वे पहले ही विभीषिका देखते हैं। मेरे संबंध में भी ऐसा ही हुआ। एक मास के बाद मुख में व्रण दिखाई देने लगे। अंत में चारपाई पर पड़ गया। अंतिम समय में फिर उसी देवता ने दिव्यदेह धारण करके मुझे दर्शन दिया और हरिनाम औषध देकर सब रोगव्याधि-भवयंत्रणा से मुक्त कर दिया । मेरे सब कष्ट दूर हो गये। भगवान् अन्याय अथवा अविचार नहीं करते।

जन्म के कर्म-फल-भोग से कौन मेरी रक्षा करेगा? रोग के कारण किसी देवौषधि की आकांक्षा नहीं करना, उससे उल्टा फल होगा। यह समझ करके उसकी व्यवस्था की नहीं, अब वही चरण में स्थान देंगे।

भगवान् विश्वनाथ मेरे इस सूक्ष्म देह में विराज रहे हैं, सब समय मैं यही अनुभव करता हूँ। मानव-जगत् में रहने के समय जितना दुःख-कष्टानुभव किया, यहाँ आकर मेरी सारी यंत्रणा दूर हो गयी। मेरे लिए तुम लोग चिंतित न होना। संयम में रहकर ईश्वरचिंता करो। उसी से तुम्हारी आशा पूर्ण होगी। जहाँ मेरा देह दग्ध हुआ था, सुरेश ने उस स्थान के चिह्नस्वरूप स्तंभ तैयार करा दिया, यह जानकर सुख हुआ। मैं तो इस समय विषय-भावना से अतीत हूँ। उसके पिता का चिह्न चिरस्थायी रहे, इस चिंता में उसका मन व्यग्र है, यह जानकर मुझे शांति मिलती है।

आज हम लोग बहुत स्थान देख करके आये। एक स्थान में एक बालिका की आत्मा को देखा। कुछ कष्ट में है। पंचम स्तर में वास करती है। उसकी मृत्यु काशी में हुई थी। देहांत के समय शांति से प्राणत्याग नहीं कर सकी। इसीलिए उसकी आत्मा जड़भाव में है और मन का भ्रम अभी तक दूर नहीं हो सका है। किसी को पहचान नहीं सकती। स्पष्ट रूप से देख नहीं सकती। इसी से कष्ट होता है। मेरी बातें सुनकर उसने मुझे पहचान लिया और मेरे पास आकर बोली : 'मुझे आप पहचानते हैं क्या? मेरा नाम हेमांजनी है। मैं मंटू की बहन हूँ। बंधु-बांधवहीन होकर यहाँ अकेली रहती हूँ। आपने जिस रोग से देह-त्याग किया था, मुझे भी वही हो गया था। आप अतिशीघ्र श्रेष्ठस्थान में पहुँच गये। मैं उन्नति नहीं कर सकती। आप बता सकते हैं कि इसका कारण क्या है? मैंने कहा : 'केवल ईश्वरचिंता करके मन का अंधकार दूर करो। यह होने पर ज्ञान का प्रकाश होगा और पुण्य की ज्योति देख सकोगी। तुम्हारी आत्मा निर्मल होगी और प्राण में शांति आयेगी। तब सब बंधु-बांधव तुम्हें दृष्टिगोचर हो जायेंगे। किसी प्रकार अशांति नहीं होगी।

इसके बाद दूसरे स्थान में जाकर बहुत कुछ देखा। देखकर मन में आनंद हुआ। पारुल नाम की एक लड़की की आत्मा ने मुझे देखकर कहा : 'आप जो नरलोक में जाते हैं, एक दिन हमको भी साथ लेकर चलिए। माँ को देख आऊँगी। वह मुझे बहुत प्यार करती थी। मेरे लिए वह बहुत व्याकुल है।' यह लड़की माखन की स्त्री है। शायद वह पहचान सकेगी।

आज फिर प्यारीबाबू के साथ भेंट हुई। बीच में ६-७ दिन उनका दर्शन नहीं हुआ था। वे नवम में हैं। बीच-बीच में आकर भगवान् का नाम सुनाकर हमें आनंद देते हैं। उनमें बहुत शक्तियाँ हैं। वे जब तक संसार में रहे भगवान् का नाम लेते हुए ही जीवनयापन किया। बालक-बालिकाओं को बड़े स्नेह से परिश्रमपूर्वक पढ़ाते थे। उचित-अनुचित का विचार करके काम करते थे। विद्यार्थी उनको देवता की भाँति पूजते थे। इसीलिए आज उनको श्रेष्ठस्थान में वास मिला है। उनके लड़के से जितनी बातें सुनने में आयीं वे आश्चर्यजनक हैं। इस समय इनकी असीम शक्ति है। इस लोक में यदि भगवान् को पुकार कर हृदय में आनंद मिले और किसी विषय में लक्ष्य न रहे तो उसका हृदय देवता के तुल्य हो जाता है। वह सचमुच देवता ही बन जाता है।

डॉक्टर बाबू (सुरेश सर्वाधिकारी) की एक पुत्रवधू को कठिन रोग हो गया था। बचने की आशा नहीं थी; किन्तु डॉक्टर साहब की सामर्थ्य और भगवत्कृपा से उसकी संरक्षा हो गयी। यह अत्यंत आश्चर्यजनक व्यापार है। बहुत बातें हैं। शांति के रुग्ण होने के समय भी वे आये थे। उस बहू को रोग के आक्रमण के पहले ही कुछ-कुछ आभास मिल गया था कि वह भीषण रोग से पीड़ित होगी। रोगमुक्त होने पर उसे धर्मजीवन का लाभ हो गया। भगवान् इसी प्रकार से किसी-किसी जीव को अपने साँचे में ढाल लेते हैं। डॉक्टर बाबू और उनकी स्त्री एक साथ हैं। बीच-बीच में जाकर देख आता हूँ और उनकी मंगल कामना करता हूँ। उनकी एक और पुत्रवधू भी रोगमुक्त हुई थी—भगवान् की इच्छा से। जब शांति के जीने की आशा नहीं थी, तुम लोग व्याकुल हो गये थे, चारों ओर अंधकार छा गया था, उसी अंधकारपूर्ण स्थिति में एक क्षीण आशा जाग उठी। समझ में आया, मानो कोई भीतर

से कह रहा है : 'भगवान् को पुकारो, वे ही विपत्ति से उद्धार करेंगे।' यह सुनते ही अंधकार दूर हो गया। उस स्थान में प्रकाश देखने में आया। भगवान् के नामकीर्तन से प्राणरक्षा हो गयी। परमहंस रामकृष्ण स्वयं आये थे। उनके साथ अन्य आत्माएँ भी आयी थीं। भगवान् ने सहायता की। शांति रोगमुक्त होकर पूर्णतया स्वस्थ हो गयी।

मुकुल नाम की एक बालिका आत्मा यहाँ आयी है। वह बहुत छोटी है, प्राय: अपनी दादी और दादू की बात पूछती है। मैं उसको एक दिन लेकर दादू और दादी को (नरलोक में) दिखाकर ले आया।

यहाँ दो श्रेणी की आत्माएँ हैं—जो लोग जल में डूब कर मर जाते हैं और जो लोग आत्महत्या करते हैं। जो लोग देववाणी के सदृश माँ की पुकार सुनकर आत्महत्या करते हैं, उनकी मुक्ति शीघ्र होती है; किन्तु जो लोग क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करते हैं, उनकी मुक्ति में देर लगती है। ये लोग पारलौकिक जीवन में कष्ट पाते हैं। इन्हें पहले नरक में घोर यंत्रणा-भोग करना पड़ता है। जिनकी जल में मृत्यु हुई है, उनकी दूसरी व्यवस्था है। यहाँ उन लोगों का शिवमंदिर है। उस स्थान पर एक बड़े संन्यासी की आत्मा रहती है। वह उन सबको शिष्य बनाकर रखते हैं। फल-फूल खाने को देते हैं। वे लोग परम शांति में रहते हैं। महादेव की सेवा करते-करते अंत में उद्धार होता है।

आजकल कई दिनों से एक आत्मा के साथ मेरा परिचय हुआ है। ये फीरोजपुर में वकील थे। थोड़े दिन पहले मृत्यु हुई है। उनकी मृत्यु शांति से नहीं हुई थी। इसीलिए कुछ अशांति में हैं। इस समय वे तृतीय श्रेणी में वास कर रहे हैं। वे ऋण के कारण से आबद्ध हैं। यदि भगवान् किसी समय बंधन से मुक्त करें, तब शांति पायेंगे। मृत्युलोक में रहकर लोग केवल रुपये के लिए ही व्यग्र रहते हैं। भगवान् को कितने लोग पुकारते हैं? स्त्री-पुत्र, मान-संभ्रम-ऐश्वर्य, कुछ भी साथ नहीं जायगा। केवल भगवान् का नाम ही साथ जायगा। जिस नाम से सब प्रकार का पाप नष्ट होता है और आत्मा पवित्र होती है, वही मुख्य नाम है। उसके जप से अनंतधाम में फिर कष्ट पाना नहीं होता। इसी नाम का आश्रय ग्रहण करो। देखोगी दोनों लोकों में शांति है।

आज मैं एक स्थान देखकर आया हूँ। कितनी छोटी-छोटी आत्माएँ थीं। उनके साथ जितेंद्र के लड़के को भी वहाँ देखा। ये केवल हरिनाम गान करते हैं। रामायण, महाभारत की कथाएँ सुनते हैं। मुझको देखकर उसने कहा—'आप एक दिन मेरे माता-पिता और दादी को दिखा दीजिए।' मैंने उन्हें साथ लाकर दिखा दिया। उसे बीच-बीच में अपने दादा के साथ बात करते देखता हूँ, शांति में हैं। शीघ्र और भी उन्नति होगी। यदि भगवान् में एकांत मन रहे तो उन्नति में देर नहीं लगती। चाहिए केवल भक्ति, विश्वास और दिन-रात उनका नामकीर्तन।

आज एक शिवमंदिर में गया था। वहाँ १०-१२ वर्ष की एक बालक-आत्मा को देखा। इतने दिन यहाँ आये हुए, उसे कभी देखा नहीं था। अन्य आत्माओं से पूछकर जान पाया कि इनका घर मूलचर में है। लड़के का नाम रतन है। जल में डूबकर मर गया था। हमको देखकर सामने आकर खड़ा हो गया। उसका हाथ पकड़ कर हमने कहा : 'तुम्हारी मृत्यु जल में डूबकर हुई थी क्या?' उसने कहा : 'जल में डूबा था परन्तु उससे मृत्यु नहीं हुई थी। मैं जब घाट पर आया, उस समय सीढ़ी का धक्का खाकर गिर गया, उसी से हार्टफेल

हो गया था। मेरे माँ, बाप और दादी मेरे लिए कातर हैं। उसी से मुझे अशांति है।' मैंने समझाया : 'कोई चिन्ता न करो। शांतिमय भगवान् को पुकारो। वे तुम्हारे अशांत प्राण में आनंद देंगे। भगवान् के नाम से सब आपत्तियाँ कट जाती हैं। शिव-मंदिर के संन्यासी ने उसको शिष्य बना लिया है, शांति में है। अधिकांश जल में डूबी हुई आत्माओं का इसी शिवमंदिर में अवस्थान होता है और संन्यासी से उन्नति का विषय सीखते हैं।

पाँच दिन हुए किसी पति-पत्नी की आत्मा यहाँ आयी है। दोनों एक ही दिन एक साथ ही मरे थे। इस प्रकार की पवित्र आत्माएँ यहाँ कम आयी हैं। उनकी ज्योतिर्मय आत्मा को देखकर भक्ति होती है। भगवान् ने उन्हें उत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है। सती स्त्रियाँ निज धर्म-पुण्य के बल से सब विषय में आनंद पाती हैं। इन लोगों का फिर जन्म नहीं होगा।

हे जीवगण! संसार के जाल में आबद्ध न रहो। समय रहते-रहते भगवान् को पहचान लो। क्योंकि जब मृत्युवेला निकट आयेगी तब किसी को पहचानने नहीं देगी। देह निस्तेज, चक्षु ज्योतिहीन और मुख वाक्शून्य हो जायगा। अभी से थोड़ा-थोड़ा माया का बंधन काट डालो, जिससे बंधन छूट जाय, इसके लिए भगवान् से प्रार्थना करो।

मुझे जब रोग हुआ, उसके कुछ पहले से केवल मृतात्माओं को स्वप्न में देखता था। वह स्वप्न सत्य हो गया। राजू की स्त्री भी मृत्यु के कुछ पहले ऐसा ही स्वप्न देखती थी। सब स्वप्न अलीक नहीं होते, कोई-कोई सत्य हो जाते हैं। जब जीव गंभीरनिद्रा में मग्न हो जाते है, तब आत्मा देह छोड़कर शून्य मार्ग में घूमती है, उस जगत् की आत्माओं के साथ बातचीत करती है, ये सब विषय मृत्युलोक की आत्माओं को स्मरण रहते हैं। जब आत्मा लौटकर देह में प्रविष्ट हो जाती है, उस समय वे सब बातें उसकी स्मृति में उदय होती हैं, जो वे स्वप्न में देखते हैं। किन्तु मनुष्य निद्रा के पहले मन में जिस बात की चिंता करके सोता है, यदि वही स्वप्न में देखता है तो यह अलीक स्वप्न है। जिस व्यक्ति के लड़का, लड़की या किसी अन्य आत्मीय स्वजन की मृत्यु होती है, उसकी आत्मा अपने प्रिय जीवित व्यक्ति को देखने के लिए छाया के रूप में आती है। उसको स्वप्न में कोई-कोई देखकर चौंक जाते हैं। ये इस जगत् को छोड़कर उस जगत् में जाने पर भी महामाया के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते। शोक, दुःख तथा दुश्चिंताग्रस्त व्यक्ति के लिए निद्रा ही शांति है। इस निद्रा के भीतर भी उन्हें व्याघात हो जाता है। जिन लोगों के मन में शोक कष्ट दे नहीं सकता, मैं जानता हूँ, भगवान् उनके प्राण में शांति देते हैं और शांतिदायिनी माँ उनकी सहायक होती हैं। जब उसकी मृत्यु होती है, तब ये सब आत्माएँ जाकर उस आत्मा को इस शांतिलोक में ले आती हैं। जिस समय मनुष्य की मृत्यु आसन्न है उसके पहले से ही ये सब आत्माएँ उसके लिए प्रतीक्षा करती हैं। जब आत्मा बाहर निकल आती है, तो परलोक की ये आत्माएँ उसे यहीं ले आती हैं और बड़े-बड़े महात्मा व्यवस्था करके, जिस श्रेणी के योग्य जो होता है, उसे वहाँ भेज देते हैं।

जो जीव पाप और अधर्म करके जीवन बिताते हैं और उसी के द्वारा उपार्जित धन से आनंद करते हैं—क्षणभर के लिए भी सोचते नहीं हैं, उसको पृथ्वी में किसी प्रकार शांति नहीं मिल सकती। इसी को नरक-यंत्रणा कहते हैं। सर्वप्रकार रोग से, शारीरिक और मानसिक कष्ट से देह और आत्मा दंड भोगा करते हैं। वे पृथ्वी में रहते ही मनुष्य जीवन में नरकयंत्रणा से पीड़ित होते रहते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि यह देख और जानकर भी लोग भगवान्

को पुकारते नहीं, स्मरण नहीं करते। लोग मृत्युशय्या में पड़े हुए कितने कष्ट से आर्त्तनाद करते हैं किंतु भूलकर भी भगवान् का नाम नहीं लेते। मृत्यु ही मनुष्य की शांति है। ये लोग शोकताप पाकर मृत्यु की ही कामना करते हैं। समझते हैं कि मृत्यु के बाद सब दुःख दूर हो जायगा। परन्तु मृत्यु के बाद क्या है? सो जानते नहीं।

आनंदधाम नाम की एक श्रेणी है। वहाँ केवल महात्माओं का वास होता है। जो लोग पृथ्वी में भगवान् का नाम लेकर अपने को भूल जाते हैं, केवल उन्हीं को अपना सर्वस्व समर्पण करते हैं, वे इस श्रेष्ठ 'आनंदधाम' नामक लोक में वास करते हैं। भगवान् में विश्वास करके जो आत्मप्रशंसा को विषतुल्य समझते हैं, हिंसा को हृदय में स्थान नहीं देते, शील, दया और भगवान् में विशेष युक्त होकर सर्वदा जीवनयापन करते हैं, वे इस धर्मस्थान पर अधिकार कर सकते हैं।

कल जब बोगुरा गये तो रात्रि को चार बजे होंगे। देखने में आया कि सब लोग सो रहे हैं। वहाँ से कलकत्ता आया। वहाँ भी देखा कि सभी निद्रामग्न हैं। परन्तु हम लोगों को निद्रा नहीं है। यह निद्राहीन देश है। यहाँ रात्रि भी नहीं है। परन्तु ध्यान रखना, निद्रा के वश में हो माँ को भूलना मत। माँ का नाम जप करके मानव-जीवन की सार्थकता लाभ करना। थोड़ी निद्रा, थोड़ा विश्राम और निरंतर नाम—यही चाहिए। अंतिम समय बड़ा भयंकर है। नाम न जप सकने से भगवत्प्राप्ति नहीं होती। सांसारिक चिंता लेकर कोई ऊर्ध्व में उठ नहीं सकता। जगदंबा की चिंता ही अंतिम मार्ग साफ करती है। चिरनिद्रा का समय निकट में है। अब भगवान् का नाम कब आरंभ करोगे? निद्रा पर विश्वास न करना। यह मनुष्य के सुख-दुःख को थोड़ी देर के लिए भुला देती है। यह निद्रा ही भगवान् को पुकारने में व्याघात उपस्थित करती है। यह निद्रा, देवता का देवत्व भुला देती है। यह मोहनिद्रा भगवान् के नाम से वंचित करती है और माया-मोह-अहंकार ले आती है। इसको अधिक प्रश्रय न देना। संध्या, मध्यरात्रि तथा प्रातःकाल में एक बार माँ का नाम लेकर जीवन सार्थक करो। देखोगे अंत में अनंत शांति मिलेगी।

एक दिन हम कई लोग साथ-साथ एक स्थान में गये। पूछने पर पता लगा कि वह नक्षत्र लोक है। इसमें जो महात्मा रहते हैं, उन्हें देखकर आश्चर्य में पड़ गया। जैसा नक्षत्र का आलोक है, सभी आकाश में प्रज्वलित हैं, उसी प्रकार उन लोगों के सूक्ष्मदेह से शतसहस्त्र हीरों की भाँति आलोक स्फुरित हो रहा था, अत्यन्त सुन्दर, अत्यंत स्निग्ध और अत्यंत मधुर। इस आलोक में कितना माधुर्य है, कह नहीं सकता। हम लोगों को मानो मोहित कर लिया। हम लोग उनसे बात नहीं कर सके। सुना ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, विजयकृष्ण, मीराबाई, रानीभवानी, रामकृष्ण, शिवाजी और भी अनेक श्रेष्ठ महात्मा यहाँ हैं। थोड़ी देर तक उनका उपदेश ग्रहण कर पूर्वस्थान में लौट आये।

मैं एक दिन एक आत्मा के साथ ऊर्ध्व से भी ऊर्ध्व स्तर में उठ गया था। वहाँ एक स्थान में देखने में आया कि दो उज्ज्वल-देह पुरुष और स्त्री आत्मा चारों ओर घूम रहे हैं। उनका भाव सर्वदा प्रसन्न है। प्रेम और आनन्द से मानो नित्य उत्फुल्ल हैं। उच्च चिंता सदा विद्यमान है। संगीत-काव्य में चित्त भावमय है। इन लोगों का आत्मिक प्रेम ही सहज भाव है। आनन्द इनका चिर सहचर है। पृथ्वी में जो कवि भाववादी तथा संगीतज्ञ हैं वे यहीं से

जाकर जन्म लेते हैं। यहाँ कवि रजनीकांत, माइकेल मधुसूदन दत्त तथा अन्य आत्माएँ भी हैं। इस लोक से उज्ज्वल रश्मि निर्गत होकर दूर, बहुत दूर अनंत दूरी तक चली गयी है। इनका अंत कहाँ है और किसके साथ है? यह समझ में नहीं आता। बीच-बीच में आलोक का बुद्‌बुद उठ रहा है। ये सभी छोटे-छोटे वृत्ताकार में परिणत होकर चारों ओर तैर रहे हैं। अत्यंत अद्‌भुत हैं। इनका मध्यस्थान भी अद्‌भुत और उज्ज्वल है। मैं देखकर आश्चर्यान्वित हो गया। मैंने हिम्मत करके कहा; 'हम लोग कहाँ आये हैं? सुनना चाहता हूँ। यदि कोई व्यवधान न हो तो मन की भ्रांति दूर कीजिए।' यह सुनकर वे बोले : 'यह नवम स्वर्ग का एक अंश तुमको दिखाया गया है और भी कितने आश्चर्य के स्थान हैं। क्रमश: देख पाओगे।'

एक दूसरे दिन ये आत्माएँ मुझे एक अन्य लोक में ले गयी थीं। यह विचित्र स्थान है। यहाँ से मृत्युलोक दिखाई पड़ता है। उन्होंने कहा : 'इन सब उज्ज्वल ज्योतियों के भीतर तुम्हें अत्यन्त कष्ट से पहचाना जाता है। इस सामान्य तथा अति तुच्छ स्थान में मनुष्य वास करते हैं। वे लोग प्रेम नहीं जानते। मुख से कहते हैं, प्यार करता हूँ, किन्तु मन में घृणा करते हैं। पद्मपत्र के जल जैसा उनका प्रेम चंचल है। इन लोगों के लिए अर्थ ही भगवान् है और धन-लाभ की चेष्टा ही धर्म। यहाँ यथार्थ ज्ञानी, आहार के अभाव से मृत्युमुख में पड़ते हैं, चापलूस, प्रवंचक, अज्ञानी और मिथ्यावादी सबके ऊपर प्रभुत्व करते हैं। ये सब लोग ब्रह्मांड के रहस्य नहीं जानते। जो लोग कहते हैं कि जानता हूँ वे ठीक नहीं कहते। कुसंस्कार की मिथ्या धारणा है, प्रतिपद में लांछित और उपहासास्पद होते हैं। यहाँ धर्म का आदर नहीं है। धर्म बहुमूर्ति है। एक-दूसरे के उच्छेद-साधन की चेष्टा करते हैं। एक जाति दूसरी जाति को संमाप्त कर देना चाहती है।' मैंने कहा : 'देव, पृथ्वी में क्या परिवर्तन नहीं होगा?' वे बोले : 'इस प्रकार के भाव से ही पृथ्वी गठित है। गंभीर जड़ के बंधन से बँधी हुई है। इस स्थान में जीव जैसा कार्य और चिंता करते हैं, उसी प्रकार उन लोगों की आत्मा इस ग्रहलोक में आकर रहती है।'

वहाँ से फिर और भी ऊर्ध्व में एक दूसरे स्थान में गये। यहाँ की आत्माएँ अति सुंदर हैं। उनके आलोक से चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। यह स्थान एक मालाकार रम्य उद्यान की भाँति है, पूर्णरूपेण ज्योत्स्ना से भरा हुआ। उसके सामने पृथ्वी की ज्योत्स्ना अत्यन्त मलीन प्रतीत होती है। शत सहस्र शरत्कालीन पूर्ण चंद्र की ज्योत्स्ना भी उसकी तुलना में नहीं आ सकती। ज्योत्स्ना के ही पक्षी, वृक्ष की शाखाओं पर बैठकर सुमधुर गान कर रहे हैं। ज्योत्स्ना का जलाशय है, कमल हैं, वे ज्योत्स्ना के ही जल में तैरते हैं। यह स्थान बहुत पवित्र और शांतिमय है। इस प्रकार सुरम्य सौर जगत् कभी नहीं देखा। भगवान् तुम धन्य हो।

हेमांगिनी जिस स्वर्ग में है, आज वहाँ उसको देखने गया था। देखा, उसने बहुत उन्नति की है। मालूम हुआ, शीघ्र ही और भी उच्च स्थान पर अधिकार कर सकेगी। उसने माखन की बात मुझसे पूछी। मैंने कहा : 'एक दिन उन्हें तुमसे मिलने को ले आऊँगा।' यह सुनकर उसने धन्यवाद दिया। इसके बाद माखन के पास जाकर देखा। वे बड़ी शांति और आनंद में हैं। चेहरा बहुत उज्ज्वल हो गया है। इस समय अष्टम में हैं, किन्तु मैं जिस स्थान में हूँ उससे बहुत दूर हैं। उनके साथ कभी-कभी मेरी भेंट हो जाती है। बाबा विश्वनाथ ने उन्हें

कठिन रोग से मुक्त करके शांति के कुंज में स्थान दिया है। उनका धर्म में मन था, भगवान् में विश्वास था। पुष्प का सौरभ चारों ओर भरा हुआ है। वे कठिन रोगयंत्रणा से कातर हो गये थे, यह पूर्व कर्म का फल है। मर्त्यलोक में ही रोग-भोग करके वह शुद्ध सुवर्णमय हो गया।

यह युगात्मा की बात कह रहा हूँ। प्राय: देखने में आता है और सुनने में भी आता है कि पृथ्वी में यथार्थ पति-पत्नी का मिलन नहीं होता। उसका कारण यही है कि पहले की युग्मात्माएँ नहीं मिलतीं। इस लोक में जितने पति स्त्री की प्रतीक्षा और स्त्रियाँ पति की प्रतीक्षा में रहीं, वे केवल युग्मात्मा के लिए।

प्रत्येक आत्मा अपने-अपने स्तर से बाहर होकर जन्म लेती है। परन्तु पृथ्वी बहुत आकर्षण का स्थान है। वहाँ जाकर मन का बल खो जाता है, उसके साथ ही आत्मिक बल भी। फलत: वे दूसरी आत्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं। अपने युग्म को खो बैठते हैं। एक आत्मा जिसके अधीन होती है उसका युग्म दूसरे के लिए व्याकुल रहता है। उभय युग्म असम स्तर के भावयुक्त रहते हैं।

सृष्टि के आदि में अद्वयतत्त्व के रूप में एक ही मूल पुरुष था। फिर अपनी इच्छा से वही पुरुष और प्रकृति—इन दो रूपों में विभक्त हो गया। इस स्थिति में दोनों पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी वस्तुत: नित्ययुक्त बने रहे। किंतु माया में प्रवेश करते ही वे पृथक् हो गये। यहीं से जीव की संसारयात्रा आरंभ हुई। इस चक्र में कभी-कभी अपनी निजप्रकृति से वियुक्त होने के बाद भी पुरुष उससे युक्त हो जाते हैं, अन्यथा परकीया प्रकृति से युक्त होते हैं। जब तक निज प्रकृति से स्थायी योग न हो तब तक परम स्थान में जाने का उपाय नहीं है। लौटने के बाद भी भगवत्कृपा से भाग्यवशात् युग्मस्थापना हो सकता है। सती, साध्वी, पतिव्रता नारी को ऊर्ध्वलोक में जाकर अपने अर्द्धांग के लिए अकेले प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार पति को भी वहाँ अकेले रहकर अपनी अर्द्धांगिनी की तब तक राह देखनी पड़ती है जब तक वह भवधाम त्याग कर पतिलोक को प्राप्त नहीं होती। साधारण लोगों में यह मिलन सुदीर्घकाल में होता है। ऊर्ध्वभूमि में इस मिलन के बाद प्रकृति और पुरुष में परस्पर अंत:प्रवेश अर्थात् पुरुष में प्रकृति का अनुप्रवेश और प्रकृत में पुरुष का अनुप्रवेश होता है—अवश्य ही युग्म स्वरूप में। पुरुष में भी पुरुष और प्रकृति दोनों हैं, प्रकृति में भी, फिर भी प्राधान्य अप्राधान्य का प्रश्न रह जाता है। इसके बाद दोनों समप्रधान हो जाते हैं—उसी का नाम योग है। अंत में दोनों एक हो जाते हैं। यह अद्वैत स्थिति है। यहाँ प्रकृति-पुरुष का भेद नहीं है, शिवशक्ति का भेद नहीं है। एक अखंडचैतन्यमय आकार है। वह माता भी है, पिता भी। यहाँ माता-पिता, पति-पत्नी का दृष्टांत लेकर कहा गया है, किन्तु इसे अनंत दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। वैष्णव लोग अनेक भाव से इसका वर्णन करते हैं। इनमें से कहीं एक आश्रय है, एक विषय है और कहीं दोनों ही आश्रय हैं और दोनों ही विषय। अंत में दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं। पृष्ठभूमि में रहता है, निराकार महाप्रकाश। इसके अनंतर साकार निराकार भी एक हो जाता है; वह न साकार है न निराकार है, साकार भी है निराकार भी है। कोई विशिष्ट प्रकार नहीं है। जो चाहिए सोई आकार है। वह उभयलिंग है, अथच अलिंग भी है।

सृष्टि के आदि में पूर्ण ब्रह्मावस्था से किस प्रकार विकास के क्रम में युग्मात्मा का स्वरूप निमार्ण हुआ, निम्नांकित चित्र से यह स्पष्ट हो जायेगा :—

जन्म के बाद कितने जन्म स्तर स्तरांतर में, नरक से नरकांतर में घूमते रहते हैं। पृथ्वी में जाकर दो-चार जन्म का पाप-पुण्य लेकर दैहिक आकृति के अनेक परिवर्तन होते हैं। किन्तु भीतर का भाव वही रहता है। कितने जीवयुग्म तो पाप में बहुत अवनत हो गये और इसलिए उनका उच्चज्ञान और कर्मशील हो नहीं पाया। इससे पति-पत्नी-मिलन में व्याघात उत्पन्न हो गया। अनेक जन्म के बाद जब निष्पाप होकर यहाँ आ सकेंगे तभी उस युग्मात्मा का यथार्थ मिलन होगा।

पृथ्वी में क्वचित् मानव यथार्थ युग्मात्मा के साथ विवाहसूत्र में आबद्ध होते हैं। यही लोग मृत्यु के बाद एकदम इस सौरजगत् में मिलित होकर अपार आनंद और शांतिलाभ करते हैं। पृथ्वी में मनुष्य का चित्तबल कहाँ है? वे अपनी देह का सब प्रकार से ज्ञान खो देते हैं। जिस कन्या को सुंदरी समझते हैं, मन का मेल हो या न हो, उससे विवाह कर लेते हैं। इसीलिए यथार्थ युग्मात्मा के साथ उनका मिलन होता हैं नहीं। कितने जन्म-जन्मांतर के बाद वे यहाँ आकर उसको पाते हैं। युग्मात्मा के साथ आत्मा का मिलन न होने पर पति-पत्नी को कभी सुख-शांति नहीं मिलती। यह बात यथार्थ है। इस सौरजगत् की आत्माएँ कमनीय श्री से परिपूर्ण हैं। उनका सूक्ष्मदेह दैवतेज से गठित है। इसको शुक्रलोक अथवा सौरजगत् कहते हैं। यह लोक ऊर्ध्व से भी ऊर्ध्व और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म स्तर के अभिमुख में धावित हो रहा है। यहाँ स्वार्थपरता अमार्जनीय महापातक है। यहाँ के सभी निवासी भगवान् में दृढ़ विश्वासी, मधुर मुस्कान से युक्त, मधुरभाषी और लावण्य श्रीपूर्ण है।

और एक दिन दूसरे स्थान में गये। यहाँ बहुत महात्मा लोग रहते हैं। बड़ी सुंदर वस्तुएँ यहाँ हैं और अति उज्ज्वल आलोक। सुना है, यह स्वर्ग की दूसरी ओर का सिरा है। यहाँ से आत्माएँ सूक्ष्मदेह छोड़कर अपने कर्मानुरूप जड़देह लेकर जन्म लेती हैं। हम लोग जहाँ रहते हैं उसकी अपेक्षा ये सब आत्माएँ अन्य प्रकार से गठित हैं। इन लोगों का भिन्न-भिन्न प्रकार का स्वभाव है। आत्माओं के भीतर भिन्न-भिन्न भाव हैं—कहीं दैहिक, कहीं मानसिक और कहीं आध्यात्मिक। कोई पूर्ण निर्दोष नहीं दिखाई पड़ा। यहाँ मृत व्यक्तियों का ठीक-ठीक विचार होता है। इसी स्थान से लोग मृत्युलोक में जाते हैं तथा प्रत्यावर्तन होता है परन्तु इस प्रकार जाने को मृत्यु नहीं कहते। शुद्ध देह छोड़कर मनुष्य देह धारण करते हैं। मानव की मृत्यु का समय जब उपस्थित होता है तब उसकी देह शिथिल और अवश हो जाती है। मृत्यु के पूर्व जो आत्मा ऊर्ध्व गमन करती है उसके साथ देह की समानवायु का आकर्षण रहता है। वह इसे खींचकर ले आती है और मृत्यु के समय जो नाभिश्वास होता है तो यह समानवायु देहस्थ अन्य वायु को एकत्र करके आत्मा के साथ बाहर हो जाता है। अतएव फिर लौटकर आ नहीं सकता। तुम जिस प्रकार मृत्यु की बात सोच रही हो, मृत्यु वैसी नहीं है। जीव की मृत्यु हो जाने पर ठीक समय में लौट आकर वह सूक्ष्मदेह में अवस्थान करता है। यथार्थ ज्ञानी व्यक्ति मृत्यु का भय नहीं करते, वरन् आनंद ही प्रकाश करते हैं। क्योंकि आत्मा के देह से विच्छिन्न होने पर जो देह ज्ञानालोचना में सर्वदा नाना प्रकार की बाधाएँ देती थी, जिसकी इद्रियों की चंचलता मन को स्थिर होने नहीं देती थी,

वही देह उसको (आत्मा को) किसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सकती, यही उसके लिए आनंद का विषय है।

मैं सत्यलोक में गया था। उसको 'आनंद-धाम' कहा जाता है। वहाँ की आत्माएँ सब प्रकार के आलोक से आलोकित हैं। वे मिथ्या को विष समझते हैं। धर्म की जय करते हैं. भगवान् में विश्वास नष्ट नहीं किया, वही लोग इस लोक में वास करते हैं। उनके मुख में सत्य का आलोक है, मधुरभाषी हैं, और स्थिर पुण्यालोक से कमनीय कांति।

इस लोक में डॉ० महेंद्रलाल सरकार, गुरुदास बनर्जी, कालिदास, अमीरचंद खाँ, ब्रजकिशोर राय आदि बहुत से महात्मा वास कर रहे हैं। इन लोगों का उपदेश अमृतवत् है। ये लोग कहते हैं, धर्म ही मनुष्य का यथार्थ जीवन है। जो धर्म-रक्षा कर सकते हैं वे मनुष्य नहीं, देवता हैं; शोक-दुःख से मुग्ध न होकर भगवान् को पुकारना ही शांति का साधन है। संसार में वियोग ही संयोग, मृत्यु ही जन्म, निराशा ही आशा, आकांक्षा ही तृप्ति, त्याग ही भोग, अंत ही आदि, अभाव ही शक्ति और विच्छेद ही मिलन है। जान लेना अभी जो कुछ कहा है उसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। इस समय ये महापुरुष सब विषयों से अतीत हैं। किसी प्रकार की भोगवासना नहीं है। अंत समय में उनकी स्नेहमयी गोदी में अवस्थान कर रहे हैं। इन शिशुस्थानीय महात्माओं को मैं शत-सहस्र बार नमस्कार करता हूँ।

यहाँ पति-पत्नी दोनों प्रकार की आत्माएँ हैं। उन लोगों की सूक्ष्म देह दिव्य ज्योतिर्मय है। मुँह में शांति की हँसी है। विच्छेद के अनंतर मिलन से उनमें महान् आनंद व शांति है। यहाँ सत्य की महिमा और धर्म का जयगान होता रहता है। इन महात्माओं से मिलकर मैं चंद्रलोक गया था। ठाकुर रामकृष्ण, महात्मा विजयकृष्ण और उनके भक्तों के साथ साक्षात्कार हुआ। ठाकुर की देह मानो शतसहस्र चंद्रकिरणों से उद्भासित है। वे और अन्य भक्त सांसारिक जीवगण जैसे उन्नति लाभ करेंगे, उसी के विषय में चर्चा करते रहे। भक्तगण जो कुछ भी कहते हैं वह सुनने योग्य है। रामकृष्ण तीन बार मृत्युलोक में तुम लोगों के बीच आविर्भूत हुए थे। यह वहाँ की बात है, उन लोगों का कहना है। उनके जो अतिप्रिय भक्त हैं वे विशेषरूप से इनको जान सके थे। लड़के लोग ठीक-ठीक भक्त न होने पर भी ठाकुर समझ कर उनका जयगान करके धन्य हो गये थे। जो लोग चित्त में संशय उत्पादन कर विश्वासहीन हो गये थे, उनको दुःख हुआ था। रामकृष्ण स्वयं भगवान्-स्वरूप हैं और वे आविर्भूत हुए थे, यह भी सत्य है परन्तु मानव का क्षुद्र मन सहजतया इस पर विश्वास नहीं करना चाहता है। यह बहुत दुःख का विषय है। लोगों का विश्वास ही स्वर्ग का पहला सोपान है। जिसका जैसा विश्वास है वैसा ही फल होगा। बलपूर्वक विश्वास करने से धर्म नहीं होता।

और एक दिन अज्ञान लोक में अर्थात् निम्नश्रेणी में उन लोगों का हाल जानने के लिए गये थे। वहाँ प्रकाश का अभाव है। चारों ओर कुहासे से ढँका हुआ है। सर्वदा ही मानो अंधकार छाया रहता है। वहाँ की आत्माओं के सूक्ष्म देह में कोई ज्योति नहीं है, मानो मृतव्यक्ति हैं। कहाँ इनकी समाप्ति होगी, भगवान् ही जानें। वहाँ का दृश्य देखकर हृदय कंपित हुआ। मन में धैर्य नहीं रहा। अभी भी जीवात्मा के उन्नत होने की आशा हो तो और

चिंता छोड़कर अनाथशरण श्रीभगवान् का आश्रय लेना चाहिए। मृत्युलोक में चक्षु पाकर भी लोग अंधे हो जाते हैं। अंतिम दिन कितना भयानक होता है। इसका कभी स्मरण नहीं करते। उसका परिणाम आकर भोग रहे हैं।

इस लोक के भीतर विभिन्न स्थानों को देखते-देखते मेरी मृत्यु के तीन बरस बीत गये। कितने दिन भवधाम छोड़कर मुझे नित्यधाम में आये हुए बीते, अब यह स्मरण रखना कठिन है। धीरे-धीरे पुत्र-कन्याओं के हृदय से मेरी आकृति लुप्त होती जा रही है। मैं भी इस समय यही चाहता हूँ। मेरे विस्मृत हो जाने पर ही तुम लोगों के मन में शांति आयेगी। पिता-माता न रहने पर संतान को कितना कष्ट होता है, यह एक दिन हमने भी अनुभव किया था। मेरी वृद्धा माता की जब मृत्यु हुई थी तब मैं निर्जन में बैठकर उनके लिए अश्रु-विसर्जन करता था। माता के अभाव में मेरे लिए समस्त संसार मानो शून्य हो गया था। मैं अनुभव करता हूँ कि वृद्धामाता के लिए जब इतना कष्ट होता है तो जिनकी माता का अल्प आयु में देहांत हो जाय, उन्हें कितना दुःख होता होगा। भगवान् ने वह दिन भी दिखा दिया। सबेरे राजू की स्त्री मृत्युमुख में पतित हुई, उसकी संतानें मातृहीन होकर अपार दुःख में डूब रही हैं। मेरी आँखों को यह भी देखना पड़ा।

❖

परिशिष्ट २

पारिभाषिक शब्द

अंतरंगा शक्ति—शक्ति के दो प्रकार हैं—अंतरंग और बहिरंग। अंतरंगा शक्ति जीव-स्वरूप के साथ अभेद संबंध से रहती है और बहिरंगा शक्ति भेद संबंध से। इन्हें चिद्रूपा शक्ति तथा अचिद्रूपा अथवा मायाशक्ति नाम से भी अभिहित किया जाता है। ये दोनों शक्तियाँ परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही परमस्वरूप के आश्रित रहती हैं।

अकुल—अकुल शिव का बोधक है और कुल शक्ति का। अकुल की स्थिति शक्ति-राज्य के बाहर अखंड प्रकाशरूप में रहती है। कुल से सृष्टि आदि का उन्मेष होता है।

अनाख्या महाशक्ति—किसी-किसी शाक्तदर्शन में पाँच प्रकार की स्थिति मानी जाती है—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा। इनमें प्रथम तीन सर्व-विदित हैं। तृतीय अथवा संहार की परावस्था ही अनाख्या है। इस स्थिति में सत्ता अव्यक्तरूप में रहती है। यह शक्तिकोटि की है किन्तु इसमें आत्मस्वरूप का प्रकाश नहीं होता। भासावस्था में प्रकाश खुल जाता है। अनाख्या से भासा में जाने के लिए कोई मार्ग नहीं है और आत्मा के द्वारा किसी प्रकार क्रियासाध्य भी नहीं है। भासा के परम अनुग्रह के प्रभाव से अनाख्या दशा से आत्मा का उसमें प्रवेश होता है। भासा अखंड प्रकाशमयी है और अनाख्या परम अव्यक्त।

अनुत्तर अवस्था—पूर्णसत्ता का जो चिद्रूप भान है, वही अनुत्तर है। जगत् में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप जो त्रिपुटी है उसमें ज्ञाता के साथ ज्ञेय का जो संबंध रहता है, उसके मूल में भेद रहता है। इसीलिए ज्ञाता का ज्ञेय-विषयक जो अनुभव होता है, वह 'इदं' रूप में होता है, जैसे 'मैं घट देखता हूँ'—यहाँ 'घट' है 'इदं' और 'मैं' है 'अहं', इन दोनों का संबंध है 'देखता हूँ' अथवा दर्शन। परन्तु इस ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की पृष्ठभूमि में एक परम द्रष्टा है, जो इन तीनों को अभिन्न रूप से ग्रहण करता है और उन्हें अखंड-अद्वय रूप में जानता है। उसका सर्वत्र अहं रूप से ही प्रकाश होता है। वह विश्वातीत होने पर भी विश्वात्मक है। लौकिक ज्ञान में ज्ञाता देहादि द्वारा अविच्छिन्न चैतन्य है। इसीलिए उस ज्ञान में स्थिति के अनुसार इद्रियों तथा मन की भी आवश्यकता होती है। परन्तु लोकोत्तर प्रकाश में जो अनुत्तर स्वरूप स्वत: भान होता है, उसमें विशुद्ध-पूर्ण-अहं का बोध होता है, जिसमें मन, इंद्रिय प्रमेय का संबंध नहीं है। वह एक अखंड अद्वैत ज्ञान है। तंत्र शास्त्र में इस अनुत्तर दशा की 'अ' मातृका से व्याख्या की गयी है।

अप्राकृत स्वभाव—मनुष्य का जन्म तथा देहलाभ दो प्रकार का है—प्राकृत और अप्राकृत। पितामाता से जन्म प्राप्त होकर जिस देह की प्राप्ति होती है वह प्राकृत देह है। प्राकृत देह से लौकिक व्यवहार संपन्न होता है परन्तु अध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करने के लिए एक आध्यात्मिक देह की आवश्यकता होती है। इसी को अप्राकृत देह, दिव्यदेह, ज्ञानदेह प्रभृति

नाम से कहा जाता है। ख्रिष्टीय कैथोलिक संप्रदाय में इसे 'स्पिरिचुअल बॉडी' और भारतीय तांत्रिक मत में 'बैंदव-देह' कहते हैं। इस देह की उत्पत्ति आध्यात्मिक पिता-माता अर्थात् सद्गुरु तथा इष्टदेवी से होती है। दीक्षा-प्राप्ति के साथ ही साथ देहबीज की प्राप्ति होती है। यह बीज क्रमशः देहरूपेण परिणत होता है। उच्च कोटि के साधकों के लिए यह विकास-प्राप्त देह रूप में ही उपलब्ध होता है, केवल बीजमात्र रूप में नहीं।

वैदिक युग में उपनयन के अनंतर इस देह की प्राप्तिरूप द्वितीय जन्म होता था। इसीलिए जातक को द्विज कहा जाता था। इस देह का क्रमविकास भी होता है। इसका पूर्णविकास ही आध्यात्मिक सिद्धि के रूप में प्रकट होता है। स्वरूप का यह आध्यात्मिक परिवर्तन गुरुशक्ति से होता है। इस परिवर्तन के कारण अध्यात्ममार्ग में प्रगति होती है। यह द्वितीय जन्म ही 'रिजेनेरेशन' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति का जितना अंश शोधित होता है वह 'रिजनेरेटेड' है और जो शोधन में शेष रहता है वह 'अनरिजेनेरेटेड' कहा जाता है। जिस क्षण में पहली बार पूर्णता में दिव्यप्रकाश होता है वही सिद्धावस्था है।

अप्राकृत नवीन मदन—यह शब्द स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का वाचक है। मदन कामदेव का नाम है। शिव की तपस्या भंग करने के समय कामदेव पर शिव का कोपानल प्रयुक्त हुआ था जिसके प्रभाव से कामदेव भस्म होकर अनंग-भाव को प्राप्त हुआ था। मदन का यह दाह शिव के तृतीय नेत्र अथवा ज्ञानचक्षु से निःसृत अग्नि से हुआ था। इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानावस्था में लेशमात्र अज्ञान का बीज रहने पर ही काम का उदय संभव है। अज्ञान पशुभाव है। दिव्य ज्ञान से पशुभाव निवृत्त होकर पशुपति या शिवभाव होता है। इसके अभिव्यक्त होने पर काम का नाश होता है। परन्तु जब महाज्ञान के अनंतर प्रेम का उदय होता है, तब शिवरूपी सत्ता ज्ञानातीत परिपूर्णत्व लाभ करती है और स्वयं ही प्रेमभाव की पराकाष्ठा लाभ करके प्राकृत काम के आकर्षण से अतीत हो जाती है। श्री भगवान् का यही परमभाव है जिसे वैष्णवाचार्यों ने स्वयं भगवान् रूप से उल्लेख किया है। इस अवस्था में काम प्रेमरूप में परिणत हो जाता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उसका गर्व खर्व कर देते हैं। श्रीमद्भागवत में इसीलिए उनके इस रूप को 'कंदर्पदर्पहा' नाम से वर्णन किया गया है।

रासलीला के प्रसंग में श्रीकृष्ण के इस कामजयी रूप का वर्णन मिलता है। वस्तुतः यह भी काम ही है किंतु अप्राकृत काम है। इसी कारण श्रीकृष्ण का बीजमंत्र 'काम-बीज' नाम से अभिहित होता है। इस दिव्य काम के समक्ष प्राकृत काम तिरोहितवत् हो जाता है। प्राकृत काम का जो कुछ संपद् है, वह म्लान हो जाता है। प्राकृत काम महाज्ञान के नीचे है, यह दिव्यकाम महाज्ञान से अतीत है। महाज्ञान वह है जिससे प्राकृत-अप्राकृत, अध-ऊर्ध्व प्रभृति भेद मिट जाते हैं और समग्र विश्व अखंड-अद्वय रूप में भान होता है।

आरोहिणी तथा अवरोहिणी धारा—काल प्रवाह के दो क्रम हैं—आरोहण और अवरोहण। जिस क्रम से चलने पर संकोच क्रमशः छूट जाता है, वह आरोहिणी धारा है और जिसका अवलंबन करने से संकोच की क्रमशः वृद्धि होती है वह अवरोहिणी धारा। अवरोह की स्थिति में बंधन उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता जाता है और आरोह में शिथिल। आरोहिणी धारा का अवलंबन करके ही साधक क्रमशः काल का अतिक्रम करते हैं।

आणवोपाय—आगत मत में परमार्थ साधन के तीन प्रकार के उपाय बताये गये

हैं—आणव, शाक्त तथा शांभव। आणवोपाय वह है जब आत्मा में अणु या जीव भाव रहता है। इसमें कर्म ही प्रधान रहता है। यह कर्म अभिमानमूलक होता है। कुंडलिनी जग जाने पर शक्ति का स्फुरण होता है। तब जाग्रत चित् शक्ति ही उपाय रूप हो जाती है। अहंकारमूलक अपना प्रयत्न इस स्थिति में नहीं रहता। जब चित् शक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है तब भी उपाय की आवश्यकता बनी रहती है। इस समय शक्ति की क्रिया अनावश्यक हो जाती है। शुद्धबोध रूप में अपना पूर्णत्व ग्रहण करना पड़ता है। यही शांभवोपाय है। अधिकार के अनुसार उपाय के ये ही तीन भेद हैं। इनमें से एक प्राप्त होने पर परवर्ती उपाय अपने आप आ जाते हैं।

आत्मदर्शन—साधारणतया हम लोग आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार देह, मन, प्राण प्रभृति को लेकर सुख-दुःखानुभव द्वारा करते हैं और समझते हैं कि ये सब मेरे हैं, या हम इनसे अभिन्न हैं। परन्तु यह हमारा भ्रममात्र है। वास्तव में हमारा अपना स्वरूप देह, प्राण, इंद्रिय, बुद्धि, मन आदि सभी से विलक्षण है। यह विशुद्ध चित्स्वरूप द्रष्टारूपी है। इस रूप में जब आत्मा का प्रत्यक्ष बोध होता है, उसी को आत्मदर्शन कहते हैं।

आदित्यावस्था—शाक्तदर्शन के क्रममार्गानुसार विभिन्न प्रकार की स्थितियों का उदय होता है। प्रारंभ में साधारण पशुमात्र की जो स्थिति है उसे यहाँ क्षेत्रज्ञ अवस्था कहा जाता है। इससे आगे रुद्रावस्था है। रुद्राणु भी पशु हैं, परन्तु अधिकारावस्था का उन्मुख भाव प्राप्त है और अंतरंग रूप में अधिकारी पुरुष का सेवाकार्य करता है। अणु होते हुए भी वह बद्ध अणु के अनुरूप नहीं है। इसके बाद अधिकारावस्था में प्रविष्ट होने पर पहली भूमि में आदित्यावस्था का उदय होता है। फिर क्रमिक उत्कर्ष और भी अधिक होने पर आदित्यभाव में भैरवभाव का उदय होता है। आदित्य अधिकारी है, भैरव भी अधिकारी है—किन्तु आदित्य-कोटि से भैरव-कोटि उच्चतर है। भैरवावस्था में प्रमेय तथा प्रमाण के विगलित हो जाने पर प्रमातृभाव में स्थिति होती है। भैरवावस्था में भी पहली स्थिति है काल-भैरव, दूसरी का नाम है महाभैरव। यह अत्यंत उच्चावस्था है। इसके बाद ही परासंविद् के निर्मल उत्कर्ष का उदय होता है। इसी के साथ विशुद्ध जगन्माता का प्रादुर्भाव होता है। परप्रमातृभाव इसी स्थिति में प्रकाशित होता है।

आभास चैतन्य—सच्चे आधार में प्रतिबिंबित चैतन्य आभास चैतन्य नाम से प्रसिद्ध है। यथार्थ चैतन्य निराभास चैतन्य है।

आरोप साधना—यह योगियों में अत्यंत निगूढ़ साधन के रूप में स्वीकृत है। अधिकांश प्रचलित साधनों का अनुष्ठान आत्मदर्शन के ही उद्देश्य से होता है। आत्मदर्शन हो जाने से सिद्धिलाभ हो गया है, यह सोचकर उसके अग्रिमपथ पर कोई अग्रसर नहीं होता। यह आत्मदर्शन, प्राथमिक आत्मदर्शन है, पूर्ण आत्मादर्शन नहीं। प्रकृति से पृथक् आत्मा का दर्शन करना ही प्राथमिक आत्म-दर्शन का उद्देश्य है। इस प्राथमिक दर्शन के न होने तक आरोपसाधन का सूत्रपात ही नहीं होता। आरोप साधन के फलस्वरूप जो पूर्ण आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है—वह है अद्वैत आत्मस्वरूप में अवस्थिति, यह बहुदूरवर्ती आदर्श है। किन्तु प्राथमिक आत्म-दर्शन भी साधन पथ की अतंयत उच्च अवस्था का द्योतक है। आरोप साधन के वैशिष्ट्य का इससे अनुमान किया जा सकता है।

दीक्षा के समय गुरु शिष्य के अंतर में प्रविष्ट होकर अंतर्यामी रूप से शब्द ब्रह्ममय ज्ञान का दान करते हैं। यह शब्दज ज्ञान है जो शिष्य के हृदय में परोक्षरूप से उद्भूत होता है। इसके अतिरिक्त एक विवेकज ज्ञान है, जो शब्दाश्रित नहीं होता, शिष्य के विवेक से अपने आप उद्भूत होता है, प्रातिभज्ञान इसका नामांतर है। वह अनौपदेशिक है। यही प्रत्यक्षज्ञान है। सद्गुरु की विशिष्ट-कृपा के उदय हुए बिना यह आविर्भूत ही नहीं होता। वस्तुतः यही ज्ञान तारक ज्ञान है—इससे अविषय कुछ भी नहीं है। इसके एक ही क्षण में अतीत, अनागत तथा वर्तमान के सभी पदार्थों का सर्वविध ज्ञान विद्यमान रहता है। गुरु के मौखिक उपदेश से इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस महाज्ञान का संचार गुरु अलक्षित रूप से करते हैं। इससे हृदय के मर्म में प्रविष्ट सभी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं—'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः'।

परोक्ष अथवा शब्दज ज्ञान-लाभ के बाद गुरु की मंगलमयी इच्छा की सहायता से भाँति-भाँति की अवस्थाओं को पार करते हुए साधक आगे बढ़ता है। नाना प्रकार के प्रलोभन एवं परीक्षा से उसका चित्त प्रकृत सत्यान्वेषण के मार्ग पर सजग बना रहता है। उसके विश्वास और धैर्य की इसी समय परीक्षा होती है। जिसके चित्त के जिस अंश में दुर्बलता होती है, साधारणतः उसके उस अंश की परीक्षा होती है। यह स्थिति घोर अभावरूप, अधंकारमय और आतंकप्रद होती है। धैर्य, संयम, सहनशीलता तथा प्रबल उत्कंठापूर्वक अवश्यंभावी गुरुकृपा पर अटल श्रद्धा रखना—यही इस समय एकमात्र कर्तव्य है। इसी अवस्था में अतर्कित भाव से सद्गुरु की महाकरुणा आत्मप्रकाश करती है। साधक के तमसाच्छन्न हृदय में शांति तथा आनंदमय चैतन्य की ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है। इसी का नाम प्रत्यक्ष ज्ञानोदय है। ज्ञान में संशय अथवा विकल्प के लिए अवकाश नहीं रहता। शब्दब्रह्म से शब्दातीत ब्रह्म का अधिगम इसी प्रकार होता है। यही विवेकज ज्ञान का उदय है। जो सर्वदा, सर्वत्र समभाव से विद्यमान है, यह उसी का साक्षात्कार है। इसी का नाम ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन है। इसी समय दीक्षा-काल में प्राप्त परोक्ष ज्ञान साक्षात्-अपरोक्ष-ज्ञान के रूप में परिणत होता है। आरोप साधक इसी साक्षिस्वरूप चिन्मय सत्ता को अपनी सरल भाषा में 'वर्तमान' नाम से अभिहित करते हैं। यह वर्तमान ही प्रकृत प्रस्ताव में निराकार तथा साकार उभयसत्ता की एकमात्र समन्वय भूमि है। इस वर्तमान् के आविर्भाव के साथ ही ज्ञान का कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि यह ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय है और इसे अभिव्यक्त करना ही ज्ञान का उद्देश्य है। यह अवस्था आत्मदर्शन प्राप्त होने के बावजूद पूर्ण आत्मदर्शन की नहीं है और न इस अवस्था में स्थित होना अखंड आत्मरूप में स्थित होना ही है।

इसके बाद साधक के जीवन में प्रेम की प्रक्रिया का आरंभ होता है। वास्तव में ज्ञान का कार्य पूरा हुए बिना रससाधना का सूत्रपात नहीं हो पाता। रससाधना के लिए भाव का विकास आवश्यक है एवं भाव के विकास के लिए उससे पहले प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय आवश्यक है। किन्तु केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होने से ही भाव का उदय नहीं हो पाता। उसके लिए आनुषंगिक साधना आवश्यक होती है। आरोपसाधना का अनुष्ठान आत्मज्ञान-लाभ के बाद ही होता है। इस आरोप साधना के फलस्वरूप ही पूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिति,

आत्माराम-अवस्था-लाभ, नित्यलीला स्वादनादि से मनुष्य के सभी परात्पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

साक्षात् दर्शन के बाद क्रिया का प्रयोजन नहीं रह जाता। आत्मभाव में निष्ठा उत्पन्न होने से साधक की संपूर्ण चेष्टा अर्चना में परिणत हो जाती है तथा संपूर्ण वाक्य मंत्रजाप जैसा हो जाता है। आत्मदर्शन के बाद आराध्य के दृष्टिगोचर, नित्यवर्तमान आत्मस्वरूप का भजन आवश्यक होता है। यह कर्म के अंगीभूत उपासनारूप भजन नहीं, वरन् नित्य भजन है। इसमें दिशा, देश तथा काल का कोई भेद नहीं होता। यह चिन्मय, सर्वरूप और सर्वाकार है। साधक लोग निष्क्रिय भजन कहकर इसकी व्याख्या करते हैं। इसके सर्वाकार होते हुए भी, साधक के स्वयं मनुष्यरूपी होने के कारण अपने इष्ट को प्राप्त कर लेने पर, उसके भजन की अनुकूलता उत्पन्न होती है। इसीलिए साधक की कल्याण-कामना से ज्ञेय या इष्ट मनुष्याकार होकर प्रकाशित होते हैं। मनुष्य आकार का वैशिष्ट्य है कि साधक के स्वयं मनुष्य होने के कारण यह इष्टाकार प्रकृत प्रस्ताव से उसके अपने आकार अथवा अपने अभिन्न आकार में प्रतिभासमान होता है। तब भक्त साधक को अपने देह की जो सेवा या परिचर्या करनी होती है वह उसके इष्ट की परिचर्या के रूप में परिणत हो जाती है। भक्त का रूप तथा उसके भजनीय का रूप—इस स्थिति में अपृथक्-भूत हो जाता है। इस समय दोनों समसूत्र हो जाते हैं। भक्त से संग योग हो जाने से इष्ट अनुराग से अनुष्ठित उसकी सेवा ग्रहण करते हैं। परब्रह्म उस समय मनुष्याकार या नररूपी हो जाते हैं—भक्त मनुष्य या भगवान् मनुष्य—दोनों में कोई व्यवधान नहीं रहता। इस स्थिति में भक्त इच्छामय, स्वतंत्र तथा नित्य भगवत्स्वरूप होने पर उन्हीं के भाव से भावित होता जाता है। उसमें अतुलनीय शांति का विकास होता है। वह भगवान् जैसा ही सर्वज्ञ और सर्वकर्तृत्व-संपन्न हुआ अनुभव करता है। किन्तु इस प्रकार भक्त भगवान् की समता प्राप्त कर लेने पर भी विशुद्ध अभिमान से अपने को दास ही समझता है, प्रभु नहीं। भक्त व्यावहारिक स्तर पर आरोपित भेद या आहार्य भेद के सहारे स्वामिसेवक-भाव को अक्षुण्य रखता है। वह जानता है कि यद्यपि दोनों की सत्ता एक ही है, तथापि अपने को भिन्न रखने से प्रतिक्षण का उन्मेष और जिसके दर्शन से नित्यनवीन सुख का स्फुरण होता है उसी का साक्षात्कार चाहता है। उस स्वरूप को सनातन जानते हुए भी वह प्रतिक्षण नयी-नयी आकांक्षा करता है। तब दासभाव, दासीभाव में परिणत हो जाता है। वह देखता है कि एक अद्वैत पुरुष है, शेष सब प्रकृति दासी है। जीव और अजीव—सभी प्रकृति है। वह देखता है कि एक अखंड अद्वैत माँ या महाशक्ति है। शेष सब उसकी संतानें हैं। वह अखंड सत्ता एक होकर के भी अनंत भावों से स्वयं अपने आप से खेल रही है। इसी एक में उसके सर्वभेदों का समन्वय हो जाता है। यही आरोप-साधना की चरमसिद्धि है।

आश्रय परावृत्ति—यह विज्ञानवादी बौद्धों द्वारा वर्णित एक स्थिति की संज्ञा है । विज्ञानवाद में ग्राह्य तथा ग्राहक—इन दोनों ग्राह से विज्ञान को मुक्त करना पड़ता है, पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने से ग्राहक भाव से मुक्ति होती है, और धर्म-नैरात्म्य के द्वारा ग्राह्य भाव से। इसके मत से विज्ञान सत्य है, परन्तु कल्पित विज्ञाता सत्य नहीं है, अविद्यामूलक है। इसी प्रकार कल्पित विज्ञेय भी अविद्यामूलक है। अविद्यानिवृत्ति होने पर विज्ञान में से विज्ञातृ

भाव तथा विज्ञेयभाव— दोनों निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु परमा स्थिति में विज्ञान का भी रूपांतरण हो जाता है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के लिए यह आवश्यक है। यह एक प्रकार से विपरीत गति का व्यापार है। तांत्रिक योगमार्ग में जैसे ऊर्ध्वरेता की अवस्था होती है, यह भी उसी प्रकार की एक गुप्त क्रिया-विशेष है। इसमें विज्ञान का रूपांतर सिद्ध हो जाता है। आचार्य असंग के समय से ही इसकी प्रसिद्धि बढ़ गयी थी।

उद्ग्रह निमित्त और प्रतिभाग निमित्त—ये दोनों बौद्धयोग क्रिया के पारिभाषिक शब्द हैं। बौद्धों का साधन में क्रम यह है—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रचेष्टा के द्वारा नैतिक जीवन का उत्कर्ष साधन है। शीलसम्पन्न होकर समाधि के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इसीलिए कल्याण मित्र अर्थात् गुरु के उपदेशानुसार अथवा अपने विचार के अनुरोध से चित्त को एकाग्र करने के लिए साधन करना पड़ता है। इसके विविध उपाय हैं जिसमें दृष्टि को एकाग्र करना मुख्य है। दृष्टि स्थिर रखने के लिए पहले एक स्थूल आलंबन लिया जाता है। इसका नाम है निमित्त—चाहे कोई वस्तु हो या बुद्ध अथवा किसी अर्हत् का चित्र। साधक को इसी आलंबन या निमित्त के सम्मुख बैठकर स्थिर दृष्टि से उसे देखना पड़ता है। देखने के समय चरण से मस्तक की ओर क्रमशः दृष्टि को तत्-तद् अंश की ओर डालते हुए उठाना पड़ता है फिर मस्तक से नीचे की ओर क्रमशः उतारना पड़ता है। पादादि केशांत अथवा केशादि पादांत—यही नियम है । आँख से अर्थात् इंद्रिय के द्वारा उस आलंबन अथवा निमित्त को पुनः पुनः देखना पड़ता है। इस निमित्त का नाम है परिग्रह निमित्त। यह प्राथमिक अभ्यास के लिए आवश्यक है। पहले अधऊर्ध्व पूर्णरूप से देखकर मन में उस रूप की धारणा करनी पड़ती है। ऐसा करते-करते वह आलंबन अर्थात् निमित्त चित्त में बैठ जाता है। तब आँख खोल करके देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उस आलंबन की प्रतिच्छाया भीतर ही देख पड़ती है। इस अवस्था में आलंबन के सामने बैठकर ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती । किसी भी एकान्त स्थान में बैठकर आँखें बंद करके मन में पूर्वोक्त आलंबन को लेकर चिंतन करना पड़ता है। यह जो मनोमय रूप है; इसी का नाम है उद्ग्रह निमित्त। यह स्थिति होने पर बाहर का निमित्त अनावश्यक हो जाता है, मनोमय उद्ग्रह निमित्त से ही काम चल जाता है। दीर्घकाल तक इस प्रकार अभ्यास करते-करते, उसी मनोमय अर्थात् उद्ग्रह निमित्त में अकस्मात् ज्योति का स्फुरण अनुभव में आता है। यह एक विलक्षण अवस्था का उदय है, जिसका नाम है प्रतिभाग निमित्त। इस ज्योति के उदय होने पर साधक एक विराट् परिवर्तन का संमुखीन हो जाता है। यह अवस्था कामधातु से रूपधातु में जाने के लिए मध्यवर्ती स्थिति है। उस ज्योति का क्रमिक उत्कर्ष होने पर चित्त के पंच नीवरण अथवा आवरण नष्ट हो जाते हैं और चित्त क्रमशः पूर्णतया आलोकित होकर एकाग्रभूमि की ओर अग्रसर होता है।

इस प्रतिभाग निमित्त के अभ्यास के फल-स्वरूप एकाग्रभूमि में पहुँचने पर रूपधातु में अर्थात् ज्योतिर्मय राज्य में प्रवेश हो जाता है। इस भूमि में चित्त नित्य ही एकाग्र रहता है। उसे एकाग्र करने के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल आलंबन बदल कर स्तरभेद करना पड़ता है।

उन्मादिनी भक्ति—जिस भक्ति के प्रभाव से चित्त में नाना प्रकार का विकार उत्पन्न

होता है, उसका नाम है उन्मादिनी भक्ति। इसके विपरीत है शुद्धाभक्ति जिसकी प्रतिष्ठा होने पर विकार उत्पन्न ही नहीं होते।

कर्मदेवता—देवता मात्र स्वर्ग के निवासी कहे जाते हैं किन्तु उनके प्रकार में भेद है। कोई देवता स्वभावतया प्रारम्भकाल से ही देवतारूप में हैं और कोई कर्म के प्रभाव से दिव्यभाव प्राप्त होकर देवता बने हैं। इनमें से प्रथम को स्वाभाविक या आजान और द्वितीय को कर्मदेवता की संज्ञा दी गयी है। स्वाभाविक देवता कल्प के आदि में देवतारूप लेकर ही प्रकट हुए थे। परन्तु कर्मदेवता मर्त्यक ़ा में सुकृत के प्रभाव से मृत्यु के अनंतर देवलोक में देवदेह प्राप्त करते हैं। जैसे पक्षी जन्म के साथ ही उड़ना जानते हैं परन्तु मनुष्य को आकाश मार्ग से चलने के लिए खेचरी विद्या प्राप्त करनी पड़ती है, उपर्युक्त दोनों प्रकार की देवयोनियों में वैसा ही भेद है।

कारण सलिल—संपूर्ण विश्व जब स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारणावस्था में लीन हो जाता है, तब एक प्रकार की तरलावस्था का आविर्भाव होता है। इसी का नाम है कारण सलिल। इसके समष्टि को कारण समुद्र कहा जाता है और इसके प्रवाह को कालिंदी अथवा कालनदी। पौराणिक दृष्टि में जो यमुना है वह इसी का स्वरूप है। इसको विरजा भी कहते हैं। इस कारण जलरूपा विरजा से बाहर की ओर विश्व ब्रह्माण्ड है और भीतर की ओर भगवद्धाम। श्रुति के अनुसार इसके एक ओर एकपाद विभूति है और दूसरी ओर त्रिपाद विभूति।

कार्यदेह—अन्नमयकोष से निर्मित स्थूल शरीर तथा विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोष से निर्मित सूक्ष्म शरीर कार्यदेह है। इसके अतिरिक्त कारणदेह भी है, जो आनंदमय कोष से निर्मित है।

काल और क्षण—विश्व जगत् में जहाँ-जहाँ परिणाम देख पड़ता है उसका हेतु है उसमें अंतर्निहित कालरूपा शक्ति। महाभारत में लिखा है 'कालः पचति भूतानि' अर्थात् काल से भूतों का पाक होता है, परिणतिरूप अवस्थांतर होता है। उसमें क्रम है कोई पूर्ववर्ती, कोई परवर्ती। जीव की दृष्टि इस क्रम का अनुसरण करती है, परन्तु अपरिछिन्न शुद्ध दृष्टि में क्रम न रहने के कारण पूर्वापर भास नहीं होता। यही क्षण है। एक ही क्षण स्पंदन के प्रभाव से बहुक्षण बनता है, जिसका नाम है काल। उस एक ही क्षण में समग्र विश्वजगत् का परिणाम अनुभूत होता है। श्रेष्ठ योगी को छोड़कर क्षण का ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। क्षण का ज्ञान अखंड है।

काल राज्य—समग्र विश्व, जो काल के अधीन होकर परिणाम अनुभव कर रहा है, कालराज्य के अन्तर्गत है। इसमें कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं, प्रति ब्रह्मांड में स्वर्ग, नरकादि लोकलोकांतर हैं। ब्रह्मांडों से अतीत प्रकृति-अंड तथा मायांड भी है। यह सब कालराज्य के भीतर है, जहाँ निरंतर परिणाम हो रहा है। माया के अतीत शाक्तांड में भी काल है परन्तु वह महाकाल के रूप में है। इस स्थान में मायकि राज्य की भाँति क्षणिक परिणाम नहीं होता। इस कालराज्य से बाहर ले जाना ही सद्गुरु का लक्ष्य है। अखंड महायोग सिद्ध होने पर कालराज्य गुरुराज्य में परिणत हो जायगा, ऐसा विचार है। कालातीत नित्यधाम जैसा काल के परिणामों से रहित है। उस समय उसी प्रकार की स्थिति होगी।

क्रिया-योग—योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि की परिभाषा के अनुसार व्युत्थित अवस्था में जिस योग का अभ्यास होता है, वह क्रिया योग है। यह तीन प्रकार का है—तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। तपस्या से स्थूल कर्म का संबंध है, स्वाध्याय से चाहे वह शास्त्रपाठ रूप हो या मंत्रजपरूप, ज्ञान का संबंध है और ईश्वर-प्रणिधान से भक्ति का। ईश्वर प्रणिधान भी दो प्रकार का होता है—कर्म करके जगत्गुरु को उसका फल अर्पित करना और जगत्गुरु को कर्म ही अर्पित कर देना। इनमें से दूसरा अत्यंत उच्चकोटि का ईश्वर प्रणिधान है। क्रिया योग का अभ्यास करने से चित्त अंतर्मुख हो जाता है। तब समाधियोग का अभ्यास आवश्यक होता है। समाधियोग से प्रसंख्यान रूप शुद्धज्ञान का उदय होता है।

कुंज लीला और निकुंज लीला—भगवल्लीला अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का पर्यवसान कुंज तथा निकुंज लीला में होता है। कुंज लीला में सखियों के साथ संबंध रहता है किन्तु निकुंज लीला में सखियों के लिये कोई स्थान नहीं है। सखीमात्र श्रीराधा रूपी महाभाव का कायव्यूह है। निकुंज लीला में प्रवेश के पहले ही ये सब कायव्यूह मूलकाया में अर्थात् श्री राधा के अंग में लीन हो जाते हैं। तब श्रीराधा पुष्ट एवं अंतर्मुखी होकर श्रीकृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण करती हैं। इस लीला का कोई द्रष्टा नहीं है। यह अत्यंत निगूढ़ है। इस निकुंज लीला के अंत में श्रीराधा श्रीकृष्ण-स्वरूप में अंतर्लीन हो जाती हैं। रसराज में महाभाव मिल जाता है। तब श्रीकृष्ण भी अखंड रसरूपेण प्रकाशमान होते हैं। जब तक कुंजभंग नहीं होता तब तक यह स्थिति रहती है।

कृशावस्था—महाशक्ति परासंविद् की परमास्थिति की दो दिशाएँ हैं—कालचक्र में जैसे कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष का भेद है और उसमें कलाओं का क्रमिक क्षय कृष्ण पक्ष में होकर अमावस्या में लौकिक दृष्टि से निष्कलावस्था का उदय होता है, इसी प्रकार शुक्लपक्ष में कलाओं का विकास होकर, लौकिक दृष्टि से पूर्णिमा में पूर्णावस्था का उदय होता है। ठीक ऐसे ही परासंविद् की भी परस्पर विरुद्ध दो स्थितियाँ हैं—कृशा और पूर्णा। कृशा में समस्त प्रपंच का लय हो जाता है, केवल षोड़शी कला ही कृशारूपेण स्थित रहती है। इसी प्रकार पक्षांतर में जब समग्र कलाओं का विकास होता है तब परासंविद् पूर्णकला समन्वित होकर विराजमान रहती है। इनमें एक है रिक्ता और दूसरी पूर्णा। ये दोनों एक ही सत्ता के परस्पर विरुद्ध पृष्ठद्वय हैं। परम महाप्रलयावस्था में कृशा स्थिति है और महासृष्टि की अवस्था में पूर्णा स्थिति है।

क्लिष्ट अज्ञान और अक्लिष्ट अज्ञान—अज्ञान दो प्रकार का है—क्लिष्ट अज्ञान और अक्लिष्ट अज्ञान। मूल में यदि अविद्यादि क्लेश रहे तो उसका नाम क्लिष्ट अज्ञान है, अन्यथा होने पर अक्लिष्ट अज्ञान। विज्ञानमात्र को सत्य मानने वाले विज्ञानवादी संप्रदाय के अनुसार विज्ञान की विशुद्धि के लिए ग्राहक तथा ग्राह्य—इन दोनों का हटाना आवश्यक है, कारण कि विज्ञाता और विज्ञेय दोनों से विमुक्त न होने पर विज्ञान विशुद्ध नहीं होता; विज्ञाता है तथाकथित आत्मा। वस्तुतः यह अविद्याकल्पित है। यह आत्मभाव या अहंभाव निवृत्त हो जाने पर पुद्‌गल नैरात्म्य हो जाता है। यह अज्ञाननिवृत्ति की अवस्था अवश्य है परन्तु निवृत्त होता है क्लिष्ट अज्ञान ही। अक्लिष्ट अज्ञान तब भी रह जाता है। इसको हीनयानी अज्ञान रूप से नहीं मानते थे, परन्तु 'इदंरूपेण' भासमान जगत् भी अज्ञान का ही कार्य है। पुद्‌गल

नैरात्म्य होने पर क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति तो होती है, परन्तु जब तक धर्मनैरात्म्य न हो तब तक अक्लिष्ट अज्ञान तो रह ही जाता है। 'इदंरूपेण' भासमान जगत् भी अज्ञान का ही कार्य है। परन्तु यह अज्ञान अक्लिष्ट है, इतना ही भेद है। जब क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों प्रकार का अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब विज्ञान की विशुद्धि होती है—यह योगाचार्यों का मत है।

केवली द्रष्टा—आत्मा या पुरुष प्रकृति से विविक्त अथवा पृथक्कृत तथा देहादि से मुक्त होकर कैवल्य में स्थित होता है। उस समय उसका स्वरूप है विशुद्ध द्रष्टा, यही केवली द्रष्टा है अर्थात् निर्गुण स्थिति में आत्मा का जो द्रष्टाभाव है उसे ही केवली-द्रष्टा कहा जाता है।

चित्कला—किसी सत्ता के चरम अंश को कला कहते हैं। कलाएँ विभिन्न प्रकार की होने पर भी स्थूल दृष्टि से दो प्रकार की हैं—चित् और अचित्। विश्वसृष्टि में चित्कला का भी स्थान है, अचित्-कला का भी। कलाओं से तत्वरचना होती है और तत्वों से भुवानादि की । पूर्ण अखंडसत्ता निष्कल है। शेष सब कुछ कलाओं से रचित है, चाहे वह कला चित् हो या अचित्। एक दृष्टि से आगम के मतानुसार शिव तथा शक्ति चिदात्मक होने के कारण शक्ति की शांतिकला चित्कला है और शिव की शांतिअतीत कला भी चित्कला है। शिव का स्वरूप भी उस कला से प्रकट होता है।

छंद जननी—गायत्री ब्रह्मविद्या का नामांतर है। वह वेदमाता है। छंद वेद का पर्याय है। इसीलिए गायत्री को छंद अथवा वेद का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है। गायत्री के आवाहनमंत्र में इसका स्पष्ट निर्देश मिल जाता है :

ॐ आयाहि वरदे देवि! त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रि! छंदसां मातः ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते॥

जाति—जाति का अर्थ है जन्म अथवा स्थूल शरीर से आत्मा का संबंध स्थापन।

त्रिवेदी दिव्य चक्षु—अप्राकृत देह में दो नेत्रों के अतिरिक्त एक तीसरे अलौकिक ज्ञान नेत्र का उदय होता है। यही त्रिनेत्र है। इस त्रिनेत्र को ही त्रिवेद समझना चाहिए, जिसके द्वारा पूर्ण ज्ञान का स्फुरण होता है। नेत्रद्वय के द्वारा विश्व के अनंत वैचित्र्य का भान होता है, किन्तु तृतीय नेत्र से अखंड-अनंत-अद्वयत्त्व का दर्शन होता है। यह दोनों प्रकार का भान युगपत् होता है, यही वैशिष्ट्य है।

ज्ञानदेह—ज्ञानदेह उस आकार का नाम है जो ज्ञानात्मक है और जिससे ज्ञान का स्फुरण निरंतर होता रहता है। यहाँ ज्ञान शब्द से सामान्य ज्ञान समझना चाहिए। जब विशेष ज्ञान की अपेक्षा होती है, तब उसका नाम होता है विज्ञान। ज्ञान होने पर विज्ञान नहीं भी हो सकता है। ज्ञान स्वरूप में क्रिया नहीं रहती। क्रिया में ज्ञान नहीं रहता, परन्तु विज्ञान में ज्ञान और क्रिया दोनों का संबंध रहता है।

देवयानगति—मनुष्य की मृत्यु के अनंतर दो प्रकार की स्थिति होती है—गतिरूप स्थिति तथा स्थितिरूप स्थिति। जिसको परिपूर्ण ज्ञान का लाभ हो गया है उसकी किसी प्रकार की गति नहीं होती है,उसका उत्क्रमण भी नहीं होता। वह जहाँ है वहीं पूर्णत्व लाभ करता है, कहीं जाना नहीं पड़ता। परन्तु जिसका ज्ञान अपूर्ण है अर्थात् कर्म से मिश्रित है,

उसकी ऊर्ध्वगति होती है। यह ज्ञान और कर्म के मध्य की अवस्था है। कर्म से ज्ञान का प्राधान्य रहने पर या ज्ञान से कर्म का प्राधान्य रहने पर—इन दोनों अवस्थाओं में ऊर्ध्वगति होती है। इसी का नाम देवयान गति है।

देह में नवद्वार हैं। इन नवद्वारों से साधारण मनुष्यों की मृत्युकाल में बहिर्गति होती है। परन्तु यह देवयान गति नहीं है। देवयान गति होती है ब्रह्मरंध्र से, जिसका नाम दशमद्वार है। इसे भेदकर सूर्यमंडल से होते हुए प्राण ब्रह्मलोक में प्रवेश करता है। इसका दूसरा नाम शुक्ल-गति है। कर्म और ज्ञान दोनों में से कर्म का आधिक्य रहने पर बीच में भिन्न-भिन्न विश्राम-स्थलों से होते हुए जाना पड़ता है, किन्तु ज्ञान का प्राधान्य रहने पर सीधे सर्वलोक-भेद हो जाता है। लक्ष्य दोनों का ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। ब्रह्मलोक में जाकर ये जब तक महाप्रलय नहीं होती जीवन्मुक्तावस्था में रहते हैं। यही साधारण नियम है। किसी-किसी की तीव्र संवेग रहने के कारण महाप्रलय के पहले भी परब्रह्म में गति हो जाती है।

देवयान गति से भिन्न एक दूसरी गति है। पितृयान गति। यह कृष्ण-मार्ग अज्ञानियों के लिए है। यह गति चंद्रलोक की ओर है। देवयान गति सरल गति है, पितृयान गति वक्रगति है। देवयान गति से पुनरावृत्ति नहीं होती, पितृयान से होती है। पितृयान गति से निकल कर जीव को स्वर्ग, नरक अथवा लोकांतर प्राप्त होकर कर्म-जन्म भोग समाप्त करके फिर मनुष्य-देह में आना पड़ता है। देवयान गति से निकल कर फिर जीव को मनुष्य-देह में आना नहीं पड़ता। लेशमात्र ज्ञान रहने पर भी निम्नगति नहीं होती—यही शास्त्रों का मत है :

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'

नाद—शब्द दो प्रकार का है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक शब्द अ, आ, क, ख इत्यादि हैं, किन्तु ध्वन्यात्मक शब्द नादरूप है। वाह्यवायु के आघात से कंठादि उच्चारण स्थान आहत होने पर स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न वर्ण उच्चरित होते हैं, ये वर्णात्मक हैं। नादात्मक शब्द तरंगहीन है। ब्रह्मवायु के स्पर्श से तरंग उत्पन्न होती है, परन्तु नाद निस्तरंग स्रोत विशेष हैं। तरंग के साथ विकल्प का संबंध है। जब विकल्प नहीं रहता, तब विकल्परूपी वर्णात्मक शब्द भी नहीं रहता। केवल अखंडनादस्रोत चलता रहता है। उसी से चित्तशुद्धि होती है और चिदाकाश का आविर्भाव होता है। लययोग में नाद का अत्यंत उच्चस्थान है, परन्तु अंत में नाद भी नहीं रहता।

नित्यसिद्ध—सिद्ध तीन प्रकार के होते हैं। जो साधक होकर सिद्ध होते हैं वे 'साधन सिद्ध' हैं। जो भगवत्कृपा से सिद्धि प्राप्त करते हैं वे 'कृपासिद्ध' हैं। जो अनादिकाल से ही सिद्ध हैं, कभी साधक रहे ही नहीं, वे नित्यसिद्ध हैं। नित्यसिद्ध तथा नित्यमुक्त—दोनों ही कालातीत हैं।

निवृत्तिधारा—स्रोतस्विनी नदी की गति जैसे समुद्र के अभिमुख होती है उसी प्रकार मन का प्रवाह भी विषय के अभिमुख होता है। परन्तु श्रेष्ठ योगी मन की अंतर्मुख गति से चलते हैं—बहिर्मुख गति से नहीं। योगी संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि चित्तनदी उभय दिग्-वाहिनी है—कल्याण तथा संसार दोनों की ओर। इसी प्रकार शब्द के भी दो प्रवाह हैं—एक बाह्य प्रवाह जिससे विषय का ज्ञान होता है और दूसरा अंत:प्रवाह—जिससे अंतर्जगत् प्रकाशित होता है।

परप्रमातृभाव—जगत् में सभी पदार्थ त्रिपुटी के अंतर्गत हैं। उससे चिदंश प्रमाता है, चित्तांश सूक्ष्म प्रमेय है तथा भौतिक अंश स्थूल प्रमेय है। प्रमाता—ज्ञाता, भोक्ता, द्रष्टा सब कुछ है और प्रमेय—ज्ञेय, भोग्य, दृश्य सब कुछ है। दोनों का संबंधसूत्र प्रमाण है। इन तीनों का परस्पर संबंध ले करके जगत् है। परन्तु इनसे अतीत परप्रमाता है, जहाँ प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय में त्रिविध विभाग नहीं है। यह एक प्रकार से देखा जाए तो तीनों का प्रमाता है। यह स्वयं प्रकाश है। इसमें प्रमिति और प्रमेय अलग कोई वस्तु है ही नहीं। यही पूर्ण अहंरूप परमपद है।

परामुक्ति—जीवान्मुक्ति के पश्चात् शरीर छूटने पर प्राप्त होने वाली यह एक उच्चतर स्तर की मुक्ति है, इसे आत्यंतिक-मुक्ति भी कहते हैं। जिसे प्राप्त कर पुनरागमन नहीं होता।

पारमिता तथा प्रज्ञापारमिता—महायान बौद्धधर्म में बोधिसत्व को जिन धर्मों का प्रकाश करना पड़ता था, उनमें से प्रत्येक धर्म का पूर्णत्व लाभ करना आवश्यक था, चाहे उसमें कितने ही जन्म क्यों न बीत जाएँ। यही पारमिता मार्ग है। विभिन्न धर्मों में पूर्णत्व लाभ करने के अनंतर अंत में प्रज्ञा का भी पूर्णत्व प्राप्त करना पड़ता था। प्रज्ञा की पूर्णावस्था को ही प्रज्ञापारमिता कहते हैं।

पुद्गल नैरात्म्य—यह श्रावकादि प्राचीन हीनयानी बौद्धों का एक साधनविशेष है। समग्र ज्ञान और कर्म के करनेवाले नित्य सिद्ध आत्मा का अस्वीकार—यही पुद्गल नैरात्म्य है। पुद्गल का अर्थ है जीवात्मा। साधारण लोग अहंकार को ही ज्ञान और क्रिया का आश्रय समझते हैं। किन्तु वास्तव में अहं का यह स्वरूप है ही नहीं, इस ज्ञान का नाम है पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान।

पुरुषकार—साधारण भाषा में पुरुष में जो कर्तृत्वाभिमान रहता है, यही उसका पुरुषकार है। सत्कर्म से यह अहंकार छूट जाता है।

प्रबोधन व्यापार— प्रबोधन या जागना विकास में होता है, गुप्तरूपेण और क्रम से। किन्तु प्रकाश होता है एक क्षण में और बिना क्रम के। प्रबोधन से क्रमशः विकास का प्रारंभ होता है, परन्तु बाहर से इसका पता नहीं चलता। विकास के पूर्ण होने पर वह बाहर प्रस्फुटित होता है। इसी का नाम प्रकाश है। यह प्रकाश आकस्मिक तथा क्षणमय होने पर भी बहुत समय की अपेक्षा करता है, ठीक वैसे ही जैसे गर्भाधान के बाद संतान मातृगर्भ में क्रमशः पुष्ट होने लगता है और समय पूरा होने पर भूमिष्ठ होते ही उसका प्रकाश होता है। तात्पर्य यह कि विकास होने में दीर्घ समय लगता है, तदनंतर प्रकाश क्षण भर में हो जाता है। इस प्रक्रिया के मूल में प्रबोधन-व्यापार रहते हैं।

प्रसंख्यान योग—यह विवेकख्याति की पूर्णतम स्थिति की अवस्था है।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—श्रीमद्भागवत में 'ब्रह्मेति, परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। विशिष्ट कोटि के वैष्णव साधकों ने इसका विशद विवेचन किया है किन्तु उसकी उपयोगिता अंतर्मुख गुह्यतत्त्व का साधकों के लिए ही है, सामान्य पाठकों के लिए नहीं। गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में, विशेष करके रूपगोस्वामी और रूपगोस्वामी ने भी इन शब्दों की व्यापकता पर अपना मत प्रकट किया है, परन्तु

जिस गुप्तधारा के अनुसार प्राचीनकाल में इन पर विमर्शन हुआ है, वह सर्वविदित नहीं है। इस हेतु उसका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित पंक्तियों में दिया जाता है।

एक ही अद्वयतत्त्व अनुभव के भेद से—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामों से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व महाज्ञान स्वरूप है, सच्चिदानंद स्वरूप है, इसमें संदेह नहीं। ज्ञान की दृष्टि से उसका नाम है ब्रह्म। उसमें अनंत शक्तियाँ हैं, परन्तु सब निष्क्रिय हैं। योग की दृष्टि से उसका नाम है परमात्मा। यह विश्व का अधिष्ठाता है, विश्व का नियामक है और जगत् का परिपालक है। जीवात्मा उसी का अंश है और भक्ति की दृष्टि से उसका नाम है भगवान्। उसमें अनंत शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति है, परमात्मा में इनकी आंशिक अभिव्यक्ति है और ब्रह्म में इनकी बिल्कुल अभिव्यक्ति नहीं है।

ब्रह्म ज्ञानगम्य है। परमात्मा योगगम्य है और भगवान् भक्तिगम्य है। ब्रह्म निराकार है, परमात्मा चिन्मय आकार है और बहिर्मुख दृष्टि से साकार कहा जाता है। चित्त अंतर्मुख होने पर समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार होता है। भगवान् साकार है, मात्र भक्तिगम्य है एवं षडिंद्रिय-वेद्य है। भक्त का स्वरूप भी उसके अनुरूप है। दुग्ध जैसे एक होने पर भी चक्षुरिंद्रिय के निकट श्वेत और रसनेंद्रिय के समीप रसमय प्रतीत होता है, उसी प्रकार अखंड-परम सत्ता एक होने पर भी ज्ञान की दृष्टि से निर्गुण, निष्कल, निराकार एवं परम अद्वय स्वरूप है। योग की दृष्टि से उसी अद्वय स्वरूप में योगावस्था का प्रादुर्भाव दीख पड़ता है। वह योग परमात्मा से जीवात्मा का है। उसमें अनंत शक्तियों में से कुछ की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान और ऐश्वर्य उनमें प्रधान हैं।

भगवदवस्था में वही वस्तु साकार है। भक्त भी साकार है, भगवान् भी साकार है। भगवद्वस्तु चिन्मय संस्कार-संपन्न षडिंद्रिय गोचर है। पूर्णत्वलाभ करने के लिए तीनों दृष्टियों से परमतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए। अंत में समन्वय दृष्टि के द्वारा विभिन्न भावों का समाहार किया जाता है। भगवान् अवस्था में दो स्थितियाँ हैं—एक ऐश्वर्यप्रधान, दूसरी माधुर्यप्रधान। द्वितीय का नाम स्वयं भगवान् है। ऐश्वर्यप्रधान स्थिति में उनकी प्राप्ति का उपाय भक्ति है। ज्ञान नहीं, कर्म भी नहीं। माधुर्यप्रधान स्थिति में उनकी प्राप्ति का उपाय प्रेम है जिसमें ऐश्वर्य का प्राधान्य नहीं रहता। ऐश्वर्य लीला के साथ वैकुंठ का संबंध है, माधुर्य लीला के साथ गोलोक का। इस गोलोक में ही नित्य वृंदावन की अभिव्यक्ति होती है।

भावदेह, प्रेमदेह तथा रसदेह—स्वभावात्मक देह का नाम है भावदेह। इस स्वभाव की प्राप्ति परभाव-निवृत्ति पर होती है। परभाव है माया अथवा अविद्या। सद्गुरु-प्रदत्त मंत्रशक्ति के प्रभाव से सुदीर्घकाल साधन के अनंतर ज्ञान का उदय होता है। उस समय परभाव निवृत्त होकर स्व-भाव का उदय होता है। प्रत्येक मनुष्य का अपना जो अलग-स्व-भाव है, इस समय उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह भावरूप में आत्मप्रकाश करता है। प्रारब्धकर्म से उत्पन्न मनुष्य का मायिकदेह, अभावदेह है। यह भावदेह का आविर्भाव होने पर भी रहता है। कारण कि इसके साथ प्रारब्धकर्म का संबंध है। इस समय साधक का अभिमान, युगपत् दोनों में, अर्थात् मायिक देह में और मायातीत स्व-भाव रूप भावदेह में जो माया तथा अविद्या निवृत्त होने के अनंतर अभिव्यक्त हुआ है, रहता है। भावदेह में आश्रय तथा विषय

आलंबन की दो कोटियों का प्रकाश होता है। जिस स्वरूप में वह भाव आश्रित है उसका नाम है आश्रयालंबन और जो स्वरूप उस भाव का विषय है वह है विषयालंबन।

दृष्टांत रूप में मान लीजिए कि एक वृद्धशरीर-संपन्न साधक है। यह वृद्धशरीर उसका मायिक देह है। परन्तु जब उसमें भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है तब उसका भावानुरूप आकार भी अभिव्यक्त होता है। यदि उस वृद्ध में मातृभाव की अभिव्यंजना हुई तब उसी भाव के अनुरूप उसका भावदेह शिशु या बालवत् होगा। उसी देह में उसका अहंताभिमान होता है और जब उस अभिमान में उसका आत्मस्फुरण होता है तब उसके सामने विषयरूपेण मातृभाव भी अभिव्यक्तयुन्मुख हो जाता है। वृद्ध का मायिक शरीर जराजीर्ण है परन्तु भावदेह में जिस शरीर का अभिमान होता है, वह बालशरीर है। दोनों युगपद् विद्यमान रहते हैं। भावदेह में जब अभिमान क्रिया करता है तब तक प्राकृत मायिक देह में अभिमान नहीं रहता, केवल आभास रहता है।

भावदेह भावरूप है, यह भौतिक स्थूल देह नहीं है, प्राकृत सूक्ष्मदेह भी नहीं है और प्राकृत कारण देह भी नहीं है। यह अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय देह है। इस देह में दो कोटियाँ होती हैं। एक कोटि में भावदेह-संपन्न बालक और दूसरी कोटि में भाव का विषयरूप मातृस्वरूप। इन दोनों में परस्पर संबंध रहता है जिसके आधार पर भावदेही बालक पुकारता रहता है 'माँ, माँ' इत्यादि। इसी का नाम भावसाधना है, जिसके प्रभाव से माँ सन्निहित हो जाती है। भाव पुष्पकोरक के सदृश है। जब यह प्रस्फुटित होता है तब प्रेमरूप में परिणत हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ आश्रय तथा विषय दोनों का योग हो जाता है अर्थात् उस समय बालक के प्रेम से माँ सन्निहित होकर उसे अपनी गोदी में उठा लेती है। इसका नाम है प्रेमदेह। इसी में मिलन होता है, भावदेह में मिलन नहीं था।

प्रेमदेह-प्राप्ति के अनंतर आश्रय तथा विषय—उभयदेह विगलित हो जाते हैं। इसका नाम है द्रुति। इस समय बालक के साथ माँ का पूर्ण मिलन होकर एकात्मता स्थापित हो जाती है। यही रस है और इससे निर्मित शरीर की संज्ञा है रसदेह। भावदेह के समय में साधक या भावुक अब रसदेह प्राप्त करके वह रसिक पदवाच्य होता है। रसदेह पूर्ण यौवन का होता है और प्रेमदेह किशोरावस्था का। रसदेह प्राप्त होने पर जीव को श्रीभगवान् की नित्यलीला में प्रवेश का अधिकार मिल जाता है।

भूतशुद्धि—प्रत्येक मनुष्य के स्वरूप में प्रधानतः तीन अंश विद्यमान हैं—भूत, चित्त और आत्मा। इनमें भूत और चित्त परस्पर मिले हुए हैं। भौतिक सत्ता का अंश चित्त में रहता है। इसी का नाम संस्कार है। इसी भाँति चित्त की सत्ता का अंश भूतों में रहता है। भूतों में भी परस्पर अनुप्रवेश रहता है। जब चित्त संस्कारों से भौतिक सत्ता मुक्त हो जाती है और भौतिक संस्कारों से चित्त की सत्ता मुक्त हो जाती है तब एक ओर भूतशुद्धि होती है दूसरी ओर चित्तशुद्धि। भूतशुद्धि तथा चित्तशुद्धि किए बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता। षट्चक्रभेद का यही रहस्य है।

भूताकाश, चित्ताकाश तथा चिदाकाश—साधारण मनुष्य जिस आकाश से परिचित है और जिसमें समग्र भौतिक जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, वह भूताकाश है। भूतों का उपशम हो जाने पर चित्तरूपी आकाश का दर्शन होता है। भूताकाश में भौतिकसत्ता संस्थित है।

चित्ताकाश में समग्र भावजगत् का अवस्थान है। परन्तु भूत और चित्त, इन दोनों का अतिक्रम करने पर जिस आकाश का भान होता है उसका नाम है—चिदाकाश। वह चैतन्यरूप है। उसमें पंचभूत की तरंगें नहीं हैं। उसी प्रकार मनोराज्य का क्षोभ भी नहीं है, परन्तु शुद्ध चिन्मयसत्ता का स्फुरण होता है।

भूमा—भूमा का अर्थ है बहुत्व-विशिष्ट विराट् पुरुष अथवा अनंत ब्रह्म की प्राप्ति रूपी अमृत दशा, जिसके विषय में श्रुतियों में कहा गया है—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, यो भूमा तदमृतम्।' 'यो वै भूमा तत्सुखम्'। इस अनंत की प्राप्ति क्रम से नहीं हो सकती, यह गणित से ही सिद्ध है। वह जब होगी आकस्मिक रूप से होगी, और पूर्णरूप से होगी। अखंड वस्तु साधना द्वारा सोपान परंपरा से प्राप्त नहीं की जा सकती। उसकी प्राप्ति की कोई पूर्व सूचना भी नहीं होती। इसीलिए विराट् पुरुष अथवा अनंत सत्ता की अकस्मात् प्राप्ति का अपार आनंद साधक को आश्चर्य में डाल देता है। गीता में—

'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'

इसी स्थिति को उद्दिष्ट करके कहा गया है—यह अत्यंत दुर्लभ दशा है।

भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा—बौद्धमतानुसार ज्ञान दो प्रकार का है। प्राचीन हीनयान मत में श्रुत चिंता तथा भावना से उत्पन्न जो ज्ञान है, वह निरालंब है एवं निर्वाण का हेतु है। यह ज्ञान निरवलंब है और इसमें करुणा का विकास नहीं है। किंतु महायान मार्ग में बोधिसत्व के लिए जिस ज्ञान अथवा प्रज्ञा का उपदेश है, वह भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा के नाम से प्रसिद्ध है। यह निरवलंब नहीं है और क्रमश: भूमिभेद करते हुए विकास प्राप्त करता है। यही प्रज्ञा अंत में दशम भूमि में जाकर पूर्णत्व लाभ करती है। प्रज्ञापारमितावस्था प्राप्त कर बुद्धत्व का उदय भी इसी से होता है। इसका लक्ष्य निर्वाण नहीं, बुद्धत्व प्राप्त करना है।

मातृकाचक्र—तंत्र तथा अन्य दार्शनिक मतों में शब्द को आकाश का धर्म कहा गया है। स्थूल दृष्टि से आकाश तीन प्रकार का माना जा सकता है—अचित्, चिदचित् और चिद्रूपेण। अचित् अथवा जड़ आकाश का धर्म जो शब्द है, वह अशुद्ध है। इसी प्रकार चिदाकाश धर्मरूप शुद्ध शब्द है। अशुद्ध शब्द से बंधन होता है, शुद्ध शब्द से बंधन-मुक्ति। शब्द विकल्प का हेतु है। शुद्ध शब्द से शुद्ध विकल्प होता है और अशुद्ध शब्द से अशुद्ध विकल्प। शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प की निवृत्ति होती है। ये सभी शब्द बिंदु के क्षोभ से उत्पन्न होते हैं। अ, आ, क, ख इत्यादि मातृका वर्ण हैं। इन वर्णों के प्रभाव से चित्त में विकल्प का उदय होता है। अशुद्ध विकल्प से बंधन होता है, शुद्ध विकल्प से बंधन छूट जाता है। निर्विकल्प से स्थिति होती है। इसीलिए मातृका चक्र अतिक्रम किये बिना निर्विकल्पक-स्थिति प्राप्त होना कठिन है।

मिल-मिश्रण—जीव और भगवान् का संबंध लेकर मिल मिश्रण तथा महामिलन—इन दो शब्दों का प्रयोग होता है। मिल-मिश्रण अवस्था में योग तो होता है परन्तु एकीभाव नहीं होता। इसीलिए इस अवस्था को मिल-मिश्रण कहते हैं। परन्तु जब मिलन पूर्ण होता है, तब मिश्रणभाव नहीं रहता, अर्थात् एकीभाव पूर्ण हो जाता है। इस दशा का नाम महामिलन है।

लिंग जगत्—यह वह सूक्ष्म जगत् है, जहाँ लिंग शरीर काम करता है। लिंग शरीर वह सूक्ष्म देह है जो मृत्यु के अनंतर फलभोग के लिए जीवात्मा के साथ संलग्न रहता है। उसका कार्यक्षेत्र ही लिंग जगत् है।

लिप्तभाव—किसी भाव के साथ तादात्म्य होने पर लिप्तभाव का उदय होता है। इससे दृष्टि में पक्षपात का उदय होता है। स्वपक्ष तथा विपक्ष—दोनों ही लिप्तभाव हैं और उदासीन दृष्टि ही निर्लिप्त भाव।

वर्णमाला—मातृकाओं की समष्टि ही वर्णमाला है। इसको माला संज्ञा इसलिए दी गयी है कि जपादि काल में इसका आवर्तन होता है। आवर्तन के कारण ही वर्णमाला के रूप में प्रकाशित होता है। आवर्तन के दो भेद हैं—वामावर्त तथा दक्षिणावर्त। ये दोनों आवर्त कालराज्य के व्यापार हैं। इनके पूरा हो जाने पर सरलगति मिलती है। तब काल का संबंध नहीं रहता। सभी आवरण कट जाते हैं।

बिंदुराज्य—बिन्दु क्षुब्ध होकर विश्व उत्पन्न करता है। अंतर्मुखी गति से बिन्दुराज्य भेद करके बिन्दु को भी अतिक्रम करना पड़ता है। शैवागम दृष्टि से बिन्दु सिद्धांत में महामाया का नामांतर है। इसका भेद करने पर चित्शक्ति और चिदात्मक शिव-स्वरूप की प्राप्ति होती है।

विकल्प—मन की क्रिया ही विकल्प है। यह शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो प्रकार का है। आत्मा, मन-बुद्धि-इंद्रिय-देहादि से अतीत है। परन्तु देहादि को आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप समझना, यह शुद्ध विकल्प है। देहादि से विलक्षण शुद्ध आत्मस्वरूप को ही आत्मा समझना—यह शुद्ध-विकल्प है। शुद्ध विकल्प के प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है। शुद्ध विकल्प का उदय होने पर अशुद्ध विकल्प नहीं रहता। परन्तु अशुद्ध-विकल्प की निवृत्ति होने पर ही शुद्ध विकल्प होगा, यह नहीं कह सकते। साधारण लोग अशुद्ध विकल्प-निवृत्ति को ही विकल्प-निवृत्ति समझते हैं। वस्तुतः अशुद्ध विकल्प निवृत्त होकर शुद्ध विकल्प का उदय होना चाहिए। इसके बिना आत्म-साक्षात्कार का कोई महत्व नहीं रहता, निर्विकल्प स्थिति बहुत दूर की बात है।

विक्षिप्तावस्था—योगियों के मतानुसार गुणगत भेद के कारण चित्त में पाँच प्रकार की वृत्तियों का उदय होता है—तमोगुण के प्राधान्य से मूढ़वृत्ति का, रजोगुण के प्राधान्य से क्षिप्तवृत्ति का, रजोगुण के प्राधान्य में किंचित् सत्त्व का संबंध रहने पर विक्षिप्त वृत्ति का, सत्व गुण के प्राधान्य से एकाग्रवृत्ति का और सब वृत्तियों का निरोध होने पर निरुद्धवृत्ति का। एकाग्र और निरुद्ध-इन दो अवस्थाओं में योग होता है। एकाग्रावस्था में संप्रज्ञात योग और निरुद्धावस्था में असंप्रज्ञात योग। विक्षिप्त अवस्था मूढ़ तथा क्षिप्त से उत्कृष्ट है। किन्तु योगावस्था नहीं है, कारण कि इसमें एकाग्रभाव स्थायी नहीं होता।

विमर्श शक्ति—विमर्श चिद्रूपा शक्ति का स्फुरण है जिससे चित् में अपने आप का बोध अहंरूप से आता है। विमर्श न रहने से स्वरूपतः जो चित् है वह भी चित्त या मन न होने से अचित् के समान है। इसीलिए कहा जाता है कि शिव से यदि इकारात्म्क शक्ति हट जाए तो शिव भी शव हो जाता है। यह विमर्श शक्ति ही परावाक्स्वरूप है। इसके बिना

प्रकाश भी प्रकाशमान न होने के कारण से अप्रकाशवत् प्रतीत होता है। विमर्श शक्ति के कारण ही प्रकाश स्वयं प्रकाशित होता है। जैसे किसी व्यक्ति के धन से संपन्न होने पर भी यदि उस धन-सम्पत्ति के विषय में उसे बोध न रहे तब जैसे वह वस्तुतः धनी होने पर भी व्यवहार भूमि में निर्धनवत् हो जाता है उसी प्रकार आत्मा प्रकाश-स्वरूप होने पर भी उस प्रकाश की प्रकाशमानता यदि न रहे तो अप्रकाश माना जाता है। इसलिए चिद्रूप आत्मा में चिद्रूपा विमर्श-शक्ति मानना ही पड़ता है। क्योंकि इसके बिना आत्मा आत्मरूपेण सिद्ध नहीं होता।

विवर्त-विलास—स्वरूप तथा शक्ति के भेद से चिद् वस्तु दो दृष्टियों से देखी जाती है। स्वरूप-निष्क्रिय तथा कूटस्थ और शक्ति-सक्रिय तथा संकोच विकासशील। इस प्रकार भिन्न प्रतीत होने पर भी ये दोनों हैं वस्तुतः एक ही। कूटस्थ चित् दृष्टि से विश्वप्रपंच विवर्त है और चित् शक्ति की दृष्टि से विलास है। इसे ही 'चिद्विलास' कहते हैं। यह विवर्त होते हुए भी विलासस्वरूप है। इसीलिए विवर्त-विलास कहा जाता है। निगूढ़ वैष्णव साहित्य में इसका विशेष विवरण प्राप्त होता है। सहजिया संप्रदाय में विवर्तविलास नाम से एक स्वतंत्र ग्रंथ ही है।

रज्जु में जैसे सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। यह जगत् ब्रह्मदृष्टि से विवर्तरूप है। यह प्रकृति का परिणाम है और परमाणुओं के संघटन से आरंभ होने के कारण आरंभ पदवाच्य है। किन्तु कूटस्थचित् की दृष्टि से विवर्त ही है। चित्शक्ति कूटस्थ के साथ अभिन्न होने से यह विश्व-विवर्त होते हुए भी विलासरूप है।

विविक्त दर्शन—द्रष्टा को दर्शन दो प्रकार से होता है—साधारण द्रष्टा भोगवासनायुक्त होकर दर्शन करते हैं, दृश्य से अपने को पृथक् करके उदासीन दृष्टि लेकर दर्शन नहीं करते। इसी कारण उस दर्शन से द्रष्टा में सुख-दुःख का संचार होता है। इसके मूल में विवेक नहीं है अर्थात् पृथक् ज्ञान नहीं है। दृश्य के साथ आरोपित अभेद लेकर जो दर्शन होता है, वह दर्शन होने पर भी भोगरूप है। यह आरोपित अभेद जब छूट जाता है, तब तटस्थभाव से दर्शन होता है। यही विविक्त दर्शन है।

विवेकख्याति—सांख्यमत में प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं जड़ है और पुरुष चिदात्मक। दोनों परस्पर विलक्षण हैं किन्तु अनादिकाल से वे मिलित भाव से प्रकट हैं। इसका मूल कारण है अविवेक अथवा अविद्या। इसके प्रभाव से बुद्धि या महत्तत्व का आविर्भाव होता है। उसमें पुरुष और प्रकृति दोनों का धर्म विद्यमान है। यावतीय मनुष्य इस प्रकार अविवेक के अधीन है। चित्त एकाग्र करके जब एकाग्र भूमि में कोई मनुष्य प्रतिष्ठित होता है तब उसे यह अवसर मिलता है कि वह अपने स्वभाव में से चिदंश और अचिदंश को अलग करे। चिदंश पुरुष का अंश है और अचिदंश गुणमयी प्रकृति का सत्त्वांश। चिदंश और अचिदंश के परस्पर पृथक् होने पर जिस ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है उसका नाम विवेकख्याति है। इस ज्ञान से परिणामशील प्रकृति और अपरिणामी पुरुष का परस्पर भेद अनुभूत होता है। उसका फल-कैवल्य-लाभ है।

व्यवहार भूमि—मनुष्य के जीवन में प्रधानतः दो भूमियाँ हैं—व्यवहार भूमि और परमार्थ भूमि। संसार में व्यवहार के समय जिस दृष्टि से कार्य किया जाता है वह व्यवहार भूमि का

व्यापार है। परन्तु व्यवहार से असंस्पृष्ट स्थिति में पारमार्थिक स्थिति मिलती है। उससे व्यवहार नहीं होता। वस्तुतः वही परम स्थिति है।

शब्द-ब्रह्म—परब्रह्म से परावाक् रूपी जो अखंड शुद्ध-शब्द सृष्टि के आदि में निकलता है उसी को शब्द-ब्रह्म कहते हैं। यही शब्दतत्त्व अर्थरूप में परिणत होकर विश्व जगत् के रूप में प्रकट होता है। साधारण भाषा में कहा जाता है कि इसका स्वरूप है 'ॐ कार'। इस ॐ कार में इसके अवयव रूप में विभिन्न अंग हैं। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति अथवा स्थूल, सूक्ष्म काल के वाचक हैं अ, उ, म। यह प्रसिद्ध है। इसके बाद अर्द्धमात्रा का प्रारंभ होता है। इसमें तीन विभाग हैं—बिन्दु, नाद और कला। प्रथम विभाग में बिन्दु, अर्द्धचंद्र तथा निरोधिका—ये तीन स्तर हैं। द्वितीय विभाग में नाद तथा नादांत हैं। तृतीय विभाग में व्यापिनी या महाशून्य शक्ति 'समना' है। अंत में, 'उन्मना' है। ये सब कलाओं के अंतर्गत हैं। उसके बाद है पूर्ण परमशिव अथवा परासंवित्—यही परब्रह्म है। बिन्दु से उन्मना तक की अवस्थाएँ तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्थांतर्गत हैं। इस शब्दब्रह्मरूपी वाक् की चार स्थितियाँ हैं—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी इंद्रियगोचर, मध्यमा मनोगोचर और पश्यंती मन से अतीत चिद् भूमि है। यह प्रणव ईश्वर या परब्रह्म का वाचक है।

श्रुतचिंता भावनात्मक ज्ञान—ज्ञान का आदर्श हीनयान की अपेक्षा महायान बौद्ध धर्म में विलक्षण है। हीनयान में उपनिषद् के सदृश श्रवण, मनन तथा भावन अथवा निदिध्यासन से ज्ञान का उद्‌भव माना जाता था। यही प्रज्ञा नाम से प्रसद्धि था। यह ज्ञान अंत में निरालंब था। इसी ज्ञान के उत्कर्ष से निवार्ण पर्यंत आयत्त हो जाता था। परन्तु महायान में ज्ञान का आदर्श भिन्न हो गया। उस ज्ञान अथवा प्रज्ञा को भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा की संज्ञा दी गयी। यह अत्यंत परिनिष्ठित प्रज्ञा है। भूमिप्रविष्ट होने के कारण भूमि के क्रमविकासानुसार प्रज्ञा का क्रम विकास होता था। भूमि के विकास के प्रभाव से समग्र विश्व आयत्त हो सकता है। इस प्रज्ञा के साथ जीवमात्र के प्रति करुणा संश्लिष्ट है। इसके प्रभाव से बोधिसत्त्वावस्था का उदय होता है। श्रावक का लक्ष्य था अपने दुःख की निवृत्ति और अंत में निर्वाण-प्राप्ति। बोधिसत्व का लक्ष्य हुआ परदुःख-निवृत्ति और उसकी परिणति है बुद्धत्व-लाभ। साधारणतः बोधिसत्व दशमभूमि में जाकर बुद्धत्वलाभ करते थे। बुद्धत्वलाभ होने पर निवार्ण में प्रवेश की संभावना नहीं रहती। किन्तु निर्वाण पद में जाने वाले प्राण के द्वारा अबाधित विश्वकल्याणसाधना संभव नहीं।

स्रोतापन्न—प्राचीन बौद्धमत में निवार्ण ही जीव का परम लक्ष्य है। साधारण जीव इससे परिचित न होने के कारण लौकिक मार्ग में चलने लगते हैं। इस लौकिक मार्ग में रूपध्यान, अरूपध्यान प्रभृति अवस्थाओं के अंत में समग्र विश्व साक्षात्कार का विषयीभूत हो जाता है। परन्तु लोकोत्तरावस्था का उदय नहीं होता। निर्वाण तृष्णाक्षय का नामांतर है। इसीलिए अरूपध्यान का पराकाष्ठालाभ होने पर भी निर्वाण का मार्ग नहीं मिलता। इसके लिए लोकोत्तर मार्ग आवश्यक है। बौद्ध लोग कहते हैं कि मनुष्यचित्त में अत्यंत गुप्त रूप से एक निर्वाण-मुखी स्रोत बह रहा है। सामान्य मनुष्य विषयमुखी स्रोत को जानते हैं। जब बुद्ध का अथवा बुद्ध मार्ग में ज्ञानप्राप्त किसी महापुरुष का अनुग्रह होता है तब यह निर्वाण-मुखी स्रोत खुल जाता है। जब तक किसी में यह स्रोत नहीं खुलता तब तक उसको पृथक्-

जन कहा जाता है। सद्गुरु की कृपा से स्रोत के खुलने पर क्रमशः इसी से उसकी अग्रगति होती है। उसमें चार अवस्थाएँ हैं-स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् या जीवन्मुक्त।

चित्त में जितने संयोजन अर्थात् बंधन हैं, इस मार्ग में चलते-चलते वे सभी उन्मूलित हो जाते हैं। स्रोतापन्न अवस्था में कुछ आवरण नष्ट होते हैं। इसके बाद सकृदागामी अवस्था प्राप्त होकर देहांत होने पर एक बार जन्म ग्रहण करना पड़ना है। प्राचीन बौद्धों का विश्वास था कि स्रोत के प्रभाव से निम्नतम अधिकारी भी तीन जन्म में चरम अवस्था तक पहुँच सकता है। यह अत्यधिक भान है। उत्तम अधिकारी होने पर दो ही जन्म में, यहाँ तक कि एक जन्म में भी होना असंभव नहीं। सकृदागामी अवस्था में देहांत होने पर फिर एक बार आना पड़ता है। अनागामी अवस्था तक पहुँचने पर यदि शरीरपात हो जाय, तब इस जगत् में पुनरागमन नहीं होता, अनागामी अवस्था-लाभ होता है। यह जीवन्मुक्त नहीं है अर्थात् अर्हत् नहीं है, परन्तु ऊर्ध्वलोक में ही इस अवस्था का लाभ हो जाता है। इसके अनंतर अर्हदवस्था है। इस समय सब आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यह भी एक प्रकार का निर्वाण ही है, परन्तु इस स्थिति में स्कंध-निवृत्ति नहीं होती। देह रह जाता है। देह छूट जाने पर पूर्ण निर्वाण प्राप्त होता है।

षोडशी—सिद्धों की परिभाषा में महाशक्ति के तीन रूप प्रचलित हैं—पंचदशी, षोडशी और स्पतदशी। पंचदश कलात्मिका देवी पंचदशी है। जैसे कालचक्र में पूर्णिमा-वस्था पंचदशी है, उसी प्रकार देवी का भी यह रूप काल से संस्पृष्ट है। इसमें ह्रास-वृद्धि होती है। जिस प्रकार कृष्णपक्ष में क्रमशः पंचदश कलाओं का ह्रास होते-होते अमावस्या में निवृत्ति होती है और शुक्लपक्ष में उनका उत्तरोत्तर आप्यायन होता है तथा पूर्णिमा में उनका पूर्ण विकास होता है। उसी प्रकार देवी के स्वरूप में भी संकोचविकास होता है। वास्तव में पूर्णकला यथार्थ पूर्ण नहीं है, न शून्य कला ही यर्थाथ शून्य। क्योंकि पक्षांतर में परिवर्तन होता है। यह पंचदशी कालचक्र में आवर्तमान है। परन्तु षोडशी कालचक्र का केन्द्र स्वरूप है। इसमें न ह्रास है न वृद्धि। यह नित्य पूर्ण है। यह अमृत-स्वरूपा कला है, अतः नित्य है। इसके ऊपर कालचक्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही षोडशी कामेश्वर-कामेश्वरी-रूपेण नित्य युगल रूप धारण करके विश्व-सृष्टि के बिन्दु में प्रकाशमान है। पंचदशी सक्रिय है, षोडशी निष्क्रिय। सप्तदशी परा नाम से प्रसिद्ध है। यह कुमारीरूपा है, अद्वैत-स्वरूपा है। यह एकाधार में सक्रिय और निष्क्रिय दोनों ही है अर्थात् यह निष्क्रिय होने पर भी अनंत क्रियामयी है। अमाकला षोडशी का भी नाम है, सप्तदशी का भी। यह केवल कालातीत नहीं है, काल संकर्षिणी भी है। काल का नाश भी कर सकती है, और काल के राज्य में आकर काल को निरुद्ध भी कर सकती है।

संसार और जगत्—वेदांतादि शास्त्र में जीवसृष्टि तथा ईश्वर-सृष्टि में भेद किया गया है। जीवसृष्टि मिथ्या है, यह संसार रूप है, कल्पित है। किन्तु ईश्वर-सृष्टि सत्य है। यह जगत् रूप है। मुक्त होने पर संसार-निवृत्ति होती है, किन्तु जगत् तब भी रहता है।

संस्कार शोधन—संस्कार पूर्वानुभव अथवा पूर्वक्रियाजन्यचित्त में जो रेखा पड़ती है, उसी का शास्त्रीय नाम है। संस्कार कर्माशयरूप होता है, वासनारूप भी होता है कर्माशयरूप संस्कार से सुखदुःख का अनुभव होता है और वासनारूप संस्कार से स्मृति

का उदय होता है। संस्कार की रेखा मिट जाने पर चित्त शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है। इसी का नाम संस्कार-शोधन हैं।

समना भेद—जगत् की सृष्टि का आरंभ समना से होता है। लौटने के समय में भी समना-भेद किये बिना विश्वातीत में प्रवेश नहीं हो सकता। समना तक ही कल्पना जगत् है और उसी में जगत् की स्थिति है।

समष्टि और महासमष्टि—पांचरात्रागम के अनुसार किसी-किसी स्थान में व्यष्टि, समष्टि और महासमष्टि का विभाग है। व्यष्टि है एक नरदेह, ब्रह्मांड है सामूहिक रूपेण समष्टि नरदेह और महासमष्टि है ब्रह्मांड की समष्टि। विराट् महासृष्टि को महासमष्टिरूप जानना चाहिए। एक-एक ब्रह्मांड समष्टिरूप है और ब्रह्मांडांतर्गत एक-एक जीव व्यष्टिरूप है।

सविशेष ब्रह्म—ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है। उसे गुण, क्रिया, आकार, भाव, कला प्रभृति से समन्वित मानने पर सविशेष कहा जाता है। इनसे रहित ब्रह्म निर्विशेष है। निर्विशेष में स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं रहता, स्वगत भेद भी नहीं रहता। शंकराचार्य निर्विशेष तथा रामानुजाति वैष्णवाचार्य सविशेष ब्रह्मवादी हैं।

सामरस्य—सामरस्य का अर्थ है साम्य। जिस समय दो या अधिक सत्ताएँ पूर्णरूपेण अभिन्न होकर प्रकाशमान होती है, उसी का नाम सामरस्य है। इस अवस्था में परस्पर भेद तो प्रतीत होता नहीं। एक दृष्टि से कहा जाय तो रहता ही नहीं है। सामरस्यावस्था की अव्यवहित परावस्था ही अद्वय है। शिव तथा शक्ति में जब सामरस्य होता है तब न शिव रहता है, न शक्ति अथच उसमें शिव का भी धर्म रहता है और शक्ति का भी धर्म रहता है। किन्तु गुण-वैषम्य, शक्ति-वैषम्य, भाववैषम्यादि कुछ भी नहीं रहता। वैष्णव संप्रदाय में निर्दिष्ट प्रेमदेह तथा रसदेह ही सिद्धदेह है, किन्तु अन्य दार्शनिक मतों में इसका जो स्वरूप बताया गया है, वह इससे कुछ भिन्न है।

सिद्धदेह—पातंजल योगदर्शन के कायसंपद् का विवरण दिया गया है। इस कायसंपद् की प्राप्ति भूतजय के प्रभाव से होती है। साधारणत: इसको वज्रांग कहा जाता है। प्रचीन काल में गोरक्षा, मत्स्येंद्र प्रभृति तथा रसेश्वर एवं माहेश्वर साधक इस प्रकार वज्रांग देह के लिए साधन करते थे। परन्तु यह सिद्ध देह प्रधानत: दो प्रकार की है। वीरशैव संप्रदाय के साहित्य से पता चलता है कि प्रभुदेव जी भी सिद्धदेह-सम्पन्न थे और उनका सिद्धदेह गोरक्षनाथ के रसदेह से विलक्षण था। गोरक्षनाथ के सिद्धदेह में पंचभूत के किसी प्रकार के आधात का प्रभाव नहीं पड़ता था। पक्षांतर में आघात करने वाला स्वरूप विध्वस्त हो जाता था। परन्तु प्रभुदेव-प्रदर्शित सिद्धदेह में पंचभूत का स्पर्श ही नहीं होता था।

स्थूल देह और सूक्ष्म देह, सिद्ध देह में एकीकृत हो जाते हैं। यह देह एक दृष्टि से इंद्रियगोचर भी हैं, चाहें तो अतीद्रिंय भी हो जाता है। प्रयोजन होने पर यह स्थूल देहवत् कार्य करता है और सूक्ष्म देहवत् भी। अथच न स्थूल है न सूक्ष्म। फिर भी दोनों का वैशिष्ट्य तथा गुण इसमें दिखाई पड़ता है। कोई-कोई अप्राकृत विशुद्ध सत्वमय देह को भी सिद्धदेह कहते हैं। सिद्धदेह मृत्युजयी है। यह अमृत देह है। परन्तु उससे ऊपर भी एक स्थिति है। माहेश्वर संप्रदाय के अनुसार इसका नाम है प्रणवदेह। ख्रिष्टीय संप्रदाय में वर्णित यीशु का 'रिसरेक्सन

बॉडी' तथा 'एसेंसन बॉडी' इसी प्रकार का ज्योतिर्मय देह है। सिद्धदेह तथा प्रणवदेह में इसी प्रकार का भेद है। सिद्धदेह अमर है किंतु प्रणवदेह मृत्युंजयावस्था है।

स्कंधसिद्धि—बौद्ध संप्रदाय क्षणिकवादी है, जो बाह्य पदार्थ मानते हैं वे उसे क्षणिक मानते हैं, अवयवी नहीं मानते जो अविद्या से अवयवी रूप में प्रतीत होता है। जो बाह्य पदार्थ नहीं मानते, विज्ञानमात्र मानते हैं, वे भी विज्ञान को क्षणिक मानते हैं। यह क्षणिक विज्ञान ही 'प्रवृत्ति विज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है। अविद्या के प्रभाव से यही 'आलय' अथवा चित्त नाम से व्यवहार भूमि में ख्यात है। भिन्न सत्वों अथवा स्कंधों से समष्टि भाव में अहंप्रतीति की सिद्धि होती है। स्कंधसिद्धि होने पर ये स्कंध विज्ञप्तिमात्रता रूपेण प्रकाशमान होते हैं। स्कंधसिद्धि का यही यथार्थ फल है।

स्वतः सिद्ध मनुष्य—सहजिया संप्रदाय में तीन प्रकार के मनुष्य कहे गये हैं— योनिसंभव, अयोनिसंभव तथा सहज। योनिसंभव मनुष्य को 'वर्तमान' मनुष्य कहा जाता है, यही सहज मनुष्य है। इसी में गूढ़ रूप की स्थिति मानी जाती है। इन लोगों का सिद्धांत है कि वर्तमान मनुष्य की भावना करके अवर्तमान मनुष्य की प्राप्ति हो जाती है। इनका विश्वास है—

'जे रूप नेतेर देखे सेई हृदये थाके।
वर्तमान हृदयेर दुई से बूझे किसे बाके ?'

इसका तात्पर्य यह है कि दृष्टि के सामने जो रूप देखा जाता है उसी का प्रतिबिंब हृदय में बैठ जाता है, उसी को वर्तमान कहा जाता है। यह सहज मनुष्य है। यह वर्तमान मनुष्य ही भावना का विषयभूत है। इसके अंतराल में निगूढ़ मनुष्य की स्थिति है, जिसको गूढ़रूप कहा जाता है। द्वितीय प्रकार के मनुष्य का नाम है अयोनिसंभव मनुष्य। यह मनुष्य गोलोक में नित्य विराजमान है। यह हुआ दो प्रकार के मनुष्यों का विवरण-योनिसंभव तथा अयोनिसंभव। तृतीय प्रकार का मनुष्य है स्वतःसिद्ध मनुष्य । इसका आविर्भावस्थल है नित्य-वृंदावन। इस साधना का नाम है रागानुगा साधना। इन लोगों का सिद्धांत यह है कि बिना रागानुगा भजन के परम वस्तु का लाभ हो नहीं सकता। यह भजन वस्तुतः गाढ़ तृष्णा व आवेशयुक्त रागमयी भक्ति है, जिससे व्रजभाव का आविर्भाव होता है। यह साधन आरोपसाधन नाम से प्रसिद्ध है। यह मनुष्य की साधना है, भगवान् की नहीं। चंडीदास ने इसी मनुष्य को लक्ष्य करके कहा है :

'मानुष-मानुष सबाइ कहे मानुष चिंनेछे के ?

जिसे ईश्वर कहते हैं उसे मनुष्य रूप में पकड़ सकना ही इसका परम लक्ष्य है।

स्वरूप शक्ति—शक्ति तथा शक्तिमान् को तीन दृष्टियों से देखा जाता है—भेद दृष्टि, भेदाभेद दृष्टि और अभेद-दृष्टि। जिस दृष्टि से स्वरूप और उसकी शक्ति भिन्न प्रतीत होती है, वह है भेददृष्टि, जैसे आत्मा के साथ माया का संबंध। माया आत्मस्वरूप से भिन्न है अथच आत्मा की शक्ति है। जहाँ शक्तिं आत्मा से भिन्न भी है अभिन्न भी है अर्थात् न भिन्न न अभिन्न है, वह है तटस्थ शक्ति, जैसे परमात्मा से आत्मा का संबंध। जहाँ स्वरूप से उसकी शक्ति अभिन्न है वहाँ उस शक्ति को स्वरूप शक्ति कहते हैं, जैसे सच्चिदानंद परमेश्वर का स्वरूप है। उसमें सदंश की शक्ति संधिनी है, चिदंश की शक्ति संवित् है और आनंदांश की

शक्ति ह्लादिनी है। ये तीनों शक्तियाँ परस्पर पृथक् होने पर भी स्वरूप से अभिन्न हैं। इसी का नाम स्वरूप शक्ति है।

स्वांश और भिन्नांश—किसी-किसी वैष्णव संप्रदाय में परमात्मा के दो प्रकार के अंश माने जाते हैं—स्वांश और भिन्नांश। स्वांश का दूसरा नाम अभिन्नांश है। यह परमात्मा का अंश होते हुए भी, उससे अभिन्न है। परमात्मा का अवतार इसी कोटि में माना जाता है। जीवात्मा भी परमात्मा का अंश है किन्तु स्वांश नहीं है, भिन्नांश है। यह भेद मायाकृत है। अवतार के संबंध में परमात्मा के साथ माया की कार्यकारिता नहीं है, परन्तु परमात्मा से जीव के आविर्भाव में माया ही हेतु है।

स्वातंत्र्य—आत्मा का जो निरपेक्ष भाव है, जिसकी इच्छामात्र से सब कुछ होता है, जिसको बाधा देने वाली कोई शक्ति है नहीं, जो स्वतः स्फूर्तिशील और नित्य वर्तमान है, वही स्वातंत्र्य है।

हंस देह—यह शब्द संत-संप्रदाय में प्रचलित है। इसको समझने के लिए देह-तत्त्व का किंचित् विश्लेषण आवश्यक है। अचित् तत्त्व का देह शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो प्रकार का है। अशुद्ध देह के भी दो भेद हैं—कारण देह तथा कार्य देह। कार्य देह के भी दो रूप हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म। शुद्ध अचित् देह महाकारण देह नाम से प्रसिद्ध है। अचित् संबंध से यह देह चार प्रकार का माना जाता है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। चित्त तत्व से जो आकार होता है उसका नाम है चिन्मय या कैवल्य देह। इसका संबंध तांत्रिक संप्रदाय के शक्तिदेह से है। इस प्रकार अचित् तत्त्व में चार प्रकार देह और चित् तत्त्व में चिद्रूप कैवल्य देह—यही पाँच तत्त्वरूपी देह हैं। किन्तु संतमत में तत्वों के बाहर, तत्त्वातीत भूमि में भी एक देह का अस्तित्व माना गया है। उसका नाम है हंसदेह। हंस ही आत्मा है । परमात्मा परमहंस है।

हृदयाकाश—आकाशरूपी हृदय ही हृदयाकाश नाम से प्रसिद्ध है। मनुष्य की अंतर्दृष्टि खुल जाने पर उस दृष्टि के सामने जिस आकाश का भान होता है वही हृदयाकाश है। श्रुति में इसे दहराकाश भी कहा गया है। प्रत्येक मनुष्य का हृदय ही आकाश रूप है। इसी में उसका दृश्य भान होता है जिसको अंतर्दृष्टि से देखा जाता है। जब तक दृष्टि अंतर्मुख न हो तब तक हृदय का पता नहीं चलता। वस्तुतः विराट् हृदय एक ही है। वही प्रति-मनुष्य के हृदय-रूप में उसके निकट प्रकाशित होता है। एक होता है।

❖

परिशिष्ट ३

काव्य-कुंज

[म० म० पं० गोपीनाथ कविराज के आरंभिक छात्रजीवन की रचनाओं का संकलन]

"Sweet memory, wafted by the gentle gale
Oft up the stream of time, I turn my Sail."

—**G. N. Kaviraj**

□

(क) बँगला कविता

नगेंद्र के प्रति

(AN EPISTLE TO NAGENDRA)

भाई नगेन!

जीवन जलधिवक्षे समीर हिल्लोले,
सुबृहत् ऊर्मिमाला आइछे बहिया।
अनंत जलद वृंद आकाशेर कोले,
अनिल ताड़ने आज चलिछे भासिया॥

सकलइ अशांतिपूर्ण जगत् माझार,
पंकिल, अचिरस्थायी मानव जीवन।
ओलोकेर शुभ्रवेश, निबिड़ आँधार,
गोलापेर हासि आर प्रफुल्ल आनन॥

दीपमाला सुशोभित प्रासाद निचय,
अभागा दरिद्रगणेर आँधार कुटीर।
प्रकृति-नियमावली समभावे रय;
मानव जगते हाय! किछु नहे स्थिर॥

ऐ ये नक्षत्र माला अनंत गगने,
गंभीर तिमिर माझे माणिकेर प्राय।
शोभितेछे अपरूप उल्लसित मने,
उहाओ नियति-चक्रेर वशीभूत हाय!!

जीवनेर सेई दिन बलिबो केमने,
सहचर रूपे मोर थाकिते यखन।
भाविले हृदय हय व्यथित वेदने,
कोथाय से दिन हाय! कोथाय एखन?
जीवनेर सुनिर्मल प्रभात समय,
चिंतार प्रबला नदी बहे ना यखन—
यखन भावना मने स्थान नाहि पाय,
फिरिबे कि सेइ दिन फिरिबे एखन?

सकल प्रकृति जबे सुखे निमगन,
सुषमा कुसुमराजि बागान भितर,
हासित अपूर्व हासि; से फुल्ल जीवन,
फिरिबे ना फिरिबे ना, फिरिबे ना आर॥

हेन जन आछे किहे ए मर भुवने,
बलिया जाहार काछे जुड़ाबो हृदय।
अंतरेर ज्वाला मोर अकपट मने,
शुनिया मानस यार हइबे सदय?

शांतिमयी विभावरी करेछे धारण,
आमार बिलापे येन दुःख मने करि।
मलिन वसन एबे, सौंदर्य विहीन,
सकलेइ शांतिमग्र बालक भिखारी॥

एहेन गंभीर काले निद्रार आवेशे,
तोमार सुमिष्ट, स्निग्ध, सुन्दर लेखनी।
निराविल भालोबासा सुचारु सुवेशे,
आविर्भूत हल मने चलिल धमनी।।

से स्नेहेर विनिमये दान योग्य धन,
नाहि देखि किछु एइ भरत भुवने।
निष्ठुरता पाय यथा उच्च सिंहासन,
स्नेहेर कमनीयता थाकिबे केमने?

ताई ओ युगल करे प्रवाल रतन,
कि दिबो हे स्नेहमय, महामूल्य मणि?
दिब हे रतन एक नयन नन्दन,
जार काछे कहिनुर काचतुल्य मणि॥

रात पारिजात जिनी याहार गौरव,
मधुर संगीत तुल्य याहार हृदय।
एइ से कुसुम माला, जाहार विभव।
शतराज्य, उपराज्य भोगे नाहिं पाय॥

हृदय उद्याने सखे जनम . इहार,
अयल सम्भूत बले करो नाक हेला।
सेइ से प्रसून राशिर एइ उपहार,
दितेछि हे तप गल गाँथि एक माला॥

"सुकवि कल्पना क्षेत्र नंदन कानने,
प्रवेशिया पारिजाते गाँथि नाइ हार।
दुचारि सरल शब्दे अकपट मने,
प्रीतिफुले गाँथिलाम प्रणयेर हार॥"

मनोरम हर्म्यें बसि धन-सेविगण,
मन्दारक द्वारा जाँरा करये पूजन।
दरिद्रेर भक्त्यर्पित काननेर कुसुम,
कुटीरे दृश्लेओ ता करेन ग्रहण॥

सुरेंद्रेर पारिजात हइते सुवास;
सुने थाकि प्रीतिफुल, लोकेर बदने।
ताइ भाइ आज एइ प्रीति अभिलाष,
कोमल प्रणय माला गाँथिबो यतने॥

प्रफुल्ल हृदये ताइ करिये ग्रहण,
पूर्णकाम कर तब दीन बन्धु जने।
अन्ये यदि नाहि बले चिकण गायन,
जघन्य हवे ना कभु तोमार नयने॥

ढाका, अरमनी टोला — २६ जुलाई, १९०३ ई०

हृदरण्य

एकदिन मृदुमंद सायाह्न समीरे,
निरजन वनभूमे उद्यान प्रांगने,
भ्रमिनु एकाकी। गाढ़ अन्धकारमय
सेइ जनहीन स्थान; नाहि कोनो रव,—

चतुर्दिके नीरवता शान्ति विराजित;
केवल विषादम्लान नैश विहंगेर
अस्फुट विलाप ध्वनि करिछे भंजित
गंभीरता प्रकृतिर; आर शुधु अइ

काँदिया काँदिया सदा सघन निश्वासे
सर्वत्र उदास, पवन घुरिया बेड़ाय।
क्रमे क्रमे अंधकार होलो घनीभूत।
आबरिल चारिदिके नि:शब्द संचारे

तरु मूल, फल, लता, शून्य समुदय।
असीम पुष्कर बक्षे ब्रारकार माला
वृक्ष राजि समाकीर्ण अरण्य माझारे
गाढ़ कृष्ण मेघवृंदेर त्वरित-विताने
होलो क्रमे तिरोहित।

आमिओ तखन
शब्दहीन पदक्षेपे वसिलाम आसि
कविप्रिय, दीनयोग्य तृणेर आसने।
शुनिनु अनितिदूरे अनन्तेर कोले
संगीतेर प्राणोन्मादी मधुर नि:स्वन
बसिया बिरले; हेथा जीवन नदीर
सैकत पुलिने। परे सुदूर-विमाने,
दूरोत्क्षिप्त जीमूतेर घोर गरजने
स्तम्भीभूत होलो सेइ संगीतेर ध्वनि :—
आशार किरण हृदे होलो निर्वापित।

ढाका नवंबर ३, १९०३ ई०

सेखाने

नीरव रजनी निथर अम्बर
आलोक बसने ठाकिया काय,
जोछना आनने तरंगा तटिनी
हासिया गाहिया चलिया याय,
खेलिछे आनन्दे मधुर मलय
छड़ाच्छे कुसुम सुबास राशि,
हासिछे जगत प्रकृति रमणी—
हासिछे यामिनी सुहास हासि।
सुनील सलिले रजत तरंगे
गलाय पड़िया तारकामाला,
भासिछे काँपछि नील चन्द्रातप
हाँसिछे अदूरे कुमुद बाला।
देखिया तखन सुरम्य कानन
स्वभावेर राज्य स्नेह प्रीतिमय,
भाविलाम मने एइ त संसार
सुख शान्ति पूर्ण प्रमोदालय।
आनन्दलहरी छुटिल अन्तरे
उछलि उठिल हृदय मन,
भाविनु आबार एइ त संसार
स्निग्ध ज्योतिर्मय प्रशान्त भुवन।
एमनि समये पशिल सहसा
श्रवण विवरे विषाद गान,
उठिया नाचिया दूर दूरान्तरे
निशे गेल सेइ निशीथ तान।
एहेन निशिते स्फुट चन्द्रलोके
नीरवे गंभीरे के तुमि भाइ,
मरम वेदना गेये चले याओ
ए जगते तोमार केह कि नाइ?
सोनार संसार, विपुल धरणी,
अतन्त तारका प्रहरी चय,
केओ कि तोमार हृदयेर ज्वाला

आपनार बोले भाल कि बासेना
तरणी बहिया चलेछ ताइ,
दुखेर सागर पार हबे बोले
येते कि पारिबे शुधाते चाई?
पार यदि कभु बलिबे कि तबे
से देशे केमन प्रसून राशि
फुटे कि तथाय पद्म शतदल,
फुटे कि तथाय मधुर हासि?
शान्तिर आगार आछे कि सेथा
बहे कि तथा बसन्त बाय,
हेथाकार यत दीर्ण हाहाकार
सेखाने कि कभू शुनते पाय?
संशयेर खेला दूरे फेले राखि
आमिओ तखन चलिब धीरे,
तोमार सहित एक हये याब
अतल गह्वर विस्मृति नीरे।

ढाका जुलाई, १९०४ ई०

आह्वान

दिनेर शेष हय एलो,
सूर्य नामे अस्ताचले,—
साँझेर छाया धरलो काया
थामलो कल गान;

तिमिर तटे धीरे-धीरे
सन्ध्यादीप उठलो ज्वले,
आँधार तले नदी जले
भासलो तरी खान;

मोर भासलो तरी खान,
छेये आछे माझार परे
हाजार हाजार ग्रह तारा,
अन्धकारे विषाद भारे
नाइ रे भय किछु,

के जाबिरे संगे आमार ?
हबिने भाइ पम हारा,
आसते हले सकल फेले
आय रे पिछु पिछु,
तोरा आय रे पिछु पिछु

पथेर परे पड़े आछे
कत शत विघ्न विपद
माझे माझे भीषण साजे
तुफान उठ्बे जेगे,

भय करिले चलबे नारे—
अनेक रयेछे पथ,—
विपद राशि सकल नाशि
चलते हबे बेगे;
मोदेर चलते हबे बेगे।

आलोर तरे काँदबो ना
पथ देखाबे सन्ध्यातारा
हासि मुखे सकल दुखे
थाकबे साथे साथे;

बल हारालेओ फिरबो नाको,
फैलबो नाको अश्रुधारा
उत्स आछे हृदय माझे
ताइ राखिबो माथे
मोरा ताइ राखिबो माथे।

दान्या १९०५ ई०

❖

(ख) अँग्रेजी कविता

To The Star In A Stormy Weather.

O wandering pilgrim lovely bright
The tide of life, the human way
All thou hast knowm from th'farthest day
To path of virtue by thine light
Right, pure and noble thou didst guide
Remotest men; now can'st thou say
To where is fled that genial ray?
In darkness lost of cloudy night
I hover round, but none his way
Will force to help me gladly on,
And nipped by blast has passed away
The blooming flower and all is gone.
Oh! What a change in what a clime
Is wrought by hard, relentless Time!

Dhamrai
26th March, 1904

My Dear Navadwipa

'Tis sweet to hail a spark of ray
In howling winter's cloudy night;
'Tis sweet to hear the Bulbul's lay
In twilight gloom—in dusky light;
Sweet is to hear a gentle sound
On th' distant deep, thro' breeze conveyed,
Where nature sleeps and peace profound
Pervades the airy light and shade.
But sweeter still, my loving friend,
Thy love's tribute, so pure and free,
So charmed am I, it seems to blend
My heart with thine, myslef with thee.
How sad alas! my fate appears,
When soberly I think alone;
It numbs my soul with writhing fears
To hear my future's helpless moan.
In darkness wrapt mu life's rough way,

And clouds of sorrow frown on me,
The beam of hope has fled away
Leaving the heart widowed of glee.
Onward I go but know not where,—
A friendless hopless guest of fate,
In threatening winds, in serene air
With love of none, of all the hate.
Ah! blasted by the pangs of woes
In th' stream of life alone I sail!
And who can live in calm repose
Where blows the furious gust of gale?
Farewell, my dear, my 'New born Isle,'
Remember the heart that leans on thee
In love and friendship, let a smile
Play on thy lips with joy for me.
With prayer for thy news of health to send
Here I remain for ever thy friend,

Danya, **Gopinath.**
14th May, 1904

Wayfarer

1

The light is spent, the day is o'er, alas!
Traveller, O traveller unknown!
The bell has tolled afar in th' silence grim
In th' royal palace—Mandir's gate
Behind the murmuring stream
Still thou dost trace thy endless onward path;
Worn of the toil of way, alas!
Traveller, O traveller unknown.

2

Behold there! all have traced their homeward steps alas!
Traveller, O traveller unknown!
With vesper service rendered full
In th' holy temple's midst,

With consecrated flower ta'en in hand,
Betake yourself to slumber's soft
And tranquil clasp;
Worn of the toil of way, alas!
Ttaveller, O traveller unknown.

3

The night is gathering fast, alas!
Traveller, O traveller unknown!
Belold! in th' distant village dark
Light is burning door and door;
What wilt thou do, a solitary being,
In th' gloom of lightless path
Worn of the toil of way, alas!
Traveller, O traveller unknown.

4

Wherer dost thou bear on back
This monstrous burden's brunt, alas!
Traveller, O traveller unknown!
Was no corner near at hand
To light this loadsome weight?
Is there none to make a bed for thee
Worn of the toil of way, alas!
Traveller, O traveller unknown,

5

The way is lost in utter haze, alas!
Traveller, O traveller unknown,
In what meadow's far-off,
In what distant—distant clime
Thy night will have its tiresome close
Worn of the toil of way, alas!
Traveller, O traveller unknown.

Danya
13th Agrahayan, 1312. (1905 A.D.)

India

Enchantress of th'heart to the world!
O thou, stainless land, O thou!
Glorious with the sun beams bright
Mother to our parents dear!
Thou hast thy feet washed
By the blue deep waves
Thy verdant anchala
Waving in gentle breeze,
Thy forehead Himachala
Touching the door of heaven
With a crown of silver snow.
It is thy firmament has seen
The dawn of earliest day
The earliest Sama echoed thy silent woods
In thy shady nooks where earliest preached and spread
Knowledge, virtue, poetic tales.

Laudable art thou, O for ever blessed,
Disbursing food from clime to clime,
Ganges, Jumna-melting kindness
Flowing in nectar streams.

Danya,
13th Agrahayan, 1312. (1905 A.D.)

Twilight

The twilight shade is spreading far and far
On steady, soft tho' noiseless wings, with it
Carrying as its perpetual friends along—
The tranquil silence grim and down-cast look
Dejection's frowining threats; here standing alone
And casting steadfast eyes on th' western line;
I have been marking all its varied hues
Of bright refulgence-quite a spellbound being!
In the main of vast eternity being merged,
In slow process, my life's empty void within,—
Its dreary dismal shore—I have absorbed—

This beauteous picture—evening's grace divine,—
Deserted lovely banks, the parting sun
With all its fainting farewell beams of light;
As if an ardent, mute and peaceful look
Of heavy, tiresome eyes this deep sorrow,

This all-pevading tome of toilsome cares
In some shadowy nook in village path,
In darkness dense of clustered
Arose a sudden strain of music sweet

Of (a) homeward plodding traveller boy; the tone,
Extolled to th' highest pitch, is swelling wide,
And thrilling in its placid peace profound;
As if the dusty silence of the even

Would rend itself in twain by the sharp acute
Up-mounting voice, away from light he lies,
Behold, in front in th' meadow's final end,
Towards the south, in th' edge of sugarcane's
Delicious fields, amidst the plantain, nut
And bamboo trees—their closest thickest dark—
The far-off hamlet injoys its calm repose.

The eye is running there, where unknown
A thoughtless shepherd boy is tracing slow
His beaten homeward track, and pouring forth
A flood of rustic strain, ne'er looking above
On the' vast unknown, ne'er thinking this and that.

The sight and sound this lovely landscape dear
Instil into my mind memories past,—
A day that melted long away, an even
Of far-spent childhood, tales and plays indulged
Amongst companions there on th' selfsame bed.

The day is lost in haze of distant past
And stored in mind alone; how it! today
The world is none the more advanced
In age and wisdom; all its pomp and play

Are dearly told its eyes have not been dim
With th' drowsy dullness could that age beget,
Its boyish toys have yielded place to none—
The genuine truth and austere knowledge stern.
In silent twilight dim, in lonely field
While standing here alone, I call to mind;—
On countless river banks, in mango groves,

Beside the holy temple's sacred ground
Resounded with the peal of Kans and bells,
On verge of meadows green, on Pookoor banks,
In every house around on threshold's floor,

New smiling faces shine—bosomful hopes
And blessings softened fancy's wild
Tho' gorgeous show, unbounded yearnings high,
A faith that knows no pale of bounding range.

Alone in th' light of stars I saw around—
Immersed in th' gloom mysterious, dim—
The world is full of children's merry roar,
The mother's face, the light in sombre dusk.

Danya
17th Agrahayan, 1312. (1905 A.D.)

Vain Desire

Vain is this wail!
Vain this fire filled wild desire!
The sun sinks down in the western sea,
The night approacheth;
Darkness in the wood and light in the sky,
And birds in the nest
And beasts in the lair.
Evening with her stooping face
Chasing slowly day's retreat,
Is coming down.
Blowing or not-so still, so mild-the evening breeze
Is wailing over the grave of light.

With hungry looks, with burning heart,
And gazing on the wistful eyes,
I seek and seek I know not whom,
But I seek and seek where search is vain!
Thou where? O! where art thou?
In twilight sky or sunset glow,
Where art thou?
In morning breath, in noon tide calm,
In sullen even's solemn balm—
The sweetest balm of blessful rest—
The matin song of chiming soul,
The music of the thunder roll,
The starry sphere's sweetness blest,
Where art thou?

❖

परिशिष्ट ४ (क)

भारतीय तथा पाश्चात्य प्राच्यविदों के पत्र

डॉ० वेनिस के पत्र—

पत्र संख्या—१ *

EDUCATIONAL DEPARTMENT

United Provinces.

Queen's College,
Benares
14th May, 1911

Dear Kaviraj,

Your letter of the 10th instant. I am sorry to hear that you have been down with fever of a severe type, but trust that you are making a good recovery. Are you wise to remain in the malarial climate of Bengal in these circumstances? You ask about the lectures on Epigraphy. They ought to be resumed about the 18th July next. But if you were to return to college earlier, you might begin reading with me, as at present I do not intend leaving Benares for the Summer vacation.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—२

Gopinath Kaviraj Esq., M.A.,

This is to introduce Goswami Ramlabhaya M.A. research student of the Punjab University, who is desirous of working in the Govt. Sanskrit Library. I shall be glad, if you will give him such help as you can in his special study of Ramayana.

A. Venis

23-12-1915.

* इस पत्र की मूल प्रतिकृति सम्मुख पृष्ठ पर दी गई है।

Educational Department,

UNITED PROVINCES.

QUEEN'S COLLEGE
BENARES
14 May 1911

Dear Kaviraj, Your letter of the 10th instant. I am sorry to hear that you have been down with fever of a severe type, but trust that you are making a good recovery. Are you wise to remain in the malarial climate of Bengal in these circumstances? You ask about the lectures on Epigraphy. They ought to be resumed about the 18th July next. But if you were to return to College earlier, you might begin reading with me, as at present I do not intend leaving Benares for the Summer vacation.

Yours sincerely, A. Venis

पत्र संख्या—३

Nainital,
22nd April, 1915.
Emily Lodge

My dear Gopinath

Here is Mr. Burn's reply, which please return to me. If I remember rightly there is a date on the seal, which Mr. Burn read 948 or 984; but I am doubtful of the numerals. Look at the impression again and have it verified by a local Maulvi or Persian Reader. Failing this, you might send up the single folio containing the impression, carefully packed between thick card boards and registered. The books mentioned by Mr. Burn are probably within your reach. When you have finished your note on *Virabhadra-Selim*, send me a copy which will interest some of us up here.

You have not written about your permanent appointment as Librarian in the Provincial Services. I congratulate you, and I hope that it will make you कृतार्थ for the time being so far as external goods are concerned.

Yours sincerely,
A. Aenis

पत्र संख्या—४

Nainital,
May, 1915.
Emily Lodge

My dear Kaviraj

Many thanks for the single folio of MS. कथा स० सा० and for your note thereon, which I shall make over to Mr. Burn at the earliest opportunity for further discussion and elucidation.

I now send you the 8 pages MSS. of my translation of Prof. Suali's book on Indian Philosophy. The English version lacks polish (as you will see); but I trust that it will serve its purpose in giving you all the information that the original contains and so helping you with your own research. Of course, much of the matter in Suali is well known to

you, but his method of treatment and his criticisms will arouse your interest. Probably you will make an abstract of my translation for your private use, in which case I should like you to get two copies of your abstract typed by Jagnandan Lal and to retain one of these for myself. You will find Suali referring to Windisch's theory that the Vatsyayanabhashya contains several passages of a Varttika character, which वार्तिकत्व he says has hitherto escaped the notice of Indian writers. W's monograph I have (in Benares) with my notes on it. This theory failed to convince me; and though I published nothing by way of reply to it, I induced the late P. Gangadhara to print such "Varttika passages" in a large tone of type to call attention to them in his Vizianagram edition of the Nyayabhashya. This matter may be new to you. Hence my reference to it here. If you think my version of Suali can be of real service to you, I shall be glad to send further instalments. But I should propose to reduce the labour, yours no less than mine, by reproducing Suali in abstract, except where it is important for you to know what precisely he has written. Suali is worth studying, because he has most industriously compiled from all the authorities on which he could lay his hands. And he is of all the more importance to you to know that you have made the Bibliography of the Darsanasastra, a special subject of research. What I would suggest is that you should write and publish notes on special points as they occur in the course of your inquiries. There would not be much difficulty, I think, in arranging to have your notes published. This suggestion has a practical bearing on your official position as Librarian of the Govt. Sanskrit Library and University Reader (Elect.), which would be enhanced in the esteem of Scholars by your publications. And this suggests another matter : Please send me registered your office list of the books we have orderd from Blackwell Oxford. Suali's foot-notes refer to many useful authorities which we ought to possess. I shall order them from N.T. direct after comparison with your list in the office. I don't wish to give you the trouble of writing out a fresh list. The registered post is sufficient protection for our office list.

Now for something quite different. How would you render the following in English :— (१) घट: (२) नीलोघट:, (३) नील: सुन्दरो घट: (४) घटपटौ (५) त्रय: काला: । The English rendering must not deviate from the

theoretical significance of the originals. Then, again, how would you expound in English :— मतुप् प्रत्ययोत्तर विहित भावप्रत्ययस्य मतुप् प्रकृति परिचायकत्व नियम: । It is this principle which (as you know) underlies the equation गंधवत्त्वम् = गंध: । But how would you expound this principle in English, showing its essential elements. I make no suggestions here, as I wish to compare our independent results. But from these questions of mine you will gather that I am now compiling notes on the Indian views as to the relations of thought with language, that is to say, putting together a sort of विषयतावाद to assist English-reading Sanskritists of the अधमश्रेणी ।

Rakhaldas Banerji has just sent me a copy of his 'History of Bengal' in his Matribhasha. It is an attractive book. Some of it, where the language is sufficiently "high", I can understand without Klesa. What do you think of the book? I hope you are keeping fairly well.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—५

Nainital,
8th July, 1915.
Emily Lodge

Dear Kaviraj,

I am glad to find from your letter that you have returned to Benares with your health restored. You must look after yourself carefully during this rainy season. Your letter to Mr. Burn to which you refer has not yet come to me. Please have a parcel made of the books entered on this list and sent up to me in Nainital as soon as possible.

1. *Chhandogya Upanishad,* Sanskrit Text.
2. Deussen's Sechzig Upanishads.
3. Manu Smriti : Jolly's Sanskrit Text or some other handy volume.
4. Buhler's *Manu* in S. B. East Series.
5. *Parashara Grihya Sutras,* Sanskrit Text and English version in S. B. E.

Perhaps it will be cheaper to send these books by Railway Parcel (paid H.M.S.) but care must be taken to avoid the rain.

I hear from Divekar that V.R.Valankar and V.H. Joshi of Queen's College wish to offer Group C Philosophy for the Final M.A. Sansktit. I am willing to help them in this Group, in which I am personally interested. Probably you would also like it; and we could together manage Groups A & C. Apparently there will be no Group D this year. Queen's College or the Sanskrit College help in Group A & C also. You may tell Valankar and Joshi what I have said, if they consult you.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—६

Nainital,
9th July, 1915.

Dear Kaviraj,

Thanks for your letter of the 7th instant. I shall deliver your letter to Mr. Burn when I see him this afternoon.

The Historical Society is pretty sure to come into existence in November. I shall send you a prospectus shortly. People seem anxious to have a society of this kind in our Province. In any case, I should like you to reserve your notes for publication in Journal of the new Society. And I don't think that you will have reason to regret having thus reserved your publications. By the way, do you want more bibliographical matter out of Suali?

The Registrar should soon let me know what is to be done re : election of University Sanskrit Scholar. Are you interested in any of the likely candidates ? Please return the Syriac Testament and Psalms to Blackwell, on H.M.S., with a letter stating that the book was not ordered by the principal or by Dr. Venis personally, and that it is of no use to the Sanskrit Library. It is not meant, I suppose, as a presentation copy?

I enclosed a letter for you yesterday in my official cover to the Head Cherk; and in it I asked you to send me some books at an early date.

I am working at *Nyaya Vaisesika*, but the progress is somewhat slow; and I must confess that the mechanical task of writing out notes is most distasteful. However, you shall see what I have been doing when I return to Benares.

Let me hear about your own when you have time to write.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—७

Nainital,
17th July, 1915.

Dear Kaviraj,

The success of the Punjab Historical Society and the growing interest in the study of history have led to the suggestion that a similar society should be constituted in the United Provinces. This area is one of the most important in connection with the study of Indian history. It includes a number of ancient sites and great cities of the past. Traditions still survive, and there is much material in public libraries and in private possession which requires examination and will amply repay publication. It is proposed to extend the field of enquiry to the history of the literature, languages and economices of the United Provinces. The information of a society may confidently be expected to stimulate interest in the history of the past. Such a society need not necessarily compete with other societies of a similar nature, such as the Asiatic Society of Bengal and the Royal Asiatic Society of Great Britain. Rather, it may be hoped that the labour of the members will arouse greater interest in them and will supplement the results obtained by those societies.

2. Attached to this letter is a draft to rules for the constitution and working of such a society. The draft is based on revised rules which were recently circulated by the Punjab Historical Society It is suggested that the porject should be discussed at a meeting to be held in November during the University meetings at Allahabad, when a number of gentlemen, interested in the objects of the proposed society, will

be gathered together. It is desirable that at that meeting it should be possible to make some announcement as to the members who are likely to join the society if it is constituted. If you view favourably the proposal, it would materially help in deciding whether a society is to be constituted if you would signify your intention to Dr. Venis, Emily Lodge, Nainital. If this appeal has met with a sufficient response, the meeting in November next might discuss questions of organisation, elect office-bearers abd constitute itself as a society with effect from the beginning of 1916. Any suggestions regarding the objects of the society and the draft of the rules now circulated will be welcome in advance of the meeting.

Yours sincerely,
A. Venis
R. Burn.

G. N. Kaviraj Esq., M.A.,
Library, Govt. Sanskrit College,
Benares.

पत्र संख्या—८

Nainital,
29th July, 1915.

My dear Kaviraj,

Thanks for your letter of the 27th inst., just received. You speak of "the last notes" you had sent me. To what are you referring? I have received no letrer of any kind from you for a long time.

Please don't send Blackwell's new lot of books to me up here. It will be a pleasure to look at them when I return.

I shall send you more matter from Suali re : Udyotakara Vacaspati and Udayana as soon as I can.

Are your lecturers on Pali only at the present time to the sixth year, Group A; and, if so, how many hours a week? What other books are you intending to read with this class ? You write as if Queen's College had arranged to teach all the remaining books to the class. Is

this the case ? How many men are there in the Fifth Year Class, Sanskrit ? Are you taking any of the work with them? You ought to send me an oficial report of your lecture work as soon as it is in full swing. The University will require you to do so. I hope to write to you again shortly. To-day I am pressed with letters. I hope you are taking care of yourself.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—९

Nainital,
5th Agust, 1915.

My dear Kaviraj,

Please attend to the following points as soon as possible :—

(1) What tikas to the *Tarkabhasha* exist in our Samskrit Library, or are available now through the kind offices of P. Vindhyeswari Prasad? I don't want Visvakarman's *Nyayapradipa*, which has been printed in Surendralal Gosvamin's Edition; nor do I want Govardhana's *Tarkabhasha prakasa* which is part of Paranjape's edition. But I should be glad to get MS or printed edition (if such exists) of the other tikas to the Tarkahbasha, or at any rate of some of those metioned on p. 11 of Gosvamin's Introduction; and of which the Dubeji has formed a favourable opinion.

(2) Please send me Ganganath Jha's Translation of the Tarkabhasha, if it exists in a separate volume. I don't want it scattered through several volumes.

I shall write again on other matters.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—१०

Nainital,
7-8, 1915.

My dear Kaviraj,

Thanks for your letter of the 3rd instant.

Your distribution of lectures is quite satisfactory and I further heartily approve of your idea of lecturing on *Kavya Prakasa* from the modern point of view. So please put your notes together. You may remember that in the notice published by the University an undertaking was given that you should leccture on this book during the current session. As to a report of your present work, nothing more is needed than your present letter. I am now in a position to state officially, if so desired by the University, what work is being done by you. It is a pity that we have so small a fifth year Sanskrit class. Are no more men likely to join?

On the next page I have attempted to answer the question re : आन्वीक्षिकी and Suali. Tell me what you think of my guess work in the same direction. I hope that you are keeping well.

Yours sincerely,
A. Venis

On the next page I reproduce all that Suali has to say about this work, its meaning or history. Briefly, his points are—

(1) Nyaya Vaiseshika as systems, i.e. recognised *Darsanas*, probably did not exist in Kautilya's time; otherwise they would have been mentioned *by name*.

(2) The word आन्वीक्षिकी means a method of inquiry based on topical reasoning; and as such is aptly discribed by Kautilya as "a light to all the other *Vidyas*". This general method of analytical reasoning would furnish what we may term a Canon of Dialectic or Debate, which would be the common standard or criterion employed in all the *Sastras*, and from which the Nyaya and Vaiseshika as distinct systems would crystalize out (so to speak) at a later date.

(3) Subsequent to Kautilya, this rationalistic point of view associated itself with Brahmanical, *i.e.* Vaidik. orhtodoxy and became the

recognised auxiliary to Aupanishada teaching; *i.e., atmavidya,* as for example in the passages found in the Vatsyayanabhashya.

Suali's treatment appears to *Sithila.* In the first place, he assumes that the names Sankhya, Yoga and Lockayata as used by Kautilya are indentical with the systems or Darsanas thus designated in the later literature. But are the grounds for this assumption quite clear? Personally, I an inclined to think that, in regard to Sankhya and Yoga at any rate, the terms were hardly more than general descriptions for certain undeveloped views in regard to God, the soul of man and the world. I am referring of course to the time of Kautilya. And my feeling is that to understand what Kautilya meant in the whole context under reference we must dive into the *Mahabharata* to find the truth. The only note I have with me (in N.T.) S.V. आन्वीक्षिकी is न्यायदर्शन "described in *Mahabharata* XII 318-86 as ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यम्" in Dahlmann's Samkhya Philosophie, pp. 4, 29, 30, 33, 37." I have no note here S.V. लोकायत. Returning to Suali, in the second place, if his first assumption be granted, why not further assume that आन्वीक्षिकी is the oldest name for the न्यायदर्शन ? His general argument in all other respects would apparently remain unaffected.

Now for a little bit of speculation on my own part. The root ईक्ष्, to perceive or know directly, is fixed in the literature from the earliest Upanishad times : cf. also Vedsu ईक्षतेर्नाशब्दम् (I quote from memory) and also धर्मेक्षा "dhamekh" at Sarnath (if you can so far indulge my guesses). May we not therefore suppose that आन्वीक्षिकी *i.e.* the re-thinking of all that is known through sense-experience or through Sruti was naturally the first word to occur as a designation for every kind of critical analysis, *i.e.* of Nyaya in the wide sense of the term. Even the *Baniya* in his buying and selling, would have need of such a system of 're-thinking,' *anvikshiki* in his daily business, As to *Lokayata,* I confess that I have not traced the history of the word. But in the earliest literature we find references to men who confined themselves to sense-experience (लोकवेदातिरिक्त प्रमाण s : v. लोक Ny-Kosa); and as thus rejecting Veda, all these men (Bauddhas, Jainas and so forth) may have been classed by Kautilya under Lokayata. The only point of my present speculation (which otherwise would not trouble you with) is to show

that Suali's treatment of the *Arthasastra* passage is not convincing to my mind. For a more useful suggestion let me recommend Hopkins' 'The Great Epic', and 'The Religions of India' both of which are well-indexed. Also Barth's 'Religion of India' and Dahlmann's 'Samkhya Philosophie' and his 'Mahabharata' and 'Nirvana' to all of which good indexes an\re appended. In a word, revise Mahabharata, as perhaps Kautilya had also 'revised' it when writing his *Arthasastra*.

7-8-15

A. Venis

We ought to order Jacobi's article "Zur Fruh geschichte dindischen Philosophie" as published in the Sitzungaberichta d Konigl. Preuss Akad, d. Wissenlihzu, Berlin, 1911. Perhaps I have ordered it already from Blackwell, in which case it may have arrived with the new lot of books.

Suali relies on Jocobi's Article in a large measure.

p. 17. Among the four sciences mentioned by Kautilya, आन्वीक्षिकी, i.e philosophy occupies the *first* place and comprises Samkhya, Yoga and Materialism. The other three sciences pertain strictly to the higher castes, namely Theology to the Brahman, Politics to the Kshatriya and Trade to the Vaisya. आन्वीक्षिकी, to which is thus assigned a place apart from the rest, is of most general application meaning as it does "a strict method of inquiry and logical demonstration". It is (in the words of the *Arthasastra p.* 7) " a light to all the sciences, an aid to all affairs, a support to all kinds of duties". Suali following Jacobi argues from the non-mention of Nyaya Vaiseshika under आन्वीक्षिकी that of the time of Kautilya these two were not recognised as *systems* of philosophy. On the other hand, Suali holds.

p. 18. that even in Ks' time there must have existed certain peculiar tenets of doctrines which at a later period were harmonized into the systems known as Nyaya Vaiseshika. And of these tenets those concerned with the science and art of controversy would be among the earliest to win general recognition and thus to take the form of a canon of a Dialectic (Debate) and perhaps

p. 20 even the more definite form of a Logical Theory (Science of Logic). Up to this point Suali may have succeeded in proving that a canon of logic existed as a common patrimony of all the Schools as early as the Fourth Century B.C. He refers to *Arthashatra* pp. 424-429 for the usage of words e.g. उपमान, पूर्वपक्ष etc. which occur in the same sense in the Nyaya system of a later date. And thus he ends his Chapter on the Early History of the Nyaya Vaiseshika systems.

p. 110 Returning to आन्वीक्षिकी, when dealing with the Scientific method of the Nyaya Vais' systems, Suali speaks of Kautilya's truly scientific spirit in excluding theology *i.e.* the two Mimansa systems, from आन्वीक्षिकी which is essentially a method of inquiry based on logical reasoning, while at the same time he admits Materialism to a place among the sciences. But this rigorous of rationalistic view of Philosophy was later modified, so Suali holds, by the addition to it of आत्मविद्या, or a doctrine of Salvation, as we see in the case of Kamandaki's work.

p. 111. of the 3rd or 4th cent. A.D. The spirit of this addition was that of a concession to official, Brahmanical orthodoxy.

p. 112. Suali then translates (following Jacobi) *Vatsyayanabhashya* p. 3, regarding इयमान्वीक्षिकी आत्मविद्या. In this passage आन्वीक्षिकी, is said to be a word derived from अन्वीक्षा = a re-examination or corroboration as applied to all matters first known through sense-experiences of Veda.

पत्र संख्या—११

Nainital,
12 Aug. 1915.

My dear Kaviraj.

Thanks for your letter of the 7th instant and also for the two MS tikas to Tarkabhasa safely to hand, one of which (as you must have noticed) is incomplete and defective. Thanks also for Rechtu Sitte which I ought to have acknowledged earlier. I am very sorry to hear that Dubeji is suffering so much; but I trust that the gout will quickly take

a turn for the better.

Have you heard of the recent discovery of a new edict of Asoka in the Nizam's Dominion? It is reported in to-day's Pioneer. I don't suppose we shall be favoured with an ink impression of the same.

Yours sincerely,
A. Venis

I am expecting a reply from you re : my note on आन्वीक्षिकी.

पत्र संख्या—१२

Nainital,
6th Sept. 1915.

My dear Kaviraj,

Returning to the Kumara Gupta Peacock legend, my restoration of the first portion of it as जयति स्वगुणैर्गुणराशि: meets with your approval both as to its sense and its metre. Further questions are these :

(1) As to the rest of the legend I can find no more than the words महेन्द्रकुमार: And if we suppose that this is the whole of the legend, what then happens to its metrical structure? Nothing will remain of it, I fear.

(2) Allen, in his B.M. Cat., thinks we can find traces of five illegible *aksharas* between the शि: of शशि: and the म of महेन्द्र. Suppose that this is so, then we might have a line of eleven *aksharas* for this the seconed part of the legend, and so preserve the structure of वेगवती. Now as the scheme for the part to be restored must be—vv—v, it follows that the word preceding महेन्द्र cannot be an inflected noun or adjective; as then the last would be long (—). We, therefore, are driven back on a *samasa* form, or on a particle like इव, *i.e.* we might have—vv गुप्त महेन्द्रकुमार: or say a merely schematic वेगवतीव महेन्द्रकुमार: I like the इव idea. Query, find the name of a god to fit the scheme, vv—,I think of a god : because the Deity gives गुणराशि: as a name of Siva. But I cannot hit upon the exact word. What suggestions have you to offer as to these two questions? The second hardly arises, if you can give a satisfactory answer to the first question. I shall be glad to have an early line from you.

The Registrar writes that he has informed Pt. Shyam Sundar Sarma of the Maharaja's College Jaipur of his selection to the University Scholarship and directed him to report himself as soon as possible in Beneres for further study under my guidance. I have heard nothing from the youngman. Do you know him? And what sort of man is he?

Brindavan telegraphed to me for "a certificate to be sent to his father at Rangpur". I replied that I could not understand the message. But the boy has not written in answer to my letter. What does it mean?

I have had no time to make a more careful study of the new Asoka edict. It certainly appears to be another version of the Rupnath-Brahmag : group, but with important variants. I hope that all goes well with you.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—१३

[illegible] Lawn : 28 Nov:

My dear Kaviraj The heart knoweth its own bitterness But the words of a pupil and friend are not lost even in such an hour as this. From all my heart I can and do thank you for the letter I have just read.

I am yours sincerely
A Venis

डॉ० वेनिस के एक पत्र की प्रतिकृति (प्रथम महायुद्ध में डॉ० वेनिस के पुत्र की मृत्यु पर कविराजजी जी द्वारा लिखित संवेदना पत्र के उत्तर में प्रेषित)

पत्र संख्या—१४

Woodstock,
Nainital
4th May, 1916.

My dear Kaviraj,

Will you kindly attend to my note below. I am sorry to trouble you; but Ganganath's English version, I suppose, we ought to have read. And I am now revising the *Vais. Su.* and *Prasastapada.*

I hope that all goes well with you.

Yours sincerely,
A. Venis

Ganganath Jha's English Translation of the *Padarthadharma Samgraha* in the 'Pandit' journal.

I have brought away with me the following issues :—Down to August 1904 which concludes with page 46 of the Vizianagram Edition of the Sanskrit original.

Next April-June 1914 Vol. XXXVI which begins with 295 of the original and onwards.

Please send me by the cheapest route (but not by goods train), the intervening issues of the 'Pandit' to fill up the gap between page 46 and 295 as above noted.

If these issues are not in the Sanskrit Library please borrow them from Queen's College and despatch them to me at an early date.

4-5-16.

A. Venis.

पत्र संख्या—१५

Bhasarvajna

Suali refers to Vidyabhusana's Edn. (1910), and accepts the conclusions of this editor as to the date of Bhasarvajna, namely, the first half of he 10th Century; i.e. probably before Udayanacharya.

In describimg the Nyayasara, Suali follows Vidyabhushana, and recognizes a distinctly Budhistic influence on the method of this work.

Thus the importance attached to *pramana* (which. Suali says means not only "means of knowledge" but also knowledge itself) is a trace of Buddhistic influence. Suali also refers to the rejection of upamana in the Nyayasara. He is not inclined to accept Vidyabhusana's suggestion of Jaina influence in this work. In a note, p. 60, Suali refers to the commentary by the Jaina Jayasinhasuri and remarks that the very Eclecticism of the Jainas gives to their philosophical works an importance both theoretical and historical which grows the more we study their literature.

Then as to the strictly religious elements in *Nyaya and Vaisesika* Suali (133-38) refers to the Dinnagas *Nyayasara* pp. 38-39 Vidyabhusana's edition as proving that Yoga practices were introduced into the Nyaya-Vais. systems along with, and only throhgh the worship of Siva. Thus a Brahmanical writer of the Nyaya School directly confirms the detailed information as to sectarian peculiarities. which the Jaina writers Gunaratna and Rajasekhara ascribe to the Ny. Vais. systems.

(This is a part of a English section in Suali. His summing up is practically this in three stages : (1) *Saiva* tendency of Vaisesika due probably to the general religious atmosphere and not originally present in the system; (2) theism of Nyaya akin to Saiva theism; (3) fusion of these two elements and the adoption of the cult and religious practices of Saivism.

If this is altogether an original contribution by Suali, I may send you a summary of his chapter on the subject. He may be working on (Vidyabhusana).

The Bhusana is only mentioned once by Suali at p. 59, as a commentary on Nyayasara. In a note in loco Suali draws attention to Harprasad Sastri's statement that the Nyayabhusan to which Ratna Kirti refers is not a tika to the *Nyayasara.* (Some Buddhist Nyaya Tracts, Preface p.3.)

Woodstock
Nainital
11 May, 1916.

My dear Kaviraj,

I was glad to receive your letter of the 7th instant. Above is a note abridged from Suali. He does not mention the other names of authors to whom you refer. Suali should be read. So far as I have seen he does not enter into the very interesting question of the two *mukti laksanas* which now engages you. But I must read Suali more carefully through in regard to these points and send you notes from time to time. Writing out such matter consumes time; and may also give you much that is of no use as being *pistapesana* for one so widely read as yourself.

I am waiting to hear when you are closing the library for the vacation, and where you mean to enjoy your rest.

Meanwhile please attend to the following points :—

(1) a short report from you as to your University work during the past session. The Registrar writes for it as urgent.

(2) Reference to a Greek named Demetrios Galanos who lived in Benares about 1800-1830 A.D. and translated the Gita and other works into ancient Greek. His cenotaph is in the old Cemetery at Sikraul, Benares, with a Greek inscription and Persian couplet.

Max Muller of Schrader's 'Indien's Literatur' may contain references.

I shall be glad to have as much of your paper as may be ready for Press in the Journal of the Hist. Soc. and also to know your view of the असम० problem.

I hope that all goes well you. Remember me to the research scholars.

With kind regards, I am
Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—१६

Nainital,
3rd May, 1917.

My dear Kaviraj,

Your private letter of the 1st instant, re. the Scholarship Trust which B. Hiralal Mukherji proposes to create in our Sanskrit College and vest in the Government of the United Provinces. You say that he desires to put the matter through as speedily as possible. And with this view he would do well to address the Secretary to Government, Education Department, United Provinces, Nainital. He should state his wishes as simply as possible in regard to the disposition of the proceeds of the Trust in the way of Scholarship; and the Capital sum, *viz.* Rs. 7000 in Govt. Pro : Notes which I suppose bear interest at 3 1/2% per annum—and thus realize in interest Rs. 245 p.a. less Income Tax and the name by which the Trust is to be known. And in offering this sum to the U.P. Govt. he should ask to be provided with a regular form of application, if any such exists, for this purpose, and with any other necessary information. He might add that owing to his advanced years he is anxious to have all the legal details of this bequest settled at an early date.

In regard to some of the conditions proposed by B. Hiralal Mukherji I venture to offer a few remarks :—

(1) In these hard days Rs. 4/- p.m. to a poor *vidyarthi* in Benares means starvation. If the monthly stipend were raised to Rs. 8/- and the number correspondingly reduced, the cause of learning in the preson of a *vidyarthi* would be better served. At least, it so appears to me.

(2) Indefinitely prolonged tenure of a stipend is open to many objections. I would suggest a term of six years, with possible re-election at the end of that period for a further term of two years. I mention six years as the period at present covered by our Acharya course in any of the Sastras. Though of course I don't necessarily imply that the scholarship holder should enter for the Acharya Exam. in the regular way. On the other hand, it is a necessary condition (so we have learnt from our experience with the Kathiawar stipendiaries) that the tenure should............ (शेष अंश नष्ट हो चुका है)

पत्र संख्या—१७

Nainital,

The University Reader,

Please supply me with a note in reply to the Registrar's letter in regard to your own teaching and research work, and the work of the research scholars, which please return at an early date.

8-5-17 *A. Venis*

My dear Kaviraj,

I have not received your note on Narendradeva's inscription which you promised to send in a day or two. Mr. Burn was asking what matter you had prepared for the second issue of U.P. Hist. Soc. Journal which is now being put in hand. You also promised to let me have a note on the materials for publication which were ready for press to be submitted to Government. I hope you will finish these before going on vacation. Trusting you are well. I am,

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—१८

Nainital,
Oak Park,
25th July, 1917.

My dear Kaviraj,

As promised I return to your letter of the 18th instant and I follow the order of your points :—

(1) I am very glad to hear of the progress you have made with your "Anc. Ind. Theism". By all means send me the MS in instalments and it shall have my best attention. You don't mention the extent of the whole work. If it is likely to engage you for the next two or three months to the exclusion of other literary work, the question arises whether it would not be well to let this your magnum opus be a little

delayed (but not altogether put aside) while you put your pen to other contributions which are pressing in the immediate present.

A. Here I must digress to speak of these other articles. In the first place what is needed as soon as it can be compiled, and the sooner the better, is a monograph descriptive of the most noteworthy MSS in the collection recently purchased from M.M. Vindhyesvari Prasad. The Government have asked for a fullest description of this collection. And Mr. Burn, who by the way was very pleased with the progress being made under you in the Sanskrit Library as he noted on the occasion of his visit last week, has again mentioned the subject to me. I am writing to Dubeji to give you all the help in his power to prepare the required document which would have to be written in English. Meanwhile please read this portion of my letter to him and dwell on its urgency. He told me sometime ago that he was getting the materials together but I have heard nothing more from him. Our scholars would of course help you with the mechanical task of making extracts and so forth from the original MSS. Your monograph would be published either by Government or by the U.P. Hist. Society.

B. And here I digress to my second point, which concerns your promised contribution to the journal of Hist. Soc. You said that your contribution or part I of it would be ready by the end of July. We require it as soon as ever you can send it. We are now gathering in matter for the second issue of the journal. (The first number is at last being hurried through the Press, with whom all the blame lies for this long and disappointing delay).

2. You mention the Bibliography of *Nyaya Vaisesika* comprising 200 pages of type-written matter. Excellent ! could this, or some part of it, be taken as a whole and reckoned as Part I ? If so, we might at once ask Government to publish Part I. Please don't imagine that I am trying to hurry you through all this work. By no means so. I know how devoted you are to your work, and I am greatly concerned that you should not risk your health during this very trying season of the year. All that I desire is to put before the Government a certain amount of the good work which you have got ready for publication during your

tenure of office in the library. With this placed on the record, we may have to wait for available funds to print. But the record will be in existence. Now I trust that I have made my object quite clear.

3. This brings me to the 4 MSS, Varadaraja's *Bodhini re :* texts and indexes. You noted on the packet :— "Details follow". These have not come to hand yet. Please send a descriptive note showing the विशेषता of each MS so that Government may know our reason for wishing to publish these hitherto unedited MSS. Meanwhile I have arranged to have an estimate prepared up here of the probable total cost of publication. May I assume that each text will have an introduction in English extending from 8 to 12 pages, 8 VO ? I should like to have your note as soon as possible.

4. Your tutorial lectures on the History of Sanskrit Literature for the Sadholal scholars are just what is needed for them. May I suggest that you should introduce them to the bibliography of the periods studied, showing them the best editions (and procuring the same, if not existing in our Library) ? This reminds me to ask whether you have arranged to buy journals according to the recent order of Government sanctioning purchase from a separate annual contingent? I sent down a note to this effect through the office sometime ago.

5. I have not received any application from a gentleman wishing to study Vedic Literature in our Library. His application was not enclosed in your letter under reply. He may of course work under the rules but he should not be allowed to remove any books from the Library.

Please remember me to all the scholars. I mean to write to them soon. Let me hear from you shortly. Thanks for telling me about Mercier and the Pali Compendium of Philosophy. I may write for them later. At present I seem to have enouth (and perhaps more than enough) on hand. With kind regards and all good wishes, I am,

Yours sincerely,

A. Venis

पत्र संख्या—१९

Nainital,
8 August, 1917

My dear Kaviraj,

Many thanks for your letter of the 4th instant to which I hope to reply in a day or two. I have written to the Principal of Qunen's College re : your confidential postscript explaining the situation and conveying your offfer to help the men informally with the book on Palaeography in particular; and, in a general way, with other matters that they may refer to you for solution. And I have asked the Principal to send for you and talk over the plans. Practically these D Group men need not despair of help, if like their predecessor (Antani & Joshi) they will frequent our reading-room.

By the way, Antani has never replied to my letter adderssed to Balapur (C/o the Raja Saheb) many days ago. What is he doing? More shortly.

Yours sincerely,
A. Venis

पत्र संख्या—२०

Nainital,
10 August, 1917.

My dear Kaviraj,

Returning to your letter of the 4th instant, I take the points in order.

I have received an estimate from the Govt. Press, Allahabad for the editions proposed of the 4 MSS to which you refer. Each edition to comprise 300 copies. The estimate is very moderate, so that Goverment sanction for the printing is probable. Before I put up a case to Government, I wish you to state whether the said MSS belong to Government and if not, whether there can be any objection to their publication; and also whether the MSS have been published previously at any time. As

soon as I receive your reply, I shall put up the case. The sooner the better.

Then as to the private collection of MSS recently acquired from Dubeji, we need a monograph of the kind which you describe in your present letter, and which should set out (in a scholarly form) wherein the *visesata* of this Collection consists. What I desire is that apart from the material which the Dubeji promises to supply and I fear only too slowly. you should write the monograph as soon as you can; so that we may ask Government to publish it within the current year. Your work cannot exhaust the collection and will not pretend to do so. But it will serve as an extensive Report and also serve the purposes of scholarship. Of course you would take the assistance of the Research Scholars. Over and above your work, the Dubeji must complete his full description of the private collection which he sold to Government for Rs. 10,000/-. He must not imagime (and please put this point clearly to him) that your monograph will absolve him from sending the full report which is officially due from him. The idea of photographic reproduction of some leaves of the MSS for palaeographical purposes is a sound one. The Govt. Photographic Press at Rurki College could tell us more about this matter. We can write to them when the time comes nearer.

I am waiting eagerly for your "Introduction to Theism", and for your queries on Buddhistic Realism, though I fear that my help in such matters cannot be great owing to my want of special Knowledge. As I told you, I have already written to the Principal about your work with the M.A. Sanskrit men, and I hope the matter will be settled to the satisfaction of all concerned.

Yesterday I returned through book post registered six old books which you sent to me from the Library. I have addressed the packet to the Head Cleark, Queen's College. By the way, the book on Indian Iconography to which I referred in an earlier letter was published in two volumes (green covers). Please let me know its full title. I hope that all is going well in our Saras. Bhav. With kind remembrances and good wishes to all of you, I am,

Yours sincerely,

A. Venis

पत्र संख्या—२१

Oak Park,
Nainital,
6. Sept.

My dear Kaviraj,

Many thanks for your last letter to which I shall revert later. Meanwhile, will you kindly look at my queries over-leaf and favour me with your reply as soon as you can. You will see that the points raised are of some historical importance. Probably the matter has already attracted your attention. You might show my note to Shyam Sundara and the Sadholal Scholars and return it to me with your reply. Our *Vaiyakaranas* will be interested in the difficulties now raised.

If I remember rightly, I left the facsimiles of the recently discovered Sarnath epigraphs of Kumara Gupta and Budha Gupta (on two Bodhisat images) in the Sanskrit library, Shyama Sundara will be able to lay his hands on the facsimile. Please send these to me, and also a nagari transcript of them which he is sure to have recorded and kept safely. More I hope to write shortly. With kind remembrances to you all, I am,

Yours sincerely,
A. Venis

P. S. Please rectify any mistakes or inaccuracies to be found in my note.

पत्र संख्या—२२

Alexandra Hotel,
Dehradun, U. P.
10th March, 1918.

Strictly private and confidential.

My dear Kaviraj,

I hope you have accepted the *viva voce* examinership M.A. Sanskrit Epigraphy Group. I am now to offer you some suggestions as to the conduct of your part to the Examination.

I. First, as to the materials which you should take with you to Allahabad.

These I think you will find already brought together and placed within my old copy of Buhlers Seventeen Tables (Grundriss). They comprise, if I remember rightly (a) small photograph of the Ramapurva Pillar Edict (within a sheet of paper addressed to me with the compliments of Sir John Marshall); (b) facsimile of the Sarnath Edict and (c) of the German Edicts in part. My copy of Buhler's Tables you will find in my little private room, lying flat on the top shelf of the book-case, which stands immediately to the right of the door as you enter the room and which faces door south. This room is kept locked you can get the key from Gaya, *chaprasi* or from Mrs. Venis's female servant. The room should be locked again and the key duly returned to Gaya for safe custody.

Alongwith these epigraphs you might take with you to Allahabad, Fleets' Gupta Volume for use in the *viva voce* room, Senate House.

II. As to the mode of conducting the *viva voce*, the candidates should be tested in their ability to decipher and correctly transliterate the original script into modern nagari or roman character. (they have not been thus tested in the Asoka paper). To save time, the simplest plan would be to call the epigraphy condidates into the room at once and provide them with pen, ink and paper to write out the transliteration. This part of the examination need not occupy more than 1 1/2 hours (one hour and a half) and the epigraphs or extracts from them, should be chosen accordingly and distributed in turn among the candidates. I don't know the exact number of the candidates in Group D. But if their number is large you may find it convenient to begin at once with oral examination of one of them as soon as others have been set to the transliteration task. And the oral examination of the first candidate you might begin by asking him a question or two out of the papers which were set this year and with copies of which the Registrar will provide you in the Senate House. It would be well if you look into the Exam. Room the Answer Books to the Question Paper (? Gupta) which you set yourself in the first instance, so that condidates may be examined on points which they have committed to paper and in regard to which they may feel more at their ease. The transliteration exercises

will of course suggest many questions, and you could arrange to glance through parts of these exercises which candidates have finished, while they are completing the remaining portions, so that no time need be lost.

N.B. The transliteration exercises should be carefully secured under sealed cover and, at the end of the day, handed over to the convener M.M. Dr. Jha.

The oral examination as distinct from the transliteration need not occupy more than half an hour per candidate; though of course this is a point for yourself and the Convener to determine in each case.

III. ***General Suggestions.***

(a) You should show this note of mine to the convener M. M. Dr. Jha for his approval or modification (I am offering suggestions merely. I am not attempting to tie his hands or yours in any way.)

(b) Before leaving the Senate House you should make out your award of the *Viva Voce* D. Group, submit it to the Convener and having duly signed it make it over to the Convener for transmission the proper receiving authority. If the correct procedure is diffierent, Dr. Jha will instruct you.

(c) As already explained, an essential object of the *viva voce* test in the present case is to test the candidate's ability to read and correctly transliterate passages of moderate difficulty in the Brahmi and Gupta scripts, and, in awarding marks this side of the oral test should not be lost sight of.

I fear that I may have troubled both you and Dr. Jha with much that is quite obvious; and quite possibly I may have omitted to touch on what is important. But I may surely ask your indulgence. With all regards, I am,[1]

Yours sincerely,

A. Venis

❖

१. यह पत्र डॉ० वेनिस ने अपने देहावसान से एक मास पूर्व रुग्णावस्था में ही कविराजजी के पास उस समय भेजा था जब ये प्रथम बार एम० ए० की मौखिक परीक्षा लेने के लिए इलाहाबाद जाने वाले थे। पूर्वानुभव न होने से इनके पथ-प्रदर्शन के लिए इसमें कुछ उपयोगी सुझाव दिये गये हैं।

परिशिष्ट ४ (ख)

अन्य पाश्चात्य तथा भारतीय प्राच्यविदों के पत्र

†पत्र संख्या—१

Lahore : April 7, 1895.

My dear Venis,

I have been very much interested in the curious points to which you called my attention in your kind letter of the 25th ult., and should have gladly answered it earlier but for the heavy work which is still thrown upon me in connection with recent University Examinations.

I am very glad to see that you are following up with so important results the chronological *data* furnished by Jayanta's pedigree. I have myself made a reference to this in the Introduction of the Jammu Mss. Catalogue (p. six), but am afraid of having trodden on rather dangerous ground without proper caution. (When suggesting the *Possible* identity of Jayanta with one of the authors of the Kascika, I had lost Itsing's statement unfortunately out of sight).

You ask me for the date of Muktapida (Vulgo Lalitaditya) according to Kalhana. In reply I must to my regret acknowledge my want of confidence in all these dates of the Chronicle which rest on pure calculation. *i.e.* are previous to the occassion of King *Ajitapida* (Saptarshi 3889=813 A.D.). This is the first date plainly given by Kalhana (Tar. IV. 703) in the traditional Kashmirian Era and the first on which, for various reasons too long to explain here, I put any reliance.

The dates which you will find given for the preceding reigns in Cunningham's paper (Numismatic Chron.) Trayer, etc. are all obtained either (a) by adding the years allotted by Kalhana—or, the

† यह पत्र कविराजजी को डॉ० वेनिस के संग्रह में प्राप्त हुआ था। इसके लेखक हैं मध्य एशियाई साहित्य के विशेषज्ञ, प्रख्यात प्राच्यविद् स्टाइन, जिन्होंने कल्हणकृत राजतरंगिणी का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद दो भागों में प्रस्तुत किया था। व्याख्या तथा परिशिष्ट से समन्वित यह विद्वत्तापूर्ण संस्करण आज भी अपने क्षेत्र में अन्यतम माना जाता है। इसके अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, मेगस्थनीज अण्ड कौटिल्य (जर्मन) तथा ए डिस्क्रिप्टिव कैटालाग ऑव संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट्स प्रीजर्व्ड इन दि रणवीर संस्कृत लाइब्रेरी, जम्मू।

gods alone know, what combinations and calculations—to the intervening kings, to the fictitious or half mythical date of Gonanda III. (Kali 1919 = 1182 B.C.) *or* (b) by deducting the same years from the fixed date of *Ajitapida,* 813 A.D.

The latter process, of course, is comparatively the safer one. But even when applying this process we cannot ascertain the dates of preceding reigns with (nominal) accuracy on account of the various readings occurring in Kalhana's statement regarding the numbers of years. Thus among the rulers intervening between *Lalitaditya* and *Ajitapida* there is one, *Samgramapida,* who is credited with 7 days according to A_1 (first hand of Archetypus) or 7 years according to A^3 (a later correction in Archet).

Following process (b) and adopting the reading A^1 you will obtain for Lalitaditya the dates 700-736 A.D. as given by Max Muller, India, etc. p 335. A^3 is preferred, the corresponding figures will be 693-729 A.D. (Cunningham).

These calculations are, however, reduced to their real value by the fact that the Chinese Chronicle of the Thang dynasty mentions in 720 A.D. the grant of the royal title to King Centolopili (*Candrapida*) who according to Kalhana preceded Lalitaditya by over 12 years ! (See Reinad, Memoire sur l' Tucle p. 189, Buhler, Ind. Ant. II, p. 106).

Fortunately some reliable indications of Lalitaditya's date is furnished by the Chinese statement that *Mutopi,* i.e. *Muktapida*, sent an embassy to the Emperor Hiuentsung 713-755. This makes it possible to fix Saktisvamin's date with Buhler in the second quarter of the 8th century. Following Buhler's assumption also as regards the length of a generation, I should feel inclined to place Jayanta in the first quarter of the 9th century.

I must, however, bring to your notice before closing my remarks on this point, that the Jammu MS of *Kadambarikathasara* reads in verse 7 of the Introduction for मुक्तापीडस्य the name चन्द्रापीडस्य, a reading which would throw back still further the dates of Saktisvamin and Jayanta. My own MS. of the work unfortunately has lost the first pages— The difference between the two names is considerable also in Sarada writing.

Your second enquiry touches apparently a point of Kashmir topography in which, as you know, I am greatly interested. I should think, that reading of the *Nyayamanjari* regarding the गौरमूलकं ग्रामं is quite correct. Without knowing the context I should not venture to suggest the identity of the place with घोरमूलक of the *Rajatarangini* VIII. 1861, but the similarity of the names is so close as to make me wish to follow up the matter further.

Ghoramulaka is mentioned as a place which Sujji, an exiled noble, reaches when proceeding from Rajapuri to join Lothana and the other rebel princes at Lohara. As Rajapuri is the modern Rajaori and as Lohara has been identified by me in 1892 with the modern Loharan, a valley on the South slope of the Pir Panjal Range I believe, *Ghoramulaka* must be somewhere on the route which to this day leads from Rajaori across the Rattanpir Range, into the Punch River Valley and hence via Loharan and the Toshamaidan pass into Kashmir. I have not been able to extend my tours in search of Kalhana's localities so far South and can, thererfore, not fix the position with accuracy.

The difference of घो and गौ is quite immaterial. There is little doubt about such place-names in the *Rajatar,* and other Kashmirian texts being merely sanskritized forms of genuine Kashmiri words. Kashmiri knows no *gh* (*gur* is Hindi, *ghoda* etc. see Buhler's Kashmir Report, pp. 25, 84) and makes a scarcely perceptible difference between *o* and *an.* Gauramulaka and Ghoramulaka might, therefore, be two independent attempts of rendering the same plain Kashmir village name *(goramul)* in a form palatable to Pandits.

You would greatly oblige me by getting me a copy of the passage of the *Nyayamanjari* in which your quotation occurs : nil cashmiricum a me abienum puto, and I might have to refer to your village name in the *Rajatar,* commentary.

The latter I shall now be in a position to push on in good earnest, since the Kashmir Durbar has made an arrangement with the University by which my services will be set free for this purpose from the end of May till the middle of October this year and also in 1896. The matter has had to pass through the Government of India and has been pending for so many months that the favourable decision which reached me only a few days ago, has naturally been a very pleasing event for me. I hope to turn the 9 months of undisturbed work to good account in Kashmir.

Hoping that you are well, notwithstanding the approaching heat and will sometimes favour me with brief news about yourself.

Yours ever sincerely,
M. A. Stein

†पत्र संख्या—२

107, Banbary Road
Oxford
19, 1902

Dear Norman,

I have only lately returned to Oxford. I received your letter of the 25th ult. just before leaving. I stupidly left it behind by mistake and have consequently been unable to answer it till my return. The way I am going to arrange my material is this. All verbal forms will be given under the three-group to which they belong, the roots being given in their alphabetical order. Thus all the perfect forms of कृ and भू would come under Perfect, indicative first, then the moods; all the form of कृ first भू afterwards in its alphabetical place as a root.

Each form of present base would have all the roots forming it given in their alphabetical order, with all the forms of each belonging to that present base. Thus all the *bhu* verbs, each with all the inflexions of its present base, would be together alphabetically arranged. The same would apply to past participles etc. The nouns would be alphabetically grouped according to their final, i.e. all nouns ending in-i, *aksi, agni, mati* with their respective forms, but separated according to gender similarly all nouns ending in a particular suffix, as man. There will be a general alphabetical index for the whole book.

I think you had better arrange your material in the same way as I intend to do the whole.

As you are going over the whole material again to ensure accuracy, I daresay you would not find it very troublesome to add the

† यह पत्र कविराजजी को क्रींस कालेज में फ्रेंच, जर्मन तथा पालि के शिक्षक प्रोफेसर नार्मन के संग्रह में मिला था। इसके लेखक हैं इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्राच्यविद् आर्थर एन्थॉनी मैकडॉनेल, जो 'सर्वानुक्रमणी (१८८४ ई०)', 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर', 'वैदिक इंडेक्स (कीथ के साथ)', आदि ग्रंथों के लेखक रूप में प्रतिष्ठित हैं।

prepositions with the cases they govern (as distinguished from verbal prefixes). It is important to have these also.

I can explain anything I have not made clear after my first lecture on Wednesday.

Your's sincerely,
A. A. Macdonell

पत्र संख्या — ३

Jabbalpore,
1st January, 1908

To,

A. Venis Esqr.
Principal,
Queen's College,
Benares.

Dear sir,

During your short tenure of Directorship in the Central Provinces, while on inspection-duty once you paid a visit to the Govt. College, Jabbalpore, and I had then the good luck of paying my respects to you in the class-room as well as in the circuit house where I presented to you an acrostic with which you were very pleased. My short experience of your kind and sympathetic disposition emboldens me now to take the liberty of presenting to you, on this New Year's day, a copy of my Edition of Avadana-Kalpa-Lata Pallava III, as an humble token of my love and respect for your deep learning. I beg to request that if, on perusal, the book is found to be a better and a suitable substitute for the Bibliotheca Indica publication, you will be pleased to recommend it to the Board of Sanskrit Studies for being prescribed as a Text Book in place of the said publication copies of which are rare and available with difficulty.

Hoping to be excused for the trouble, I beg to remain Sir.

Yours very truly,
Sadashiva Jairam
Prof. of Sanskrit, Govt. College,
Jabbalpore

† पत्र संख्या—४

Halle
21/11/12,

My dear Venis,

By registered packet I am returning the *Sakuntala* MS. which you had kindly sent me. I have mislaid your official letter which reached me with it, but am afraid the period of loan has been exceeded already. The MS. is not of very great value. I had stillhopes to settle the text of the shorter recension with the help of Southerm MSS. from which, as Pischel has proved, the so-called Nagari recension is derived. This is proved by spellings like सउंदला for सउंतला which are due to the Tamil pronunciation. A few months ago I sent you a fresh note on Sarnath And Rupnath and trust you will agree with my conclusions. The word *uyanjana* is still doubtful, and I am not sure whether the way in which I have taken it is correct. At any rate Fleet will have to give up his theory of years corresponding to nights.

Yours sincerely,
H. Hultzsch

पत्र संख्या—५

DEPARTMENT OF COINS AND MEDALS
BRITISH MUSEUM,
LONDON : W.C. 18/2/15

Dear Venis,

I am sorry I have not sent you the Gupta casts before this; but the series was among those we stowed away out of reach of the Zeppelins so that they have been inaccessible for casting.

I am therefore sending you. There is nothing new here since you left, I think. I am trying to collect some information about early Hindu local coins with a view to cataloguing our collection. They are a diffi-

† यह पत्र भी कविराजजी को डॉ० वेनिस के संग्रह में उपलब्ध हुआ था। इसके लेखक हैं विश्वविख्यात जर्मन प्राच्यविद् हुल्श, जिनके लिखे 'इंस्क्रिपशंस ऑव अशोक', 'शिशुपाल वध' (जर्मन अनुवाद-१९२६ ई०) आदि ग्रन्थ सर्वविदित हैं।

cult lot no one except Cunningham had paid much attention to them.

If I can send you any thing else in the way of casts I shall be glad to do so. Please remember me to Campbell of Nelson Wright the plates used for illustrating my catalogue which will no doubt serve your purpose as well. I have taken off a number of casts of coins in the Museum as I want to keep them but there will be plenty left.

If you heat the paste bo..d a little it melts the gum holding the casts and they can then be lifted off. I hope you had a good journey out and will have the worse of it, when you see them.

The Cambridge History of India Vol. I has not yet appeared although it was due last September—positively this time. I am in no hurry for it as I am due to write the fifth chapter for Vol. II and have not begun yet.

If you can take up a new Gupta inscription for me to edit.........like that, I shall be very pleased.

Yours sincerely,

J. Allan

† पत्र संख्या—६

Queen's College, Benares

24-7-19

Dear Dr. Ganganath Jha,

The Director of Public Instruction tells me that it is probable Dr. Laddu will be placed on special duty at an early date and suggests to me that I should approach you with a view to finding out whether you would be willing to spare Pt. Gopinath Kaviraj from the Sanskrit Library to officiate for Dr. Laddu in Queen's College for a period of six months. If you could oblige us in this matter we should be greateful. It is not easy to get a man competent to teach Epigraphy and Palaeography and that is what we want this session.

The D.P.I. suggests to me that perhaps Mr. Antani might be capable of doing Pandit Gopinath Kaviraj's work in the Sanskrit Library. I merely mention this to you.

---

† डॉ० वेनिस के संग्रह में प्राप्त यह पत्र भारतीय मुद्राशास्त्र के प्रख्यात विशेषज्ञ एलेन की हस्तलिपि में है।

Brindaban Chandra Bhattacharya was asking me for a post yesterday. I told him I had no vacancy and suggested that he might go to see you. He heard of Dr. Laddu's possible departure and seems to have inferred that I should approach you with this suggestion about Kaviraj I gave him no such information. I trust he did not worry you.

Yours sincerely,
H.N. Randle

पत्र संख्या—७

Dear Gopinath Ji,

I got this from Randle yesterday. What are your own wishes in this matter ? You know that 'spare' you we cannot. But if the officiating appointment means any thing in the way of promotion, I would be last person to stand in your way.

I propose to write in the above terms to Randle. But I should like to know your wishes in this matter.

In the event of your going Antani would be no good. Would Shyam Sunder care to come only for six months? If not whom would you suggest ?

If you don't wish to go—I suppose you can undertake to help the Queen's College by helping them as regards Epigraphy, what you are already doing in fact.

I should have liked to talk the matter over with you. But as you are unwell and the weather won't permit of my going out—we have to rely on letters.

Yours
G.N. Jha
25/7

In the mean time I am writing to Randle to inform if the officiating appointment will mean any promotion to you.[1]

G.N.Jha

Sub : The Buddha—Sinhalese Tradition.[2]

Fausl. Jat. I. p. 64 etc., (of fausl. Dhammap. p. 118 where he has misread the MS). With the Pancavagguja bhikkhu Gotama spends six years in the great exertions—"Chabbassani mahapadhanam padahantam". Then he faints and recovers and realises : "Ayam dukkarakarika nama bodhaya maggo na hoti", and takes ordinary food. The others leave him and go to the Isipatana. On the fullmoon day of visakha as he sits under a tree, Sujata brings him the dish of rice. Gotama makes 49 pindas of rice, corresponding to the "Sattasattaham" which he has to spend in the Bodhimanda. He then proceeds towards the Bodhi-tree. Sotthiya gives him eight handfuls of grass. Facing the east he sits down vowing "na to eva Sammasambodhim appatra imam pallankam bhindissami" Mara comes with his army and assails him. The calling of the earth to witness Gotama's

१. डॉ० टी० के० लड्डू राजकीय संस्कृत कॉलेज, बनारस के अंतर्गत साधोलाल ट्रस्ट के स्कॉलर के रूप में राजा मुंशी माधोलाल और डॉ० वेनिस के प्रयत्न से विशेष अध्ययन के लिए क्रैम्ब्रिज विश्वविद्यालय (इंग्लैण्ड) भेजे गये थे। वहाँ से डॉक्टरेट उपाधि प्राप्त करके आने के बाद उनकी नियुक्ति क्वींस कॉलेज, बनारस में हो गई थी। इस पद पर पहले म० म० पं० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग काम करते थे। कुछ समय के बाद युक्तप्रान्तीय शिक्षा विभाग के आदेश से छः महीने के लिए डॉ० लड्डू का बाहर जाना निश्चित हुआ। उन दिनों क्वींस कॉलेज में उत्तरस्नातकीय संस्कृत कक्षाओं में अन्य विषयों के साथ विद्यार्थी रहने पर, शिलालेख (ऐपीग्राफी) पुरालिपिशास्त्र (पैलियोग्राफी) का अध्यापन नियमित रूप से होता था। प्रस्तुत वर्ष में अन्य वर्गों में विद्यार्थी नहीं थे, केवल शिलालेखशास्त्र वर्ग में थे, जिसके अध्यापन की योग्यता कॉलेज के अध्यापक वर्ग में किसी को भी नहीं थी। पं० गोपीनाथ कविराज उस समय सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। एकमात्र वे ही इस विषय को उत्तरस्नातकीय कक्षाओं में पढ़ाने की क्षमता रखते थे। शिक्षा-संचालक इस तथ्य से अवगत थे। इसीलिए उन्होंने क्वींस कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल रैंडेल को पत्र लिखकर पं० गोपीनाथ की उक्त पद पर अस्थायी नियुक्ति करने की प्रेरणा दी थी। किन्तु उस समय सरस्वती भवन बनारस संस्कृत कॉलेज के अंतर्गत था। इसलिए रैंडेल साहब ने उसके प्रिंसिपल डॉ० गंगानाथ झा को, शिक्षा संचालक के इस सुझाव की सूचना देते हुए कविराजजी को छः महीने के लिए क्वींस कॉलेज में उक्त विषयों के अध्यापनार्थ मुक्त करने का अनुरोध किया था। डॉ० उक्त प्रसंग में इनकी पदोन्नति अथवा अन्य लाभ की निश्चित संभावना होने पर ही इन्हें छोड़ना चाहते थे। ये दोनों पत्र इसी संदर्भ में लिखे गये थे।

२. इस नोट के लेखक हैं कविराजजी के पालि, प्राकृत, जर्मन तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के शिक्षक, क्वींस कॉलेज के प्रोफेसर एच०सी०नार्मन। इन्होंने बुद्धघोष की 'धम्मपद अट्ठकथा' का सम्पादन 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' के लिए आरम्भ किया था। किन्तु अप्रैल, १९३१ ई० में इनका अकस्मात् देहांत हो गया। इस कार्य को बाद में इनके शिष्य म० म० पं० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग ने पूरा किया। इस नोट के साथ संलग्न पत्र प्राप्त न हो सका।

great gifts in the Vessantara birth. Mara departs in confusion, and the gods come to adore. This happens "Dharamane Yeva Suriye". In the first watch of the night he attains to a knowledge of his former births, in the second he obtains the Divine Eye (Dibbacakkhum Visodhetva), in the last the casual chain becomes mänifest. "Arunuggamaravelaya" he obtains the "Sabbannutaranam". He remains "Sattham ekapallankena". Then he spends seven days standing looking at the "pallanka with unwinking eyes. The third week he paces about. "Catutthe paras attahebodhito" he sits and evolves the Abhidhammapitaka. Having spent for weeks in the neighbourhood of Bodhi-tree, in the fifth week he goes to the Ajapalanigrodha. Here the Buddha is tempted by Mara's daughters Tantra, Arati, and Raga. Having spent a week, the Buddha goes to 'Mucolinda' the Naga king and stays sheltered by him a week. Then he goes to the Rajayatana, and spends his seventh week. The Buddha then eats for the first time (except for the rice of Sujata). Tapassu and Bhallka two merchants meet him, entertain him, and become "devacita-upasaka" (there was no Sangha as yet). Buddha returns to the Ajapalanigrodha. Here he considers if he shall impart the Dhamma or not, and decides to do so on the prayer of Brahma sahompati. Then occurs the reflection— " To whom first shall I impart the Dhamma?" He decides to "Alara and Uddaka" (his old teachers), but both are dead. He then decides on the Pancavaggiya Bhikkhu, he willl go the Migadaya and cause to revolve the "Dhammacakka". He resolves "Asalhipunnamasiyam Baranasim Gamissomi". On the way he meets the Ajivika Upaka, tells him he is the Buddha, and reaches the Isipatanam the same day, in the evening. Here he utters the Dhammacakkapparavttanasutta. Having pased the rainy season here, he endows with the Sotapattiphala first Vappa, then Bhaddiya, then Mahonama, then Assaji (Annakondonna attained the sotap, after learning the Dhammacakkapparttonasutta). On the fifth of the Pakkha he assembles all five and preaches the Anontalakkhonasuttonta. All five become Arahats. Then he initiates Yora and his fifty-four friends. "Evom loke ekasatthiya arahantesu jatesu", the Buddha sends forth the sixty (he is the sixty-first) with the message caratha

bhikkhavecankam. He then goes to Uruvela.

This represents the common Sinhalese tradition. (Asvaghosha, in a poetical way, follows the same story in his *Buddhacarita*).

(I should mention that the Mahavagga and Nidanakatha vary a little as to the division of the time when Buddha was dodging round about the trees, but the larger features are the same.)

पत्र संख्या—१

J. Riviere
40 boulevard Pasteur,
PARIS 150 FRANCE.

30th Ap. 1937.
to Mr. Gopinath Kaviraj
Principal, Sanskrit College, Benares,
India.

Dear Sir,

I got your address from Mr. Keskar, a scholar of Mr. Narindra Deva, who is studying in Paris now and who is working with me on Sanskrit and Hindi texts. I am just returning from India and I was in Benares last December. It is a pity for me not to have been introduced then to you.

I have been always interested in Spirituality of India and I have spent my last six months in India to learn the Wisdom of your so lovely Land. I have seen many Pandits and also the Mahatma of Mount Abu—Shri Shantivijaiji who impressed me much. I was in Ahmedabad with some friends (Hiralal M. Shah and Sir Chinubhai Barat—and his Family) and I learned there the first elements of Tantricism. Mr. Keskar tells me that you know perfectly well this Science and I should be pleased to get some informations on this matter. I have brought some texts on Tantricism; Mr. Keskar has just finished to translate *Yantra chintanami* which contains many Tantrik Yantras. I know the works of Sir Arthur Avalon; can you give me

titles of Tantrik texts which are the more important, i.e. which resume and give basis of the Doctrine on the Mantras, the Yantras and the knowledge of the Body, the Jiva and the States after Death. Books on the Meditation and Concentration, not on the usual form of Yoga, but specifically Tantrik, I shall be glad to know them. I shall be pleased to know if these books are already translated in English or in Hindi; for I can more easily find here Indian People translating current languages of India than Sanskrit.

I intend to settle a Collection in French language on Tantricism to make known the Ideal of this Doctrine. I have learnt in India to love Maha Kali, Maha Lakshmi, Maha Saraswati; I have felt something like the Mission to make them known in France, and it is to get full and good informations on true Tantricism that I write to you. I shall be pleased to have a clear Bibliography on this subject and Mr. Keskar told me that you are the only learned Pandit to give me such informations.

With my respects,

I remain, Dear Sir,
Yours faithfully,
J. Riviere.

❖
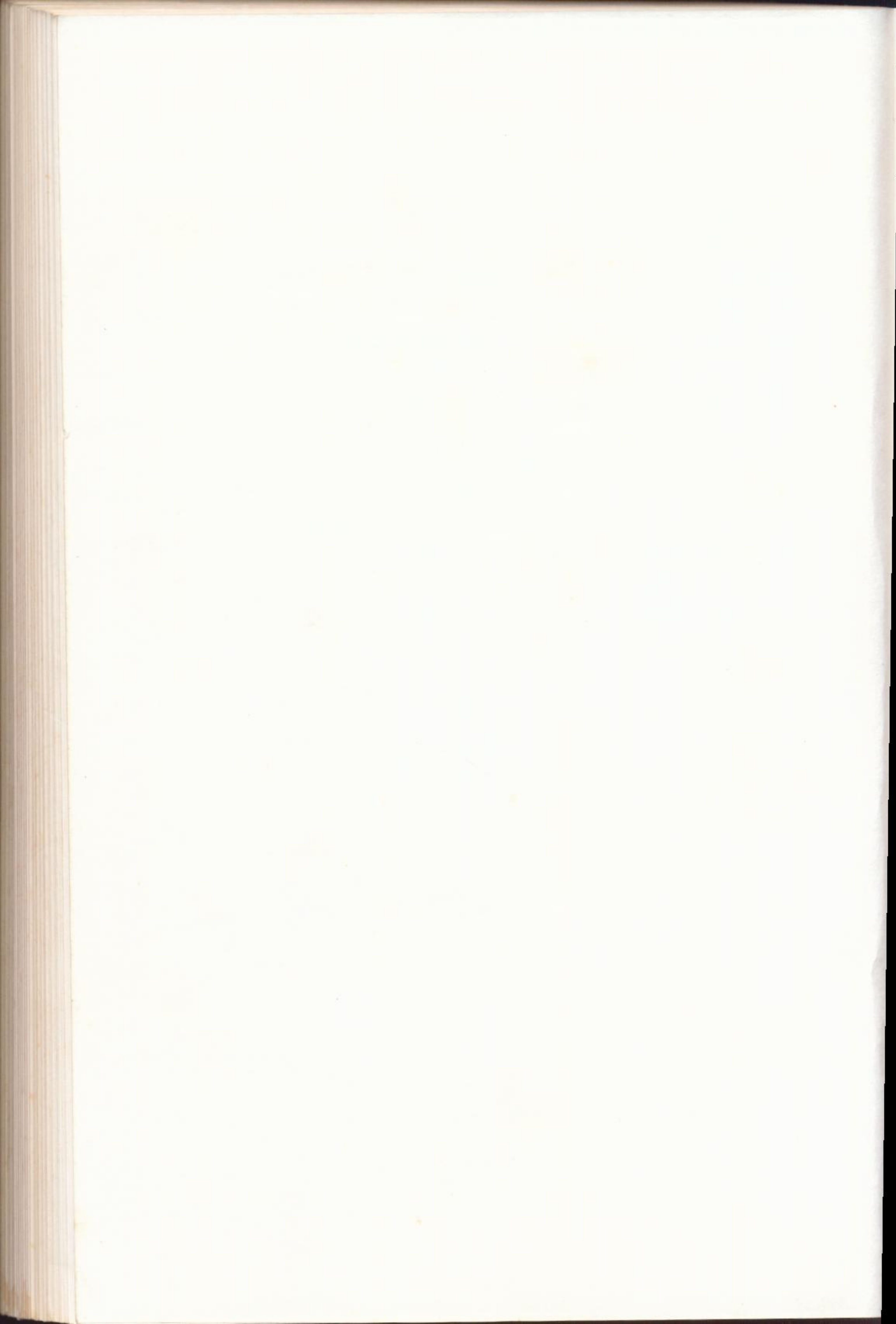
महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज
की
प्रमुख कृतियाँ

- शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी
- श्री साधना
- दीक्षा
- सनातन साधना की गुप्तधारा
- अखण्ड महायोग
- साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग : भाग-१,२
- साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग : भाग-३
- ज्ञानगंज
- श्रीकृष्ण प्रसंग
- कविराज प्रतिभा
- तांत्रिक साधना और सिद्धान्त
- स्वसंवेदन
- अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान
- तन्त्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन
- भारतीय साधना की धारा
- भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में)
- काशी की सारस्वत साधना
- प्रभुदेव वचनामृत
- परातंत्र साधना पथ
- तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज और योग-तन्त्र-साधना
- श्री श्रीविशुद्धानन्द प्रसंग तत्त्वकथा

कविराजजी के गुरु का जीवन और दर्शन

सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव

अन्य संत योगी जीवन चरित

भारत के महान् योगी (१० भाग : ५ जिल्द)

योगिराज तैलंग स्वामी

पुराण पुरुष योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी

श्यामाचरण क्रियायोग व अद्वैतवाद

श्यामाचरण लाहिड़ी की श्रीमद्भगवद्गीता (तीन खण्ड में)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य : २०० रुपये